॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा

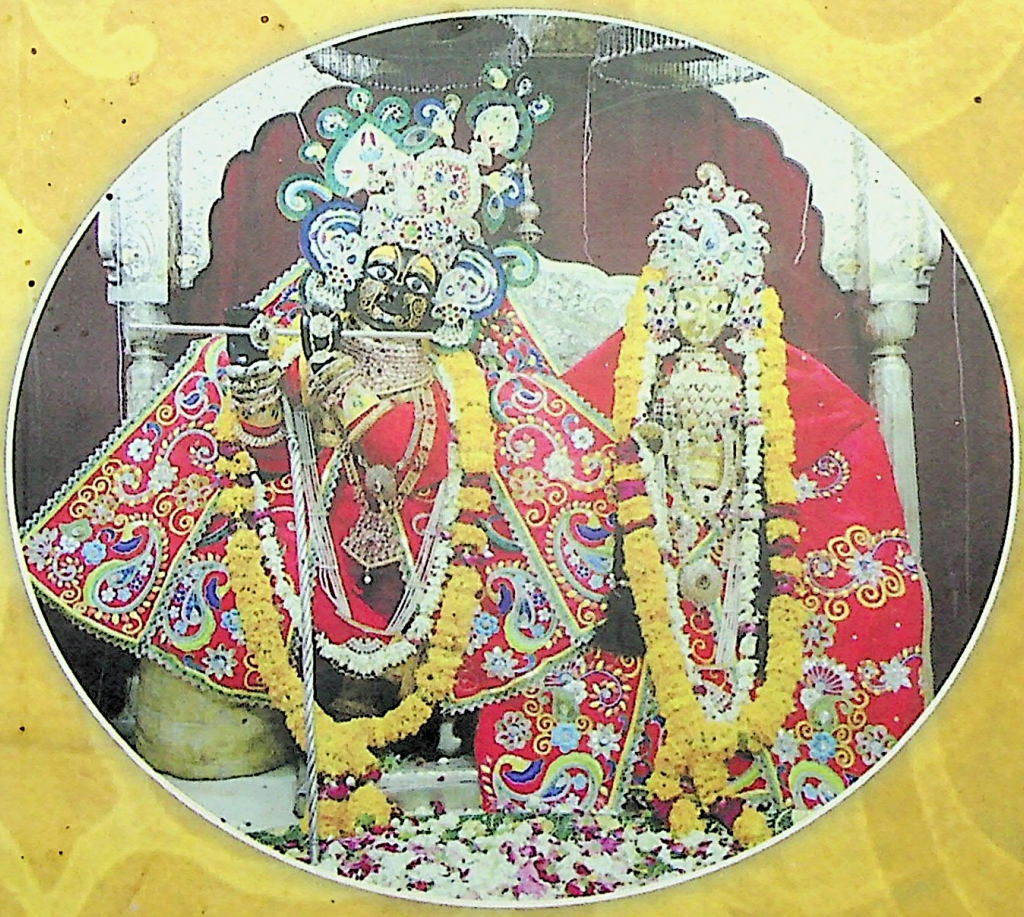

भाव-भूषाप्रदर्शिनी टिप्पणीकार

महात्मा श्रीगोपालदासजी महाराज

श्रीमन्निखिलमहीमण्डलाचार्य, चक्र-चूड़ामणि, सर्वतन्त्र - स्वतन्त्र, द्वैताद्वैतप्रवर्तक, यतिपतिदिनेश, राजराजेन्द्रसमभ्यर्चितचरणकमल, भगवन्निम्बार्काचार्यपीठविराजित, अनन्तानन्त श्रीविभूषित

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य

श्री ''श्रीजी'' महाराज

अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ -सलेमाबाद

* श्रीसर्वेश्वरो जयति *

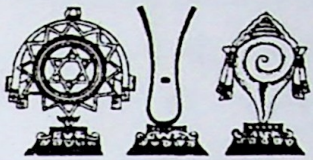

।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ।।

श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा

भाव-भूषाप्रदर्शिनी टिप्पणीकारः--

परम पूज्य स्व० श्रीगोपालदासजी महाराज

श्रीराधासर्वेश्वर वाटिका, वृन्दावन एवं

श्रीनरसिंह मन्दिर, उदयपुरकलाँ

किशनगढ (राजस्थान)

सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक :-

डॉ. दुलीचन्द शर्मा, निम्बार्कभूषण

प्राचार्य-श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय, निम्बार्कतीर्थ

प्रकाशक--

स्व. श्रीरामबिलासजी-श्रीमती आनन्दीदेवी अडाणियां (कुमावत)

की पुण्य स्मृति में-

राजेन्द्रप्रसाद कुमावत एवं समस्त अडाणियां परिवार

किशनगढ (9887059266)

श्रीराधा जयन्ती महोत्सव

वि० सं० २०७२, दिनांक २२/६/२०१५ ई०

पुस्तक प्राप्ति स्थान--
अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ
निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)
फोन नं० - ०१४९७ -२२७८३१

प्रथम संस्करण - १०००
वि० सं० २०७२

मुद्रक- शीतल आफसेट,
कम्प्यूटर क्राफ्ट
दुकान नं. 152 के ऊपर
चांदपोल बाजार, जयपुर 302001

न्यौछावर
१००) रुपये

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज

निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबाद जि. अजमेर (राज.)

का

मङ्गलमय शुभाशीर्वाद

आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् ने वेदान्त शास्त्र के तात्पर्य को सुख पूर्वक बोध कराने के लिए ''वेदान्तकामधेनु नामक'' ''दशश्लोकी'' का उपदेश किया। दशश्लोकी के अन्तिम श्लोक में भगवान् ने भगवत्प्राप्ति की कामना वाले भक्तों के लिए अवश्य जानने योग्य समस्त शास्त्र के सारभूत वेदान्तार्थपञ्चक का निर्देश किया है। आचार्यपाद ने दशश्लोकी में ''स्वभावतोऽपास्त समस्तदोष.'' एवं ''अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा'' इन दोनों श्लोकों के द्वारा उपास्य सर्वान्तरतम साक्षात् शृङ्गाररस स्वरूप श्रीराधा-कृष्ण युगल नामक परब्रह्म का उपदेश किया है। युगल की उपासना प्रेम विशेष लक्षणा पराभक्ति से होती है। औदुम्बरसंहिता, श्रीगोपालतापनी, सिद्धान्तरत्नाञ्जली एवं महावाणीजी आदि ग्रन्थों के माध्यम से यह सिद्धान्त दृढ हुआ कि सम्प्रदाय के उपासकों के लिए श्रीवृन्दावन योगपीठाधिपति ''श्रीराधाकृष्ण'' युगल ही उपास्य हैं, श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने महावाणीजी में ''राधां कृष्णस्वरूपां वै कृष्णं राधास्वरूपिणम्'' तथा ''एक स्वरूप सदा द्वै नाम एक प्राण द्वैगात हैं ''छिन बिछुरे न सुहात'' इत्यादि पदों द्वारा इस सिद्धान्त को और दृढ किया। महावाणीजी में उपास्य, उपासक एवं उपासना के स्वरूप को अत्यधिक स्पष्टता प्राप्त हुई है। सम्प्रदाय की उपासना का प्राण युगलोपासना ही है। इस उपासना में सख्य भावात्मिका निकुञ्जोपासना

ही प्रमुख है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में परमतत्त्व एक होते हुए भी द्विदल वाले चने के समान युगलस्वरूप है। ''यस्माज्ज्योतिरभूत् द्वेधा राधामाधवरूपकम्।'' ये राधामाधव रस सागर हैं क्रीड़ा के लिए ही दो रूपों में प्रकट हुए हैं-''''येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत् (श्रीराधातापनी उप.)। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा पुरुष विध ही था। स्त्री-पुरुष के समान परस्पर समन्वित उसने अपने आपको दो रूपों में प्रकट किया-वे दो रूप पति और पत्नी हुए। श्रीराधा श्रीकृष्ण की आत्मा है तथा उस में रमण करने के कारण ही श्रीकृष्ण को ''आत्माराम'' कहते हैं। जो राधा है वही कृष्ण है जो कृष्ण है वही राधा है दोनों में कोई भेद नहीं है।

श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा श्रीमद्आद्याचार्य द्वारा प्रकटित तथा महावाणीजी द्वारा सुदृढ किए गए सिद्धान्त का अनुसरण करने वाली है।

महात्मा श्रीगोपालदासजी ने इस ग्रन्थ पर गम्भीर एवं विशद टिप्पणी लिखकर संस्कृत साहित्य एवं श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की अद्भुत सेवा की है। यह ग्रन्थ युगलोपासकों एवं एकमात्र राधाभक्तिपरायण उपासकों के लिए अवश्य ही पठनीय, मननीय एवं संरक्षणीय है। हिन्दी भाषाविदों के लिए भी यह ग्रन्थ उपयोगी बन सके इसलिए **महात्मा श्रीगोपालदासजी के १५० वें जन्म वर्ष में** भाषानुवाद सहित प्रकाशित किया जा रहा है। श्रीसर्वेश्वर प्रभु सभी उपासकों को अपनी अनपायिनी भक्ति प्रदान करें।

प्रस्तावना

श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा एवं इसकी भावभूषाटिप्पणी का सार

श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा युगलोपासना का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। प्रयास करने पर भी यह ज्ञात नहीं हो सका है कि इसके रचनाकार कौन हैं। श्रीराधासर्वेश्वर वाटिका वृन्दावन निवासी महात्मा श्रीगोपालदासजी की विषमस्थल टिप्पणी से युक्त हस्तलिखित ग्रन्थ जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज के निजी पुस्तकालय में सुरक्षित है। उन्हीं की कृपापूर्ण आज्ञा से हिन्दी अनुवाद सहित इसका प्रथम सम्पादित प्रकाशन (हमारे ज्ञान के अनुसार) हो रहा है। श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा ग्रन्थ का विभाजन आदि में उपक्रम तथा तदनन्तर आठ प्रकरणों में हुआ है।

उपक्रम :- ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्रीराधा और श्रीकृष्ण को एक ही युगल तत्त्व स्वीकार करने वाले वैष्णवों को प्रणाम किया गया है। ये वैष्णव राधा-माधव विषयक प्रेमलक्षणा भक्ति से युक्त हैं तथा युगल के सुख में ही सुख मानने के कारण धन्य हैं। ग्रन्थकार श्रीराधा के अनुग्रह से शक्ति सम्पन्न होकर वेदों में गोपित गोपी (श्रीराधा) के वर्णन में उद्यत हुए हैं। ग्रन्थकार का आग्रह है कि भक्तजन श्रीराधा की परिचारिका बनकर साधना में निरत होकर मेरे परिश्रम को सार्थक करें।

भावभूषाप्रदर्शिनी नामक टिप्पणी के लेखक महात्मा श्रीगोपालदासजी ने उपक्रम पर गम्भीर विवचेना प्रस्तुत कर निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परा का विस्तार से उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह ग्रन्थ उपास्य, उपासक और उपासना के स्वरूप के विषय में श्रीमद्आद्याचार्य निम्बार्क भगवान् द्वारा प्रोक्त तथा महावाणी द्वारा दृढ किए गए सिद्धान्त का अनुसरण करने वाला है। ''दशश्लोकी'' में आचार्यपाद ने ''स्वभावतोऽपास्तसमस्त-दोष..'' तथा ''अङ्गे तु वामे'' इन दोनों श्लोकों में प्रतिपादित किया है कि श्रीमद्वृन्दावन योगपीठाधिष्ठित श्रीराधा-कृष्ण युगल ही उपास्य है। यह युगल ही सर्वान्तरतम साक्षात् शृङ्गार रसस्वरूप परब्रह्म है तथा यह मायावादियों के समान निर्धर्मक नहीं है अपितु सधर्मक-सविशेष-साकार है। टीकाकार ने प्रबल युक्तियों से मायावाद का खण्डन करते हुए लिखा है कि वेदोक्त स्वाभाविक

स्वरूपशक्तिमद्ब्रह्म श्रीराधामाधव ही वस्तु तत्त्व है। वे प्रमाण सहित प्रतिपादन करते हैं कि वह परब्रह्म-स्वरूप ज्योति ही राधा-माधवरूप में, पति और पत्नी रूप में प्रकट हुई है। श्रीराधा ही माधव है और माधव ही श्रीराधा हैं इनमें कोई भेद नहीं है श्रीराधा कृष्ण की आत्मा है तथा उसमें रमण करने के कारण ही इसको आत्माराम कहते हैं। राधाभक्ति के रसिक वैष्णवों के लिए ही यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है।

पदार्थसंग्रहनामक प्रथम प्रकरणः।।१।।- प्रकरण का आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार ग्रन्थ का सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि श्रीराधा और श्रीकृष्ण अभिन्न हैं, इनमें तनिक भी भेद नहीं है। श्रीराधा श्रीकृष्ण की शक्ति है तथा श्रीकृष्ण शक्तिमान् है-इस पक्ष को ग्रन्थकार स्वीकार नहीं करते हैं। इस पक्ष का प्रबल युक्तियों से खण्डन करते हुए कहा गया है कि दोनों में साम्य है तथा उसमें राधा का प्राधान्य है। श्रीकृष्ण श्रीराधा के सेवक है। श्रीराधा स्वाधीनपतिका है अतः शृङ्गार में उसकी प्रधानता है। वस्तुतः श्रीराधा को न स्वीया कहा जा सकता और न परकीया अपितु यह लीला का भाव है। व्रजलीला में स्वीयाभाव है निकुञ्जलीला में सखीभाव है तथा प्रेम की दीप्ति में परकीया भाव है दाम्पत्यभाव के भजन में दोष है सखी भाव में दोष नहीं है। लोक और वेद में राधा-कृष्ण की अभिन्नता का आदर है परकीया या स्वकीया भाव का नहीं। रसोपासना की मुख्यता है तथा प्रेमा भक्ति रूप रस मुख्य है। साधक इसको सखीभाव से प्राप्त करता है अन्य भाव से नहीं। ग्रन्थ के मुख्य विषयों का यथा-राधा-कृष्ण की अभिन्नता, कृष्ण और राधा के स्वरूप का निरूपण, राधा को स्वरूप शक्ति मानने पर भी शाक्तत्व दोष न होना तथा उसके उत्कर्ष और आधिक्य का निरूपण, राधानाम का निर्वचन, भागवत आदि ग्रन्थों में राधा का प्रतिपाद्यत्व तथा अन्त में जिसमें समस्त पदार्थ चित्स्वरूप हैं एवं जो गोलोक से भी उत्कृष्ट है ऐसे वृन्दावन का उत्कर्ष आदि विषयों का इस प्रकरण में नामोल्लेख किया गया है।

श्रीकृष्णस्वरूपनिरूपणयुक्तिः।।२।।-मञ्जूषाकार लिखते हैं कि यद्यपि वेदादि शास्त्रों में उपासना की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं किन्तु मुझे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो अपने अधिकार के अनुसार पद्धति के

अभिप्राय को प्रकट करने का इच्छुक हूँ। साधक को अपनी अभिलाषा के अनुसार गुरु दीक्षा से प्राप्त राधा-दामोदर (राधा-माधव) की उपासना का आश्रय लेना चाहिए। किसी को जिज्ञासा हो सकती है कि नारायण के अवतार श्रीकृष्ण की उपासना तो शास्त्र सम्मत है किन्तु राधा का नाम कहीं नहीं देखा-सुना जाता है तब उसकी उपासना कैसे? इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि आगमों में शिरोमणि श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् कहा ही है साथ ही वहाँ पर गोपी, पराशक्ति, सहचरी आदि नामों से तथा ''अनया राधितो नूनम्'' आदि सांकेतिक भाषा से राधा का उल्लेख भी है। अतः हमें राधाकृष्ण-इस युगल की उपासना करनी चाहिए।

टीकाकार महात्मा श्रीगोपालदासजी ने इस प्रकरण में प्रतिपादित किया है कि राधा-माधव-युगल की उपासना शास्त्रीय प्रमाणों से सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि वेदादि शास्त्रों में श्रीकृष्ण नामक महाविष्णु को ही एक स्वर से सर्वोत्कृष्ट कहा है उसे ही परात्पर ब्रह्म कहा गया है तथा राधा श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति है। स्वरूपशक्ति से ही स्वरूप का निर्धारण होता है जैसे दाहकता से अग्नि का स्वरूप बनता है। श्रुति-स्मृति एवं पुराणों में साक्षात् परब्रह्म रूप में उद्घोषित श्रीकृष्ण ही साधकों की रुचि के अनुसार उन पर अनुग्रह करने के लिए उसी विग्रह को धारण करते हैं जिस रूप में उनकी स्तुति की जाती है। किन्तु रसमार्ग से भगवान् का परिशीलन करने की इच्छा रखने वालों के लिए श्रीराधा-दामोदर रूप से भिन्न कोई अन्य रूप श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि वह रूप ही साक्षात् रसरूप है वही शास्त्र प्रमाणित असमोर्ध्व-ऐश्वर्य और माधुर्य वाला है। महात्माजी ने इस प्रसङ्ग में शास्त्रों से सौ से भी अधिक श्लोक एवं वाक्य उद्धृत किए हैं।

यद्यपि महाविष्णु चतुर्भुज रूप है किन्तु श्रीकृष्ण-इस नाम का पर्यवसित अर्थ द्विभुज स्वरूप श्रीकृष्ण ही है। ब्रह्मसंहिता में कहा है ''ईश्वरः परमः कृष्ण।'' इस प्रकरण में श्रीकृष्ण नाम के शास्त्र प्रमाण सहित नानाविध अर्थ परक निर्वचन दिए गए हैं। निर्वचन रोचक एवं ज्ञानवर्धक हैं। श्रीकृष्ण तत्त्व प्रकाश और आनन्दस्वरूप है।अमूर्त आनन्द का आश्रय सच्चिदानन्दविग्रह मूर्त आनन्द है। जैसे स्वर्ण निर्मित आभूषण के प्रत्येक अवयव में स्वर्णत्व रहता है वैसे ही भगवान् के हाथ-पैर आदि में भी आनन्दत्व अक्षुण्ण बना

रहता है क्योंकि भगवद् विग्रह आनन्द मात्र है।

श्रीराधिकासद्भावयुक्तिप्रकरणः।।३।।- यहाँ राधिका सद्भाव पद का अर्थ है श्रीराधा श्रीकृष्ण के समान ''सत्'' शब्द से वाच्य परब्रह्मस्वरूप है। सत्स्वरूपा श्रीराधा का श्रीकृष्ण के साथ नित्य अनपायित्व और अभिन्नत्व है। युगलोपासना अनादिकाल से ही सम प्राधान्य भाव स्वरूप दम्पती रूप में स्थित है। भक्तजनों में राधा के साथ माधव और माधव के साथ राधिका विशेष रूप से शोभित होते हैं। ''हरि को वश में करने वाली (राधयति वशीकरोति हरिमिति) राधा है।राधा के साथ नित्य क्रीड़ा करने (दीव्यति नित्यं क्रीडति-स देवः) के कारण माधव देव है, नित्यविहारी है तथा माधव को माधव बनाने में राधा ही हेतु है। मा अर्थात् लक्ष्मी-राधा, उसका धव-पति-माधव। एक ही दिव्य ज्योति राधा-माधव या गौर और श्याम तेज रूप में प्रकट हुई। सम्मोहनतन्त्र में कहा है कि गौरतेज (राधा) के बिना जो श्यामतेज (श्रीकृष्ण) की अर्चा करता है, जप करता है अथवा ध्यान करता है वह परम पापी है। ज्योति पद का मुख्य अर्थ गौर तेज है अतः गौर तेज की ही प्रधानता समझनी चाहिए। राधा की आराधना कृष्ण की आराधना का अङ्ग नहीं है अपितु श्रीकृष्ण की आराधना की पोषिका है। ''कल्लौलको वस्तुत एकरूपकौ'' (लहरों के समान एक रूप वाले) इस वाक्य के द्वारा राधा-कृष्ण में स्वरूप भेद का निषेध है। कहा गया है-जो कृष्ण है वह भी राधा है, जो राधा है कृष्ण ही है वह। स्वरूप से समप्राधान्यात्मक युगलोपासना में श्रीकृष्ण के स्वरूप के समान ही राधा के स्वरूप को सर्वथा वैसा ही समझना चाहिए अन्यथा युगलोपासना की हानि होगी। श्रीकृष्ण की आत्मा राधा है, उसी में रमण करने के कारण तत्त्ववेत्ता लोग उसे आत्माराम कहते हैं। श्रीराधा को कृष्ण की स्वरूप शक्ति मानने पर भी उसकी गौणता नहीं समझनी चाहिए-अतः कहा है-''शक्तित्वे नहि गौणत्वम्।''

परब्रह्मस्वरूप पुरुषविध आत्मा ने सृष्टि के आदि में अपने आपको पति और पत्नी के रूप में प्रकट किया। राधातापनी उपनिषद् में कहा है कि रससागर एक देहरूप ने क्रीड़ा के लिए अपने आपको राधाकृष्ण के रूप में प्रकट किया। उनका एक ही आसनपद्म है एक ही बुद्धि है, एक ही मन है

और एक ही आत्मतत्त्व है। जिस प्रकार राधा और माधव के स्वरूप में अङ्गाङ्गिभाव-गौण-प्रधान भाव नहीं है वैसे ही इनकी आराधना में भी गौण-प्रधान भाव नहीं है। यह युगलोपासना दाम्पत्य भाव एवं सख्यभाव वाली है। शुद्ध सख्य भाव की उपासना दाम्पत्य उपासना से उत्कृष्ट है।

श्रीराधिकायाः शक्तित्वस्वीकारेऽपि तदुत्किर्षनिरूपण-युक्तिः।।४।।- श्रीराधा माधव की स्वरूप शक्ति है किन्तु उसकी अप्रधानता नहीं है। भागवत के विवेचन के अनुसार परम वस्तु (परब्रह्म) को स्वरूप शक्तिमत् ही स्वीकार किया जाना चाहिए। वस्तु सशक्तिक ही होती है। जैसे ज्योत्स्ना के बिना चन्द्र का चन्द्रत्व नहीं है वैसे ही शक्ति के बिना वस्तु की वस्तुता नहीं है यह शक्ति परम सुख प्रदान करने वाली तथा तापत्रय का विनाश करने वाली होती है वही अन्तरङ्ग स्वरूपा चित् शक्ति है। स्वरूपगत होने के कारण ही यह स्वरूप के समान ही उपास्या है। इस स्वरूप शक्ति का नाम ही राधा या लक्ष्मी है इसे ही परा कहा जाता है। पराशक्ति से समवेत तत्त्व को ही परमेश या परमेश्वर कहते हैं। शक्ति का दूसरा स्वरूप जो अचित् है वह त्रिगुणमय, जड़, बहिरङ्ग तथा स्वरूप का आवरण करने वाला है। ये चित् और अचित् शक्तियाँ अचिन्त्य और अनन्त कही गई है। चित् शक्ति ज्ञान-बल और क्रिया वाली स्वाभाविकी स्वरूपगा शक्ति है। शक्ति का शक्तिमान् के साथ भेद है या अभेद है इसका निर्णय नहीं किया जा सकता है क्योंकि शक्ति स्वरूप में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से स्थित रहती है।

ग्रन्थकार एवं टीकाकार का विवेचन है कि वेदान्ती भी ब्रह्म को जगत् का परम कारण स्वीकार करते हैं किन्तु उसके निर्वाह के लिए ब्रह्म में मिथ्या माया शक्ति को स्वीकार करते हैं तथा स्वयं को वैदिक भी मानते हैं। इस पर वैष्णवों का कहना है कि वेद के अनुसार ब्रह्म में जगत् के निर्माण के लिए स्वाभाविक शक्ति स्वीकार की गई है तब उसे ही स्वीकार करना चाहिए न कि मिथ्या कल्पित माया को। ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में भी स्वरूप शक्ति को मूलप्रकृति तथा ईश्वरी कहा है। वह एक ही स्वरूपशक्ति ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द इन तीन धर्मों के अनुरोध से सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी-इन तीन स्वरूपों वाली हो जाती है। यह स्वरूप शक्ति (श्रीराधा) स्वरूप (श्रीकृष्ण) की अपेक्षा किसी भी प्रकार न्यून नहीं है

अपितु उसका आधिक्य है। यह स्वरूप शक्ति द्वार पर रखे हुए दीपक के समान अपने आधार स्वरूप तथा बाह्य चित् अचित् के प्रपञ्च को प्रकाशित करने के कारण प्रकाशिनी कही गई है।

श्रीराधिकाधिक्य निर्णययुक्तिः।।५।।- इस प्रकरण में श्रीराधा के आधिक्य का वर्णन किया गया है। ''राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका'' राधा से माधव और माधव से राधा दिव्य तत्त्व है। माहेश्वरी संहिता के अनुसार ये एक-दूसरे के हृदय में स्थित है। श्रीब्रह्मवैवर्तपुराण में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे राधे! तुम मेरे प्राणों से भी बढकर हो और मैं तुम्हारे प्राणों से बढकर हूँ। संसार बीज रूप हम दोनों में कोई भेद नहीं है। तुम्हारे बिना लोग मुझे कृष्ण कहते हैं और तुम्हारे सहित मुझे श्रीकृष्ण कहते हैं। श्रीकृष्ण के हृदय में स्थित श्रीराधा आनन्दशक्ति है तथा जगत् को पवित्र करने वाली है। यही युगलोपासना का स्वरूप है। जिसकी हृदय में प्राप्ति होगी वही उत्कृष्ट होगा-इस न्याय से श्रीराधा का आधिक्य भाव सिद्ध होता है। श्रीराधा की उपासना के मन्त्रों का ऋषि भी श्रीकृष्ण है-इससे भी राधा ही उपास्या है यह ज्ञात होता है। श्रीराधिका देवी कृष्णमयी होने पर देवता कही गई है। ब्रह्माण्डपुराण में श्रीकृष्ण कहते हैं-

गृहे राधा वने राधा पृष्ठे राधा पुरः स्थिता।
यत्र तत्र स्थिता राधा राधैवाराध्यते मया।।

अर्थात् मैं सर्वत्र राधा की ही आराधना करता हूँ। राधा नाम में श्रीकृष्ण की अतिशय प्रीति है। वे ''रा'' शब्द सुनते ही साधक को उत्तम भक्ति प्रदान करते हैं। शक्ति रहित श्रीकृष्ण कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। समस्त शक्तियों की अधिष्ठातृरूपा, शक्ति सहित स्वरूप (श्रीकृष्ण) की अर्द्धाङ्गरूपा, रस में स्वाधीनपतिका, भगवान् की भगवत्ता की कारणस्वरूपा, स्वाभाविक शक्तिरूपा श्रीराधिका को अधिक मानने में शाक्तत्व का दोष भी नहीं है। श्रीराधा ने अपनी परिकर शक्तियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि श्रीकृष्ण को श्रेष्ठ मानकर की गई तुम्हारी आराधना व्यर्थ है। तत्त्व यह कि मुझे ही श्रेष्ठ समझकर की गई आराधना सफल है, मेरे प्रसन्न होने पर ही श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं।

श्रीराधानामनिरुक्तियुक्तिः।।६।।- शास्त्र प्रमाण एवं युक्तियों से

यद्यपि श्रीराधा को श्रीकृष्णस्वरूपा एवं उनसे अभिन्न सिद्ध किया है किन्तु सर्वप्रमाण शिरोमणि श्रीमद्भागवतपुराण, हरिवंशपुराण, महाभारत एवं विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों में श्रीराधा का कहीं नाम उल्लिखित नहीं है-तब उसे अभिन्न स्वरूपा मानने का क्या औचित्य है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि परम रहस्यरूप वस्तु का साक्षात् शब्दों से उल्लेख नहीं किया जाता वहाँ परोक्षवाद का आश्रय लिया जाता है-कहा भी है- ''परोक्षप्रिया हि देवाः।'' श्रीराधा श्रीकृष्ण की आत्मा है अतः रसस्वरूपा है तथा शास्त्रकारों के मत में रस और भाव आदि का साक्षात् अर्थबोधिका अभिधा के द्वारा कथन करना दोष है। इसके लिए व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लिया जाता है। नागरिकों का भी यह व्यवहार है कि परम आस्वाद्य तथा परम आराध्य का नाम नहीं लिया जाता है। अतः कहीं पर पराशक्ति, कहीं पर आत्मा, कहीं पर रमा, कहीं पर माया, कहीं चिति, कहीं भक्ति, कहीं प्रिया-इत्यादि नामों से जिसे कहा गया है उसे ''राधा'' ही समझो। वैष्णव कहीं उसे गोपिका अथवा ह्लादिनी कहते हैं। राधा का साक्षात् नाम न लेने का सबसे परम कारण यह है कि श्रुतियों ने आत्मा को तर्कातीत और अनिर्देश्य कहा है। जीवगोस्वामी कहते हैं कि परम रहस्य वस्तु का प्रकाशन प्रकारान्तर से किया जाता है। इसीलिए दशम स्कन्ध में ''रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः'' ''अनया राधितो नूनम्'' इत्यादि श्लोकों के द्वारा श्रीराधा नाम को ही व्यञ्जित किया है। प्रकरण में राधा नाम के पाँच निर्वचन दिए हैं। यथा-१. राधयति वशीकरोति कृष्णमिति राधा (जो कृष्ण को वश में करे वह राधा)। २. राध्यते आराध्यते भक्तजनैरिति राधा (जो भक्तों के द्वारा आराधित हो)। ३. राध्यते आराध्यते कृष्णेनेति राधा (जो कृष्ण द्वारा आराधित हो)। ४. राधयति साधयति सर्वं कार्यं स्वभक्तानामिति राधा (जो भक्तों के कार्य सिद्ध करे)। ५. राधयति आराधयति कृष्णमिति राधा (जो कृष्ण की आराधना करती है) वह राधा है।

श्रीराधायाः श्रीभागवतप्रतिपाद्यत्वयुक्तिः।।७।।- श्रीमद्भागवत में उपक्रम-उपसंहार रूप षड्विध लिङ्गों एव अनुबन्ध चतुष्टय के आधार पर यह निर्णय होता है कि श्रीराधा की उपासना में ही आधिक्य है। ''रेमे तया चात्मरतः'' सत्यं परं धीमहि, ''पिबत भागवतं रसमालयम्'' आदि श्लोकों

का तात्पर्य श्रीराधा की उपासना में है। शाखा-चन्द्रन्याय अथवा अरुन्धती वशिष्ठ न्याय से ही मुनीन्द्र ने श्रीकृष्ण का आधिक्य प्रतिपादित करते हुए उसकी आत्मा श्रीराधा के आधिक्य वर्णन में ही अपना तात्पर्य इङ्गित किया है। श्रीराधा को हरिप्रिय हैं अतः उनकी अनुकूलता प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया गया है। ''जन्माद्यस्य'' उपक्रम के इस श्लोक में यत् शब्द से जिस श्रीराधा का ज्ञान होता है तत् शब्द से उसी अर्थ में अन्वय होता है। युगल सहचरी भाव की दृष्टि से श्रीकृष्ण के आराधन का भी श्रीराधा के आराधन में ही तात्पर्य है। व्यास मुनि ने श्रीराधात्मक श्रीकृष्ण का ही अभिन्नरूप से गुणगान किया है। शास्त्र के आरम्भ में श्रीराधा का स्पष्ट नाम ग्रहण न करने में परोक्षवाद ही कारण है, किन्तु परमसत्य के रूप में दोनों का ही उल्लेख है। ''पिबत भागवतं रसमालयम्'' का रहस्य यह कि वैष्णवों को-भग-अर्थात् राधा, उनकी सहचरी एवं भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के रस का पान करना चाहिए यही भागवत रस समस्त वेदराशि का सार है।

श्रीवृन्दावनोत्कर्षयुक्तिः।।८।।- समस्त भगवद्रूपों में निरतिशय और निरन्तर आनन्दघनविग्रह होने से साक्षात् शृङ्गार रस रूप होने से श्रीराधा और श्रीकृष्ण का सर्वान्तरतमत्व तथा असमोर्ध्वस्वरूपत्व सिद्ध करने के पश्चात् इन दोनों से अविनाभावरूप से सम्बद्ध रसधाम श्रीवृन्दावन का भी समस्त भगवद्धामों में श्रेष्ठत्व तथा सर्वान्तरतम धामत्व प्रतिपादित करने के लिए इस प्रकरण का उपन्यास किया गया है। गोपालतापनी उपनिषद् के ''तमेतमात्मानं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्'' तथा ''यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः'' ''या ते धामानि'' इत्यादि वेद के मन्त्रों से नित्यधाम वृन्दावन का वर्णन किया गया है। यह दिव्य, नित्य, निष्पाप और परमधाम है। दशम स्कन्ध में कहा गया है कि श्रीकृष्ण ने गोपों को अन्धकार से परे अपना लोक दिखलाया जो सत्य, ज्ञान, अनन्त, ब्रह्मज्योतिस्वरूप और सनातन है। इसका दर्शन भगवदनुग्रह से होता है। महावृन्दावन एवं केलि वृन्दावन भेद से इसके दो भेद है। वराहतन्त्र में कहा गया है कि यमुनाजी के दक्षिण में योगपीठ के रूप में पाँच योजन के मध्य भाग में डेढ योजन आयत में रमणीय श्रीवृन्दावन है। यह वैकुण्ठ से भी अधिक गोपनीय है इसमें नित्यविहारी

श्रीकृष्ण श्रीराधाशक्ति के साथ सम्भोग में स्थित है। बृहद्गौतमीय में श्रीकृष्ण कहते हैं मेरा देहरूप वृन्दावन पाँच योजन में विस्तृत है इसमें परम अमृत का वहन करने वाली सुषुम्णा नाम की कालिन्दी है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने अपने शतकों में इसकी महिमा का अतिशय वर्णन करते हुए कहा है कि प्रकृति के ऊपर केवल सुखनिधि परब्रह्म में श्रुति प्रसिद्ध वैभव वाला वैकुण्ठ नामक परम धाम है। उस वैकुण्ठ में सबसे उज्ज्वल मणि मण्डल है उसमें महारसमय वृन्दावन है। श्रीगोविन्द वृन्दावन को छोड़कर कहीं नहीं जाते हैं। वृन्दावन में वृक्ष, लता, जल, भूमि सब परम चिदानन्दरूप है। पृथ्वी पर स्थित वृन्दावन भी प्राकृत नहीं है यह वृन्दावन विलक्षण है तथापि अचिन्त्यशक्ति से हमें दिन-रात यहाँ रहना चाहिए।

श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा एवं उस पर लिखी टिप्पणी विलक्षण है। मञ्जूषाकार का नाम और समय ज्ञात नहीं हो पाया है परन्तु कृति में प्रबोधानन्दजी के शतकों से बहुत से उद्धरण दिए गए हैं। श्रीप्रबोधानन्दजी उच्चकोटि के वैष्णव तथा कवि थे। ये गौराङ्ग महाप्रभु के प्रिय सेवक थे। भक्तमाल के अनुसार संवत् १५७१ में वे वृन्दावन पधारे थे। अतः श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा इनसे परवर्त्ती है। महात्मा श्रीगोपालदासजी ने इस पर टिप्पणी लिखी है किन्तु महात्माजी ने न तो मूल ग्रन्थकार का नामोल्लेख किया और न अपने समय का उल्लेख किया। महात्मा श्रीगोपालदासजी का वैकुण्ठवास १०४ वर्ष की आयु में वि० सं.२०२६ में हुआ है। इस रचना को कम से कम ६०-७० वर्ष की अवस्था की मानने पर इसका रचनाकाल ईस्वी सन् १९२५-१९३५ के मध्य आता है।

कृतज्ञता ज्ञापन

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज की असीम अनुकम्पा एवं आपश्री के माध्यम से प्राप्त श्रीराधामाधव की कृपा से यह कार्य सम्पन्न हो पाया है। आपश्री के चरणों में कोटिशः प्रणाम। युवाचार्य श्रीश्यामशरणदेवजी की सत्प्रेरणा एवं स्निग्ध दृष्टि ने इस कार्य को सुगम बनाया। आपश्री का वन्दन। मञ्जूषाकार एवं टिप्पणीकार वैकुण्ठवासी महात्मा श्रीगोपालदासजी के लिए श्रद्धा सुमन अर्पित हैं। महात्मा श्रीगोपालउासजी परम्परा से संस्कृत शास्त्रों का अध्ययन

नहीं किए हुए थे किन्तु अपने अध्यवसाय एवं शास्त्रनिष्ठा से आपने उत्कृष्ट टीका का प्रणयन किया। आपके वैदुष्य का फलक बहुत व्यापक था। वेदान्त के मायावाद एवं निर्धर्मक ब्रह्म के खण्डन में आपने जो प्रबल युक्तियाँ दी हैं तथा पचास से ऊपर ग्रन्थों से जो उद्धरण दिए हैं वे आपके ज्ञान के परिचायक हैं। आपकी शैली बहुत ही सटीक एवं परिनिष्ठित है। आपका हस्तलेख भी सुन्दर मोतियों की लड़ी के समान है। हम अन्तस्तल से आपके कृतज्ञ हैं। मेरे दादी-दादाजी श्रीमती बरजी देवी एवं श्रीघीसालालजी गोधला (ग्राम-मुरलीपुरा-जोबनेर) के सतत सत्प्रयास से मैं संस्कृत में प्रवेश प्राप्त कर सका हूँ इनके प्रति मेरी अनन्त श्रद्धाञ्जलि। माता श्रीमती चूनीदेवी एवं स्व. पिता श्रीकल्याणमलजी का अनुग्रह एवं वात्सल्य ही मेरे जीवन को बनाने का प्रधानकारण रहा है आपके प्रति मेरी श्रद्धा बनी रहे यही कामना है। स्व. श्रीगंगासहायजी, श्रीशुकदेवजी पाठक, पं. खड्गनाथजी मिश्र एवं डॉ. रामचन्द्र द्विवेदीजी की शिक्षा गुरु परम्परा को प्रणाम। शुद्ध टंकण कार्य के लिए ऋषिकुमार जासरावत को धन्यवाद। श्रीहरिमोहन उपाध्याय एवं मेरे ज्येष्ठ पुत्र अरविन्द ने प्रूफरीडिंग में सहयोग किया है इसके लिए ये साधुवाद के पात्र हैं।

श्रीराजेन्द्रजी अडानियाँ (किशनगढ जि. अजमेर) ने महात्मा श्रीगोपालदासजी एवं अपने स्वर्गीय पिताश्री रामविलासजी के प्रति अगाध भक्ति प्रकट करते हुए इस कृति का प्रकाशन करवाया है अतः धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री ''श्रीजी'' महाराज का कृपाकांक्षी-
डॉ. दूलीचन्द शर्मा निम्बार्कभूषण
प्राचार्य-श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय
अ. भा. जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ
निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) जि. अजमेर (राज.)
चलवाणी - 9529977730

महात्मा श्रीगोपालदासजी का परिचय एवं भक्तों के अनुभव

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज ने ''श्रीगोपालसहस्रनाम'' (हिन्दी अनुवादक महात्मा श्रीगोपालदासजी महाराज) के मङ्गलमय आशीर्वाद में महात्मा श्रीगोपालदासजी का सम्पूर्ण परिचय दिया है। तदनुसार महात्माजी का जन्म महाराष्ट्र प्रदेश के कोल्हापुर के पास तारले ग्राम में एक धार्मिक द्विज परिवार में हुआ। इनके बाल्यकाल में ही माता-पिता का वैकुण्ठवास हो गया। दादी एवं नानी ने इनका पालन-पोषण किया। आपने बी.ए. पर्यन्त शिक्षा पाई। प्रारम्भ में मुम्बई में एक वर्ष तक अध्यापन किया। वहाँ योग वाशिष्ठ के अध्ययन से वैराग्य भाव आविर्भूत हुआ। अध्यापन कार्य छोड़कर बद्रिकाश्रम, ऋषिकेश, काशी आदि पावन स्थानों का भ्रमण करते हुए आप सिलोरा के पास पीताम्बर की गाल पहुँचे। वहाँ वि. सं. १९९० से वि. सं. २००१ तक बारह वर्ष निरन्तर निवास करते हुए सर्वाराध्य भगवान् श्रीसर्वेश्वर राधामाधव प्रभु की पावन उपासना की। यद्यपि पूर्व में आप निम्बार्क सम्प्रदाय में कुछ स्थानों पर प्रचलित वंशगोपाल मन्त्र से दीक्षित थे किन्तु वि. सं. १९९४ में वृन्दावन कुम्भ पर्व के अवसर पर बड़े महाराज श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्यजी महाराज से गोपालमन्त्र की विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। पीताम्बर की गाल में निवास की अवधि में उदयपुर ग्राम के श्रीनृसिंह मन्दिर में भी इच्छानुसार निवास करते थे। आचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज के अध्ययन काल में व्यवस्था के लिए महात्माजी श्रीवृन्दावनस्थ दावानल कुण्ड स्थित श्रीदावानलविहारी भगवान् के मन्दिर परिसर में वि. सं. २००४ तक निवास किया। श्री ''श्रीजी'' महाराज के अध्ययन के पश्चात् महात्माजी वि. सं. २००४ में आचार्यपीठ आ गए। कुछ समय यहाँ रुकने के पश्चात् आप वृन्दावन जाकर श्रीराधासर्वेश्वर वाटिका में निवास करने लगे। बीच-बीच में आचार्यपीठ, किशनगढ, नृसिंह मन्दिर उदयपुर एवं सिलोरा आया-जाया करते थे।

आप संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी एवं मराठी भाषा के उत्कृष्ट मनीषी

थे। आप श्रीमद्भागवत कथा के प्रवीण एवं विद्वान् वक्ता थे। शास्त्रीय संगीत में अनुपम गायन के साथ तबला वादन भी सुन्दर करते थे। वि. सं. २००१ में आपके द्वारा लाया गया तबला आज भी आचार्यपीठ में सुरक्षित है। विश्वप्रसिद्ध संगीत गायिका भारतरत्न लतामंगेशकर के पिता श्रीदीनानाथ मंगेशकर के आप सहपाठी रहे।

आपका दैन्यपूर्ण सरल स्वभाव सभी को प्रिय था। योगाभ्यास से आपने १०४ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त की। आत्म प्रचार से दूर रहते हुए आपने सर्वेश्वर प्रभु की सेवा में तल्लीन रहते हुए आदर्श जीवन व्यतीत किया।

''श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा'' की भावभूषाप्रदर्शिनी संस्कृत टीका आपकी उत्कृष्ट रचना है। श्रीगोपालसहस्रनाम की संस्कृत टीका का आपका भाषानुवाद भी बहुत उपयोगी है। ''ब्रह्मसूत्र'' की चतुःसूत्री पर भी आपकी अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ से सञ्चालित एवं श्रीजी बड़ा मन्दिर वृन्दावन से प्रकाशित ''श्रीसर्वेश्वर'' मासिक पत्र में क्रमशः वैदुष्यपूर्ण लेख माला प्रकाशित होती रही है।

महात्माजी ने अपने जन्मकाल का कहीं कोई संकेत नहीं किया पर इनके कृपापात्र स्व. श्रीरामविलासजी कुमावत के श्रद्धापूर्वक निवदेन पर स्वप्न में दर्शन देकर अपना जन्मकाल वि. सं. १९२२ प्रकट किया। स्वप्न को आचार्यश्री ने प्रमाणित कर दिया। श्रीगौरीशंकरजी माहेश्वरी एवं स्व. श्रीरामविलासजी कुमावत के अनुसार महात्माजी ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया वि. सं. २०२६ को गोलोकधाम के लिए प्रस्थान किया। उस दिन प्रातः ३-४ बजे के आस-पास महात्माजी अस्वस्थ हुए। आपश्री ने अपने शिष्य स्व. श्रीरामविलासजी अडानिया एवं हरिरामजी माहेश्वरी को बुलवाया। आपने पूर्ण चेतन अवस्था में तुलसी-चरणामृत लेकर भगवान् श्रीसर्वेश्वर का नाम जपते हुए मध्याह्न १२ बजे किशनगढ में इहलीला पूर्ण करके गोलोकधाम के लिए प्रस्थान किया। आपकी वैकुण्ठी बस स्टेण्ड से मदनगंज-किशनगढ पूरे शहर में होते हुए नृसिंह टेकरी उदयपुरकलां (किशनगढ) पहुँची।

श्रीराजेन्द्रप्रसाद कुमावत सुपुत्र स्व. श्रीरामविलासजी कुमावत (अडानियां) जी ने महात्माजी के भक्तों से अनुभवों का संकलन किया है। उनके अनुसार महात्माजी सदैव प्रचार-प्रसार से दूर रहकर एकान्त साधना

में तल्लीन रहते थे। भक्तों को आशीर्वाद के रूप में केवल भगवन्नाम का ही उच्चारण करते थे। अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए किसी से कुछ नहीं कहते थे। आपश्री का प्रिय कथन था ''गोपालजी भेजेंगे।'' उन्हें आडम्बर और दिखावे से दूर ही रहना अच्छा लगता था।

श्रीगौरीशंकरजी सुपुत्र स्व. श्रीहरिरामजी मोहश्वरी ने बताया कि उनके पिता के कोई सन्तान नहीं थी। उनके घर पर महात्माजी ने श्रीसत्यनारायण कथा की। भगवान् के राजभोग के समय उनकी माता श्रीमती रामेश्वरी देवी को पर्दा लाने के लिए कहा। पर्दा देते हुए उनके मन में श्रद्धा का कुछ अभाव रहा और उन्होंने पुराना पर्दा दे दिया। महात्माजी एवं भगवान् की अनुकम्पा से गौरीशंकरजी का जन्म हुआ। किन्तु जन्म से वे सूरजमुखी हुए।

श्रीरामस्वरूपजी कुमावत सुपुत्र स्व. श्रीरामलालजी कुमावत ने बताया कि उन्होंने महात्माजी के लिए बहुत वर्षों तक भोजन बनाया। वे ब्रह्मचारी के हाथ का बना हुआ प्रसाद ही ग्रहण करते थे। उन्हें मालपुए एवं खीर बहुत प्रिय थी। वे सदा परिश्रमी का अन्न ही ग्रहण करते थे।

श्रीकिशनगोपाल मालाकार पुत्र श्रीगोविन्दरामजी ने बताया कि महात्माजी के पास कुछ अलौकिक सिद्धि थी जिससे प्रसाद कम बनने एवं बहुतों में समान रूप से वितरित करने पर भी बचा रहता था आपने बताया कि ''श्रीगोपालसहस्रनाम'' का भाषानुवाद महात्माजो ने किशनगढ में बालाजी की बगीची में रहते हुए किया। अनुवाद के कुछ समय पश्चात् वे गोलोकधाम पधार गए। महात्मा श्रीगोपालदासजी परम वैष्णव एवं उद्भट विद्वान् थे।

प्रस्तोता-

डॉ. दूलीचन्द शर्मा

श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा

विषयानुक्रमणिका

१. जगद्गुरु निम्बार्काचार्यजी का शुभाशीर्वाद　　३

२. प्रस्तावना – ग्रन्थ का सार　　५

३. महात्मा गोपालदासजी का परिचय एवं भक्तों के अनुभव　　१५

४. श्रीराभक्तिमञ्जूषाः उपक्रम　　१९

५. पदार्थसंग्रह नामक प्रथम प्रकरण　　५०

६. श्रीकृष्णस्वरूपयुक्तिः द्वितीय प्रकरण　　५८

७. श्रीराधिका सद्भावयुक्तिः तृतीय प्रकरण　　१६९

८. श्रीराधिकायाः शक्तित्वस्वीकारेऽपि तदुत्कर्ष निरूपणयुक्तिः चतुर्थ प्रकरण　　१९४

९. श्रीराधिकाधिक्यनिर्णययुक्तिः पञ्चम प्रकरण　　२३६

१०. श्रीराधानामनिरूक्तियुक्तिः षष्ठ प्रकरण　　२८६

११. श्रीराधायाः श्रीभागवतप्रतिपाद्यत्वयुक्तिः सप्तम प्रकरण　　३१७

१२. श्रीवृन्दावनोत्कर्षयुक्तिः अष्टम प्रकरण　　३५२

१३. श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा की हस्तलिखित प्रति का प्रथम पृष्ठ　　४२४

*

।। श्रीराधाविहारिणौ जयतः ।।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा

मूलम्:--

प्रणम्य वैष्णवान् धन्याननन्यान् रसिकानहम् ।
श्रीराधाशुद्धभक्तानां स्थितिं निर्णीय वर्णये ।।१ ।।

राधाविहारिणौ वन्दे निम्बादित्यान् गुरूंस्तथा।,
श्रीराधासर्वेश्वराद्यं शरणान्तं च जगद्गुरुम्।
श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा केनचिद् विदुषा कृता।
भूष्यते भाषयानूद्य दुर्लभचन्द्रशर्मणा।।

अनन्य रसिक धन्य वैष्णवों को प्रणाम करके श्रीराधा के शुद्ध भक्तों की (स्थिति) निष्ठा मर्यादा का निर्णय करके वर्णन करता हूँ।।१।।

प्रथम श्लोक पर विशेष टिप्पणी

(एक दिव्य ज्योति राधामाधव रूप में प्रकट हुई। उसी ज्योति ने पति और पत्नी के स्वरूप को धारण किया। उस दिव्य ज्योति की आत्मा राधिका है, उसी के साथ रमण करने से वह आत्माराम कहा जाता है उसे ब्रह्म भी कहते हैं। आत्माराम श्रीकृष्ण की आत्मा राधिका है, उसी के अंशों का विस्तार श्रीकृष्ण की सभी नायिकाएँ हैं। जो कृष्ण है वही राधा है जो राधा है वही कृष्ण है दोनों अभिन्न हैं। इनमें अन्तर देखने वाला संसार से मुक्त नहीं होता है। श्रीराधा अपनी स्वरूप एवं गुण शक्तियों से श्रीकृष्ण के समान है। इस प्रकार श्रीराधा परब्रह्म है। इसी प्रकार की मान्यता वाले जन ही वैष्णव है।

जो दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और संयम आदि श्रेयस्कर कर्मों के द्वारा राधा-माधव विषयक प्रेम लक्षण राग नामक भक्ति से युक्त हैं वे साधक ही धन्य हैं।

अपने सुख से रहित होकर प्रेमास्पद श्रीराधामाधव के सुख में ही सुखी होने वाले तथा भक्ति से भिन्न साधन और उनसे प्राप्त होने वाले फलों को त्यागकर मन, वाणी, शरीर के व्यापार से राधामाधव के सुख में सुखी

होने वाले भक्त ही अनन्य होते हैं।)

स्थितिं मर्यादां निष्ठामिति यावत्। गतिं वा।।

क्वाहमल्पमतिश्चाल्पसाधनः क्वेयमद्भुता।

स्थितिः स्थितिर्मे सैवात्र ययाहं मुखरीकृतः।।२।।

स्थिति का तात्पर्य मर्यादा, निष्ठा अथवा गति है।

कहाँ तो अल्पमति और अल्प साधन वाला मैं और कहाँ यह राधा के शुद्ध भक्तों की भक्ति विषयक निष्ठा, इस विषय के वर्णन में वही राधा विषयक निष्ठा मेरी सहायक है जिससे मैं मुखर हुआ हूँ।।२।।

स्थितिरत्राश्रयः सहाय इति यावत्।

कंचिज्जीवमुरीकर्तुं जाता श्रीललितास्पृहा।

तामेव शक्तिमाश्रित्य कृत्येऽस्मिन् कृतिमानहम्।।३।।

स्थिति का अर्थ आश्रय अथवा सहाय है।

किसी जीव को अङ्गीकार करने के लिए श्रीराधिकाजी की इच्छा (अनुग्रह भाव) उत्पन्न हुई (प्रकट हुई) उसी अनुग्रह शक्ति का आश्रय लेकर मैं इस कार्य में क्रियाशील हुआ हूँ।।३।।

शक्तिर्नाम देवताप्रसादजन्यसंस्कारविशेषः।

अहो चापलमेतन्मे यत्र मुह्यति मोहनः।

वेदेषु गोपितां गोपीं यद्वर्णयितुमुन्मुखः।।४।।

देवता के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला संस्कार विशेष ही शक्ति है। इस संस्कार विशेष के आश्रय से ही कविता प्रकट होती है।

जहाँ दूसरों को मोहित करने वाले मोहन भी मोहित हो जाते हैं तथा जिसे वेदों में भी स्पष्ट शब्दों में वर्णित नहीं किया गया है ऐसी गोपी (श्रीराधा) का वर्णन करने में मैं उन्मुख हो रहा हूँ यह मेरी कितनी चपलता है।।४।।

अवन्ध्येच्छतया तस्याः प्रबन्धे परवानहम्।

सजातीयमनाः कश्चिच्चिनोतु स्वजन्मफलम्।।५।।

उस गोपित गोपी (श्रीराधा) के प्रबन्ध में मैं अमोघ इच्छा से पराधीन हो गया हूँ, सजातीयमन वाला कोई भक्त अपने जन्म के फल का इसमें चयन करे। (फल प्राप्त करे)।।५।।

निर्बन्धेन निबन्धेऽस्मिन्स एव चिनुयात्सुखम् ।
यस्येच्छा राधिकादास्ये हास्येऽन्यस्य परिश्रमः ।।६ ।।
हास्य इति निमित्तसप्तमी ।

जिस भक्त की राधा का दास्य भाव ग्रहण करने की इच्छा है वही इस राधा भक्ति मञ्जूषा रूपी निबन्ध में दृढ अभिनिवेश पूर्वक सुख का चयन करे (प्राप्त करे)। भक्ति रहित जन का परिश्रम केवल उपहास का विषय होगा।।६।।

इयं हि भक्तिमंजूषा भूषाः सन्त्यत्र भूरिशः ।
भूषयित्वा भजन्त्वद्धा श्रीराधां परिचारिकाः ।।७ ।।
आत्मानमिति शेषः ।

यह प्रबन्ध श्रीराधा भक्ति की मञ्जूषा है। इसको सुशोभित करने के बहुत से तत्त्व हैं। भक्त अपने आपको श्रीराधा की सहचरी से भूषित करके उनका भजन करे।।७।।

सोदरो मम गुणैर्वरोऽवरो यन्मनोरथकृते समुद्यमः ।
तत्समानगुणवान् परोप्यमुं सार्थतां नयतु मे परिश्रमम् ।।८ ।।
अवरो जन्मना कनीयानपि गुणैर्वरीयानित्यर्थः ।।

।। इत्युपक्रमः ।।

जन्म से कनिष्ठ भी किन्तु गुणों से श्रेष्ठ मेरे जैसा राधा सखी भाव से भावित, जिस राधा भक्ति के मनोरथ के लिए तत्पर है वह तथा उसके समान गुणों वाला अन्य भी मेरे इस परिश्रम को सार्थक करे।।८।।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायामुपक्रमः।।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषा टिप्पणीः

श्रीहंसं च सनत्कुमारप्रभृतीन् वीणाधरं नारदम्
निम्बादित्यगुरूंश्च द्वादशगुरून् श्रीश्रीनिवासादिकान्।
वन्दे सुन्दरभट्टदेशिकमुखान् वस्विन्दुसंख्यायुतान्
श्रीव्यासाद्धरिमध्यगाच्च परतः सर्वान् गुरून् सादरम्।।१।।
श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्यपदाम्बुजम् ।
वन्दे ह्यभीक्ष्णं श्रीराधाकृष्णसेवाधिकारदम् ।।२ ।।
श्रीराधाभक्तिमंजूषाटिप्पणी क्रियते मया ।

स्वमनः परितोषार्थं भावभूषाप्रदर्शिनी ।।३ ।।

श्रीश्रीगोपालदासेन वृन्दावननिवासिना।
भावभूषाप्रदर्शिनी कृता टिप्पण्यत्यद्भुता।।
सौकर्याय भक्तानां श्री ''श्रीजी''नामनुज्ञया।
भाष्यते कृतिना सेयं दूलीचन्देन भाषया।।

मैं हंस परम्परा को प्रणाम करता हूँ।।१।।

श्रीराधाकृष्ण की सेवा का अधिकार प्रदान करने वाले श्रीबालकृष्ण-शरणदेवाचार्यजी के चरणकमल की सतत वन्दना करता हूँ।।२।।

अपने मन के सन्तोष के लिए श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा की भावभूषा प्रदर्शिनी (भाव सौन्दर्य को प्रकट करने वाली) टिप्पणी मेरे (महात्मा श्रीगोपालदासजी) द्वारा की जा रही है।।३।।

टिप्पणी - विदितमेवास्त्येतदनादिसनातनवेदधर्मानुयायिना यद् वेदान्तशास्त्रोक्तासमधिकैश्वर्य्यमाधुर्य्यादिस्वाभाविकस्वरूपधर्मवैभवात्मका-खिलकल्याणगुणगणैकराशिः, स्वभावतोपास्तसमस्तदोषो, ऽनन्ताचिन्त्य-स्वाभाविकचिदचिच्छक्तिमान्, अखिलकारणकारणोऽपारावारकारुण्योदधिः, ब्रह्म परमात्मपुरुषोत्तम-भगवद्वासुदेवविष्णुमुकुन्दहरिनारायणादि-जगन्मंगल-कारिविविधनामभिः शास्त्रपुंजेऽभिगीतः सर्वेश्वरेश्वरः, सर्वशास्त्र-चरमतात्पर्य्य-भूतो, वेदैकवेद्यः निमित्तोपादानोभयविधजगत्कारणः सर्वशरण्यो ब्रह्मविष्णु-शिवाद्यखिलांशकला-गुण-स्वरूप-विलासादिविविधभेदभिन्न-तत्तदव-ताराणामवतारी, वासुदेवादिव्यूहसेव्यः, सर्वप्रेरको, मुक्तप्राप्यः श्रीकृष्णाख्यः परमपुरुषोऽनन्ताचिन्त्यजगद्रचनापटुतमः स्वस्मिन् प्राक्कल्पविलीनमेव ह्येतज्जगन्निजसत्यसंकल्पेनैव प्रधानाख्यां मायां संक्षोभ्य, महदादिक्रमेणा-विर्भाव्य, जीवानां तत्तत्कर्मफलभोगार्थं, ब्रह्मजिज्ञासोत्पादनद्वारा मोक्षाधिकार-सिद्ध्यर्थं च तत्तत्जीवप्राक्कर्मानुसारेण तांस्तान् जीवान् देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीरैः संयोज्य, तन्मर्यादारक्षणाय तत्तदधिकारयोग्यान् तांस्तान् जीवविशेषान् तत्तदधिकारे संनियोज्य, अनादि सिद्धनिजनिःश्वसितरूपं स्वाज्ञारूपं वेदादिशास्त्रं चतुर्मुखादिद्वारप्रकटीकृत्य, तच्चवसिष्ठादिमहर्षीन् सम्यग्ग्राहयित्वा, स्वयं सर्वगतः सर्वान्तर्याम्यपि मुक्तानां स्वभक्तानां निजस्वरूपगुणलीलानन्दानुभवार्थं कालमायाद्यसंसृष्टनिजामृतत्रिपाद्विभूत्याख्यदिव्याप्राकृतस्वप्रकाशसर्वोपरितन-

गोलोकधाम्नि स्वान्तरतम माधुर्य्यलीलाप्रियपरिकरैः स्वात्मभूतया श्रीविहारिण्या सह नित्यविहारी नित्यमेव विहरन् विराजत इति।

अनादि सनातन वेद धर्मानुयायी यह जानते हैं कि वेदान्त शास्त्र में प्रतिपादित समाधि से अप्राप्य (अथवा वेदान्तशास्त्रोक्त से भी अधिक) ऐश्वर्य, माधुर्यादि स्वाभाविक धर्म वैभवात्मक अखिल कल्याण गुणगणैकराशि, स्वभाव से ही समस्त दोषों से रहित, अनन्त अचिन्त्य, स्वाभाविक चिदचित् शक्तिमान्, अखिल कारणों का कारण, अपार (निःसीम) कारुण्य सागर, ब्रह्म-परमात्मा-पुरुषोत्तम-भगवान्-वासुदेव-विष्णु-मुकुन्द-हरि-नारायण आदि जगन्मङ्गलकारी नामों से शास्त्र में गाए गए, सर्वेश्वर, समस्त शास्त्रों के चरम तात्पर्य रूप, वेद से एकमात्र वेद्य, निमित्त-उपादान एवं उभयविध जगत्कारण, सबके शरणस्थल, ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि समस्त कला-गुण-स्वरूप-विलास आदि विभिन्न भेदों से भिन्न-भिन्न अवतारों का अवतारी वासुदेव आदि व्यूहों के सेव्य, सबका प्रेरक, मुक्त भक्तों को प्राप्य, परमपुरुष अनन्त एवं अचिन्त्य जगत् की रचना में पटुतम श्रीकृष्ण ने प्राक्कल्प में स्वयं में विलीन इस जगत् को अपने सत्य संकल्प से ही प्रधान नामक माया को संक्षुब्ध करके महदादि क्रम से आविर्भाव करके जीवों के विभिन्न कर्मों के फल भोग के लिए और ब्रह्म जिज्ञासा के उत्पादन द्वारा मोक्षाधिकार की सिद्धि के लिए सभी जीवों के प्राक्-कर्मों के अनुसार उन जीवों को देव, मनुष्य, पक्षी आदि शरीरों से संयुक्त करके, उनकी मर्यादा के रक्षण के लिए, तत्-तत् अधिकारों के योग्य उन-उन जीव विशेषों को उन-उन अधिकारों में नियुक्त करके, अनादि सिद्ध निज निःश्वसित रूप अपनी आज्ञारूप, वेदादिशास्त्र को चतुर्मुख (ब्रह्मा) आदि के द्वारा प्रकट करके, उनको (वेदादि शास्त्रों को) वसिष्ठ आदि महर्षियों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करवाकर स्वयं सर्वगत सर्वान्तर्यामी होते हुए भी, मुक्त हुए स्वभक्तों को निज स्वरूप गुणलीला के आनन्द के अनुभव के लिए काल-माया आदि से अछूते अमृत त्रिपाद विभूति नामक दिव्य, अप्राकृत स्वप्रकाश, सर्वोपरि गोलोकधाम में स्वान्तरतम माधुर्य लीला के प्रिय परिकरों एवं स्वात्मभूत श्रीविहारिणी के साथ नित्यविहारी नित्य ही विहार करते हुए विराजते हैं।

स एव नित्यविहारी वेदोदितधर्मरक्षणाय असाधारणं प्रभावैस्तत्तदव-

तारैर्धर्मरक्षां स्वभक्तजनरक्षां च करोति अन्यथा तद्रक्षाऽसंभवः। स एव च तत्तद्युगे तत्तदंशकलाद्यवताररूपैराविर्भूय असाधारणबुद्धिभिरपि दुर्बोधाभिप्रायं वेदराशिं अर्थतस्तात्पर्यतश्च (चक्षिङ्) व्याचष्टे स्वचरणैकशरणानुद्धर्त्तुकामः। स्वज्ञानभक्तिसम्प्रदायपारम्पर्यरक्षणाय चाचार्य्यरूपेणावतीर्य्य मुमुक्षुजीवान् स्वशरणीकृत्यानुगृह्णाति।

वही नित्यविहारी वेदवर्णित धर्म की रक्षा के लिए असाधारण प्रभाव वाले उन-उन अवतारों के द्वारा धर्म एवं अपने भक्तजनों की रक्षा करते हैं अन्यथा धर्म और भक्तों की रक्षा असम्भव है, वही भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न अंश-कलादि अवतार रूपों से आविर्भूत होकर अपने शरणागत भक्तों का उद्धार करने की इच्छा से असाधारण बुद्धि वालों के लिए दुर्बोध अभिप्राय वाली वेदराशि का (अर्थात् और तात्पर्य रूप से) व्याख्यान करते हैं। वह अपने ज्ञान-भक्ति और सम्प्रदाय-परम्परा की रक्षा के लिए आचार्य रूप में अवतार लेकर मुमुक्षु जीवों के लिए अपने शरणागत बनाकर अनुगृहीत करते हैं।

तत्र द्वापरादौ श्रीपराशरात्सत्यवत्यां श्रीवेदव्यासात्मनावतीर्य्य वेदराशिमेकं ऋगादिक्रमेण चतुर्धा विभज्य उत्तरमीमांसाप्रणयनेन श्रुतिविरोधपरिहारपूर्वकसमस्तवेदराशेः सर्वकारणपरब्रह्मणि समन्वयं चकार। श्रीचतुर्मुखादाविर्भूतं वेदार्थोपबृंहकत्वेन ''इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेद'' मिति श्रुत्याभिहितं पुराणसंहिताराशिमेकमष्टादशपृथक्पृथक् पुराणसंहितारूपेण विबभाज। महाभारताख्येतिहासप्रणयनेन वेदार्थं स्फुटं दर्शयामास।

नित्यविहारी ने द्वापर के आदि में पराशर एवं सत्यवती के पुत्र रूप में वेदव्यास के स्वरूप में अवतार लेकर एकीभूत वेद राशि को चार भागों में ऋग्-यजु-साम और अथर्व के रूप में विभक्त करके उत्तर मीमांसा के प्रणयन से श्रुतियों के विरोध का परिहार करते हुए समस्त वेदराशि का सर्वकारण-परब्रह्म में समन्वय किया। इन्हीं व्यासावतार ने ब्रह्मा के चारों मुखों से आविर्भूत वेदार्थ के उपबृंहक के रूप से, वेदों के वेद इतिहास पुराण रूप पञ्चम वेद नाम से प्रसिद्ध पुराण संहिता राशि को अट्ठारह पुराणों के रूप में विभक्त किया। महाभारत नामक इतिहास के प्रणयन से वेदार्थ को और स्पष्ट किया।

तत्रास्मिन् वाराहकल्पेऽष्टाविंशतितमे युगे द्वापरान्ते अरुणर्षेर्भार्यायां श्रीजयन्त्यां श्रीभगवदाज्ञप्तस्तत्करकमलस्थश्चक्रराट् श्रीसुदर्शनः श्रीनियमानन्दाख्ययावतीर्य्य श्रीमद्धंसशिष्याणां श्रीसनत्कुमाराणां शिष्याद्देवर्षेः श्रीनारदाल्लब्धानुग्रहो भगवद्भक्तिज्ञानसत्सम्प्रदायानुच्छेदार्थं श्रीव्याससूत्राभिप्रायं श्रुतिविरोधपरिहारपूर्वक-वेदान्तपारिजाताख्यसूत्रवृत्ति-प्रणयनेनासंदिग्धमूचिवान्।

इस वराहकल्प के अट्ठाईसवें युग में द्वापर के अन्त में ऋषि अरुण की पत्नी जयन्ती के गर्भ में भगवान् की आज्ञा प्राप्त उनके करकमल में स्थित चक्रराज श्रीसुदर्शन ने श्रीनियमानन्द नाम से अवतार लेकर श्रीमद् हंस भगवान् के शिष्य श्रीसनत्कुमार आदि के शिष्य देवर्षि नारद से अनुग्रह प्राप्त करके भगवद् भक्ति ज्ञान सत्-सम्प्रदाय को सुदृढ करने के लिए श्रीव्याससूत्रों के अभिप्राय को श्रुति विरोध परिहार पूर्वक वेदान्त पारिजात नामक सूत्र-वृत्ति प्रणयन पूर्वक असंदिग्ध रूप से प्रकट किया।

पुनश्च स एवाद्याचार्य्यस्तदेव वेदान्तशास्त्रतात्पर्यं सामान्यबुद्धिभिः साम्प्रदायिभिरपि सुखेन यथावबुध्येत तथा गभीरार्थकैरसंदिग्धपदैर्वेदान्तपदार्थ-संग्रहात्मिकायां वेदान्तकामधेन्वाख्यायां दशश्लोक्यामुपदिदेश। तत्रान्तिमेनश्लोकेन भगवत्प्राप्तिकामेनावश्यज्ञेयं वेदान्तार्थपंचकं समस्तशास्त्रार्थसारभूतां निर्दिदेश।

पुनः आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् ने सम्प्रदाय के सामान्य बुद्धि वाले भक्तजन भी वेदान्त शास्त्र के तात्पर्य को जिस प्रकार सुख पूर्वक समझ सकें उसके लिए गम्भीर अर्थ वाले असंदिग्ध पदों से वेदान्त पदार्थ की संग्रहरूप ''वेदान्त कामधेनु नामक दशश्लोकी'' का उपदेश किया। दशश्लोकी के अन्तिम श्लोक के द्वारा भगवान् ने भगवत्प्राप्ति की कामना वाले भक्त के लिए अवश्य जानने योग्य समस्त शास्त्रार्थ के सारभूत वेदान्तार्थ पंचक का निर्देश किया है।

सम्यग् ज्ञानेनार्थपंचकस्वरूपेण निखिलशास्त्रतात्पर्यं करतलामलकवद्भवतीत्यभिप्रायेण। तस्यां हि दशश्लोक्यामुपास्यस्वरूपं 'स्वभावतोऽपास्त.' 'अङ्गे तु वामे' चेति श्लोकयुग्मेन वर्णितं श्रीमदाद्याचार्य्य-पादैः तच्चोपास्यं सर्वान्तरतमसाक्षाच्छृंगाररसस्वरूपं श्रीराधाकृष्णाख्यं परंब्रह्म प्रेमविशेषलक्षणया

पराभक्त्यैव भजनीयमित्यतस्तादृशभक्तावनधिकारिभ्यो मृदुश्रद्धावद्भ्यो शृंगार-रसात्मकोपासनं अर्थान्तरावरणेनप्रसंगोप्य तद्भाष्यकारैः श्रीमत्पुरुषोत्तमाचार्य्य-चरणैर्वेदान्तरत्नमंजूषायामैश्वर्य्यभावोपासनमेव प्राधान्येनोपदिष्टम्।

तथाप्येकान्तत उपास्यस्वरूपनिगूहनं सन्देहप्रसरावसरप्रदम-युक्तमितिविचार्य्य तदुत्तरवर्त्तिभिः श्रीमद्धरिव्यासदेवाचार्यपादैःश्रीमदौदुम्बरा-चार्य्यप्रणीतौदुम्बरसंहितापठित श्रीमदाद्याचार्य्योपदिष्टयुगेज्या-व्रतवर्णनं प्रमाणतया गृहीत्वा तदर्थान्तररूपावरणं दूरीकृत्य सिद्धान्तरत्नांजल्याख्य-दशश्लोकीभाष्ये स्वसम्प्रदायिनां श्रीराधाकृष्णाख्यम् उपास्यं दृढीकृतम्। तेन श्रीमद्गोपालतापनीप्रोक्तपंचपदीविद्योपासकानां गोलोककर्णिकाभूतश्रीमद्-वृन्दावनयोगपीठाधिष्ठितश्रीराधाकृष्णाख्ययुगलं स्वसम्प्रदायिनामनन्य-साधारणमुपास्यमिति सर्वेऽपि सम्प्रदायिनो निश्चितवन्तः। स्वगृहे निगूढनिधिमिव च प्राप्तवन्तः।

पुनश्च त एव सिद्धान्तरत्नांजलिकाराः श्रीमदाचार्यपादाः श्रीमहावाण्याख्यभाषाकाव्यप्रणयनेनोपास्योपासकोपासनाभावस्वरूपं स्पष्टतरमूचिरे। सैव सखीभावात्मिका युगलोपासना श्रीराधाभक्ति-मंजूषाख्यनिबन्धरूपेणोपनिबध्य विविधशास्त्रप्रमाणोपन्यासद्वारा सिद्धान्तिता एतद्ग्रन्थकारैरेतावता चैतत्प्रकारक-ग्रन्थावश्यकतापूर्तिः कृता। सैषा मंजूषोपास्योपासकोपासनास्वरूपविषये श्रीमदाद्याचार्यप्रोक्तश्रीमहावाणी-दृढीकृततत्त्रितयस्वरूपानुसारिणीति मत्त्वा तदर्थावधारणाय यत्यते मया।

यथा च श्रीराधाकृष्णात्मकयुगलमेवासमोर्द्ध-महिम-सर्वमूल-सनातनसाक्षात्स्वयंब्रह्मस्वरूपं स्कन्दपद्म-नारदीयब्रह्मवैवर्त्तादिपुराण-पंचरात्रतापनीश्रुत्यादिषूक्तं तथैवात्रापि श्रीमदाद्याचार्योक्त्य-विरोधेन मंजूषायां प्रतिपादितम्।

अभिप्राय यह है कि अर्थपञ्चक के सम्यग् ज्ञान से समस्त शास्त्र का तात्पर्य हस्तामलक (हाथ में आंवले के समान) प्रतीत होता है। दशश्लोकी में आचार्यपाद ने ''स्वभावतोऽपास्त'' और ''अङ्गे तु वामे'' इन दोनों श्लोकों से उपास्य के स्वरूप को प्रकट किया है और वह उपास्य है ''सर्वान्तरतम साक्षात् शृङ्गार रसस्वरूप श्रीराधाकृष्ण नामक परब्रह्म।'' उसकी उपासना प्रेम विशेषलक्षणा पराभक्ति के द्वारा ही होती है। उस प्रकार

की भक्ति में जिनका अधिकार नहीं है ऐसे मृदु श्रद्धा वाले भक्तजनों के लिए शृङ्गार रसात्मक उपासना का अर्थान्तर से गोपन करके भाष्यकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरण ने वेदान्तरत्नमञ्जूषा में ऐश्वर्य भाव की उपासना को ही प्रधान रूप से उपदिष्ट किया है।

तथापि एकान्ततः उपास्य के स्वरूप को छिपाना सन्देह का अवसर प्रदान करता है अतः छिपाना युक्ति संगत नहीं है ऐसा विचार करके उत्तरवर्त्ती श्रीमद्हरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने औदुम्बराचार्य प्रणीत ''औदुम्बरसंहिता'' में प्रतिपादित आद्याचार्य के द्वारा उपदिष्ट युगलोपासना के वर्णन को प्रमाण मानकर आवरण दूर करके-सिद्धान्त रत्नाञ्जली नामक दशश्लोकी के भाष्य में अपने सम्प्रदाय के श्रीराधाकृष्ण के उपास्य स्वरूप को दृढ किया। सम्प्रदाय के सभी विद्वानों ने यह निश्चय किया कि श्रीमद्गोपालतापनी में वर्णित पञ्चपदी विद्या के उपासना में रत रहने वाले अपने सम्प्रदाय के उपासकों के लिए श्रीमद् वृन्दावन योगपीठाधिष्ठित ''श्रीराधाकृष्णयुगल'' ही उपास्य हैं। इस सिद्धान्त को अपने घर में छिपी हुई निधि (खजाना) के समान प्राप्त किया।

सिद्धान्तरत्नाञ्जलिकार श्रीमद्आचार्यपाद श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज ने ''महावाणीजी'' नामक भाषाकाव्य का प्रणयन करके उपास्य-उपासक और उपासना के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया। श्रीराधाभक्ति मञ्जूषा नामक इस ग्रन्थ में उसी सखी भावात्मिका युगलोपासना को विषय बनाया गया है। ग्रन्थकार ने अनेक शास्त्रों के प्रमाण देकर इस प्रकार के शास्त्रीय ग्रन्थ की पूर्ति की। यह ''राधाभक्ति मञ्जूषा'' उपास्य-उपासक और उपासना के स्वरूप के विषय में श्रीमद् आद्याचार्य द्वारा प्रोक्त तथा महावाणी द्वारा दृढ किए गए सिद्धान्त का अनुसरण करने वाली है-ऐसा मानकर मैं इसके अर्थ अवधारणा के लिए यत्न कर रहा हूँ।

जिस प्रकार स्कन्द-पद्म-नारदीय और ब्रह्मपुराण एवं पञ्चरात्र तथा तापनी श्रुति आदि में राधा-कृष्ण युगल को ही अतुल्य महिमा वाला तथा सर्वमूल-सनातन-साक्षात् स्वयं ब्रह्म स्वरूप कहा गया है वैसे ही यहाँ मञ्जूषा में भी श्रीमद् आद्याचार्य की उक्तियों का अविरोध पूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

अत्र सांख्य-तार्किक-जैन-बौद्धादीनां वेदबाह्यानां श्रुतिनिरपेक्ष प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनामाधुनिकानां च लौकिकव्यवहार एव, मानवजीवनेति-कर्तव्यतादृष्टीनां प्रधान-काल-स्वभाव-परमाण्वादिजडकारणवादिनां युक्त्याभासानां पूर्वाचार्य्यैरेव बहुशःसम्यङ् निरस्तत्वादत्र तत्प्रपञ्चोऽनावश्यक इति मत्त्वा तेषां प्रलापानामुन्मत्तप्रलापवच्छिष्टैरुपेक्षणीयत्वमेवावसीयते।

''तद्विष्णोः परमं पदं०'' ''विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि', 'न ते विष्णो जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप', ''सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णो परमं पदं'', ''तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिधते। विष्णोर्यत् परमं पदम्।'', ''प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वाः'', ''अस्यदेवस्यमीह्लुषो वया विष्णो रेषस्य (ऋ.सं. ७/३/५)'' (तत्र रेषस्य=प्रापणीयस्य । मीह्लुषः कामानां सेक्तुः विष्णोः सर्वदेवात्मकस्य वयाः=शाखा इवान्ये देवा भवन्ति। ''विष्णुः सर्वा देवताः इति श्रुतेः यज्ञो वै विष्णुः'' ''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः''-इत्यादिवेदमन्त्रैर्विष्ण्वाख्यमेकमद्वितीयं सद्वस्तु परब्रह्मादिशब्दान्तरवाच्यं निःसमानातिशयत्वेन गीयते इतितावन्निर्विवा-दम्।

वेद बाह्य सांख्य, तार्किक, जैन और बौद्धों के तथा श्रुति से निरपेक्ष प्रत्यक्ष मात्र को ही प्रमाण मानने वाले, लौकिक व्यवहार को ही मानव जीवन की इति कर्त्तव्यता मानने वाले तथा प्रकृति-काल-स्वभाव-परमाणु आदि जड़ तत्त्वों को सृष्टि का कारण मानने वालों की युक्त्याभासों का पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने बहुशः सम्यक् प्रकार से खण्डन कर दिया है अतः उनका खण्डन करना यहाँ अनावश्यक है-ऐसा मानकर उनके प्रलापों को उन्मत्त प्रलाप के समान समझते हुए शिष्टजनों को उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। वह विष्णु का परम पद है। ''जिसने पृथिवी सम्बन्धी लोकों का निर्माण किया है, उस विष्णु के वीर कर्मों का मैं वर्णन करता हूँ।'' ''न तो उत्पन्न होने वाला और न उत्पन्न हुआ कोई भी देव विष्णु की महिमा के अन्तिम छोर को प्राप्त कर सका'' ''वह (भक्त) उस विष्णु के परम पद और उसके मार्ग के पार को प्राप्त करता है।''

''विष्णु का जो परम पद है उसको मन्यु (क्रोध) रहित जागरणशील

विप्रजन दीप्त करते हैं (प्राप्त करते हैं)।'' ''कुत्सित गति वाले तथा कन्दराओं में रहने वाले भयानक सिंह के समान सर्वत्र गतिशील (कुचरः-क्वायं न चरति) स्तुतियों में रहने वालना (गिरिष्ठा) दुर्जनों के लिए भयंकर (भीमः) खोजने योग्य (मृगः) उन विष्णु (व्यापक तत्त्व) को अपने वीर कर्मों से स्तुति किया जाता है।'' ''जिस (विष्णु) के तीव्र विस्तृत पद क्रम में सारे भुवन निवास करते हैं (अर्थात् स्थित हैं)।'' ''अन्य देव गतिशील अथवा प्रापणीय कामनाओं के वर्षक विष्णु की शाखा के समान हैं।'' ''यज्ञ ही विष्णु है'' ''देवताओं ने यज्ञ से यज्ञ का यजन किया''। इन वेद मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि विष्णु नामक एक और अद्वितीय सद्वस्तु है जिसे परब्रह्म आदि अन्य शब्दों से सर्वातिशय रूप से निर्विवाद गाया जाता है।

अन्यथा विष्णोरसमोर्द्धपारम्याभिधायिनामेषां मंत्राणामौपचारिकत्वेन केवलार्थवादत्वप्रसंगात् वेदस्य प्रतारकत्वापत्तेश्च ''अस्य देवस्यमीह्लुषो वया विष्णो रेषस्य''-इति वदन्त्या ऋचा अन्यदेवानां तत्तुल्यत्वाधिकत्वे निवारिते। शिवाद्यपेक्षया विष्णोर्न्यूनत्वप्रतिपादक मंत्राभावान्नायमर्थवाद इति निश्चीयते। न च शिवेन्द्र-सवित्रादीनामपि तद्वदेव पारम्यं वेदमंत्रैरुद्घुष्टमिति वाच्यम्। ''वया विष्णो रेषस्य'' इत्यनेन मंत्रेणैव तदितरपारम्यस्य निरस्तत्वात्। योगवृत्त्या शिवादिशब्दानामपि विष्ण्वाख्यपरमात्मपरत्वात्। यथा च गायत्रीमंत्रे सवितृशब्दस्य न भास्करपरत्वम् किन्तु जगत्कारणपरमात्मपरत्वं तद्वत्। शिवेन्द्रसवित्रादीनां परमात्मनः श्रीविष्णोः सकाशादुत्पत्तिश्रवणाच्च। न च विष्ण्वादिशब्दानां निर्धर्मकनिर्विशेषवस्तुन्येव तात्पर्यमिति वाच्यम्। तथात्वे जगद्रचनानुपपत्तेः, ब्रह्मकारणवादिनीनां श्रुतीनां प्रतारकत्वापत्तेश्च नापि प्रपंचस्य मिथ्यात्वेन त्रैकालिकाभाव एवेति प्रलपितव्यम्। तथात्वे जगत् प्रतीतिरूप-कार्य्यानुपपत्तेः। खपुष्पप्रतीतिर्न कुत्रापि कदापि दृष्टश्रुतचराः। न चाभासैकरूप-मायैव तत्प्रतीतिहेतुरिति वाच्यम्। तस्याभावरूपत्वेऽद्वैतभंगः अभावरूपत्वे प्रतीत्यनुपपत्तेश्च।

यदि ऐसा नहीं होता तो विष्णु को अतुल्य रूप में वर्णन करने वाले ये मन्त्र केवल औपचारिक होने से अर्थवाद हो जाएंगे तथा ''वेद प्रतारक (ठग) नहीं है'' इस पर भी आपत्ति आ जाएगी (अर्थात् ये मन्त्र पारमार्थिक है अर्थ वाद परक नहीं है) वस्तुतः विष्णु ही असमोर्द्ध रूप से स्तुत्य एवं

उपासनीय है। ''अस्य देवस्य मीह्लुषो'' इस ऋचा के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि न तो कोई अन्य देवता विष्णु के समान है और न अधिक है।'' शिवादि की अपेक्षा विष्णु की न्यूनता प्रकट करने वाले मन्त्रों का अभाव है अतः ये मन्त्र अर्थवाद (प्रशंसा परक) भी नहीं हैं अपितु वस्तुस्थिति परक हैं। शिव, इन्द्र तथा सविता आदि की भी विष्णु के समान ही सर्वोत्कृष्टता वेद मन्त्रों के द्वारा घोषित की गई है-ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ''वया विष्णो रेषस्य'' इस मन्त्र के द्वारा दूसरे देवताओं की सर्वोत्कृष्टता निरस्त की गई है। योगवृत्ति से शिवादि शब्द भी विष्णु नामक परमात्मा के परक ही सिद्ध होते हैं (अर्थात् शब्दों की योगवृत्ति से शिव आदि का अर्थ भी विष्णु ही है)। जैसे गायत्री मन्त्र में ''सवितृ'' शब्द का अर्थ ''भास्कर सूर्य'' नहीं है अपितु जगत्कारण परमात्मा है वैसे ही अन्य देवता वाची शब्दों के अर्थ भी परमात्मा ही है। शिव, इन्द्र और सविता आदि की उत्पत्ति परमात्मा विष्णु से सुनी जाती है। तथा विष्णु आदि शब्दों का अर्थ निर्धर्मक, निर्विशेष वस्तु नहीं कहना चाहिए क्योंकि उसे निर्धर्मक मानने पर जगद् रचना नहीं हो सकेगी तथा ब्रह्म को कारण मानने वाली श्रुतियाँ भी प्रतारक (ठगने वाली, निरर्थक) सिद्ध हो जायेगी (अतः विष्णु सधर्मक है, सविशेष है सगुण है। प्रपञ्च (जगत्) को मिथ्या मानकर उसके त्रैकालिक अभाव का प्रलाप भी नहीं करना चाहिये। त्रैकालिक अभाव मानने पर जगत् प्रतीति रूप कार्य की संगति नहीं होगी क्योंकि ''आकाश कुसुम'' की प्रतीति कहीं भी न तो देखी गई है और न सुनी गई है। और आभासमात्र स्वरूप वाली माया ही उसकी (जगत् की) प्रतीति का हेतु है-ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि माया को भावरूप मानने में अद्वैत का भङ्ग होता है तथा अभावरूप मानने पर प्रतीति संगत नहीं होती है।

न च तस्या भावाभावोभयभिन्नत्वादनिर्वचनीयत्वमेवेति वाच्यम्। भावाभावकोटिद्वयरहितपदार्थस्यात्यन्ताभावात्। कारणसत्त्वापेक्षित्वात्कार्यस्य। न च वाच्यं तस्या व्यावहारिकसत्त्वमात्रमिष्यत इति। यदि त्रैकालिकात्यन्ताभावाद्व्यावहारिकसत्त्वं यत् किंचिदप्यतिरिच्यते तर्हि अद्वैत भंगापत्तिः। न च वाच्यं तस्याः ब्रह्मणा सह न समसत्ताकत्वं, अतो नाद्वैत-भंगापत्तिरिति। समस्य वा असमस्य वा सत्ताकत्वाभ्युपगमेन प्रतीतौ स्वयंचेष्टा-

वत्त्वानुपपत्तेः ''उपला नृत्यन्तीतिवदसंभवोक्तिकत्वाच्च।

माया भावाभाव उभय से भिन्न होने से अनिर्वचनीय है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि भावाभावकोटिद्वय से रहित पदार्थ का अत्यन्ताभाव होता है तथा कार्य को सत्कारण की अपेक्षा रहती है। माया की व्यावहारिक सत्ता ही अपेक्षित है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। यदि त्रैकालिक अत्यन्ताभाव से व्यावहारिक सत्ता यत् किञ्चित् अतिरेक से है तब अद्वैत भङ्ग की उपस्थिति हो जाएगी। ब्रह्म के साथ माया की समसत्ता नहीं है अतः अद्वैत भङ्ग नहीं होता है-ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। माया की चाहे हम समसत्ता या असमसत्ता स्वीकार करें सत्ता स्वीकार किये जाने पर अद्वैत का भंग रोका नहीं जा सकता (अर्थात् किसी भी प्रकार माया की सत्ता स्वीकार करने पर अद्वैत भङ्ग होता ही है)।

किञ्च माया को जड़ रूप में स्वीकार करने पर उसमें स्वयं चेष्टा की संगति नहीं हो सकेगी-जैसे ''उपल (पत्थर) नांच रहे हैं'' इसके समान असम्भव उक्ति होने से।

ब्रह्मणःकर्तृत्वादिविरहस्याभ्युपगमेन तदितरस्य नियन्तुरभावाद-निर्मोक्षप्रसंगाच्च। मुक्तानां पुनर्बंध प्रसंगाच्च। न च चिन्मात्रब्रह्मसान्निध्या-त्तस्यास्तथात्वमस्त्वितिवाच्यम्। घटस्यापि ब्रह्माधिष्ठानत्वेन तथात्वप्रसंगात्। न च अग्नितप्तायोगोलकस्य दाहकत्ववत् मायाया अपि चेतनाविष्टत्वात्स्वयं कार्यकारित्वमित्यपि संभवति। दृष्टान्त-वैषम्यात्। यथा अग्नितप्तायोगोलकस्य दाहकत्वं नायःपिंडस्य किन्त्वग्नेरेव, अयोगोलके तस्य केवलं संक्रमणमेव, तथा अचेतनमायायाश्चेष्टावत्त्वं न मायाकर्तृकं किन्तु प्रेरकचेतनस्यैवेत्यकामतोऽपि त्वयाऽभ्युपेयम्। तस्याश्चेतनप्रेरकानङ्गीकारे अनिर्मोक्षप्रसंग इत्यवोचाम। लोह चुंबकदृष्टान्तेनापि नेष्टसिद्धिराशासितव्या। चुंबके आकर्षणशक्तेर-वश्याभ्युपेयत्वात्। अन्यथा कस्यापि प्रस्तरखंडस्य आकर्षकत्वप्रसंगात्। तस्माद्वेदोक्तं स्वाभाविकस्वरूपशक्तिमद्ब्रह्मैव सर्वव्यापनशीलं विष्णवाख्यं वस्त्विति वैष्णवानां राद्धान्तः। इति दिक्।

ब्रह्म को कर्तृत्व आदि धर्मों से रहित स्वीकार करने तथा उससे भिन्न नियन्ता के अभाव होने से मोक्ष का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होगा (यतः माया जड़ है उसमें किसी प्रकार की चेष्टा नहीं है, ब्रह्म कर्तृत्वादि धर्मों

से रहित है, उससे भिन्न और कोई नियन्ता नहीं है अतः मोक्ष कौन प्रदान करेगा, अतः मोक्ष का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होगा तथा वेदान्ती मोक्ष को मानते हैं)।

यदि ब्रह्म निर्धर्मक है, उससे भिन्न कोई नियन्ता नहीं है तथापि मोक्ष है तब मुक्तों के पुनर्बन्धन का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा (अव्यवस्था के कारण)। यह भी कहना उचित नहीं होगा कि चिन्मात्र ब्रह्म के सान्निध्य से माया में चेतना आ जाएगी। यदि ऐसा होगा तब ब्रह्म का अधिष्ठान होने से घट में भी वही चेतना तथा शक्ति होगी जो माया में स्वीकार होगी। जैसे अग्नि से तप्त अयोगोलक (लोहे के गोले में) दाहकता रहती है उसी प्रकार माया चेतना से आविष्ट होने के कारण स्वयं कार्य सम्पादन कर लेगी यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि दृष्टान्त की विषमता होने के कारण। जैसे अग्नि से तप्त अयोगोलक की दाहकता, अयः पिण्ड की दाहकता नहीं है अपितु अग्नि की दाहकता है, अयोगोलक में तो केवल उसका (दाहकता का) संक्रमण हुआ है वैसे ही अचेतन माया का चेष्टा से युक्त होना माया का कर्तृत्व नहीं है अपितु प्रेरक चेतन का ही कर्तृत्व है अतः आपके न चाहने पर भी प्रेरक ब्रह्म में कर्तृत्व आपको स्वीकार करना ही पड़ेगा। माया के चेतन प्रेरक को स्वीकार किये बिना इस झंझट से मुक्ति सम्भव नहीं है ऐसा हमने कहा है। लोह चुम्बक दृष्टान्त से भी इष्ट की सिद्धि हो सकेगी ऐसी भी आशा नहीं करनी चाहिए। यतः चुम्बक में आकर्षण शक्ति अवश्य स्वीकार की जानी चाहिए, यदि ऐसा नहीं करेंगे तब जिस-किसी भी पत्थर में लोहे को आकृष्ट करने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा (जबकि चुम्बक को छोड़ कर अन्य कोई पत्थर लोहे को आकृष्ट नहीं करता है)। इसलिए वेदोक्त स्वाभाविक स्वरूप शक्ति मद् ब्रह्म ही सर्वव्यापन शील विष्णु नामक वस्तु है-यह वैष्णवों का सिद्धान्त है। इतिदिक्।।

तत्रादौ प्रारिप्सितग्रन्थस्य निर्विघ्नसमाप्तिमाकांक्षन् शिष्टाचारप्राप्तं अनन्यरसिकवैष्णवरूपेष्टदेवतानमस्काररूपं मंगलमाचरति,-प्रेमविशेष-लक्षणरागानुगाख्यप्रकृतभक्तेस्तदेकलभ्यत्वात्-प्रणम्येत्यादिनाऽऽदिम श्लोकार्धेन। अहम् ' जय जय जय श्रीहितू०'-इति श्रीमहावाण्युक्तेः श्रीराधाशुद्धभक्तानां स्थितिं वर्णये। ननु कविकल्पनाप्रचुरमेव वर्णनं कर्तुं

प्रवृत्तोऽस्याहोस्विदस्ति तत्र शास्त्रानुसारित्वमपीति चेदाह-निर्णयेति। शास्त्रमुखेन निर्णयं कृत्वेति यावत्। एतेनास्या युगलोपास्तेरशास्त्रीयत्वदोषो निराकृतो बोध्यः। श्रीराधाशुद्धभक्तानामित्येतस्या अशुद्धभक्ता अपि सन्तीति सूचितम्। ते चाशुद्धभक्ताः प्रकृतयुगलोपास्तौ श्रीकृष्णेन सह दांपत्यकामा एव। स्वार्थानुरागित्वेन प्रेम्णो ह्यविशुद्धत्वमेव वाच्यम्। निरपेक्षत्वमेव प्रेम्णो विशुद्धत्वम्।

सर्व प्रथम प्रारिप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति चाहते हुए शिष्टाचार प्राप्त अनन्य रसिक वैष्णव रूप इष्टदेवता के लिए नमस्कार रूप मङ्गलकामना करते हैं **''प्रणम्य वैष्णवान्''** यह मङ्गलाचरण है। इस आदिम श्लोक के अर्द्धभाग से प्रतिपादित करते हैं कि ''प्रेमविशेषलक्षणरागानुगा भक्ति से अनन्य रसिकता एवं वैष्णवता प्राप्त होती है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि मैं ''जय जय श्रीहितू-इस रूप में श्रीमहावाणीजी की उक्ति के अनुसार राधा के शुद्ध भक्तों की स्थिति का वर्णन करता हूँ। प्रश्न होता है कि क्या कवि कल्पना प्रचुर वर्णन करने के लिए प्रवृत्त हुए हो या शास्त्रानुसार वर्णन है? इसी के लिए श्लोक में निर्णीय पद दिया गया है जिसका अर्थ है-शास्त्र के अनुसार निर्णय करके। इस प्रकार युगलोपासना में अशास्त्रीय होने के दोष का निराकरण किया गया है अर्थात् युगलोपासना शास्त्रीय है। **''राधाशुद्धभक्तानां''** का तात्पर्य है कि भक्त शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार के होते हैं अशुद्ध भक्त वे हैं जो युगलोपासना में श्रीकृष्ण के साथ दाम्पत्य की कामना करते हैं। स्वार्थानुरागी रूप से प्रेम अविशुद्ध (मलिन) होता है तथा निरपेक्ष रूप से प्रेम विशुद्ध होता है।

''आशासानः स वै वणिगिति श्रीप्रह्लादोक्तेः। लोकद्वयानपेक्षत्वं रसस्योपनिषत्परेति वक्ष्यमाणाच्च। स्वशृंगाराभावे ननु तासां निकुंजसखीनां काममनूपास्तिस्वरूपानुरूपशृंगाररसस्वरूपताऽसिद्धिरिति चेत् न, युगलशृंगारानुमोदकत्वेनैव तासां तथात्वम्। पंचपदीविद्योक्तस्वाहापददर्शितरीत्या स्वशृंगारसुखस्यापि ताभिः श्रीराधासुख एवान्तर्भावितत्वात्। तद्विषयकनिर्हेतुकप्रेममात्रस्याभीष्टत्वादनभीष्टत्वाच्चेतरस्य। गंगायां मिलितस्य प्रवाहान्तरस्य गंगात्ववत्। युगलशृंगारैकस्वरसत्वमेवात्र मिलितत्वं, स्वरसान्तरत्वमेवामिलितत्वमिति बोध्यम्। न च वाच्यं स्वशृंगारोपाधिक-

प्रेम्ण एव औत्सुक्यातिशयत्वेन रसावधिरूपत्वमिति। तादृशप्रेम्णः सहेतुकस्य स्वशृंगारस्फूर्तिरूपवेद्यान्तरस्फूर्त्तिमत्त्वात्रसावधिरूपत्वासिद्धेः।

कामना करने वाला वणिक् है-प्रह्लाद की इस उक्ति से सिद्ध होता है कि कामनायुक्त अशुद्ध भक्त हैं तथा कामना रहित-निरपेक्ष भक्त शुद्ध हैं। दोनों लोकों की कामना न करना ही रस की परम कसौटी है। ऐसा आगे कहेंगे। प्रश्न होता है कि स्वशृंगार के अभाव में निकुञ्ज सखियों में उपासना रहित स्वरूप के अनुरूप शृंगार रस स्वरूप की भी सिद्धि नहीं होगी-ऐसा यदि कहें तो ठीक नहीं है क्योंकि युगलशृंगार के अनुमोदक रूप से उनमें भी शृंगार रस की सिद्धि हो जायेगी। पञ्चपदी विद्या में उक्त स्वाहा पद में दर्शित रीति से निकुञ्ज सखियों के द्वारा अपने शृंगार सुख को भी राधा के सुख में अन्तर्भावित कर देने के कारण उनमें भी रसरूपता सिद्ध हो जाती है। राधा विषयक निर्हेतुक प्रेम (लोकद्वय निरपेक्ष) अभीष्ट होने से तथा उससे भिन्न प्रेम अनभीष्ट होने के कारण जैसे गंगा में मिले हुए अन्य प्रवाह को भी गंगा माना जाता है, वैसे ही दोनों रूप होंगे। युगल शृंगार ही एकमात्र स्वरसरूपता होना-मिलितत्व है तथा स्वरसान्तरत्व ही अमिलितत्व समझना चाहिए। स्वशृंगार की उपाधि वाले प्रेम को औत्सुक्य की अतिशयता के कारण रसावधि रूप नहीं कहना चाहिए। सहेतुक स्वशृंगार की उपाधि वाले प्रेम को रसावधि रूप नहीं कह सकते हैं क्योंकि उसमें स्वशृंगार रूप वेद्यान्तर की स्फूर्ति बनी रहती है जबकि रस वेद्यान्तर स्पर्शशून्य होता है।

''उन्मज्जन्ति निमज्जंति प्रेम्ण्यखंडरसत्वतः। सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ'-इति वक्ष्यमाणरीत्या निर्हेतुकप्रेम्ण्येव मुख्यावृत्ती रसशब्दस्य। किं पुनर्भगवद्विषयकतादृशप्रेम्णस्तच्छब्दवाच्यत्वमिति। सर्वान्तरात्मपरस्परात्मरूपस्य युगलस्यात्र परब्रह्मताभ्युवगमान्निर्हेतुकप्रेमा-स्पदत्वोपपत्तिः। ''प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मा''दितिश्रुतेः। किञ्च ''दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः'' ''निरपेक्षा निराहारा०'' ''प्रार्थितामपि कृष्णेन तत्र भोगपराङ्मुखी।'' इत्यादिवक्ष्यमाणरीत्योपनतैश्वर्य्योपेक्षामात्रेण न खलु तासां शृंगाररसरूपत्वहानिः। तत्त्वस्य पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धत्वात्। अतएव ''प्रिययाप्रेरितो मुहुः''.....रमयित्वा च ताः सर्वाः०'' इत्यादिपुराणोक्त-फलश्रुतेर्न विरोधः। उक्तपुराणवाक्यैः तासां श्रीसखीनां गोपीनां निकुंजे

स्वेच्छानुसारेण निःशेषसुखोपनतिर्विवक्षिता मुक्तानां निःशेषसुखावाप्तिश्रुतेर्न प्रकृतयुगलोपासनाफलत्वेन तादृशवाक्यानि नेतुं युक्तम्। तानि तु पुराणवाक्यानि कान्तभावोपासनफलपराणीति फलबलेन वक्तुं शक्यत्वात् । निकुंजे तादृश-स्वरसाभावात् सखीनां न तत्सुखातिरिक्तस्वसुखस्फूर्त्तिः कल्पयितुं शक्या। अन्यथा प्रेम्णः सहेतुकात्वापत्तेः। किंच अन्यदेव श्रीराधासाहित्येन-श्रीकृष्णस्य कान्तभावेनोपासनं अन्यदेव हि समप्राधान्यसिद्धान्तरूढयुगलोपासनम् इतिविविच्य बोध्यम्। भावभेदेन फलभेदस्य वक्तव्यत्वात् दिक्। अपि च ''असिद्धं बहिरंगम् अन्तरंगकार्य्ये'' इति शाब्दिकपरिभाषाया अप्यत्र सम्यक् चरितार्थत्वाच्च। निकुंजे श्रीकृष्णस्यात्मारामस्य स्वात्मभूत-श्रीराधैकस्वरसस्य नान्यासंगः कल्पयितुं शक्यते। तत्कल्पने तदेकस्वरसत्वविघातापत्तेः। परस्परात्मभूतयोः श्रीराधाकृष्णयोरेव शृंगारोऽत्र अन्तरंगः। तस्मिन्नन्तरंगशृंगारे श्रीसखीकर्तृकबहिरंगशृंगारस्य आत्मारामत्वविघातकया अस्वरसतया चासिद्धत्वादन्यासां तत्र सखीत्वस्यैवौचित्यात् आत्मनोऽन्यत्र स्वरसेन रमणमेवात्मारामत्वविघातकं, न त्वस्वरसेन केवलभक्तेच्छापूरणार्थम्। कान्तस्य स्वरसाभावेऽपि भक्तानुग्रहाय आत्मनोऽन्यत्र रमणमेवात्र आत्माराम-त्वस्यौपचारिकत्वम्। आत्मारामत्वं चैतन्निकुंजेऽनौपचारिकमितरत्र व्रजादौ औपाधिकं बोध्यम्। न च वाच्यं मुक्तानां बहुभवनसंकल्पशक्तिसंपन्न-त्वेनैकरूपेण तासां श्रीसखीत्वं, प्रकाशान्तरेण स्वस्वकुंजे कान्तेन श्रीकृष्णेन सह दाम्पत्यक्रीडेति। तासां तादृशस्वरसाभावात्प्रकाशान्तरकरणेन तादृश-क्रीडाकल्पनस्यायुक्तत्वात्। भावे च तत्सुखैकस्वरसताविघाताच्च दाम्पत्य स्वभावत एव श्रीकृष्णप्राधान्येन समप्राधान्यात्मकयुगलोपास्तिहानेः। यच्च श्रीनिकुंजे प्रेमलीलायां श्रीराधायाः पुरतः श्रीकृष्णस्य दैन्यप्रदर्शनं, तत्तु प्रेमलीलायास्तादृशस्वभावत्वेनैवसमाधेयम्। तत्सिद्धं स्वार्थानुरागिणां अशुद्धभक्तत्वमिति। अलमतिविस्तरेण। प्रकृतमनुसरामः। अनन्यरसिकान् प्रणम्य किं वर्णयसीति चेदाह-श्रीराधाशुद्धभक्तानां स्थितिं निष्ठां मर्यादामिति यावत्। रसिकान् विशिनष्टि वैष्णवान्, धन्यान्, अनन्यानिति त्रिभिर्विशेषणैः। तत्र वैष्णवानित्यनेन वक्ष्यमाणश्रीराधाप्राधान्येनैतद्रसोपासने परैरुद्भाविता-वैष्णवत्वदोषव्यावृत्तिः उभयोः श्रीराधाकृष्णयोः परस्परात्मरूपयोरभिन्नत्वा-भ्युपगमा ''स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्''-

इति बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणश्रुतेः। ''आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ। आत्माराम इति ब्रह्मन् प्रोच्यते गूढवेदिभिः।''

जैसे वारिधि में तरङ्गें उठती रहती हैं और निमग्न होती रहती हैं वैसे ही अखण्ड प्रेम रस में अन्य सभी रस और भाव उठते और निमग्न होते रहते हैं इस वक्ष्यमाण रीति से रस शब्द की मुख्य वृत्ति निर्हेतुक प्रेम में ही है सहेतुक में नहीं और भगवद् विषयक प्रेम के विषय में तो कहना ही क्या। सर्वान्तरात्मा और परस्पर आत्मरूप युगल ही परब्रह्म है इसीलिए उसमें निर्हेतुक प्रेमास्पदत्व संगत होता है। अर्थात् राधाकृष्ण युगल ही सबकी आत्मा है तथा वे परस्पर एक दूसरे की भी आत्मा है अतः वह युगल ही निर्हेतुक प्रेमास्पद है। श्रुति का वचन है-''अन्य सबसे प्रेय।'' ''मेरी सेवा के बिना लोग दिये जाते हुए को भी ग्रहण नहीं करते हैं'' ''निरपेक्ष और निराहार'' ''कृष्ण के द्वारा प्रार्थित भी वहाँ (स्वशृंगार भोग में पराङ्गमुख) इस वक्ष्यमाण रीति से उपनत ऐश्वर्य की उपेक्षा मात्र से उन निकुञ्ज सखियों में शृंगार रस रूप की हानि नहीं होती है। रस रूपता की सिद्धि पूर्वोक्त राधा सुख में ही अपने सुख का अन्तर्भाव करने की रीति से हो जाती है। ''प्रिया से प्रेरित वह (श्रीकृष्ण) बार-बार....रमण करके उन सबको.... इत्यादि पद्मपुराणोक्त फलश्रुति से विरोध नहीं है। उक्त पुराण वाक्यों से श्रीसखियों एवं गोपियों की निकुञ्ज में स्वेच्छानुसार समस्त सुखों की प्राप्ति विवक्षित है तथा मुक्तों की भी समस्त सुखों की प्राप्ति सुनी गई है एवं स्वेच्छानुसार निःशेष सुखों की प्राप्ति विवक्षित है। किन्तु ये सभी पुराणों के वाक्य युगलोपासना के फल के रूप में नहीं समझे जाने चाहिए। वे पुराण वाक्य कान्तभाव की उपासना के फल परायण हैं। फल के बल से इन वाक्यों की व्याख्या वैसी ही की जानी चाहिए। निकुञ्ज में ऐसे स्वरस का अभाव है क्योंकि निकुञ्ज में सखियों के लिए तत्सुखातिरिक्त (युगल सुख के अतिरिक्त) सुख की स्फूर्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है अन्यथा प्रेम सहेतुक कहा जाने लगेगा। राधा के साहित्य से श्रीकृष्ण की कान्तभाव से उपासना अन्य है तथा समप्राधान्य सिद्धान्त रूढ युगलोपासना अन्य ही है-भावभेद से फल भेद कहना चाहिए। फलप्राप्ति और लीला में स्वरस ही प्रयोजक होता है। ''अन्तरंग कार्य उपस्थित होने पर बहिरङ्ग कार्य असिद्ध हो जाता

है'' यह शाब्दिकों की परिभाषा भी यहाँ सम्यक् प्रकार से चरितार्थ हुई है। निकुञ्ज में आत्माराम श्रीकृष्ण और अपनी आत्मारूप श्रीराधैकस्वरस का अन्य के साथ संग हो ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यदि कल्पना करें (अन्यासङ्ग की) तब आत्मा का स्वरस से अन्यत्र रमण करना ही आत्मारामत्व का विनाशक हो जायेगा (क्योंकि आत्मा में रमण करने वाला आत्माराम है अन्यत्र रमण करने वाला नहीं) भक्त की इच्छा पूर्ति के लिए अस्वरस से रमण करना भी ठीक नहीं है। स्वरसाभाव में भक्तों के अनुग्रह के लिए आत्मा से अन्यत्र कान्त का रमण करना गौणरूप से आत्माराम कहा जा सकता है यह समाधन भी एकस्वरसत्व का विनाशक है। परस्पर (अर्थात् एक-दूसरे में) आत्मभूत श्रीराधाकृष्ण का शृंगार ही यहाँ अन्तरङ्ग है। उस अन्तरङ्ग शृंगार के उपस्थित होने पर श्रीसखियों के द्वारा किए गए बहिरङ्ग शृङ्गार के आत्मारामत्व के विनाशक होने के कारण और अस्वरसता के कारण असिद्ध होने से अन्यों का वहाँ सखी भाव ही स्वीकार करना उचित है। निकुञ्ज में आत्मारामत्व अनौपचारिक है अन्यत्र व्रजभाव आदि में तो औपचारिक है। मुक्त भक्तों को श्रीसखी के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि वे बहुभवन संकल्प शक्ति से सम्पन्न हैं तथा एक स्वरूप हैं। प्रकाशान्तर से स्व-स्व कुञ्ज में कान्त श्रीकृष्ण के साथ दाम्पत्य क्रीडा होती है। उन सखियों (श्रीसखि भिन्नों) की उस प्रकार के स्वरसाभाव के कारण प्रकाशान्तर से होने वाली क्रीड़ा को युगलोपासना के सदृश नहीं समझना चाहिए। यदि स्वीकार करेंगे तब तत्सुखैक स्वरसता (युगल के सुख में ही सुख रूपता) का विनाश होगा। दाम्पत्य भाव में स्वाभाविक रूप से श्रीकृष्ण की प्रधानता के कारण समप्राधान्यात्मक युगलोपासना की हानि होगी। और जो निकुञ्ज में प्रेमलीला में श्रीराधा के आगे श्रीकृष्ण का दैन्य प्रदर्शन है उसका समाधान यह है कि प्रेमलीला में ऐसा ही स्वभाव होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वार्थानुरागी अशुद्ध भक्त होते हैं। इस विषय के विस्तार की अब आवश्यकता नहीं है। प्रकृत विषय पर आते हैं। अनन्य रसिकों को प्रणाम करके क्या वर्णन करना चाहते हैं? उत्तर है-श्रीराधा के शुद्ध भक्तों की स्थिति और मर्यादा का वर्णन करना चाहते हैं। रसिकों के तीन विशेषण दिए गए हैं-वैष्णव, धन्य और अनन्य। वैष्णव शब्द कहने से श्रीराधा के

प्राधान्य से इस रसोपासना में विरोधियों के द्वारा उद्भावित वैष्णवत्व दोष की निवृत्ति सूचित होती है। वैष्णव स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखते हैं- श्रीराधा और कृष्ण परस्पर एक दूसरे की आत्मा हैं अतः भिन्न-भिन्न न होकर अभिन्न हैं। बृहदारण्यक में पुरुषविध श्रुति में कहा गया है-''उस (परब्रह्म) ने ही आत्मा को (स्वयं को) दो प्रकार से प्रकट किया उस रूप से पति और पत्नी हुए।'' उसकी आत्मा राधिका है उसी के साथ रमण करने से वह आत्माराम कहा जाता है गूढ रहस्य को जानने वालों के द्वारा।

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका । तस्या एवांशविस्ताराः सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः। स एव सा, स सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका। इति स्कान्दोक्तेः। ''यस्माज्ज्योतिरभूद्वेधा राधामाधवरूपक-मितिसम्मोहन-तंत्रोक्तेः।'' ''राधा भजति तं कृष्णं स च तां च परस्परम् । उभयोः सर्वसाम्यं च सदा सन्तो वदन्ति हि।।'' इति ब्रह्मवैवर्त्तोक्तेः। ''यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः। तथा ब्रह्मस्वरूपा सा निर्लिप्ता प्रकृतेः परा।।'' इति श्रीनारदपंचरात्रे ज्ञानामृतसारसंहितोक्तेः। ''आत्मना रमया रेमे व्यक्तकालसिसृक्षया'' ''यः कृष्णः सापि राधा, या राधा कृष्ण एव सः। अनयोरन्तरादर्शी संसारान्न विमुच्यते।।'' इति ब्रह्मसंहितोक्तेश्च।। एतत्सर्वमभिप्रेत्यैवोक्तमत्र पदार्थसंग्रहे उद्देशग्रन्थे-''दरभेदे दरो भूयान्किं पुनः शक्तिभावने।''

श्रीराधायाः स्वरूपगुणशक्तिभिः सर्वथा श्रीकृष्णसाम्यं प्रतिपाद-यद्भिरुदाहृतवाक्यैस्तस्याः परब्रह्मतासिद्ध्या तदुपासने शाक्तत्वा-वैष्णवत्वादिदोषाः शास्त्रेणैव स्वयं निराकृताः।

क्वचित्तस्याः स्वरूपशक्तिपदेन व्यपदेशेऽग्न्यौष्ण्यवत्तस्याः स्वरूपताद्योतनार्थः। स्वरूपशक्तिर्नाम स्वरूपं, न ततः पृथगित्यभिप्रायेण। यथा ह्यौष्ण्यं विना नाग्निस्वरूपसिद्धिर्न च तत्स्वरूपाद् विविच्य चिन्तयितुं शक्यं, तथैव परमात्मस्वरूपतद्घटक-शक्त्योरपि। यद्वा तस्यास्तथाव्यपदेशः शक्तीनामधिदैवतत्वात्। यथा गजपतेर्न गजत्वं तथैव शक्तीनामधिदैवतस्य न शक्तित्वं,, अपितु शक्तिमत्त्वं, तद्वत्प्रकृतेऽपि बोध्यम्। किं च राधाकृष्णेति प्रकाशद्वयात्मनावस्थित्यापि परब्रह्मणो नाद्वितीयत्वभंगः न वा ब्रह्मद्वयापत्तिः, नापि सखंडत्वदोषः। ''स हैतावानास, यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, स

इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्'' इत्यनया श्रुत्यैव तादृशाक्षेपाणां निराकृतत्वात् आत्मन एव प्रकाशद्वयात्मनावस्थितेः।

''आत्माराम श्रीकृष्ण की आत्मा निश्चय ही राधिका है'' ''उसी राधिका के अंशों का विस्तार समस्त कृष्ण नायिकाएँ हैं।'' वह (श्रीकृष्ण) ही वह (श्रीराधा) है, न्ह श्रीकृष्ण ही राधा है, वंशी उनकी प्रेम की रूप (प्रतीक) है-ऐसा स्कन्दपुराण में कहा है। सम्मोहन तन्त्र में कहा है- ''राधा-माधव रूप में ज्योति ही दो प्रकार से प्रकट हुई।'' ब्रह्मवैवर्तपुराण में कहा है-''राधा उस कृष्ण को भजती है और वह भी श्रीकृष्ण उस राधा को भजते हैं-इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को भजते हैं (या अपने को ही भजते हैं) सन्तजन सदा दोनों में सभी प्रकार का साम्य कहते हैं।'' श्रीनारद-पञ्चरात्र की ज्ञानामृतसंहिता में कहा गया है-''जैसे ब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण प्रकृति से परे हैं वैसे ही निर्लिप्त ब्रह्मस्वरूपा श्रीराधा प्रकृति से परे हैं।'' व्यक्तकाल के सर्जन की इच्छा से उसने अपनी रमा (आत्मा, राधा) से रमण किया। जो कृष्ण है वह भी राधा है, जो राधा है वह कृष्ण ही है। इन दोनों में भेद देखने वाला संसार से मुक्त नहीं होता है ऐसा ब्रह्मसंहिता में कहा गया है। इन सभी के अभिप्राय को विचार करके ही पदार्थ संग्रह-उद्देश ग्रन्थ में कहा है-(राधा-कृष्ण में) तनिक भेद मानने पर अत्यधिक भय (त्रास) उपस्थित हो जाएगा पुनः राधा को शक्ति मानने पर तो कहना ही क्या।

स्वरूप-गुण शक्ति के आधार पर श्रीराधा का श्रीकृष्ण के साथ सर्वथा साम्य सिद्ध करने के लिए उद्धृत वाक्यों से उसकी (श्रीराधा की) परब्रह्मता सिद्ध होती है अतः उसकी उपासना में शाक्तत्व तथा अवैष्णवता के दोषों का निराकरण स्वयं शास्त्र ने ही कर दिया है। (श्रीकृष्ण से भिन्न राधा को शक्तिरूप में मानकर उपासना करने में ये दोष होते हैं)

कहीं श्रीराधा का स्वरूप शक्ति पद से उल्लेख हुआ भी है तो वह केवल उसके स्वरूप को द्योतक करने के लिए है जैसे अग्नि के स्वरूप को द्योतित करने के लिए ऊष्णता का उल्लेख कर दिया जाता है। स्वरूप शक्ति का अर्थ स्वरूप है न कि उससे भिन्न कोई और। जैसे ऊष्णता के बिना अग्नि के स्वरूप की सिद्धि नहीं होती है तथा उसके स्वरूप की विवेचना के बिना उसका चिन्तन भी सम्भव नहीं है वैसे ही परमात्म स्वरूप और उसकी घटक

शक्ति के विषय में भी समझना चाहिए। अथवा राधा शक्तियों की अधि देवता है अतः उसका स्वरूप शक्ति के रूप में उल्लेख है ऐसा समझना चाहिए। जैसे गजपति में केवल गजत्व नहीं है, वैसे ही शक्तियों की अधिदेवता श्रीराधा केवल शक्ति नहीं है अपितु शक्तिमती है वैसे इस विषय में समझना चाहिए। और भी राधा और कृष्ण इस प्रकार प्रकाशद्वय रूप में स्थित होने पर भी परब्रह्म में अद्वैत की हानि नहीं होती है अर्थात् द्वैत सिद्ध नहीं होता है अथवा ब्रह्मद्वय की सिद्धि नहीं होती है और न सखण्ड होने का दोष आता है। वही (ब्रह्म) इस प्रकार है-जैसे स्त्री और पुरुष एक दूसरे से मिले रहते हैं, उसी ने अपने को दो रूपों में प्रकट किया। इस प्रकार आत्मा ही प्रकाश द्वय रूप में स्थित है। इन श्रुतियों से आक्षेपों का निराकरण हो जाता है।

ननु ''आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः'' इत्यत्र परमात्मनः पुरुषाकारत्वं श्रूयते, तस्मादेव पुरुषाकृतेर्ब्रह्मणः तत्तुप्राकृतव्यवहारापेक्षयेति बोध्यम् तदपि ऐश्वर्यप्रधानलीलायामेव। न तु स्वाधीनपतिकाप्रणयलीलासु, लीलास्वारस्यविघातापत्तेः प्रेम्णस्तु कुटिलागतिरितिन्यायाच्च। स्त्र्याकारोत्पत्ति-श्रवणात् स्त्र्याकारापेक्षया पुरुषप्राधान्यं वेदानामभिमतमित्यवगम्यते, पुरुषसूक्ताच्चापि, तत्कथं राधाप्राधान्येन युगलोपासनं वैदिकमतानुसारीति चेत् उच्यते-''स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्'' इति वाक्यशेषेणैव श्रुत्योपक्रान्तपुरुषविधस्य आत्मनः परस्परालिंगितस्त्री-पुरुषाकारत्वं उद्घुष्टं, तस्यैव मिथुनाकृतेः पुरुषविधस्य स्पष्टप्रतिपत्तये तदेवात्मरूपं दम्पतिरूपेणाभवत्। नास्यांश्रुतौ पुरुषाकारात्परमात्मनः स्त्रिय उत्पत्तिः श्रूयते येन वैदिकमते पुरुषाकारस्य प्राधान्यं वक्तुं शक्येत। किं तर्हि आदित अनादित एव स पुरुषविधः परमात्मा स्त्री-पुरुषात्मकमिथुनरूपः इत्येवं प्रतिपाद्यते श्रुत्या। यत्तु तस्मिन्नेव पुरुषब्राह्मणे-ऐश्वर्य्योपासने स्यान्नाम पुरुषप्राधान्यं स्त्र्यपेक्षया नतु प्रेमैकप्रचुरे माधुर्य्योपासने तदवकाशं लभते प्रेमस्वभाव-विघातापत्तेः समप्राधान्यसिद्धान्तहानेरित्यलं विस्तरेण। नापि पुरुषसूक्ते श्रीसूक्ते च श्रियउत्पत्तिः श्रूयते जगद्बीजपुरुषात्। येन तस्या अप्राधान्यं कल्प्येत। अनपायिनी श्रीरित्युक्तेः।

प्रश्न होता है कि ''सबसे आगे आत्मा पुरुषविध था'' इस उक्ति में परमात्मा पुरुषाकार रूप में सुना जाता है इसलिए उसी पुरुष ब्राह्मण में पुरुषाकृति ब्रह्म को स्त्री कहा है वह तो प्राकृत व्यवहार की अपेक्षा समझना चाहिए। वह भी ऐश्वर्य प्रधान लीला में ही होता है न कि स्वाधीनपतिका प्रणय लीला में, यदि स्वाधीन पतिका प्रणयलीला में भी पुरुष का प्राधान्य माना जाएगा तब लीला के स्वाद में विघात हो जाएगा। स्वाधीन पति का लीला में पति अधीन होता है। प्रेम की गति कुटिल होती है। जहाँ पुरुषविध ब्रह्म से स्त्री के आकार की उत्पत्ति सुनी जाती है वहाँ स्त्री की अपेक्षा पुरुष प्राधान्य है-ऐसा मानने वालों की दृष्टि में राधा का प्राधान्य होने पर युगलोपासना वैदिक मतानुसारी है यह कैसे माना जा सकता है? यदि ऐसा है तो इसका उत्तर यह है-''वह (परब्रह्म) ऐसा था जैसे स्त्री और पुरुष परस्पर सम्मिलित होते हैं वैसे उसने अपने आपको दो प्रकार से प्रकट किया तब पति और पत्नी हुए।'' इस वाक्य शेष से श्रुति के द्वारा परमात्मा के पुरुषविध होने से प्रारम्भ करके उसके परस्पर आलिङ्गित स्त्री-पुरुषाकार रूप में होने की घोषणा की गई। उसी मिथुनाकृति के पुरुषविध रूप की स्पष्ट प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिए वही आत्मा दम्पती रूप में हुआ। इस श्रुति में कही भी यह नहीं कहा गया कि पुरुषाकार परमात्मा से स्त्री की उत्पत्ति हुई है। जिससे वैदिक मत में यह सिद्ध हो सके कि परमात्मा के पुरुषाकार का प्राधान्य है। श्रुति के द्वारा यही प्रतिपादित होता है कि आदि से या अनादिकाल से पुरुषविध परमात्मा स्त्री-पुरुषात्मक मिथुन रूप है। ऐश्वर्योपासना में भले ही स्त्री की अपेक्षा पुरुषविध का प्राधान्य हो किन्तु माधुर्योपासना में वैसा स्वीकार करने पर प्रेम के स्वाभाविक स्वरूप की हानि होगी तथा समप्राधान्य सिद्धान्त की भी हानि होगी (अर्थात् माधुर्योपासना-युगलोपासना में समप्राधान्य है अर्थात् युगल की समान रूप से प्रधानता है अतः पुरुषविध स्वरूप की प्रधानता स्वीकार करने पर हानि होगी) और यह भी बात है कि न तो पुरुषसूक्त में और न श्रीसूक्त में कहीं भी जगद्बीज पुरुष से श्री की उत्पत्ति सुनी जाती है जिससे उसका (श्री-लक्ष्मी-राधा का) अप्राधान्य हो। श्रीअनपायिनी (अविनाशी) है।

पुनः कीदृशान् रसिकान्-धन्यान् धन्यवादार्हानित्यर्थः। तेषामेव

सफलजनुस्त्वात् कृतकार्य्यत्वादलभ्यलब्धृत्वात् निरपेक्षतया आत्माराम-त्वात्, भगवद्वशीकारत्वाच्च सर्वापेक्षया नितरां धन्यवादार्हत्वम्। परमफल-स्वरूप-प्रेमविशेषलक्षण-रागानुगाख्यभक्तिमत्त्वेनेत्यर्थः। 'भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्त्तते। तावत्प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्। पद्म.दा.ख.
''कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मंगलाचरितैर्दानैर्मतिर्नः कृष्ण ईश्वरे''
''दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते।''
''अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया०''
''भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते''
''धर्मादयः किमगुणेन च कांक्षितेन सारंजुषां, चरणयोरुपगायतां नः''
''सेवानुरक्तमनसामभवोऽपिफल्गुः'' इत्यादिना श्रीमद्भागवते भक्तेः परमफलत्वेन वर्णनात्। अनेन भक्तिरसिकानां मोक्षार्थित्वमपि व्यावृत्तं बोध्यम्। पराभक्तिनिष्ठादाढ्र्येन तेषां तदनादरो युक्त एव सिद्धान्तेऽपि-''निश्चला त्वयि या भक्तिस्सैव मुक्तिर्जनार्दन'' इत्यादिना मुक्ता एव हि भक्तास्ते तव विष्णोर्यतो हरेः।। भगवद्विषयकपरमप्रेमरूपभक्तेरेव मुक्तिरूपत्वं उद्घुष्टं पुराणदिषु।

इस विवेचन के पश्चात् मूल में कहे गये ''**धन्य**'' शब्द की व्याख्या करते हैं-धन्यान्-अर्थात् धन्यवाद के योग्य। उन्हीं का जन्म सफल है वे ही कृतकार्य हैं क्योंकि वे अलभ्य को प्राप्त करने वाले हैं। वे निरपेक्ष रूप से आत्माराम हैं। भगवान् को वश में करने के कारण सबकी अपेक्षा अत्यन्त धन्यवाद के योग्य हैं। वे राधा भक्त वैष्णव धन्य इसलिए हैं कि वे परमफल स्वरूप प्रेम विशेषलक्षण राग नामक भक्ति वाले हैं।

''भोग और मोक्ष रूपी पिशाची जब तक हृदय में है तब तक प्रेमसुख का उदय नहीं हो सकता है।'' पद्मपुराण।

''कर्मों से जहाँ कहीं घुमाये जाते हुए हम लोगों की मति ईश्वर की इच्छा से माङ्गलिक कार्य और दान से ईश्वर स्वरूप कृष्ण में हुई है।''

''दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयम और अनेक प्रकार के श्रेय कर्मों से कृष्ण विषयक भक्ति सिद्ध की जाती है।''

''तुम्हारी (श्रीराधा-कृष्ण की) महिमा रूपी समुद्र रस की एक बूंद मात्र के चखने से ....(श्रीकृष्ण की भक्ति सिद्ध होती है)।''

''हे साधो ! भक्ति प्राप्त करने वाले के लिए क्या शेष रह जाता है।''

''भक्ति के सार का सेवन करने वाले, भगवान् के चरणों का गायन करने वाले हम लोगों के लिए गुणहीन मानकर चाहे जाने से धर्मादि किस काम के हैं।''

''सेवा में अनुरक्त मन वालों के लिए मुक्ति (अभव) भी निःसार है'' इस प्रकार भागवत में भक्ति के परम फल के रूप में मुक्ति भी नहीं है। भक्ति रसिकों के लिए मोक्ष की इच्छा रखना भी निषिद्ध है। पराभक्ति में निष्ठा की दृढता के कारण भक्तों का मुक्ति के लिए अनादर होना ठीक ही है- सिद्धान्त में भी हे जनार्दन! तुझमें जो निश्चल भक्ति है वही मुक्ति है। व्यापक तुझ हरि के जो भक्त हैं वे ही मुक्त हैं ऐसा कहा गया है। पुराणादि में भगवद् विषयक परम प्रेमरूप भक्ति को ही मुक्ति का रूप कहा गया है।

पुनः कीदृशान् रसिकान् ? अनन्यान्। स्वार्थसुखस्फूर्त्तिरूपवेद्यान्त-रराहित्येन प्रेमास्पदसुखैकसुखित्वम् अनन्यत्वम्। साधनान्तराश्रयान्तरफलान्तर-राहित्येन आत्मात्मीयन्यासात्मकैकान्तित्वं वा, मनोवाक्कायव्यापाराणां तत्सुखैकहेतुत्वं वा, तत्सुखार्थैकजीवनत्वं वा तत्त्वम्। एवं गुणविशिष्टान् रसिकान् प्रणम्येत्यर्थः। ननु किंलक्षणास्ते रसिकाः कश्चासौ रस इति चेदुच्यते। रस्यते आस्वाद्यते प्रेमोन्मादेनायमिति रसः। स चात्र प्रकृते निरूपधिप्रेमास्पदः सर्वाकर्षकाखिलैश्वर्य्यमाधुर्यवान् सच्चिदानन्दघनो युगलरूपः परमात्मैव। ''रसो वै सः'' ''रसं ह्येवायं लब्धाऽऽनन्दी भवति, एष ह्येवानन्दयाति,'' ''प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मे''त्यादि-श्रुतिभ्यः स एव मुख्योऽप्राकृतो रसः। रसे निरतिशयानन्दनत्वेन सर्वाधिक-प्रेमास्पदत्व-स्योपपत्तिः। जीवकर्तृकशृंगारस्य रसत्वं तु निर्हेतुकप्रेमापेक्षया वाच्यं तदभावे औपचारिकमेव रसत्वम्। प्रेम्णस्तत्राशुद्धत्वेनाभासमानत्वात्। कामानुबन्धिनो रसस्य ग्राम्यत्वात्। कामप्रेम्णोः कार्यकारणभावस्यानियतत्त्वाच्च। ''बहिरन्तः करणयोर्व्यापारान्तररोधकम्। स्वकारणादिसंश्लेषि चमत्कारिसुखं रसः'' इत्यलंकारकौस्तुभोक्ते र्विभावानुभावसात्त्विकसंचारिभिः संवलितएव रसआविर्भवति अन्तर्बहिरिन्द्रियाणां अनुभावाद्यतिरिक्तव्यापारान्तस्य निरोधं

कुर्वन्। तेन रसाविर्भावे तदास्वादने वा नान्तर्बहिरिन्द्रियाणां व्यापारान्तर-स्योपयोगिता। यत्र तदुपयोगिता स तु रसो ग्राम्यः। यथा श्रीमद्भागवते-अथ वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानव-रतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः'' इत्यादिगद्येन रसस्वरूपतदा-स्वादनप्रकारौ वर्णितौ। तत्रैवान्यत्र-अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः। इति श्रीसप्तमोक्तेः।

अब मङ्गलाचरण में आए ''**अनन्यान्**'' जो ''**वैष्णवान्**'' का विशेषण है की व्याख्या करते हैं। अनन्य का अर्थ है अपने लिए होने वाले सुख की स्फूर्ति का जहाँ बोध न हो, केवल प्रेमास्पद (युगल) के सुख में सुखी होना। अनन्य का अर्थ और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं जो भक्ति को छोड़कर अन्य साधन स्वीकार नहीं करते, राधा-कृष्ण से भिन्न का आश्रय नहीं लेते, जो मोक्ष आदि अन्य फलों की इच्छा नहीं रखते हैं तथा जो अपने मन, वाणी और शरीर के व्यापारों से तत्सुख (युगल सुख) में ही सुखी रहते हैं अथवा युगलसुख के लिए ही एकमात्र जिनका जीवन है वे ही अनन्य भक्त कहे जाते हैं। ऐसे गुण विशिष्ट रसिकों को प्रणाम करके। इन रसिकों का क्या स्वरूप है तथा यह रस कौनसा है-इसके विषय में कहते हैं-रस्यते आस्वाद्यते....प्रेम के उन्माद से जिसका आस्वादन किया जावे वह रस है। प्रकृत विषय में वह रस सबका आकर्षण करने वाला, अखिल ऐश्वर्य और माधुर्य वाला, सच्चिदानन्दघन, युगलस्वरूप, निरुपधिप्रेमास्पद परमात्मा ही है। रस ही वह (परमात्मा) है, ''रस (परमात्मा) को प्राप्त करके ही यह (साधक) आनन्दित होता है।'' ''यह (परमात्मा) ही आनन्दित करता है।'' ''सभी अन्यों से अन्तरतर प्रेय यह आत्मा ही है''-इत्यादि श्रुतियों से वही मुख्य अप्राकृत रस है। परमात्मा को सर्वाधिक प्रेमास्पद इसलिए कहा जाता है कि वह निरतिशय आनन्द प्रदान करने वाला है। निर्हेतुक प्रेम की अपेक्षा से ही जीवकर्तृक शृंगार को रस कहना चाहिए, निर्हेतुक प्रेम के अभाव में उसमें औपचारिक (गौण) रसत्व रहता है। क्योंकि उसमें प्रेम अशुद्ध रूप से भासमान रहता है। कामानुबन्धी रस में ग्राम्यत्व दोष रहता है, काम और प्रेम का कार्य-कारण भाव भी अनियत होता है। अलंकार कौस्तुभ में रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है--

अन्तः और बाह्य करणों के व्यापारान्तर को रोकने वाले, अपने कारणों से संश्लिष्ट चमत्कारी सुख को रस कहते हैं। अन्तःकरण तथा बाह्य करणों के व्यापारान्तर का निरोध करता हुआ, अपने आविर्भाव के कारण स्वरूप विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों से संवलित ही रस आविर्भूत होता है। इसलिए रसाविर्भाव में तथा उसके आस्वादन में अन्तः-बाह्य इन्द्रियों के व्यापारान्तर की उपयोगिता जहाँ होती है वह ग्राम्य रस है। जैसा कि इस विषय में भागवत में लिखा गया है-हे प्रभु! तुम्हारी महिमारूपी अमृतरस रूपी समुद्र की बिन्दु के एक बार आस्वादन से अपने मन में निष्यन्दमान अनवरत सुख से देखे और सुने गए सुख का आभास भी विस्मृत हो जाता है। इत्यादि गद्य के द्वारा रस के स्वरूप तथा आस्वादन के प्रकार का वर्णन किया गया है। भागवत में ही अन्यत्र कहा है-भक्त स्पन्दन रहित प्रणय के आनन्दाश्रुओं से बन्द नेत्रों वाला हो जाता है।

''एवं व्रतः स्वप्रियनाम-कीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्तउच्चैः। हसत्यथो रोदिति रौतिगायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।'' ''कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना। विनानन्दाश्रु-कलया शुद्धयेद्भक्त्या विनाशयः'' इत्यादिना चित्तद्रवलक्षणेन प्रेम्णैव रसस्य ग्राह्यत्वादन्तर्बहिः करणव्यापारान्तरस्य तत्रानावश्यकत्वात्। एतेनान्तर्बहिःकरणकानिवार्यव्यापारैकग्राह्यो रसो ह्यविशुद्धो बोध्यः ''रसो वै सः'' इति सामानाधिकरण्येन रसस्य सच्चिदानन्दत्वमावेदितं श्रुत्या। एतद् रसभावनाकुशला ये ते रसिकाः। एतेन देहसंबन्धनिरपेक्षतदेक-स्फूर्त्यात्मकविभानुभावसात्त्विकसंचारिणामौत्कण्ठ्येन चित्तद्रव्यलक्षणेनैव तस्य रसनीयत्वं, न प्रकारान्तरेण वेद्यान्तरस्फूर्त्यात्मकेनेति सूचितम्। एतत्सर्वमुपरि-ष्टान्मूल एव स्फुटी भविष्यति। प्रोक्तलक्षणरसं प्रोक्तप्रकारेण ये निरन्तररसन-शीलास्त एवात्र रसिकपदेन व्यवह्रियन्ते। अत एवोक्तं श्रीकृष्णयामले--

''भगवद्भक्ति के व्रत वाला साधक लौकिक विषयों से बहिर्भूत होकर अपने प्रिय नाम (भगवन्नाम) के कीर्तन से अनुराग युक्त होकर द्रुतचित्त होता हुआ ऊँचे स्वर से हँसता है, रोता है।''

''रोमहर्ष के बिना द्रवीभूत हुए चित्त के बिना, आनन्दाश्रुओं के बिना, भक्ति के बिना हृदय (भाव) कैसे शुद्ध होवे।'' अर्थात् इन सबसे हृदय शुद्ध होता है।

इस प्रकार चित्तद्रव लक्षण प्रेम से ही रस ग्राह्य होता है अन्तः और बाह्य करणों का व्यापारान्तर वहाँ आवश्यक नहीं है। अन्तःकरण और बाह्य करणों के व्यापार से ग्राह्य रस अविशुद्ध होता है। ''रसो वै सः'' इस सामानाधिकरण्य से श्रुति के द्वारा रस को सच्चिदानन्द ब्रह्म कहा है। जो इस रसभावना से कुशल होते हैं वे रसिक होते हैं। इस प्रकार देह सम्बन्ध से निरपेक्ष उसी (ब्रह्म) में स्फूर्त होने वाले विभावानुभाव सात्त्विक भाव और संचारी भावों की उत्कण्ठा से चित्त के द्रवीभूत होने से ही रस की रसनीयता है, न कि वेद्यान्तर की स्फूर्ति वाले प्रकारान्तर से। यह सब आगे मूल ग्रन्थ में ही स्फुट होगा। उक्त लक्षण रस के उक्त प्रकार से जो निरन्तर रसनशील होते हैं वे ही यहाँ ''रसिक'' कहे जाते हैं।

अतः कृष्णयामल में कहा है--

न कामुकानां न च कामिनीनां तमोरजः सत्त्वधियां मुनीनाम्। न ज्ञानिनां मुक्तिविधानसेविनां साक्षाद्भवेत्कृष्णविहारसंस्थितिः इति। एतेन कामसुखानुबन्धिशृंगारस्य रसत्वं प्रकृतरसोपासने व्यावृत्तं बोध्यम्। परमात्मस्वरूपयोः परस्परात्मभूतयोः श्रीराधाकृष्णयोस्तु शृंगारः परमप्रेमानन्दानुभावरूपः स्वाभाविको निरतिशयानन्दोत्कर्षहेतुः। द्विपत्रत्वाच्छृंगारस्यात्रोपासने अभिन्नरूपदम्पत्योरेवाविषयालंबनत्वम्। स एव तयोः शृंगारः सखीनामुपास्यः ''आत्ममिथुन'' पदेन भूमाविद्याश्रुतिरपि रसस्वरूपपरमात्मनो दम्पतिरूपस्यैव निरतिशयानन्दरूपत्वं ब्रूते। परस्परात्मदम्पत्योरेवमिथुनं मिथुनं यस्येतिविग्रहवाक्यात्।

एवं तावदादिमश्लोकेन अस्य रसोपासनशास्त्रस्य विषयप्रयोजनाधिकारिसंबन्धात्मकं अनुबन्धचतुष्टयमपि ग्रन्थकारेण सूचितम्। तत्र अनन्यरसिका एवाधिकारिणः, प्रोक्तविशुद्ध-रसास्वादनं प्रयोजनं, तेषां श्रीराधाशुद्धभक्तानां निष्ठाप्रतिपादनं विषयः ग्रन्थतद्विषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूपः संबंधः ।।१।।२।।

''कृष्ण विहार की स्थिति का साक्षात्कार न तो कामुकजनों को होता है और न कामिनियों को होता है, न तमोगुण-रजोगुण और सात्त्विक गुण युक्त बुद्धि वाले मुनियों को होता है तथा मुक्ति के विधान का सेवन करने वाले ज्ञानियों को भी नहीं होता है।''

इस प्रकार कामसुख से अनुबन्धित शृंगार रस का रसत्व प्रकृत रसोपासना में स्वीकृत नहीं है ऐसा समझना चाहिए। परमात्मस्वरूप तथा एक दूसरे के आत्मस्वरूप श्रीराधा और कृष्ण का शृंगार तो परम प्रेमानन्द अनुभव रूप स्वाभाविक तथा निरतिशय आनन्दोत्कर्ष का हेतु होता है। दूसरे के साथ जीव कर्तृक शृंगार तो स्वात्माराम परमेश्वर के लिए आनन्दोकर्ष का कारण नहीं होता है। शृंगार में दो पात्र होते हैं अतः यहाँ उपासना में (शृंगार की उपासना में) अभिन्न रूप दम्पती को ही आलम्बन का विषय बनाया है। उन दोनों का वह शृंगार ही सखियों के द्वारा उपास्य है।

भूमाविद्या रूप श्रुति भी (भूमा वै सुखं) ''आत्ममिथुन'' रूप पद के द्वारा रसस्वरूप परमात्मा के दम्पती रूप को ही निरतिशय आनन्द रूप कहती है।

''आत्ममिथुन'' पद का विग्रह है-परस्पर आत्मरूप दम्पती का मिथुन ही मिथुन है जिसका।''

इस प्रकार ग्रन्थ के प्रथम श्लोक के द्वारा इस रसोपासना शास्त्र के विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध रूप अनुबन्ध चतुष्टय को भी ग्रन्थकार ने सूचित कर दिया। इस रसोपासना शास्त्र में अनन्य रसिक ही अधिकारी हैं, विशुद्ध रस (युगल विषयक रस) का आस्वादन ही प्रयोजन है, श्रीराधा के शुद्ध भक्तों की निष्ठा का प्रतिपादन करना ही विषय है तथा ग्रन्थ और उसके विषय में प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव रूप सम्बन्ध है।

श्रीललितास्पृहेति--श्रीराधानुराधयोरभेदविवक्षया श्रीराधाया एव तादृशी स्पृहेतिभावः। एतेन सखीभावसंसिद्धौ श्रीललिता-रंगदेव्याद्यनुग्रह-स्यैव हेतुत्वमिति सूचितम्।।३।।

वेदेषु गोपितां गोपीमिति--श्रीमद्गोपालतापिन्यामपि गोपीगान्धर्वेति सामान्यपदनिर्द्देशाद्वेदेषु तस्या गोपितत्वोक्तिः।।४।।

अवन्ध्येच्छतयेति--अमोघेच्छतया, 'सत्यकामः सत्यसंकल्प' इत्यादिश्रुतेः। सजातीयमना इति-समानोपास्यत्वम् उपास्यैकत्वं वा सजातीयत्वम्।।५।।

निर्बन्धेनेति--अभिनिवेशरूपहठेन आग्रहेणेति यावत्। तादृशाभि-निवेशशून्यानां नैतन्मंजूषापरिशीलने किंचिन्मात्रोऽपि सुखानुभवो भवेत्प्रत्युत

तेषां श्रमः केवलमुपहास्यताफलायैवेति भावः ।।६ ।।

आत्मानमितिशेष इति--भावविग्रहमित्यर्थः । अनयोक्त्या श्रीराधासहचरीभावाभिनिवेशवतामेवेयं मंजूषाऽभीष्टफलदेति सूचितम् । उपास्ति विशेषे स्वाभिप्रायस्यैव प्रयोजकत्वात् ।।७ ।।

सार्थतामिति--यथा अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं, यथा वा गर्दभाग्रे संगीतं निष्फलं भवति तथैवानधिकारिणि मंजूषागतभूषावर्णनं निष्फलमेवेति भावः । तस्मात् सवासनत्वान्वितसजातीयमनस्त्वमत्रात्यन्तापेक्षितमित्यर्थः । अन्यथा तत्त्वाभावेऽपि नटस्यापि रसिकत्वं किं न स्यादितिभावः ।।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्याख्यटिप्पणीयुतायामुपक्रमः।।

अब तृतीय श्लोक में आए हुए ''**श्रीललितास्पृहा**'' इस पद की व्याख्या करते हैं-श्रीराधा और अनुराधा में अभेद कहने की इच्छा से श्रीराधा की ही वैसी स्पृहा है-यह भाव है। इससे यह ज्ञात होता है कि सखी भाव की सिद्धि के लिए श्रीललिता श्रीरंगदेवी आदि के अनुग्रह की आवश्यकता है। अर्थात् श्रीललिता आदि का अनुग्रह ही सखीभाव की सिद्धि का हेतु है।

चतुर्थ श्लोक में आए हुए ''**वेदेषु गोपितां गोपीं**'' इस वाक्य की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-श्रीगोपालतापनी में भी गोपी-गन्धर्वा-आदि सामान्य पद के निर्देश से यह ज्ञात होता है कि वेदों में उसे ही (गन्धर्वा आदि को ही) गोपी कहा गया है।

पञ्चम श्लोक में आए हुए ''**अबन्ध्येच्छतया**'' का अर्थ है-अमोघ इच्छा से। श्रुति का वचन है ''सत्यकामः सत्यसंकल्पः'' ''सजातीयमना'' का अर्थ है ''समानोपास्यत्व, अथवा उपास्य की एकता। अथवा ''उपास्य'' ''उपासक'' और ''उपासना'' के स्वरूप का सामान्य होना।

षष्ठ श्लोक में दिए गए ''**निर्बन्धेन**'' पद की व्याख्या करते हैं। निर्बन्ध का अर्थ है ''अभिनिवेश'' रूप हठ के द्वारा आग्रह। जो साधक राधोपासना में दृढ अभिनिवेश से शून्य है उनका इस मञ्जूषा ग्रन्थ में किञ्चिन्मात्र भी सुख का अनुभव नहीं होगा अपितु उनका श्रम उपहास का विषय बनेगा।

सप्तम श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि ''आत्मानम्'' यह पद यहाँ शेष रह गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीराधा की

सहचरी बनकर जो दृढ अभिनिवेश पूर्वक साधना करेंगे उनके लिए ही यह ''मञ्जूषा'' वाञ्छित फल देने वाली है। उपासना विशेष ही अपने अभिप्राय को पूर्ण करने वाली है।

जैसे अरसिकों में कविता का निवेदन व्यर्थ होता है अथवा गधे के आगे बीन बजाना निष्फल होता है वैसे ही अनाधिकारी के आगे मञ्जूषा में प्रतिपादित भूषा का वर्णन निष्फल है। अतः साधकों का वासना युक्त होना तथा सजातीय होना अत्यन्त अपेक्षित है। साहित्य शास्त्र में कहा गया है-

''सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तकाष्ठकुड्यास्म सन्निभाः।।''

अर्थात् वासना युक्त सभ्यों को ही रस का आस्वादन होता है। वासनाशून्य जन तो रङ्गशाला में स्थित काष्ठ, दीवार और पत्थर के समान है।

वासना रहित को भी यदि आस्वादन लेने वाला माना जाएगा तब नट को भी रसिक मानना पड़ेगा जबकि नट केवल अभिनय करता है रस का आस्वादक नहीं होता है।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्याख्य टिप्पणीयुतायामुपक्रमः।

।। इत्युपक्रमः ।।

*

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां पदार्थसंग्रहाभिधं प्रथमं प्रकरणम्।।१।।

मूलम्--

अत्राभिन्नत्वमुभयोः श्रीराधाकृष्णयोर्मितम्।
दरभेदे दरो भूयान् किं पुनः शक्तिभावने।।१।।

यहाँ (श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा में) श्रीराधा और श्रीकृष्ण इन दोनों की अभिन्नता (एकता अभेद) स्वीकृत है। तनिक भी भेद स्वीकार करने पर महान् भेद होगा-ऐसी स्थिति में श्रीराधा को शक्ति मानने का तो कहना ही क्या अर्थात् श्रीराधा कृष्ण की शक्ति नहीं हैं।।१।।

शक्तित्वं राधिकायास्तु प्रदर्श्य परिहापितम्।
द्वयोः साम्येऽपि श्रीराधाप्राधान्येनैव सेवनम्।।२।।

श्रीराधा का शक्तिरूपत्व दिखलाकर भी उसका परित्याग किया गया है। श्रीकृष्ण और श्रीराधा में साम्य होने पर भी श्रीराधा के प्राधान्य को स्वीकार करके ही (युगल का) सेवन (युक्ति संगत) है।।२।।

नामानुक्तौ राधिकाया हेतुर्भागवतादिषु।
सर्वातिशायिमहिमवर्णनेनाथ सेव्यता।।३।।

भागवत आदि ग्रन्थों में श्रीराधा के नाम का उल्लेख न करने में तथा सर्वातिशय महिमा वर्णन से वही (राधा) सेवनीय है यह सिद्ध होता है।।३।।

सेवकत्वं हरेरस्याः सखीनामनुकूलता।
स्वाधीनपतिकात्वेन रसे प्राधान्यमीरितम्।।४।।

इस मञ्जूषा में हरि (श्रीकृष्ण) का सेवकत्व (सेवकभाव) सखियों की अनुकूलता तथा स्वाधीनपतिका होने से इसकी (श्रीराधा की) रस में प्रधानता कही गई है।।४।।

तत्रोपपत्तयो रासपंचाध्याय्यादिसम्मताः।
तासां विरोधसंरोधोऽनुरोधादाप्तशास्त्रयोः।।५।।

यहाँ रासपञ्चाध्यायी सम्मत उपपत्तियों (युक्तियों) का उल्लेख है। आप्त पुरुषों (प्रामाणिक तत्त्वज्ञों) तथा शास्त्र के अनुरोध से उन युक्तियों में प्रतीत होने वाले विरोध का शमन भी किया गया है।।५।।

अन्यथाभजनान्नैव प्राप्तिः श्रीवनकुंजयोः।
व्रजलीलानिकुंजस्थलीलयोश्चापि भिन्नता।।६।।

अन्यथा भजन (रासपञ्चाध्यायी से भिन्न) से श्रीवन और कुञ्ज की प्राप्ति नहीं हो सकती। श्रुति और युक्तियों से व्रजलीला तथा निकुञ्जलीला की भिन्नता और अभिन्नता भी यहाँ (मञ्जूषा में) कही गई है।।६।।

अभिन्नता च कथिता ग्रथिता श्रुतियुक्तिभिः।
श्रीराधायाश्चोभयत्र स्वामित्वं नित्यता तयोः।।७।।
उभयत्र व्रजे वने च।।

व्रजलीला और निकुञ्ज लीला की नित्यता भी प्रदर्शित की गई है तथा दोनों लीलाओं में श्रीराधा का स्वामित्व सिद्ध किया गया है।।७।।

निकुंजराज्ञी भजने परकीया भ्रमोऽपि नो।
कार्य्यः किन्तु स्वकीयापि वक्तुं सा नैव शक्यते।।८।।

निकुञ्जराज्ञी की भावना में श्रीराधा में परकीया (पराई स्त्री) का भ्रम नहीं करना चाहिए किन्तु उसे स्वकीया भी नहीं कहा जा सकता।।८।।

परं स्वायत्तदयिता द्वयमेतद्व्रजे क्वचित्।
(क्वचिदिति कासुचिद्गोपिकास्वित्यर्थः।
एतत् स्वकीयात्वं परकीयात्वं चेत्यर्थः)
अनौचित्यप्रहाणाय स्वीयात्वमुररीकृतम्।।९।।

किन्तु श्रीराधा स्वायत्तदयिता (दयित प्रिय जिसके अधीन हो) हैं। व्रजलीला में कुछ गोपिकाओं में भी स्वकीयात्व और परकीयात्व ये दोनों भाव घटित होते हैं। अनौचित्य का परिहार करने के लिए स्वकीया नायिकात्व भाव को स्वीकार किया गया है।।९।।

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रियभावेन भजतां साधकानां कृते कृता।।१०।।
परकीयादिलीला हि कीला सा प्रेमसेवने।
कीला वह्निशिखेत्यर्थः।
यतस्तदेकपरता नादर्त्तिर्लोकवेदयोः।।११।।
दृश्यते परकीयायामतोऽस्याःसंग्रहः कृतः।
श्रीमद्भागवते पर्य्यवसाने सा नैव तिष्ठति।।१२।।
(पर्य्यवसाने प्रकटलीलाविरामे।)

अनौचित्य को छोड़कर रस भङ्ग का अन्य कोई कारण नहीं है।

प्रियभाव से भजन करने वाले साधकों के लिए की गई परकीयादि लीला प्रेम सेवन में वह्निशिखा (उत्कृष्ट) है।।१०।।

लोक और वेद में उनकी (राधा-कृष्ण की) एकपरता का आदर है न कि परकीया भाव का।

क्योंकि राधा और कृष्ण की एकता है। इस कारण इस ग्रन्थ का संग्रह किया गया है। श्रीमद्भागवत में प्रकट लीला के विराम में राधा परकीया रूप में नहीं रहती है तात्पर्य यह है कि परकीया भाव के निषेध के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है-श्रीराधा-कृष्ण अभिन्न तत्त्व है।।११-१२।।

स्वीयाभावो व्रजगतः सखीभावो निकुंजगः।
सखीनां सेवनविधा शृंगारादपि मुख्यता।।१३।।

स्वकीया भाव व्रजलीला में है तथा सखीभाव निकुञ्ज लीला में है। सखियों की सेवा विधि शृंगार से भी मुख्य है।।१३।।

अस्या रतेरुज्वलादिप्रामाण्येन दृढीकृता।
सम्प्रयोगासम्प्रयोगभेदादस्या रतेर्मता।।१४।।

नीलमणि उज्ज्वल आदि की प्रामाणिकता से इस (सखीगत) रति की सेवन विधि को यहाँ दृढ किया गया है। इस रति के सम्प्रयोग एवं असम्प्रयोग भेद से यहाँ दो भेद स्वीकृत हैं।।१४।।

तत्सुखस्यानुकूल्येन मधुरादप्यभिन्नता।
सुखे वैलक्षण्यमस्मिन् भावादीनां प्रदर्शनम्।।१५।।

राधिका के सुख की अनुकूलता के मधुर भाव से भी इसकी अभिन्नता है। (अर्थात् सखियों की सेवा विधि मधुर भाव से अभिन्न है) तत्सुख सुखित्व रूप इस सुख में विलक्षणता है। इस ग्रन्थ में भाव आदि का भी प्रदर्शन (वर्णन) है।

उपास्य के सुख में सुखी रहना ही तत्सुख सुखित्व है।।१५।।

सा सा लीला राधिकाया न दुष्टा देशभेदतः।
स्वल्पेऽपि स्वेष्टसंबन्धे समास्वाद्यत्वमेव हि।।१६।।

श्रीराधिका की सभी लीलाएँ देश भेद से भी दूषित नहीं हैं। अपने इष्ट से स्वल्प भी सम्बन्ध होने पर उसमें आस्वाद बन जाता है अर्थात् वे लीलाएँ आनन्ददायक बन जाती हैं।।१६।।

एतद्रसानुकूलाश्च गुणाः श्रीराधिकेशयोः।
सखीनां च गुणास्ते च ततोऽपि प्रगुणा मताः ।।१७।।

श्रीराधिका और श्रीकृष्ण के गुण इस रस (प्रेमाभक्ति रूप रस) के अनुकूल हैं। सखियों के गुण उनसे भी प्रकृष्ट हैं।।१७।।

तासां भावेन भजनं नैव दाम्पत्यभावतः।
दाम्पत्यभजने दोषोऽदोषः सख्ये प्रदर्शितः ।।१८।।

सखी भाव से भजन (सेवा) करना है, दाम्पत्य भाव से नहीं। दाम्पत्य भाव के भजन में दोष है, सख्यभाव के भजन में दोष नहीं है इसका प्रतिपादन किया गया है।।१८।।

युक्तयोऽपि रसस्यास्य सर्वतः श्रेष्ठ्यनिर्णये।
नयेऽस्मिन् सम्मता मुक्तिः सख्यप्राप्तिरितीरिता ।।१९।।

इस रस की श्रेष्ठता है-इसके लिए युक्तियाँ दी गई हैं। सख्यभाव की प्राप्ति ही इस नय में मुक्ति मानी गई है।।१९।।

जीवस्वरूपकथनात्सा च नित्यनिकुंजगा।
तद्भावभावितं सर्वं भक्त्या सम्पन्नतामियात् ।।२०।।
सर्वमिति दाम्पत्येन भजनादि।

जीव स्वरूप के प्रतिपादन से यह ज्ञात होता है कि सख्यभाव की प्राप्ति रूप मुक्ति नित्य निकुञ्ज में रहना है (निकुञ्ज भाव से भावित रहना ही मुक्ति है) दाम्पत्य भाव से भजन आदि भी सखी भाव से भावित होने से भक्ति से सम्पन्न हो जाता है।।२०।।

श्रीमद्वृन्दावनोत्कर्षो गोलोकादपि सम्मतः।
तत्रत्यानां जडानां चाजडानां चित्स्वरूपता ।।२१।।

श्रीवृन्दावन का उत्कर्ष गोलोक से भी अधिक माना गया है। वृन्दावन में निवास करने वाले जड़ पदार्थ तथा अजड़ (चेतन) चित्रूपता को प्राप्त रहते हैं।।२१।।

मुख्यः प्रेमा रसः सोऽपि संकीर्णः शुद्ध एव च।
तयोराद्यभिदा बहव्य ऐश्वर्योपासने मताः ।।२२।।

प्रेमा भक्ति रूप रस मुख्य है। वह भी संकीर्ण और शुद्ध दो प्रकार का है। उनमें प्रथम संकीर्ण प्रेमरस ऐश्वर्य की उपासना विषयक अनेक भेद

वाला होता है।।२२।।

उत्तरस्य भिदाः पंच मुख्या गौण्यस्त्वनेकशः ।
प्रह्लादोक्ता नवविधाभक्तयोऽस्य भिदा मताः ।।२३ ।।
अस्य शुद्धस्यैव ।

प्रेमा भक्ति रस के द्वितीय भेद शुद्ध रस के पाँच मुख्य भेद हैं, गौण भेद अनेक है। प्रह्लाद के द्वारा निरूपित नवविधा भक्ति इस शुद्ध रस के भेद हैं।।२३।।

तासु साधनरूपा हि सप्तैव द्वे फलात्मिके ।
साधनत्वेऽपि सिद्धित्वज्ञापिके ते सतां मते ।।२४ ।।

सत्पुरुषों के मत में नवधा भक्ति में से सात रूप तो साधन रूप हैं तथा दो प्रकार की भक्ति साधन होने पर भी सिद्धि की ज्ञापक होने से फल रूप हैं।।२४।।

रसिकानां वैष्णवत्वं मुख्यमन्यदमुख्यकम् ।
रसिकत्वं परं प्रोक्तं राधिकाधिक्यभावने ।।२५ ।।

रसिकों का वैष्णव भाव ही प्रधान है अन्य भाव गौण है। श्रीराधिकाजी सर्वोत्कृष्ट हैं यह भावना ही परम रसिकता है।।२५।।

रसस्वरूपकथने शुद्धः प्रेमाधिकाधिकः ।
साधकस्य सखीभावेनैवाप्तिर्नान्यभावतः ।।२६ ।।

रस स्वरूप में प्रतिपादित किया गया है कि प्रेमाभक्ति रस का शुद्ध रूप उपास्य में अधिक से अधिक प्रेम होना है। साधक इसको सखीभाव से ही प्राप्त करता है अन्य भाव से नहीं।।२६।।

शुद्धदाम्पत्यरीतिस्तु श्रीराधाकृष्णयोर्मता ।
अन्याः सहचरीभावमत्ता यत्ताश्च सेवने ।।२७ ।।

इस ग्रन्थ में श्रीराधा और श्रीकृष्ण का शुद्ध दाम्पत्य भाव स्वीकार किया गया है। इनकी सेवा में अन्य सखियों का सहचरी भाव स्वीकृत है।।२७।।

तस्या एव तथा कान्तः कान्ताया पारिपार्श्वकः ।
कारकोऽभिमतार्थानां स्वार्थानां परिहारकः ।।२८ ।।

श्रीराधा के कान्त श्रीकृष्ण हैं। वे कान्ता (श्रीराधा) के सहचर,

अभिमत अर्थों (वाञ्छित कार्यों) के सम्पादक एवं स्वार्थों का परित्याग करने वाले हैं।।२८।।

धारकः सर्वभावानां ये व्रजेऽस्मिन् कृतास्तया।
व्रजे रसाः शान्तदास्यसख्यवात्सल्यसंज्ञकाः ।।२९ ।।

श्रीकृष्ण उन सब भावों को धारण करने वाले हैं जो श्रीराधाजी के द्वारा इस व्रज में किये गये हैं। व्रज (भाव) में शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य नामक रस हैं।।२९।।

स्याच्छृंगारश्चोभयत्र शुद्धसंकीर्णभेदतः ।
शुद्धः कुंजेऽथ संकीर्णो व्रजे, संकीर्णतास्य तु ।।३० ।।

शृंगार रस भी दो प्रकार का है। कुञ्ज (भाव) में शुद्ध शृंगार है तथा व्रज (भाव) में संकीर्ण शृंगार है।।३०।।

रसान्तरेण च विधान्तरेणापि निरूपिता।
विधान्तरं विप्रलंभ स च नास्ति निकुंजके।।३१।।

यहाँ शुद्ध और संकीर्ण भेद से शृंगार रस की संकीर्णता रसान्तर तथा विधान्तर के योग से निरूपित की गई है। विप्रलम्भ भी विधान्तर होता है किन्तु निकुञ्ज (भाव) में वह (विप्रलम्भ) नहीं है।।३१।।

श्रीमूर्त्तिसेवारीतिश्च प्रीतिः श्रीगुरुसाधुषु।
तत्प्रसादात्समास्वादो रसस्यास्य न चान्यथा।।३२।।

श्रीराधा की मूर्ति की सेवा रीति, श्रीगुरु और साधुओं में प्रीति तथा श्रीराधिकाजी के प्रसाद का आस्वादन ही इस रस की संकीर्णता का रूप है।।३२।।

भावनायाः प्रकारश्च बाह्यपूजादिसंग्रहः।
अनन्यभक्तकृत्यानि नित्यनैमित्तिकानि च।।३३।।

इस ग्रन्थ में भावना का प्रकार, बाह्य पूजा आदि का संग्रह, अनन्य भक्तों के नित्य और नैमित्तिक कृत्यों का निरूपण है।।३३।।

तत्र तत्रोपयुक्तानां पदार्थानां विनिर्णयः।
रत्नान्येतान्यमूल्यानि स्थितान्यत्र विचिन्वताम्।।३४।।

जिज्ञासुओं के लिए यहाँ इन सभी कृत्यों के लिए पदार्थों का निर्णय किया गया है, बहुत से अमूल्य रत्नों (भक्ति के उपयोगी तत्त्वों) का संग्रह

भी है।।३४।।

किन्तु प्रसंगप्राप्तानि नोद्देशस्य निदेशतः ।
कारिकाः कतिचित्सन्ति सन्ति गद्यानि कानिचित् ।।३५ ।।

उद्देश क्रम से नहीं अपितु प्रसङ्ग प्राप्त विषयों के प्रतिपादन के लिए यहाँ कुछ कारिकाएँ (पद्यात्मक) तथा कुछ गद्य हैं।।३५।।

पद्यानि च प्रमाणानि भावितानि मनीषिभिः ।
स्वबुद्धिमंडनकृते कृतेयं विमला कृतिः ।।३६ ।।

मनीषियों ने पद्यों को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है अपनी बुद्धि सुसंस्कृत (सुशोभित) करने के लिए इस विमल कृति की रचना की गई है।।३६।।

नात्रान्यखंडनमृते विरोधपरिहारतः ।
स्खलितं मम लालित्यं तनुयाद्गुरुसाधुषु ।।३७ ।।

विरोध के परिहार को छोड़कर अन्य मत का खण्डन यहाँ नहीं किया गया है। स्खलित भी मेरा लालित्य गुरु और साधुओं में विस्तार प्राप्त करें (प्रकट होवे)। (असज्जनों को मेरी न्यूनता ज्ञात न हो)।।३७।।

यतो दैवज्ञकाः प्रायः स्वीकुर्युर्बालभाषितम् ।
तदुक्तमभियुक्तैः--
न वादिनिग्रहः साध्यो न शिष्यानुग्रहो मम ।
उभयायितरूपस्य मनसो ह्युभयं मतम् ।।३८-३९ ।।

दैव को जानने वाले मेरे बाल भाषित(बालकों के वचन) को स्वीकार करें। क्योंकि विद्वानों ने कहा है-

न तो मेरा वादी का निग्रह ही साध्य है और न केवल शिष्य के प्रति अनुग्रह ही है। मन उभय रूप है अतः यह ग्रन्थ उभय रूप है।

ग्रन्थाकार कहते हैं कि मेरा यह ग्रन्थ एकाङ्गी नहीं है। केवल विरोधी मत का खण्डन करना ही इस ग्रन्थ का लक्ष्य नहीं है और न केवल शिष्य के अनुग्रह के लिए ही यह ग्रन्थ लिखा गया है अपितु दोनों कार्यों के लिए यह ग्रन्थ रचना है। मन उभयात्मक होता है उसकी प्रवृत्ति विरोधी मत के खण्डन का भी होती है तथा शिष्यों को अपने मत की शिक्षा देना भी होती है ।।३८-३९।।

तथा-

बहुदोषोऽपि विदोषः क्रियते सुजनेन बाण इव हरिणा।
गुणवदपि निर्गुणीयति दुर्जनतो मूषिकात इव पुस्तम्।।४०।।

।। इति श्रीराधाभक्तिमंजूषायां पदार्थसंग्रहाभिधं प्रथमं प्रकरणम्।।प्र.१।।

सज्जन पुरुष बहुत दोष वाले को भी दोष रहित कर देता है जैसे हरि ने बहुत दोष वाले बाण (बलि के पुत्र) को दोष रहित कर दिया। दुर्जन गुण युक्त को भी निर्गुण कर देते हैं जैसे चूहिया मूल्यवान् पुस्तक को नष्ट कर देती है (अथवा-गुणयुक्त पुस्तक को गुणहीन कर देती है)।

।। श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा में पदार्थसंग्रह नामक प्रथम प्रकरण पूर्ण ।।

अथ श्रीकृष्णस्वरूपनिरूपणयुक्तिः ।।प्र.२।।

मूलं--

निगमे दुर्गमे बह्व्यः सन्ति यद्यप्युपास्तयः ।
किन्ताभिः स्वाधिकारेणाभिप्रायस्याभिको ह्यहम् ।।१ ।।

अभिकः कामयिता ।

दुर्गम वेदादि शास्त्रों में यद्यपि उपासना की बहुत पद्धतियाँ हैं किन्तु मुझे उनसे प्रयोजन नहीं है। मैं तो अपने अधिकार के अनुसार पद्धति के अभिप्राय को प्रकट करने का इच्छुक हूँ।।१।।

तदुक्तम्--

उमामहेश्वरौ केचिल्लक्ष्मीनारायणौ परे ।
ते भजन्तां भजामस्तु राधादामोदरौ वयम् ।।२ ।।

जैसे कहा है-कुछ उमा-महेश्वर की, कुछ लक्ष्मी-नारायण की उपासना करते हैं। भजन करने वालों के लिए वे भजन के विषय बनें हम तो राधा-दामोदर की उपासना करते हैं।।२।।

ननु भोः श्रूयतां विद्वन् विपरीतमिदं त्वया ।
कथमुक्तं यतस्तौ तौ पूर्वोक्तौ शास्त्रसम्मतौ ।।३ ।।

हे विद्वन्! सुनो! आपने राधा दामोदर की उपासना की यह विपरीत बात कैसे कही? उमा-महेश्वर तथा लक्ष्मी-नारायण तो शास्त्र सम्मत हैं।।३।।

नारायणस्यावतारः श्रीकृष्णश्चापि सम्मतः ।
दामोदर इति ख्यात उदरे दामबन्धनात् ।।४ ।।

नारायण के अवतार के रूप में श्रीकृष्ण भी शास्त्र सम्मत है। उदर (पेट) पर दाम-रस्सी बांधने के कारण दामोदर यह भी प्रसिद्ध है।।४।।

राधेति नाम कुत्रापि न दृष्टं न श्रुतं मया ।
किम्पुनर्भजनं तस्याः सर्वविस्मयकारकम् ।।५ ।।

किन्तु राधा नाम तो मैंने न कहीं देखा है और न सुना है। तब सबको आश्चर्य में डालने वाला उसका यह भजन कैसा?।।५।।

भजने समशीलत्वमस्ति चेत्कारणं परम् ।
विना शास्त्रेण तत्रापि पाषंडित्वं प्रतीयते ।।६ ।।

राधा के भजन में समशीलत्व को परम कारण यदि मानें तब भी शास्त्र के प्रमाण के बिना उस उपासना में पाखण्ड प्रतीत होता है।।६।।

समशीलत्वं च--

रजस्तमः प्रकृतयः समशीलान् भजन्ति वै।
इति प्रथमस्कन्धोक्तन्यायात्।।

और समशीलत्व है-रजो गुण और तमोगुण में उद्भूत प्रकृतियाँ अपने सदृश शील वालों को प्राप्त करती हैं। यह प्रथम स्कन्ध में कहा है।।६।।

इति चेदत्र मानं हि सर्वागमशिरोमणौ।
श्रीमद्भागवते प्रोक्तं कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।।७।।

यदि आप इसमें प्रमाण चाहते हैं तब सभी आगमों में शिरोमणि श्रीमद्भागवत में कहा है-कृष्ण स्वयं भगवान् है।।७।।

वाक्चराजानुगामीनि प्रमाणान्यत्र भूरिशः।
सन्ति श्रीकृष्णसन्दर्भे यत्किञ्चिदिह लिख्यते।।८।।
ततोऽन्यतोऽपियत्साधुसम्मतं नैगमं मतम्।।

इस वाक्यराज का अनुगमन करने वाले अन्यत्र बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं। कृष्ण के सम्बन्ध में जो हैं उनमें से कुछ वाक्य यहाँ लिखे जाते हैं। भागवत आदि से भिन्न स्थानों से भी जो साधुजन सम्मत निगम मत है वह यहाँ उद्धृत किया जाएगा।।८।।

तत्रादौ श्रीगोपालतापन्याम्-
कृष्णो ह वै परमं दैवतमिति।।

गोपालतापनी में कहा है-कृष्ण सर्वोत्कृष्ट देवता है।।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा में श्रीकृष्णस्वरूपनिरूपणयुक्ति

भावभूषा प्रदर्शिनी टिप्पणी-

किन्ताभिरिति-एतदुक्तं भवति। सन्ति किल वेदादिशास्त्रेषु बहव्य उपास्तयः। तासु कश्चित् साक्षान्मुक्तिफलप्रदा ब्रह्मविद्याशब्दाभिधेयाः। काश्चिच्च लौकिकफलप्रदानेन कालान्तरे चित्तशुद्धौ जातायां वैराग्योत्पादनेन ब्रह्मजिज्ञासोत्पादनपराः। सिद्धान्ते ब्रह्म तु सविशेषसाकारमेव। ब्रह्मधर्म्माणां स्वाभाविकत्वेन अग्नेर्दाहकत्ववन्निषेद्धुमशक्यत्वात्। निषेधे व अवैदिकत्वा-

पत्तेः। ब्रह्म न निर्धर्मकनिर्विशेषस्वरूपं जगद्रचनापत्तेः। ब्रह्मकारणवादिनीनां श्रुतीनां निरवकाशत्वप्रतारकत्वालीकवादिप्रसंगाच्च। अभावाद्भावोत्पत्ति-प्रसङ्गाच्च। इति प्रयोगाच्चेत्यास्तांतावत्। जगद् ब्रह्मणोर्न समसत्ताकत्वम्। ब्रह्मानुभूतिसमये जगत्स्फूर्त्यभावात् जगत्स्फूर्त्तिसमये ब्रह्मानुभूत्यभावात्। एतेन पारमार्थिकसत्ताया एकत्वे सिद्धे। भेदप्रतीतिर्मिथ्यैव मरुमरीचिकावत्। यत्र यद्वस्तुस्वरूपावरणपूर्वकम् अन्यथा प्रतीयते तन्मिथ्या शुक्तिरजतवत् इत्यनुमानात्। इति चेन्न। प्रतीतिस्वरूपकार्यस्य नियतकारणसत्तापेक्षित्वात्, अमूलप्रतीतेरसंभवाच्च, न जगन्मिथ्या भवितुमर्हति। सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः नेदम् अमूलं भवति-इति श्रुतेः कारणत्वस्य सत्यत्वावधारणात्। कारणत्वस्य सत्यत्वे च निर्विशेषत्वभंग। नहि औदासीन्येन तिष्ठतः ज्ञातृत्वधर्मशून्यस्य सन्मात्रस्य अकर्तुर्ब्रह्मण अकिञ्चित् कुर्वतः कारणत्वं वक्तुं शक्यते। अन्यथा उदासीनस्य स्थाणोरपि जगत् कारणत्वं प्रसज्जेत। तस्मात् सविशेषमेव ब्रह्म स्वसंकल्पेनैव तज्जगदाविर्भावयति। जगत् सत्यं ब्रह्मकार्यत्वात् कुलालकृतघटवत् स ऐक्षत तदात्मानं स्वयमकुरुतेति श्रुतेः।

मञ्जूषाकार ने कृष्णस्वरूप निरूपण युक्ति के द्वितीय प्रकरण के प्रथम श्लोक में उपासना की बहुत सी पद्धतियाँ वेदादि शास्त्रों में उक्त है-ऐसा कहा है। तथा आगे लिखते हैं कि मुझे उनसे क्या प्रयोजन? इसी को स्पष्ट करते हुए टिप्पणीकार महात्मा गोपालदासजी लिखते हैं--

वेदादि शास्त्रों में उपासना की बहुत सी पद्धतियाँ हैं। उनमें कुछ ब्रह्मविद्या नाम की साक्षात् मुक्ति रूपी फल प्रदान करने वाली है। कुछ लौकिक फल प्रदान करके कालान्तर में चित्त के शुद्ध होने पर वैराग्य उत्पन्न करके ब्रह्म विषयक जिज्ञासा को जन्म देती है। निम्बार्क सिद्धान्त में ब्रह्म सविशेष साकार ही है। ब्रह्म के धर्म स्वाभाविक हैं। जैसे अग्नि के दाहक धर्म का निषेध नहीं किया जा सकता है वैसे ही ब्रह्म के विशेष धर्मों का भी निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि ब्रह्म के धर्मों का निषेध करेंगे तब ब्रह्म के स्वरूप में अवैदिक होने का दोष आएगा। ब्रह्म न तो निर्धर्मक (धर्मशून्य) है और न निर्विशेष है। यदि ब्रह्म को निर्धर्मक मानेंगे तब पहला दोष होगा कि वह जगत् की रचना करने वाला नहीं माना जाएगा। (जबकि वही जगत् की रचना करता है) दूसरा दोष होगा कि ब्रह्म को जगत् का कारण प्रतिपादित

करने वाली श्रुतियों को कोई अवकाश (स्थान) नहीं मिलेगा। तीसरा दोष यह होगा कि श्रुतियों में प्रतारकत्व (ठगने का) दोष आ जाएगा। साथ ही श्रुतियाँ मिथ्या हैं यह दोष भी आ जाएगा। निर्विशेष स्वरूप वाला ब्रह्म जगत् का निर्माण नहीं कर सकता, उससे जगत् की रचना मानना वैसे ही होगा जैसे अभावात्मक वस्तु से भावात्मक वस्तु की उत्पत्ति मानना अर्थात् कोई यह कहे कि वन्ध्या के पुत्र के एक पुत्र हुआ है। ब्रह्म निर्धर्मक है इस विमत का खण्डन प्रकारान्तर से करते हुए लिखते हैं-जगत् और ब्रह्म तत्त्व समान सत्ता वाले नहीं हैं। ब्रह्म की अनुभूति के समय जगत् की स्फूर्ति (प्रतीति) नहीं होती है तथा जगत् की स्फूर्ति के समय ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती है। इस प्रकार पारमार्थिक सत्ता की एकता सिद्ध होने पर भेद की प्रतीति मृगमरीचिका के समान मिथ्या ही है।

''भेद प्रतीति मिथ्या है'' की सिद्धि के लिए अनुमान प्रक्रिया अपनाते हुए लिखते हैं कि जहाँ जो वस्तु स्वरूप के आवरण पूर्वक अन्यथा प्रतीत होती है वह मिथ्या है जैसे सींपी में प्रतीत होने वाला रजत-यदि यह कहा जावे तो ठीक नहीं है। (वेदान्ती जगत् को मिथ्या मानते हैं क्योंकि ब्रह्म अपने आवरण के कारण अन्यथा जगत् रूप में प्रतीत होता है) किन्तु स्वाभाविक द्वैताद्वैत वाद में यह युक्ति संगत नहीं है। इसका कारण देते हुए लिखते हैं कि प्रतीति स्वरूप जो भी कार्य होगा उसके लिए नियत कारण की सत्ता अपेक्षित रहती है क्योंकि मूल के बिना कोई भी प्रतीति संम्भव नहीं है। यह जगत् की प्रतीति मूल के बिना नहीं है, इसलिए जगत् प्रतीति मिथ्या नहीं हो सकती। श्रुति का वचन है कि हे सोम्य! सदायतन स्वरूप, सत्प्रतिष्ठा वाली ये प्रजाएँ मूलवाली हैं-अर्थात् इनका कोई मूल कारण है, कारण से ही इनकी प्रतीति होती है और कारण सत्य है। कारण के सत्य होने पर कारण ब्रह्म को निर्विशेष स्वीकार करना खण्डित हो जाता है। तथा उदासीन रहने वाले, कुछ न करने वाले निर्विशेष ब्रह्म को इस जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता अन्यथा उदासीन रूप से स्थित स्थाणु (ठूंठ) भी इस जगत् का कारण हो जाएगा। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि सविशेष ब्रह्म अपने संकल्प से जगत् का आविर्भाव करता है। जगत् सत्य है ब्रह्म का कार्य होने के कारण कुलाल (कुम्भकार) के द्वारा बनाए गए घट के समान। श्रुति

वचन भी है कि उस ब्रह्म ने अपने आपको स्वयं प्रकट किया।

किं निगमोक्ताः सर्वा अप्युपास्तय एकेनैवकर्त्रा अवश्यं कर्त्तव्या उतस्वाधिकारानुसारेण तासु काश्चिदेवेति सन्देहे एककर्त्रा सर्वासामुपासनानां कर्त्तुमशक्यत्वात्, अनुपयुक्तत्वाच्च स्व स्वाधिकारप्राप्तैव कर्त्तव्येति निर्णयः। तत्तदभिलाषानुसारेणाधिकारभेदस्य स्वाभाविकत्वात्। नहि सर्वापि लीला भगवत्ता वा सर्वैरुपास्यतेऽनुभूयते वा अनुपयुक्तत्वात्। अपि तुस्वाधिकारप्राप्तैव। तथैव चोक्तं-'यस्य यस्य हि यः कामस्तस्य तस्य ह्युपासनं'-इत्यादिवक्ष्यमाणरीत्येति भावः।

उपास्यविशेषेऽभिप्रायविशेषस्य प्रयोजकत्वात्। राधादामोदरौ वयमिति-एतेन स्वस्य युगलोपासकत्वं स्फुटीकृतम्।

ब्रह्म सधर्मक है यह सिद्ध होने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वेदादि शास्त्रों में उक्त सभी उपासना पद्धतियाँ एक ही कर्त्ता के द्वारा अवश्य करणीय हैं या उनमें से अपने अधिकार के अनुसार किन्हीं (दो-चार) का आश्रय लेना चाहिए? इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं कि एक ही कर्त्ता के द्वारा सभी उपासना पद्धतियों का आश्रय लेना अशक्य है तथा अनुपयुक्त भी है। अतः अधिकार प्राप्त (गुरु दीक्षा से प्राप्त) ही उपासना पद्धति का आश्रय लेना चाहिए। अभिलाषा के अनुसार उपासना पद्धति के अधिकार में भी भेद स्वाभाविक है। सभी प्रकार की लीलाओं अथवा भगवत्ता की सभी द्वारा न तो उपासना की जाती है अथवा अनुभव किया जाता है अनुपयुक्त होने के कारण। अपितु स्वाधिकार प्राप्त लीला या भगवत्ता की उपासना की जाती है। जैसे कहा भी है-''जिस-जिस की जो कामना है उस-उस की उपासना है।''

उपास्य विशेष के लिए अभिप्राय विशेष ही कारण है। अर्थात् उपासक अपने अभिप्राय के अनुसार ही उपास्य तथा उपासना पद्धति का चयन करता है।

मूल ग्रन्थ के द्वितीय श्लोक में आए हुए **''राधादामोदरौ वयमिति''** की व्याख्या में लिखते हैं कि ग्रन्थकार ने भिन्न-भिन्न उपासना पद्धतियों के होते हुए भी ''राधा-दामोदर की उपासना पद्धति को स्वीकार करना कहा है-तात्पर्य है कि ग्रन्थकार युगलोपासक है।''

शास्त्रसम्मताविति--उपास्यस्वरूपस्य शास्त्रप्रमाणितत्वे सत्येवोपासनायाः शास्त्रीयत्वं वाच्यं, अन्यथा (अशास्त्रीयत्वे) उपधर्मत्वदोषप्रसक्तिर्दुवरित्यभिप्रायः। शास्त्रं च वेदाः स्मृतयः पुराणं च तदात्मकम्। इतिहासः पंचरात्रं भारतं च विदुर्बुधाः। एतैरेव महाविष्णुर्ज्ञेयो नान्यैः कथंचन'' स्क.पु.वै.मा.। नारायणस्यावतार इति-दामोदरापरनामधेयस्य श्रीकृष्णस्य तावच्छास्त्रीयत्वमप्रत्याख्येयम्। तस्य नारायणावतारत्वेन पुराणेषु विश्रुतत्वात्।

तथाप्यवतारिणो नारायणस्योपासनां विहाय अवतारोपासनस्य गौणत्वमेव वाच्यं, न निरतिशयोत्कृष्टत्वम्। उपास्यस्य परब्रह्मतासिद्ध्यैवोपासनाया अपि परत्वसिद्धिः। अपि च अवतारविशेषासक्त्या अवतार्य्यनादरोऽप्यनुचितः। यद्यपि दामोदरांश उक्तोपास्तेरवतार्य्यवताराभेदविवक्षया परब्रह्मोपासनत्वं वक्तुं शक्यं, तथापि राधांशे तत्त्वस्य विरहान्न तस्याः परत्वं संभवति। गोपीविशेषत्वेन तस्या साक्षाद्भगवत्तासिद्धेः। लक्ष्म्यास्तु ''ईश्वरीं सर्वभूताना''मित्यादिना नारायणार्द्धांगत्वेन शास्त्रेषु भगवत्ताश्रवणात्। अपि च लक्ष्मीनारायणोमामहेश्वरसूर्य्यदुर्गाविनायकाद्युपासनानामपि परब्रह्मोपासनत्वं वक्तव्यं, न पुनस्तासु तारतम्यम्। एकस्योपासनविशेषस्य तदितरापेक्षया श्रैष्ठ्यमननेऽन्येषां गौणत्वापत्त्या अन्यान्यभगवद्रूपाणां निरादरप्रसंगात्। ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षादितिन्यायाच्चापि तत्तदुपास्तेः परब्रह्मोपासनत्वं वक्तुं सुशकम्। गोपीविशेषत्वेऽपि श्रीराधायाः श्रीकृष्णेनाशास्त्रीयसंबन्धोऽपि श्रूयते। तदंशेऽपि नेदमुपासनमुत्कृष्टत्वं भजते। भजने समशीलत्वमिति--उपास्तौ समशीलत्वहेतुर्नाशास्त्रीयत्वदोषनिवारणायालमितिभावः। तस्मादस्या उपास्तेः पाषंडित्वमेव प्रतीयत इत्यर्थः।

तृतीय श्लोक में आए हुए ''**शास्त्रसम्मतौ**'' की व्याख्या करते हुए टिप्पणीकार लिखते हैं कि जिस प्रकार उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण शास्त्र सम्मत हैं वैसे ही राधा-दामोदर भी शास्त्र सम्मत है उनकी उपासना भी शास्त्रीय उपासना है क्योंकि उपास्य के शास्त्र सम्मत होने से उपासना भी शास्त्र सम्मत होती है। अन्यथा उपास्य और उपासना के अशास्त्रीय होने पर अपधर्मत्व के दोष का निवारण नहीं किया जा सकता है। और विद्वानों ने-- वेद, स्मृति, पुराण तथा तदात्मक इतिहास, पञ्चरात्र और महाभारत को शास्त्र कहा है। स्कन्दपुराण में कहा है कि इन सबसे महाविष्णु ज्ञेय है

अन्यों से नहीं। दामोदर नामक श्रीकृष्ण नारायण के अवतार हैं इसलिए इनका शास्त्रीयत्व सिद्ध है इसका निषेध नहीं किया जा सकता। नारायण के अवतार के रूप में श्रीकृष्ण पुराणों में विख्यात हैं।

तथापि अवतारी नारायण की उपासना छोड़कर अवतार श्रीकृष्ण की उपासना तो गौण ही कही जाएगी, वह निरतिशय उत्कृष्ट नहीं होगी। उपास्य की परब्रह्मता सिद्ध होने पर ही उपासना में भी उत्कृष्टता की सिद्धि होती है। दूसरी बात यह भी है कि अवतार विशेष (श्रीकृष्ण आदि) की आसक्ति से अवतारी (नारायण) का अनादर भी अनुचित है (अर्थात् अवतारी नारायण की उपासना का परित्याग करके अवतार रूप श्रीकृष्ण (दामोदर) की उपासना करना युक्ति संगत नहीं है क्योंकि इस उपासना में न तो उत्कृष्टता है और न प्रधानता ही है)।

प्रश्नकर्ता कहता है कि यद्यपि अवतारी और अवतार में अभेद की विवक्षा से दामोदर रूप अंश की उपासना को परब्रह्म की उपासना के रूप में कहा जा सकता है तथापि राधांश में परब्रह्म तत्त्व के विरह के कारण (अर्थात् राधा के परब्रह्म तत्त्व न होने के कारण) उसकी (राधा की) उपासना में उत्कृष्टता (परत्व) सम्भव नहीं है। गोपी विशेष के रूप में राधा का उल्लेख होने पर भी उसमें (राधा में) साक्षात् भगवत्ता सिद्ध नहीं होती है। हाँ ''ईश्वरीं सर्वभूतानाम्'' (सर्वभूतों की ईश्वरी) इत्यादि रूप में नारायण के अर्द्धांग रूप में लक्ष्मी की भगवत्ता शास्त्रों में सुनी गई है। और भी बात यह कि लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर, सूर्य, दुर्गा, विनायक आदि की उपासना को भी परब्रह्म की उपासना ही कहना चाहिए, न कि उनमें तारतम्य (उत्कृष्टता-अपकृष्टता) का भाव स्वीकार करना चाहिए क्योंकि इन सभी में परब्रह्मतांश है। यदि ऐसा नहीं स्वीकार करके इनमें तारतम्य मानेंगे तब एक उपास्य को दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने पर-एक की प्रधानता और अन्य की अप्रधानता होगी तथा इस विचार से अन्य-अन्य भगवद्रूपों का निरादर होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा अतः इस सबकी उपासना को परब्रह्म की उपासना ही स्वीकार करना चाहिए क्योंकि ''ब्रह्मदृष्टि ही उत्कृष्ट होती है'' इस न्याय से इन सबकी उपासना परब्रह्म की उपासना ही भली प्रकार से कही जा सकती है। गोपी विशेष के रूप में उल्लेख होने पर भी राधा

का श्रीकृष्ण के साथ अशास्त्रीय सम्बन्ध भी सुना जाता है अतः तदंश में भी उपासना उत्कृष्ट नहीं होती है। इस दोष के निवारण के लिए यदि आप **''भजने समशीलत्वं''** (रजोगुण तथा तमोगुण की प्रकृतियाँ समशील वालों को भजती हैं) को परम कारण स्वीकार करना चाहते हो तब भी अशास्त्रीय दोष का निवारण नहीं होता है क्योंकि शास्त्र प्रमाण के बिना राधा विषयक उपासना पाखण्ड मात्र प्रतीत होती है।

इति चेदत्र मानं हीति--नहि सांख्यादिवेदबाह्यपक्षस्येव प्रकृतोपास्तेरशब्दत्वमिति भावः। तत्र यदुक्तं-

'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षादिति न्यायाच्चापि तत्तदुपास्तेः परब्रह्मोपासनत्वं साक्षान्मोक्षफलत्वं च वक्तुं सुशक'मित्यादि तत्तुच्छम्। शास्त्रतात्पर्य्यानभिज्ञताव्यंजकत्वात्। दुराग्रहमात्रं वा। सन्ति च वेदादिशास्त्रे श्रीमहाविष्णोरेवासमोर्द्ध-भगवत्त्वप्रतिपादकानि भूरीणि प्रमाणानि। उक्त-सर्वदेवतानां युगपदविशेषेण साक्षात् परब्रह्मस्वरूपत्वेऽभ्युपगम्यमाने श्रीमहाविष्णोरेवासमोर्द्धत्वप्रतिपादन-पराणां सर्वेषामेव वाक्यानां अयथार्थत्वेन औपचारिकमात्रत्वापत्तेः। युगपदनेकब्रह्मापत्त्या तस्याद्वितीयत्वश्रुतिव्याकोपश्च श्रुत्युक्तत्वेन। प्रत्युत श्रीमहाविष्णोरेवासमोर्द्धसाक्षात्परब्रह्मत्वस्य वास्तविकत्वात्सर्वाविर्भावाहेतुत्वाच्च तदन्यत्र तस्यौपचारिकत्वमेव वाच्यम्। अन्यान्योपास्यानां सर्वेषामविशेषेण श्रीमहाविष्णोः सकाशादाविर्भूतत्वश्रवणाच्च परब्रह्मशब्दवाच्यः स एव। अस्ति तावद्वेदप्रतिपाद्यं तच्चरमपरमतात्पर्य्यभूतं, ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ती'ति ऋचा प्रोक्तं, सदात्मापुरुषविष्णवादिशब्दवाच्यं प्राकृताप्राकृतनिःशेषकारणं ब्रह्माख्यं वस्त्विति। तावन्निर्विवादम्। तदेव सर्वकारणं ब्रह्माख्यं वस्तु विष्णुनाम्ना असमोर्द्धत्वेन यत्र तत्र वेदे गीयते तथाहि-- ''तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। ''विष्णुर्गोपा अदाभ्यः'' विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।'' ''न ते विष्णो जायमानो न जाता देवस्य महिम्नः परमं तमाप।''

राधांश की उपासना अशास्त्रीय है-पूर्वपक्षी के इस कथन को खण्डित करने के लिए ग्रन्थकार सप्तम श्लोक लिखते हैं-**''इति चेदत्र मानं हि''** इसी श्लोक की व्याख्या करते हुए टिप्पणीकार लिखते हैं कि सांख्य

आदि वेद बाह्य पक्ष के समान प्रकृत उपासना (युगलोपासना-राधा-दामोदर उपासना) में शब्द प्रमाण (शास्त्र प्रमाण) का अभाव नहीं है अर्थात् यह उपासना अशास्त्रीय नहीं है। टिप्पणीकार लिखते हैं कि अभी पूर्व में ''ब्रह्मदृष्टि के उत्कर्ष न्याय से पूर्वपक्षी ने उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण-दुर्गा-विनायक आदि की उपासना को परब्रह्म की उपासना प्रतिपादित की तथा साक्षात् मोक्ष रूपी फल प्रदान करने वाली कहा-यह तर्क सिद्धि तुच्छ है, शास्त्र के तात्पर्य को न समझने की द्योतक है, अथवा दुराग्रह मात्र है। क्योंकि वेदादि शास्त्र में श्रीमहाविष्णु की असमोर्ध्व भगवत्ता सिद्ध करने के लिए बहुत से प्रमाण हैं। पूर्वोक्त (उमा-महेश्वर आदि) सभी देवताओं को एक साथ समान रूप से साक्षात् परब्रह्म का स्वरूप स्वीकार करने पर श्रीमहाविष्णु को सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादित करने वाले वाक्य अयथार्थ हो जायेंगे तथा औपचारिकता का निर्वहन मात्र करने वाले हो जायेंगे। साथ ही एक साथ अनेक ब्रह्म स्वीकार करने पर प्रत्येक में अद्वितीयत्व स्वीकार करना कठिन होगा। जबकि श्रीमहाविष्णु ही सर्वोत्कृष्ट साक्षात्परब्रह्म है, तत्सदृश अन्य कोई नहीं है। उसी महाविष्णु से इन (उमा-महेश्वरादि) का आविर्भाव होता है, अतः इनको उत्कृष्ट कहना केवल औपचारिकता (गौण) मात्र है। इसलिए परब्रह्म शब्द से वह महाविष्णु ही वाच्य (कहा जाता) है। अर्थात् महाविष्णु को ही परब्रह्म कहते हैं। अन्य (उमा-महेश्वरादि) उपास्यों का समान रूप से महाविष्णु से ही आविर्भाव सुना जाता है इसलिए ही वह विष्णु ही परब्रह्म शब्द से कहा जाता है।

''**एकंसद्विप्रा बहुधा वदन्ति**'' इस ऋचा के द्वारा निर्विवाद रूप से वही परब्रह्म है। (ऋचा का अर्थ है-एक ही सत् तत्त्व को विद्वान् अनेक प्रकार से कहते हैं)।

वही प्राकृत-अप्राकृत समस्त का कारण है। वही निर्विवाद, सर्वकारण ब्रह्मतत्त्व अतुलनीय रूप से विष्णु नाम से वेदों में सर्वत्र गाया गया है-जैसे ''तद्विष्णोः परमं पदं...पदम्।''

विद्वान् लोग उस विष्णु के परम पद को सदा देखते हैं। मन्युरहित (क्रोध रहित) जाग्रत विद्वान् विष्णु के परम पद में दीप्त रहते हैं। विष्णु रक्षक है।

जिस विष्णु ने पार्थिव लोकों का निर्माण किया उस विष्णु के वीर कर्मों का अब वर्णन करता हूँ।

उत्पन्न होने वाले तथा उत्पन्न हुए प्राणी उस विष्णु की महिमा के परम रहस्य को प्राप्त नहीं कर पाए।

''प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।।'' ''य उ त्रिधातु पृथिवीमुतद्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।'' ''विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।'' ''ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि।।'' ''तमुस्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।।'' ''व्रजं च विष्णुः सखिवाँऽअपोर्णुते।''-(ऋ. विष्णुसूक्त) अयमेव विष्णुसूक्तेऽसमोर्द्धप्रभावत्वेनोक्तो विष्णुः पुरुषसूक्ते ''सहस्रशीर्षापुरुष'' इत्यादिना यज्ञनाम्ना च उपनिषत्सु च सदात्मानन्दाक्षरान्तर्यामिसर्वेश्वर-पुरुषाक्षरभूमादिशब्दैः पुराणपंचरात्र-महाभारतादिषु च कृष्णविष्णु-हरिनारायणमुकुन्दगोविन्दादिशब्दैरभिगीतः। तैत्तरीयनारायणानुवाके ''सहस्रशीर्षकं देवं विश्वाक्षं विश्वशंभुवम्। विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं पदम्। विश्वतः परमान्नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्।''

विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति। पतिं विश्वस्यात्मेश्वर ँशाश्वतं शिवमच्युतम्। नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम्। नारायणपरो ज्योतिरात्मा नारायणः परः। नारायण परो ध्याता ध्यानं नारायणः परः। यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः।।''-इत्यादिना स एव विष्णुसूक्तपुरुषसूक्तोक्तो महाविष्णुर्नारायणशब्देनोल्लिखितः। एवं विविधनामभेदेन एकमेवजगत्कारणं ब्रह्म वैदिकेवाङ्मयेऽभिगीतम्।

भयंकर, विषम स्थानों में विचरण करने वाले (और) पर्वतवासी मृग सदृश भयानक, सर्वत्र विचरिष्णु, पर्वत समान उन्नत स्थान पर या वेद वाणी में स्थित वह विष्णु (अपने) वीर कर्म के कारण स्तुत किया जाता है, जिसके तीन विशाल-पदक्रमों में निखिल भुवन निवास करते हैं।

''य उ त्रिधातुः'' अकेले ही जिस (देव) ने पृथिवी, द्युलोक तथा सकल भुवनों को तीन प्रकार से धारण किया है।

''विष्णोः पदे परमे'' विशाल गतिशील विष्णु के परम पद में मधु का स्रोत (सोता) है।

''ता वां वास्तुन्युश्मसि'' हे यजमान! आप दोनों विष्णु के परम धाम में जावें यह कामना करते हैं। विष्णु के उस लोक में विशाल सींगों वाली तथा गमनशील गायें हैं। बलवान् विष्णु का कामनाओं की वर्षा करने वाला वह लोक अत्यधिक प्रकाशित होता है।

ऋग्वेद के विष्णु सूक्त में असम-ऊर्ध्व प्रभाव (सर्वोत्कृष्ट भाव) से उक्त विष्णु ही पुरुषसूक्त में ''सहस्रशीर्षा पुरुषः'' (अनन्त शिर वाला) इत्यादि के द्वारा, यज्ञ नाम द्वारा तथा उपनिषदों में सत्, आत्मा, आनन्द, अक्षर, अन्तर्यामी, सर्वेश्वर, पुरुष और भूमा आदि शब्दों के द्वारा कहा गया है। वही पुराण, पञ्चरात्र, महाभारत आदि में कृष्ण, विष्णु, हरि, नारायण, मुकुन्द, गोविन्द आदि शब्दों से कहा गया है।

विष्णुसूक्त तथा पुरुषसूक्त में जिसे महाविष्णु कहा है उसे ही तैत्तरीय नारायण अनुवाक में नारायण शब्द से कहा है। अनुवाक के अनुसार वह नारायण सहस्र शिर वाला, विश्वाक्ष (अनन्त चक्षु वाला), विश्वात्मा, शिव, अच्युत, आत्मा, विश्वपति, ईश्वर, शाश्वत है। इस सृष्टि में जो भी विद्यमान है, देखा और सुना जाता है, अन्तर और बाहर विद्यमान है उन सबको अपने में समाहित करके नारायण स्थित है। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में एक ही जगत् कारण ब्रह्म विविध नाम भेद से अभिहित है।

श्रुत्यैव हि। ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'', ''सर्वे वेदा यत्पदमानन्ति, नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति'' इत्यादिना तथोक्तत्वात्। इत्थं कृत्स्नस्य वेदस्य साक्षात्परंपरया वा विष्ण्वाख्य ब्रह्मपरत्वे सिद्धे, तत्तद्देवतालिंगानां मंत्राणामपि तत्तद्देवताराधनरूपावान्तरतात्पर्य्येपि सर्वान्तर्यामिमहाविष्णवाराधन एव मुख्यं तात्पर्य्यमित्यपि सुनिश्चितं भवति। समस्तदेवतानामङ्गिनो महाविष्णोरेवाङ्गत्वात्-अस्य देवस्य मीह्लुषो वया विष्णो रेषस्य'' ऋ. सं.७/३/१-इतिमंत्रेणैव प्रोक्तत्वात् देवतान्तराराधनमपि विष्ण्वाराधनांङ्ग-मितिनिश्चीयते। क्वचिच्च वेदे सूर्य्य-दुर्गा-शिव-गणेश-वाय्वग्नीन्द्रयमवरुणादीनां ब्रह्मलिंगैः स्तवनं दृश्यते तदपि ब्रह्मशक्त्यंशत्वेन तेषां तत्तदन्तर्यामिब्रह्मदृष्ट्यै-वेति बोध्यम्, ''ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षादि''ति न्यायात् इन्द्रादिशब्दानां तत्तद्देवता-

रूढानामपि योगवृत्त्या ब्रह्मैव वाच्यम्।

''एक सत् तत्त्व विद्वानों के द्वारा अनेक प्रकार से कहा जाता है'' ''समस्त वेद जिसकी सत्ता को प्रकट करते हैं।'' समस्त नाम जिसमें प्रवेश कर जाते हैं (अर्थात् सभी पदों से वही प्रकट किया जाता है) इत्यादि श्रुति वचनों से समस्त वेदराशि से विष्णु ही साक्षात् तथा परम्परा से परब्रह्म सिद्ध होता है। भिन्न-भिन्न मन्त्रों में भिन्न-भिन्न देवताओं के नामोल्लेख होने से उन-उन देवताओं की आराधना में अवान्तर तात्पर्य होने पर भी महाविष्णु (सर्वान्तर्यामी) की आराधना में ही उन मन्त्रों का मुख्य तात्पर्य है-यह सुनिश्चित होता है। समस्त देवता अङ्गी महाविष्णु के अङ्ग हैं।

''अस्य देवस्य'' कामनाओं की वर्षा करने वाले शक्तिशाली इस विष्णु के ये (अन्य देवता) अङ्ग हैं-इस मन्त्र द्वारा अन्य देवताओं की आराधना भी विष्णु की आराधना का अङ्ग है। वेद में कहीं सूर्य, दुर्गा, शिव, गणेश, वायु, अग्नि, इन्द्र, यम, वरुण आदि की ब्रह्मरूप में स्तवन उपलब्ध होता है वह भी ब्रह्म शक्ति के अंश रूप में है क्योंकि उनमें भी अन्तर्यामी ब्रह्म अवस्थित है-ब्रह्मदृष्टि उत्कर्ष न्याय से। इन्द्र आदि देवताओं के लिए रूढ शब्दों से भी योगवृत्ति से ब्रह्म ही वाच्य है (अर्थात् इन्द्र आदि शब्दों का अर्थ भी ब्रह्म ही है)।

तथाहि वृद्धहारीतः(दशमाध्याये)--

इन्द्राग्निवरुणादीनि नामान्युक्तानि तत्र (वेदे) तु।
ज्ञेयानि विष्णोस्तान्येव नान्येषां तु कथंचन।।
अकारे रूढ इत्यग्निरिन्द्रत्वं परमेश्वरे ।
आत्मनां प्रसवे सूर्यः सौम्यत्वात्सोम इत्युत।
वायुःस्याज्जागतः प्राणाद्वरुणः सर्वजीवनः।।
मित्रः स्यात्सर्वमित्रत्वादात्मैकत्वाद् वृहस्पतिः।
रोगनाशाद्भवेद्रुद्रः यमः स्यात्तु नियामकः।।
सर्वान् स त्राति सविता पिता च पितृतत्पिता।
यस्यछन्दांसि चाङ्गानि स सुपर्णमिहोच्यते।
यस्माज्जातास्त्रयो वेदा जातवेदाः स उच्यते।।
पुंनामानि यानि विष्णोः स्त्रीनामानि श्रियस्तथा।

पवमानः पावयिता शिवः स्यात्सर्वदा शुभात् ।
परस्य वैदिकाः शब्दाः समाकृष्येतरेष्वपि ।
व्यवह्रियन्ते च सततं लोके वेदानुसारतः ।
न तु नारायणादीनि नामान्यन्यस्य कस्यचित् ।
एतन्नाम्नां गतिर्विष्णुरेक एव प्रचक्षते ।।
शब्दब्रह्म त्रयी सर्वं वैष्णवं तदिहोच्यते ।
देवतान्तरशंका तु न कर्त्तव्या हि वैदिके ।।

जैसा कि वृद्धहारीत के दशम अध्याय में कहा है-''वेद में इन्द्र, अग्नि और वरुण आदि जो नाम पद कहे गए हैं वे विष्णु के ही नाम हैं न कि किसी अन्य के।''

अग्नि अकार में रूढ हो गया है, इन्द्र शब्द परमेश्वर में रूढ है। आत्माओं के प्रसव में सूर्य, सौम्य होने से सोम कहा जाता है। जगत् का प्राण होने के कारण परमात्मा को वायु, सबका जीवन होने से वरुण, सबका मित्र होने से मित्र, आत्मा की एकता से बृहस्पति, रोग का नाशक होने से रुद्र, नियामक होने से यम, सबका रक्षक होने से सविता, पालन करने से पिता, जिसके छन्द और अङ्ग सुपर्ण कहे जाते हैं तीनों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं अतः उसे (परमात्मा को) जातवेदा कहते हैं। पुरुष नाम विष्णु के हैं तथा स्त्री नाम श्री के हैं। पवित्र करने के कारण उसे पवमान कहते हैं तथा सर्वदा शुभ होने के कारण शिव।

वैदिक शब्द किसी के वाचक होकर किसी अन्य के वाचक हो जाते हैं। नारायण आदि पद अन्य के वाचक नहीं होते हैं इनकी गति विष्णु की ओर है अर्थात् विष्णु के वाचक हैं। समस्त वेद राशि विष्णु परक है।

इत्येवं वैदिकदेवता नाम्नां विष्णावेव मुख्या गतिः सरित्सागरन्यायेन दर्शितास्ति। किंच दुर्गाविनायकादिशब्दवाच्यतत्तद्देवतासु निःशेषपरब्रह्मगुणोपसंहारेऽभ्युगते सति नाममात्रभेदेन तेषामपि परब्रह्मवाचकत्वं स्यान्नाम। अत्राह-किन्तावत्परब्रह्मलक्षणं ? इति। तत्राहुः--श्रीमदाद्याचार्यचरणाः ''स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषं'' ''अङ्गे तु वामे'' इत्यनेन श्लोकयुग्मेन दशश्लोक्याम्। ततश्चस्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्व-अशेषकल्याणगुणगणैकनिधानत्व-व्यूहाङ्गित्व-जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व-सर्वप्रेरकत्व-सर्वान्त-

र्यामित्व-सर्वेश्वरत्व-सर्वसेव्यत्व-अनन्ताचिन्त्यस्वाभाविकचिदचित्सर्वशक्तिमत्त्व-सर्वव्यापित्व अतुल्यातिशयैश्वर्य्यमाधुर्य्यवत्त्व-मुक्तिप्रदत्व-मुक्तप्राप्यत्व-सर्वकर्मफलदातृत्व-सर्वाविर्भावकारणत्व-शास्त्रयोनित्व-सर्वशास्त्र-प्रतिपाद्यत्व-सर्वसाक्षित्वादियावदात्मभाविनित्य-स्वाभाविकगुणगणाश्रितत्व निरूपितदम्पत्यात्मकसच्चिदानन्दविग्रहत्वं परब्रह्मत्वमिति। तच्च साक्षात्परब्रह्मत्वं श्रीकृष्णस्यैव, शास्त्रोद्घुष्टत्वात्। वेदार्थोपबृंहकेषु स्मृति-पुराणपंचरात्रमहाभारतादिषु तथैव निर्णीतत्वात्। चतुर्भुजस्य नारायणस्य तत्त्वं तु श्रीकृष्णस्यैव ऐश्वर्यप्रधानविलासरूपत्वात् तुल्यशक्तिधारित्वाच्च तस्य। तस्यापि अन्तरंगत्वेन, प्रवर्त्तकत्वेन, निरतिशयैश्वर्यमाधुर्यवत्त्वेन श्रीराधा-कान्तस्य श्रीकृष्णस्यासमोर्द्धत्वं ज्ञेयं-अन्यथा ''कृष्णो ह वै परमं दैवतम्'' इत्यादीनां श्रुतिवाक्यानामौपचारिकत्वप्रतारकत्वादिप्रसंगात्।

वैदिक वाङ्मय में अन्य देवता की शंका नहीं करनी चाहिए। सरित्सागर न्याय (जैसे नदियाँ सागर में ही जाती है) से वैदिक देवता नाम विष्णु के ही वाचक होते हैं।

दुर्गा-विनायक आदि शब्दों से कहे गए दुर्गा आदि देवताओं का निःशेष परब्रह्म के गुणों में ही उपसंहार होजाता है, केवल नाममात्र में ही भेद रहता है, अतः दुर्गा आदि शब्द भी परब्रह्म के ही वाचक हैं।

अब प्रश्न होता है कि परब्रह्म का लक्षण (स्वरूप) क्या है? इस विषय में श्रीमद्आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् ने ''स्वभावतोऽपास्तसमस्त-दोष'' तथा ''अङ्गे तु वामे..'' इन दोनों श्लोकों के द्वारा दशश्लोकी में परब्रह्म का स्वरूप प्रकट किया है। इन श्लोकों के अनुसार परब्रह्म स्वभाव से ही समस्त दोष रहित, समस्त कल्याणकारी गुण समुदाय का एकमात्र निधान, व्यूहाङ्गीरूप, जगद् का अभिन्न निमित्त और उपादान कारण, सभी के प्रेरक, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर सर्वसेव्य (सभी के द्वारा सेवनीय) अनन्त-अचिन्त्य-स्वाभाविक-चित्-अचित् सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, अतुल्य, अतिशय-ऐश्वर्य-माधुर्यवान्, मुक्तिप्रदाता, शास्त्रयोनि, सर्वशास्त्र प्रतिपाद्य, सर्वसाक्षी, यावदात्म-भावि-नित्य स्वाभाविक-गुण-गणाश्रितत्व से निरूपित दम्पत्यात्मक, सच्चिदानन्दविग्रह है। वह साक्षात्परब्रह्म श्रीकृष्ण ही है-शास्त्रों में प्रतिपादित होने के कारण।

वेदार्थ का संवर्द्धन करने वाले स्मृति शास्त्र, पुराण, पञ्चरात्र और महाभारत आदि ग्रन्थों में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि श्रीकृष्ण का ही ऐश्वर्यप्रधान विलास रूप ही चतुर्भुज नारायण तत्त्व है। दोनों स्वरूपों में तुल्यशक्ति है। अन्तरंग रूप से, प्रवर्त्तक रूप से, निरतिशयमाधुर्य रूप से श्रीराधाकान्त श्रीकृष्ण को ही अतुलनीय समझना चाहिए। अन्यथा ''कृष्णो ह वै परमं दैवतं''(कृष्ण ही परम देवता है)। श्रुति के ये वचन औपचारिक एवं प्रतारक होंगे।

न च वाच्यं नारायणा-(रघुनाथ)दीनामपि तथात्वं किन्नस्यादिति-तयोस्तस्मादाविर्भावश्रवणादेवेति ब्रूमः एतेचांशकला-इतिश्रीभागवताच्च। ननु यस्योपासकस्य यस्मिन् भगवद्रूपे निरतिशयत्वभावस्तदेवासमोर्द्धं किन्न स्यादितिचेन्न। शास्त्रोक्तत्वाभावात् तादृशासमोर्द्धमननं भक्तभावानुसारि न तु शास्त्रोक्तम्। शास्त्रोक्त-स्व-स्व-भावमययोः शास्त्रोक्तस्य परत्वेन बलीय-स्त्वात्। तत्रापि ब्रह्मणः कृत्स्नगुणोपसंहारे कृते तु नाममात्रभेदेनाविरोध इत्यवोचाम। किन्तु तथात्वे युगपदनेकब्रह्मतापत्तिर्दुर्वारा नहि शास्त्रोक्तंपरात्परब्रह्मत्वं श्रीकृष्णस्यानुपेक्ष्य अन्यान्यभगवद्रूपाणामसमोर्द्धत्वं कल्पयितुं शक्यत इति भावः। किञ्चात्र शिवाद्युपास्यस्यापि श्रीमहाविष्णुसाम्यवादी प्रष्टव्यः-उपास्यपरत्वापरत्वयोः किं निर्णायकमिति। शास्त्रं वा तत्तदुपासकभावमात्रं वा? नान्त्यः, शास्त्र-प्रमाणविरहेण तादृशभावस्याशब्दत्वप्रसंगात्। आद्ये तस्य शास्त्रप्रमाणितत्वेऽपि तत्परत्वम् औपचारिकमनौपचारिकं वा? अन्त्ये युगपदनेकब्रह्मापत्त्या ब्रह्मा-द्वितीयत्वश्रुतिव्याकोपः। युगपच्छ्रीकृष्ण-नारायण-शिवादीनां परत्वापत्तेः। तत्रैवं सति यस्य यस्य श्रीमहाविष्णवाख्यपरब्रह्मजन्यत्वं श्रूयते तस्यैवौपचारिकं परत्वमिति निर्णयः। नहि शिवादिजन्यत्वं महाविष्णोः क्वचिच्छ्रूयते, यत्र क्वचिच्छ्रुतं, तत्रापि शिवादिशब्दानां न गुणावतारपरत्वमपितु परब्रह्मपरत्वमेव ज्ञेयं, नामान्तरमात्रेण गीतत्वात्, तल्लिंगादिति न्यायाच्च। तथा विष्णवादीनामपि यत्र जन्यत्वं श्रूयते तत्र न परत्वं, किं तर्हि गुणावतारत्वमेव। तस्माद्वेदादिशास्त्रे श्रीकृष्णाख्य (श्री)महाविष्णोरेवैकस्वरेण सात्त्विकशास्त्रे तत्र तत्र असमोर्द्ध पारम्यप्रतिपादनात्तस्यैव निर्विचिकित्सं परात्परब्रह्मत्वं सिद्ध्यति। शास्त्रनिर्णी-ताभ्युपगमस्य राजमार्गत्वात्-तदन्यत्रत्वप्रसिद्धतत्तद्ब्रह्मगुणोपसंहारापेक्षत्वेन

गौणत्वाच्चेति संक्षेपः ।

नारायण और रघुनाथ को भी श्रीकृष्ण के समान अतुल्य नहीं कहना चाहिए। क्यों नहीं कहना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि इन दोनों का श्रीकृष्ण से आविर्भाव सुना जाता है तथा भागवत में कहा गया है कि नारायण आदि श्रीकृष्ण के अंश हैं। अब प्रश्न होता है कि जिस उपासक का जिस भगवद्रूप में निरतिशय भाव हो क्या उसे सर्वोत्कृष्ट नहीं कहना चाहिए? तब हमारा उत्तर है नहीं। इसका कारण है कि वह सर्वोत्कृष्टत्व शास्त्रोक्त नहीं है। नारायण आदि को अतुल्य मानना भक्त की भावना के अनुसार है न कि शास्त्रोक्त है। शास्त्रीय तथा अपनी-अपनी भावना के अनुसार सर्वोत्कृष्टता मानने में शास्त्रोक्त उत्कृष्टत्व पर होने से बलवान् है। इस शास्त्रीय उत्कृष्टता में भी ब्रह्म के समस्त गुणों का उपसंहार करने पर नाममात्र भेद से अविरोध रहता है-ऐसा हम कहते हैं। किन्तु ऐसा होने पर (शास्त्रीय उत्कृष्टता के आधार पर अनेक भगवद्रूपों को सर्वोत्कृष्ट मानने पर) एक साथ अनेक ब्रह्म होने की आपत्ति से बचा नहीं जा सकेगा। अतः श्रीकृष्ण के शास्त्रोक्त परब्रह्म रूप की उपेक्षा करके अन्यान्य भगवद्रूपों की सर्वोत्कृष्टता स्वीकार करना युक्ति संगत नहीं है-कहने का यह भाव है। किञ्च यहाँ शिव आदि उपास्यों को महाविष्णु के समान उत्कृष्ट मानने वालों से यह पूछा जाना चाहिए कि किसी भी उपास्य के पर या अपर होने में निर्णायक तत्त्व क्या है? इसमें शास्त्र निर्णायक है अथवा उपासक का भावमात्र निर्णायक है? उपासक का भावमात्र निर्णायक नहीं है, क्योंकि उसमें शास्त्र के प्रमाण के अभाव में अशब्दत्व का दोष आ जाएगा। शास्त्र प्रमाण में शास्त्र से प्रमाणित होने पर भी उसका परत्व (श्रेष्ठत्व) औपचारिक है या अनौपचारिक यह विचार करना होगा। यदि वह परत्व अनौपचारिक है तब एक साथ अनेक ब्रह्म सिद्ध होने की आपत्ति उपस्थित होगी तब अद्वितीय ब्रह्म को सिद्ध करने वाली श्रुतियाँ खण्डित हो जायेगी तथा एक साथ श्रीकृष्ण, नारायण और शिव आदि को पर (उत्कृष्ट) मानने की आपत्ति उपस्थित हो जाएगी। तब यह मानना संगत होगा कि जिस-जिस भगवद्रूप का महाविष्णु नामक परब्रह्म से आविर्भाव सुना जाता है उसका ही औपचारिक परत्व है। कहीं भी महाविष्णु को शिवादि से जन्य नहीं कहा

है, यदि कहीं शिवादि से महाविष्णु का आविर्भाव सुना भी गया है वहाँ शिवादि शब्द पर ब्रह्मपरक हैं न कि गुणावतारपरक। शिवादि शब्द ब्रह्म के नामान्तर (अन्य नाम) हैं क्योंकि वे उसी रूप में पहचाने जाते हैं। तथा जहाँ विष्णु आदि की किसी अन्य से उत्पत्ति कही भी गई है वहाँ विष्णु आदि परब्रह्म नहीं हैं अपितु गुणावतार ही है। इसलिए वेदादि शास्त्रों में श्रीकृष्ण नामक महाविष्णु को ही एक स्वर से सात्त्विक शास्त्र में सर्वोत्कृष्ट कहा गया है, उसकी ही परब्रह्मता प्रतिपादित की गई है इसलिए उसका ही निर्विवाद रूप से परात्पर ब्रह्मत्व सिद्ध होता है। अतः शास्त्र निर्णीत उपलब्ध राजमार्ग से भिन्न अन्यत्र प्रसिद्ध उन-उन ब्रह्म का गुणोपसंहार की अपेक्षा गौणत्व है- यह संक्षिप्त रहस्य है।

इत्येवं श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु श्रीकृष्णस्य साक्षात्परात्परत्वे उद्घुष्टेऽपि स्वस्वरुचिवैचित्र्यानुसारेण ''यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय'' इति श्रीभागवतोक्त्या च, तस्मिंस्तस्मिन् नारायणादिभगवद्रूपेषु निष्ठातिशयं कुर्वतामुपासकानां तत्तद्भगवद्रूपमेव परात्परत्वेनाभिमतं भवति तस्य तस्य रूपस्यापि भगवत्त्वं शास्त्रप्रमाणितमेवेत्येतस्मिन्नंशे न कोऽपि शास्त्रविरोधः। ''तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।'' इति श्रीगीतावचनात्। किन्तु रसमार्गेण भगवन्तं परिशीलयितुकामानां तु श्रीराधा-दामोदररूपान्नास्त्यपरं परं भगवद्रूपं तद्रूपस्य साक्षाद्रसरूपत्वात्। शास्त्रप्रमा-णितासमोर्ध्वैश्वर्यमाधुर्य्यवत्त्वाच्च।

''मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्गुणैः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः।।''

इति श्रीनारदपंचरात्रोक्तन्यायोऽप्यत्रानुसन्धेयः। ''तं यथायथोपासते०'' इति किंच वेदतात्पर्य्यनिर्णये तदर्थोपबृंहकेतिहासपुराणानां सम्मति-रप्यपरिहार्यत्वेन संपाद्येत्याह वेदाचार्यो भगवान् वेदव्यासो महाभारतोपक्रमे-

''इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यती''ति।

इस प्रकार श्रुति, स्मृति और पुराण आदि में श्रीकृष्ण को ही साक्षात् परात्पर ब्रह्म उद्घोषित किया है तथापि अपनी-अपनी रुचि से उस बहुस्तुत श्रीकृष्ण का विभावन करते हैं वह सज्जनों पर अनुग्रह करने के लिए उसी-

उसी विग्रह को धारण करता है-भागवत की इस उक्ति के अनुसार उन-उन नारायण आदि भगवद्रूपों में अतिशय निष्ठा रखने वाले उपासकों के लिए वह-वह भगवद्रूप ही परात्पर रूप में अभिमत होता है, उस-उस रूप का भी भगवत्त्व शास्त्र प्रमाणित ही होता है-इस अंश में कोई शास्त्र विरोध नहीं है। श्रीगीता में कहा है-उस उस साधक की उस अचल श्रद्धा को ही मैं वैसी बना देता हूँ। किन्तु रस मार्ग से भगवान् का परिशीलन करने की इच्छा रखने वालों के लिए तो श्रीराधादामोदर रूप से भिन्न कोई अन्य रूप श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि वह रूप ही साक्षात् रस रूप है। वही शास्त्र प्रमाणित असमोर्ध्व-ऐश्वर्य और माधुर्यवाला है।

मणिर्यथा....तथाच्युतः-जैसे नील-पीत आदि पदार्थों के संयोग से मणि-नीला-पीला दिखता है वैसे ही अच्युत (श्रीकृष्ण) भी ध्यान भेद से अनेक प्रकार से भासित होता है।

भगवान् वेदव्यास ने वेदार्थ के निर्णय में इतिहास-पुराणादि को अपरिहार्य माना है। उनका वचन है--

''इतिहास और पुराण के ज्ञान से वेद का संवर्धन करना चाहिए। अल्पश्रुत (अल्पज्ञ) से वेद डरता है कि कहीं यह (अल्पज्ञ) मेरे अर्थ का अनर्थ कर देगा।

तदनुसारेणात्र श्रीराधाकृष्णासमोर्द्धपारम्यप्रतिपादकानि कतिपय-वाक्यानि संगृह्यन्ते। यथा हि--

''एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' (श्रीभा.प्र.स्कं.)

वेदव्यास के अनुसार श्रीराधाकृष्ण को सर्वोत्कृष्ट उपास्य रूप में प्रतिपादित करने वाले कतिपय वचनों का यहाँ संग्रह किया जा रहा है-

ये (शिवादि) परम पुरुष की अंश कला है कृष्ण तो स्वयं भगवान् है। (श्री. भा. प्र. स्कन्ध)

''कृष्णो ह वै परमं दैवतम्'' (श्रीगो.ता.उप.)

कृष्ण ही परम देवता है। (श्रीगो.ता.उप.)

''मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय'' (श्रीमद्भगवद्गीता)

हे धनञ्जय! मेरे से परतर कोई तत्त्व नहीं है।

(श्रीमद्भगवद्गीता)

''सर्वकारणरूपोऽहं न च मत्कारणं परम्'' (व.वै. पु.)

मैं सभी का कारण स्वरूप हूँ, मेरा कोई कारण नहीं है।

(ब्र. वै. पु.)

''भज सत्यं परं ब्रह्म राधेशं त्रिगुणात्परम्।

नैव कृष्णात्परो देवो नैव कृष्णात्परः पुमान्।।'' (ना. पं. रा.)

त्रिगुण से परे, सत्य और परब्रह्म रूप राधेश का भजन करो, न तो कृष्ण से उत्कृष्ट कोई देवता है न कृष्ण से उत्कृष्ट कोई पुरुष तत्त्व है। (ना. पं. रा.)

''यस्मिन् सर्वाणि तेजांसि विलीयन्ते स्वतेजसा।

तं वदन्ति स्वयं साक्षात् परिपूर्णतमः स्वयम्।....

परिपूर्णतमः साक्षाच्छ्रीकृष्णो नान्य एव हि।।'' (गर्ग सं.)

सभी तेज अपने तेज से जिसमें विलीन हो जाते हैं उस (तेज) को स्वयं साक्षात् स्वयं में परिपूर्णतम (तत्त्व) कहते हैं।

परिपूर्णतम तत्त्व साक्षात् श्रीकृष्ण ही है अन्य नहीं। (गर्ग सं.)

''देवि सर्वेऽवतारास्तु ब्रह्मणः कृष्णरूपिणः।

अवतारी स्वयं कृष्णः सगुणो निर्गुणः स्वयम्।।'' (ना.पु.उ.खं.५)

हे देवि! सभी देव श्रीकृष्णरूपी परब्रह्म के अवतार है। निर्गुण और सगुण स्वरूप स्वयं श्रीकृष्ण ही अवतारी है। (ना.पु.उ.खं.)

''देवमन्यं कृष्णतुल्यं यो ब्रवीति नराधमः।

ब्रह्महत्यां स लभते महामूर्खो न संशयः।।'' (ना. पं. रा.)

जो नराधम किसी अन्य देव को कृष्ण के समान कहता है वह महामूर्ख ब्रह्महत्या को प्राप्त करता है--इसमें संशय नहीं है। (ना. पं. रा.)

''विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं०'' (ऋक्संहिता विष्णुसूक्त)

अब मैं विष्णु के वीर कर्मों का वर्णन करता हूँ। (ऋग्वेद-विष्णुसूक्त)

''जगद्वशे वर्त्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्'' (म.भा.विष्णुसह.ना.)

चराचर यह जगत् विष्णु के वश में है। (म. भा. विष्णुसह. ना.)

''न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'' (श्रीभगवद्गीता अ.११)

तुम से अधिक और तुम्हारे समान कोई अन्य कहाँ है?

(श्रीमद्भगवद्गीता)

''येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।''

जो भी अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं, हे कौन्तेय ! वे भी अविधि पूर्वक मेरा ही यजन करते हैं। (श्रीमद्भगवद्गीता)

''अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।'' (,,)

अल्पमेधा वाले उन भक्तों को भी अन्त में फल मिलता है। देव यजन करने वाले देव को प्राप्त करते हैं तथा मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं। (श्रीमद्भगवद्गीता)

''यो मोहाद्विष्णुमन्येन हीनदेवेन दुर्मतिः।
साधारणं सकृद्ब्रूते सोऽन्त्यजो नान्त्यजोऽन्त्यजः।।'' (ना.प.)

जो दुर्मति मोह के कारण विष्णु को अन्य हीन देवता के समान एक बार भी कहता है वह अन्त्यज है न कि अन्त्यज अन्त्यज है। (अर्थात् जिसने हीन देवता के समान विष्णु को कह दिया या मान लिया वही दुर्मति अन्त्यज है न कि अन्त्यज जाति में उत्पन्न होने वाला) अन्त्यज। (ना. पं.) (अथवा जिसने मोह से भी अन्य देवता के समान समझते हुए भी विष्णु का एक बार भी नाम ले लिया वह अन्त्यज भी अन्त्यज नहीं रहा, और जो अन्त्यज (शूद्र जाति में उत्पन्न) नहीं है किन्तु एक बार भी उस विष्णु का नाम नहीं लिया है वह उच्चकुलीन भी अन्त्यज है)

''अस्मिन्नाराधिते विष्णौ विश्वमाराधितं भवेत्।
तुष्टे चराचरं तुष्टं सर्वदेवमये हरौ।।'' (ना.पु.)

इस विष्णु के आराधना करने पर विश्व आराधित हो जाता है। सर्वदेवमय हरि के संतुष्ट होने पर चराचर संतुष्ट हो जाता है। (ना. पु.)

''अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'' (श्रीगीता.)

मैं सभी का उत्पत्ति स्थान हूँ मेरे से ही सभी उत्पन्न होते हैं। (श्री गीता.)

''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।''(,,)

सभी वेदों से मैं ही वेद्य हूँ। (श्री गीता.)

''वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते।।'' (महा भा.)

वेद रामायण, पुराण और भारत (महाभारत) में आदि, मध्य और अन्त में सभी जगह हरि का ही वर्णन है।(महा. भा.)

''बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः।।'' (विष्णु पु.)

भवपाश से बांधने वाला, भवपाश से मुक्त करने वाला एवं कैवल्य (मोक्ष) प्रदान करने वाला सनातन परब्रह्म विष्णु ही है। (विष्णु. पु.)

''मामेकं शरणं व्रज'' ''मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'' (श्रीगीता१०)

मुझ अकेले की शरण में आओ-(मोक्षयिष्यामि) मैं तुम्हारी मोक्ष कर दूँगा, शोक मत करो। (श्री गीता.)

''ब्रह्माणं शितिकंठंच याश्चान्या देवताः स्मृताः।
प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यतः परिमितं फलम्।।'' (विष्णु पु.)

ब्रह्मा, शिव या अन्य भी जो देवता माने गए हैं समझदार लोग उनकी सेवा नहीं करते हैं क्योंकि उनकी सेवा का सीमित फल है। (विष्णु. पु.)

''वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्त्तिव्यूहोऽभिधीयते।।

वासुदेव, संकर्षण (स्वयं पुरुष), अनिरुद्ध, प्रद्युम्न-ये ब्रह्म का मूर्तिव्यूह कहा जाता है।

स विश्व-तैजस-प्राज्ञ-तुरीय इति वृत्तिभिः।
अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते।।

वही भगवान् अर्थ, इन्द्रिय, आशय और ज्ञान रूप वृत्तियों से क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय नामों से कहा जाता है।

अंगोपांगायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम्।
बिभर्त्ति स्म चतुर्मूर्त्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः।।'' (श्रीभा. स्क.)

भगवान् ने उस चतुष्टय रूप को अंग, उपांग, आयुध तथा आकल्प से धारण कर रखा था, चतुर्मूर्ति भगवान् हरि ईश्वर है, (श्री भा.स्कं. १२) .

''यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्।।

जो नख सदृश आकृति वाले इन्दु (द्वितीया के चन्द्र) के समान कान्ति वाला ब्रह्म है वह ब्रह्मा आदि देवताओं से ध्येय (ध्यान करने योग्य) है। गुणत्रयातीत उस वृन्दावनेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

वृन्दावनपरित्यागो गोविन्दस्य न विद्यते।
अन्यत्र यद्वपुस्तत्तु कृत्रिमं तन्न संशयः।।

गोविन्द का वृन्दावन परित्याग नहीं है (अर्थात् गोविन्द कभी भी वृन्दावन का त्याग नहीं करते हैं) अन्यत्र जो वपु है वह कृत्रिम है इसमें संशय नहीं है।

यमाहुर्यौवनोद्भिन्नं श्रीमन्मदनमोहनम्।
अखंडातुलपीयूषरसानन्दमहार्णवम्।।

यौवनोद्भिन्न जो मदनमोहन रूप है वह अखण्ड अतुल्य, अमृत रसानन्द का महासागर है।

नखेन्दुकिरणश्रेणीपूर्णब्रह्मैककारणम्।
केचिद्वदन्ति तस्यांशं ब्रह्मचिद्रूपमव्ययम्।।

(वह) उन परात्पर गोविन्द के नखरूप नूतनचन्द्र के किरण ही पूर्णब्रह्म के एकमात्र कारण हैं। कुछ लोग उसी के अंशरूप को चित्स्वरूप, अव्यय ब्रह्म कहते हैं।

तद्दशांशं महाविष्णुं प्रवदन्ति मनीषिणः।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।।

मनीषीजन उसी मदनमोहन के दशांश को महाविष्णु कहते हैं। उसी की कला के करोड़वें भाग का भी करोड़वां अंश ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं।

तदंघ्रिपंकजद्वन्द्वनखचन्द्रमणिप्रभाः।
आहुः पूर्णब्रह्मणो हि कारणं वेददुर्गगम्।।'' (पद्म पु.पा. खं.)

उस मदनमोहन के युगलचरणकमल के नखचन्द्र-मणि के प्रभा को वेददुर्गम पूर्णब्रह्म का कारण कहते हैं। (पद्म पु. पा. ख.)

''कदाचित्क्रीडतोर्देवि राधामाधवयोर्वपुः।

द्विधाभूतमभूत्तत्र वामांगाद्वै चतुर्भुजम्।।

हे देवि! कदाचित् क्रीडा करते हुए राधामाधव का वपु (शरीर) दो भागों में विभक्त हो गया उनमें वामाङ्ग से चतुर्भुज स्वरूप प्रकट हुआ।

समानरूपावयवं समानाम्बरभूषणम्।

तद्वद्राधास्वरूपं च द्विधाभूतमभूत्सति।।

उस चतुर्भुज स्वरूप के रूप, अवयव, वस्त्र और भूषण समान थे। उसी के समान राधा का स्वरूप था।

ताभ्यां दृष्टं तत्स्वरूपं साक्षात्तावपि तत्समौ।

चतुर्भुजं तु यद्रूपं लक्ष्मीकान्तमनोहरम्।।

उन राधा माधव ने उस स्वरूप के दर्शन किये। वे दोनों स्वरूप भी उन जैसे ही थे। जो चतुर्भुज स्वरूप था वह लक्ष्मी कान्त (नारायण) का मनोहर रूप था।

राधावामांस संभूता महालक्ष्मीः प्रकीर्त्तिता।

ऐश्वर्याधिष्ठात्री देवी सरस्वत्येव नारद।।'' (ना.पु.उ.खं.)

राधा के वामांश से प्रकट स्वरूप को महालक्ष्मी कहा गया है। हे नारद! ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी महालक्ष्मी सरस्वती के सदृश है। (ना. पु. उ. खं)

''लक्ष्मीर्वाणी च तत्रैव जनिष्येते महामते।

वृषभानोस्तु तनया राधा श्रीर्भविता किल।।'' (ब्र. वै.)

हे महामते! लक्ष्मी और सरस्वती वहीं (राधा के वामांश में) प्रकट होगी। श्री (लक्ष्मी) वृषभानु की पुत्री श्रीराधा के रूप में प्रकट होगी। (ब्र. वै.)

''हरेरर्द्धतनू राधा राधिकार्द्धतनुर्हरिः।

अनयोरन्तरादर्शी मूर्त्यवच्छेदकोऽधमः।।'' (ना.पं. रा.)

हरि का अर्धतनु (आधा शरीर) राधा है तथा राधा का अर्धतनु हरि हैं। इस दोनों में भेद देखने वाला मूर्ति भञ्जक अधम है। (ना. पं. रा.)

''यः कृष्णः सापि राधा या राधा कृष्ण एव सः।

अनयोरन्तरादर्शी संसारान्न विमुच्यते।।'' (ब्रह्म संहिता)

जो कृष्ण है वही राधा है, जो राधा है वही कृष्ण है। इन दोनों में

अन्तर (भेद) देखने वाला संसार से मुक्त नहीं होता है। (ब्रह्म संहिता)

''यस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम्।
तस्या इदं महादेवि गोपालेनैव भाषितम्।।'' (सं. तंत्र)

जिस कारण से ज्योति राधा-माधव रूप में दो रूपों में विभक्त हुई है उसका यह (रहस्य) हे महादेवि! स्वयं गोपाल ने ही कहा है। (सं. तन्त्र)

''कृष्णो ह वै हरिः परमो देवः षड्विधैश्वर्य्यपरिपूर्णो
भगवान् गोपीगोपसेव्यो वृन्दाराधितो वृन्दावनाधिनाथः

षड्विध ऐश्वर्य से परिपूर्ण कृष्ण ही परम देव हरि है। वही वृन्दा से आराधित, गोप-गोपी सेव्य, वृन्दावननाथ भगवान् है।

स एक एवेश्वरः। तस्य ह वै द्वैततनू नारायणोऽखिल-
ब्रह्मांडाधिपतिरेकोंऽशः प्रकृतेः पराचीनो नित्यः।''

(ऋग्वेदे ब्रह्मभाग रा.उ.)

वह एक ही ईश्वर है। उसी के ही दो शरीर हैं। उसका एक अंश प्रकृति से परे नित्य अखिल ब्रह्माण्ड अधिपति नारायण है। (ऋग्वेद ब्रह्म भाग उप.)

''कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा।
संहारकारकश्चैव कारणं च विशांपते।।''(महा भा. शां. नारायणीय)

हे लोकनाथ! कृष्ण ही लोकों का भावन (उत्पत्ति कारण) मोहन (मोहित करके जगत् में पालन करने वाला) तथा संहार करने वाला है। तथा विश् (जगत्, जनता) का कारण है। (महा. भा. शां. नारायणीय)

''राधाकृष्णात्मिका नित्यं कृष्णो राधात्मको ध्रुवम्।
वृन्दावनेश्वरी राधा राधेवाराध्यते मया।।'' (ब्रह्मांड पु.)

कृष्णात्मिका (कृष्ण स्वरूपा) राधा नित्य है। राधात्मक (राधा स्वरूप) कृष्ण नित्य (ध्रुव) है। राधा वृन्दावन की ईश्वरी है। मेरे द्वारा राधा की ही आराधना की जा रही है। (ब्रह्माण्ड पु.)

''येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहेनैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्।।''

(श्रीराधिकोपनिषद्)

जो राधा और जो कृष्ण है वह रस का सागर है। दोनों देह से एक ही है। क्रीडनार्थ दो रूपों में विभक्त हो गया है। (श्रीराधिकोपनिषद्)

''कृष्णेनाराध्यत इति राधा।'' (,,)

कृष्ण के द्वारा जिसकी आराधना की जावे वह राधा है। (श्रीराधिकोपनिषद्)

''एषा वै हरेः सर्वेश्वरी सर्वविद्या सनातनी कृष्णप्राणाधिदेवी चेति विविक्ते वेदाः स्तुवन्ति, यस्या गतिं ब्रह्मभागा वदन्ति। महिमाऽस्याः स्वायुर्मानेनापि कालेन वक्तुं न चोत्सहे। सैव यस्य प्रसीदति तस्य करतलावकलितं परमधामेति। एतामवज्ञाय यः कृष्णमाराधयितुमिच्छति समूढतमो मूढतमश्चेति।'' (,,)

यह राधा ही हरि की सर्वेश्वरी, सर्वविद्या, सनातनी, कृष्ण की अधिष्ठात्री देवी है-इस प्रकार वेद इसकी स्तुति करते हैं। जिस (राधा) की गति का वर्णन ब्रह्म भाग करते हैं। इसकी महिमा का वर्णन अपने सम्पूर्ण आयु काल में भी नहीं किया जा सकता। वही जिस पर कृपा करती है परमधाम उसके करतल में अवस्थित हो जाता है। इसकी (राधा की) अवहेलना करके जो कृष्ण की आराधना करना चाहता है वह मूढ से भी मूढतम है। (राधिकोपनिषद्)

''यस्या रेणुं पादयोर्विश्वभर्त्ता धरते मूर्ध्नि रहसि प्रेमयुक्तः।
स्रस्तवेणुः कबरीं न स्मरेद्यल्लीनः कृष्णः क्रीतवत्तु तां नमामः।।''

एकान्त में प्रेमयुक्त होकर विश्वभर्त्ता (श्रीकृष्ण) जिसके पैरों की रेणु को अपने मस्तक पर धारण करता है। जिसके स्मरण में लीन होकर क्रीतवत् श्रीकृष्ण अपनी वेणु और अपने खुले हुए अलकों का भी स्मरण नहीं करते (तथा क्रीत के समान रहते हैं) उस राधा को हम श्रुतियां नमन करती हैं। (जगत् के पोषण कर्ता भगवान् श्यामसुन्दर प्रेमार्द्र होकर (इन राधा) की चरण धूलि अपने ललाट पर लगाते हैं और इनके प्रेम के वशीभूत होकर न तो वंशी की चिन्ता करते हैं और न ही अपनी खुले अलकों की। ऐसी राधा को श्रुतियां प्रणाम करती हैं)।

''यस्या अंके विलुठन् कृष्णदेवो गोलोकाख्यं नैव सस्मार धाम।
पदं सांशा कमला शैलपुत्री तां राधिकां शक्तिधात्रीं नमामः।।''
''येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्।।''

(श्रीराधातापिनी उप.)

जिस (राधा) की गोद में लोटते हुए श्रीकृष्ण देव गोलोकधाम का भी स्मरण नहीं करते हैं। कमला (लक्ष्मी) और शैलपुत्री (पार्वती) उसका अंश है, उस शक्तिधात्री श्रीराधिका का नमन करते हैं।

जो राधा और जो कृष्ण है वह रस सागर है। देह एक है, क्रीडन के लिए दो प्रकार से अवस्थित है। (श्रीराधातापिनी उप.)

''राधाकृष्णयोरेकमासनपद्म, एका बुद्धिः, एकं मनः, एकं ज्ञानम्, एक आत्मा, एकपदमेकाकृतिः, एकं ब्रह्मतया आसनं, हेममुरलिवाद्यं, हैमं पद्ममिति मानसपूजायां जपेन ध्यानेन कीर्त्तनेन स्तुतिमानसेन सर्वेण नित्यस्थलं प्राप्नोति नान्येन।।'' (पुरुषार्थबोधिनी उप.)

श्रीराधा और कृष्ण का एक ही आसन पद्म है एक ही बुद्धि है, एक मन है, एक ज्ञान है, एक आत्मा है, एक पद है, एक कृति (रचना) है, एक ब्रह्म रूप में रहना है, एक ही स्वर्ण मुरली वाद्य है, एक ही स्वर्ण कमल है, मानस पूजा में इस प्रकार जप द्वारा, ध्यान से, कीर्तन से, स्तुति मानस से साधक नित्य स्थल (नित्यधाम) को प्राप्त करता है, अन्य विधि से नहीं। (पुरुषार्थ बोधिनी उप.)

''सम्पूज्या हरिणा सार्धं प्रेष्ठा कृष्णानपायिनी।
साक्षात्कृष्णमयी यत्र युगेज्याव्रतधारिणाम्।।'' (ब्र....)

युगल उपासना की पूजा का व्रत धारण करने वाले भक्तों को कृष्ण के साथ अविनाभाव रूप से रहने वाली अतिप्रियतमा साक्षात्कृष्ण स्वरूपा राधा का श्रीहरि के साथ पूजन करना चाहिए।

''अथ कालान्तरे सा च द्विधारूपा बभूव ह।
वामार्धांगाच्च कमला दक्षिणार्धा च राधिका।।

कालान्तर में वह दो रूपों में प्रकट हुई। वामार्ध अङ्ग से कमला तथा दक्षिणार्ध अङ्ग से राधिका प्रकट हुई।

एतस्मिन्नन्तरे कृष्णो द्विधारूपो बभूव ह।
दक्षार्धश्च द्विभुजो वामार्धश्च चतुर्भुजः।।'' (ब्र.वै.पु.प्र.खं.)

इसी समय कृष्ण दो रूपों वाला हो गया। दक्षिणार्ध तो द्विभुज हुआ तथा वामार्ध चतुर्भुज हुआ। (ब्र. वै. पु. म. खं.)

''राधावामांसभागेन महालक्ष्मीर्बभूव ह।

चतुर्भुजस्य सा पत्नी देवी वैकुंठवासिनी।।

राधा के वामांग से महालक्ष्मी प्रकट हुई। वैकुण्ठवासिनी वह चतुर्भुज रूप (नारायण) की पत्नी हुई।

स्वयं राधा कृष्णपत्नी कृष्णवक्षःस्थलस्थिता।

प्राणाधिष्ठात्री देवी सा तस्यैव परमात्मनः।।'' (,,)

उसी परमात्मा की प्राणाधिष्ठात्री देवी कृष्णवक्षःस्थल पर स्थित स्वयं राधा कृष्ण की पत्नी बनी।

''राधावामांशसंभूता महालक्ष्मीर्बभूव ह।

ऐश्वर्याधिष्ठात्री देवी सेश्वरस्येति नारद।।

हे नारद! ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री, राधा के वामांश से प्रकट हुई महालक्ष्मी ईश्वर (नारायण) की पत्नी बनी।

तदंशा सिन्धुकन्या च क्षीरोदमथनोद्भवा।।'' (ना.पं.ज्ञा.सं.)

क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न सिन्धु कन्या (सागर पुत्री) लक्ष्मी उस (महालक्ष्मी) का अंश है। (ना. पं. ज्ञा. सं.)

''आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।

आत्मारामतया विप्र प्रोच्यते गूढवेदिभिः।।'' (स्क.पु.भा. म.)

हे विप्र! उस कृष्ण की आत्मा राधिका है। उसी (आत्मा) के साथ रमण करने के कारण गूढ- तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा उसे आत्माराम कहा गया है।

''आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।

तस्या एवांशविस्ताराः सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः।

स एव सा स सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका।।'' (,,)

राधिका आत्माराम कृष्ण की निश्चित ही आत्मा है। कृष्ण की अन्य सभी नायिकाएँ उसी राधा के अंश का विस्तार है। वह कृष्ण ही वह राधा है, वही राधा वह कृष्ण है। वंशी उनका प्रेम रूप है। (स्क. पु. आ. मा.)

तथा ब्रह्मवैवर्त्ते कृष्णजन्मखंडे उत्तरार्धे केदारकन्यां प्रति श्रीविष्णुः-

ब्रह्मवैवर्त्त-कृष्ण जन्म खण्ड उत्तरार्ध में केदार कन्या के प्रति श्रीविष्णु के वचन-

''त्वयायुस्तपसाप्राप्तं यावदायुश्च ब्रह्मणः।
तदेव देहि धर्माय गोलोकं गच्छ सुन्दरि।।
तन्वाऽनया च तपसा पश्चान्मां च लभिष्यसि।

हे सुन्दरि! जो आयु ब्रह्मा के आयु के समान है तुमने तपस्या से उस आयु को प्राप्त किया है। उस आयु को धर्म में लगा दो और गोलोक में वास करो।

इस शरीर से तपस्या द्वारा तुम मुझे प्राप्त करोगी।
पश्चाद्गोलोकमागत्य वाराहे च वरानने।।
वृषभानुसुता त्वं च राधाच्छाया भविष्यसि।।(१)

हे वरानने! गोलोक में आने के पश्चात् वाराह कल्प में तुम वृषभानुसुता राधा की छाया होकर उत्पन्न होगी। मेरे कलांश रायाण (गोप यशोदा के सहोदर भाई का पुत्र) विवाह में तुम्हें प्राप्त करेगा।

मां लभिष्यसि रासे च गोपीभि राधया सह।
सा चैव वास्तवी राधा त्वं च छायास्वरूपिणी।।''

रास में तुम गोपियों और राधा के साथ मुझे प्राप्त करोगी। जो रास में राधा होगी वही वास्तवी राधा होगी तुम तो राधा की छाया मात्र होगी।

''विवाहकाले रायाणस्त्वां च छायां ग्रहिष्यति।
त्वां दत्त्वा वास्तवी राधा सान्तर्धाना भविष्यति।।

और रायाण विवाह काल में छाया रूपिणी तुमको ग्रहण करेगा। तुमको रायाण को प्रदान करके वास्तवी राधा अन्तर्धान हो जाएगी।

स्वप्ने राधापदाम्भोजं नहि पश्यन्ति बल्लवाः।
स्वयं राधा हरेः क्रोडे, छाया रायाणमन्दिरे।।'' (ब्र. वै.)

ग्वाले स्वप्न में भी राधा के चरण कमल को नहीं देखते हैं। क्योंकि स्वयं राधा श्रीहरि की गोद में है। रायाण मन्दिर (रायाण के घर) में राधा छाया रूपिणी है। (ब्र. वै.)

''आत्मैवेदमग्रआसीत्पुरुषविध..... ।।१-२।।

स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास यथा स्त्री पुमाँ सौ संपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधापातयात् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्... ।।३।।''

पुरुषविध आत्मा ही सबसे पहले था। वह आनन्दित नहीं होता था, कारण कि एकाकी आनन्दित नहीं होता है, उसने द्वितीय को चाहा, वही स्त्री और पुरुष के सदृश संपृक्त था, उसी ने इस आत्मा को दो भागों में विभक्त किया, तब पति और पत्नी बने।

सा हेयमीक्षां चक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति.... ।।'' (बृ.उप.अ.१पु.ब्रा.४)

जनयित्वेत्यस्य आविर्भाव्येत्यर्थः। न तु अव्याकृतात् स्थूलोत्पत्ति-वदुत्पत्तिस्तस्या अत्र वर्ण्यते-तथा सति तन्नित्यत्वानपापित्वादिपरकशास्त्रम-लीकं स्यादिति ध्येयं एषैव द्विधाकरणश्रुतेरप्यभिप्रायः।

पत्नीरूपा उस शतरूपा ने यह विचार किया कि अपने से ही उत्पन्न करके यह मुझसे क्यों समागम करता है। (बृह. उप. अ.१ पु. ब्रा. ४) जनयित्वा का अर्थ यहाँ प्रकट करके-ऐसा है। न कि अव्याकृत से स्थूल उत्पत्ति के समान उत्पत्ति अर्थ है। यदि प्राकृत उत्पत्ति का यहाँ वर्णन होता-तब वह परम तत्त्व नित्य है, अनपायी है-इत्यादि शास्त्र मिथ्या हो जाएगा। अतः जनयित्वा का अर्थ आविर्भाव करके ऐसा ही समझना चाहिए तथा यही दो रूपों में प्रकट करने वाली श्रुति का अभिप्राय है।

''अनाद्योऽयं पुरुष एक एवास्ति, तदेवं द्विधारूपं विधाय सर्वान् रसान् समाहरति, स्वयमेव नायिकारूपं विधाय समाराधनतत्परोऽभूत्, तस्मात्तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति, तस्मादानन्दमयोऽयं लोकः ।।''

(सामरहस्योपनिषद्)

यह अनाद्य पुरुष एक ही है, वही इस प्रकार दो रूप बनाकर सभी रसों का समाहार करता है स्वयं ही नायिका रूप बनाकर समाराधन में तत्पर हो गया। वेदविद्जन उसको रसिकानन्द राधा कहते हैं, इसलिए यह लोक आनन्दमय है। (सामरहस्योपनिषद्)

''कृष्णाराध्या कृष्णवंद्या ।'' (वृहन्ना.पु.राधा-कृष्ण स. ना.)

कृष्ण की आराध्या कृष्णवंद्या (ब्रह्मन्ना. पु. राधाकृष्ण स. ना.)

''राधा भजति तं कृष्णं स च तां च परस्परम्।
उभयोः सर्वसाम्यं च सदा सन्तो वदन्ति हि।।'' (ब्र.वै.प्र.खं.)

उस कृष्ण (सर्ववन्दनीय) को राधा भजती है और वह कृष्ण उस

राधा को भजते हैं इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का भजन करते हैं। सन्तजन दोनों का सभी प्रकार का साम्य कहते हैं। (ब्र..वै.पु.खं.)

''राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका।
विभ्राजन्ते जनेष्वा।'' (ऋक् परिशिष्ट)

जनों (लोगों) में राधा से माधव और माधव से राधा सुशोभित होते हैं। (ऋक् परिशिष्ट)

''यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृते परः।
तथा ब्रह्मत्त्वरूपा सा निर्लिप्ता प्रकृतेः परा।।'(जा.प.ज्ञानामृत. सं.)

ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण जैसे प्रकृति से परे हैं वैसे ही ब्रह्मस्वरूपा वह राधा प्रकृति से परे है। (ना. पं. ज्ञानामृत. सं.)

''मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम्।
न करोमि स्वयं किंचित्सृष्ट्यादिकमहं शिव।।

हे शिव! मैं स्वयं सृष्टि की रचना आदि कुछ भी कर्म नहीं करता हूँ। अपितु माया के गुणों से मेरे अंश सर्जन आदि का कार्य करते हैं।

अहमासां महादेव गोपीनां प्रेमविह्वलः।
क्रियान्तरं न जानामि नात्मानमपि नारद।।

हे महादेव! मैं इन गोपियों के प्रेम से विह्वल होकर क्रियान्तर को नहीं जानता। हे नारद! मैं अपने आपको भी नहीं जानता हूँ।

विहराम्यनया सार्द्धमस्याः प्रेमवशीकृतः।
इमां तु मत्प्रियां विद्धि राधिकां परदेवताम्।।

इसके प्रेम से वशीभूत होकर इसके साथ में विहार करता रहता हूँ। मेरी प्रिया इस राधिका को परम देवता समझो।

अस्याश्च परितः पश्य सख्यः शतसहस्रशः।
नित्याः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः।।''

इस राधा के चारों ओर सैंकड़ों हजार (अनन्त) सखियाँ हैं हे रुद्र! ये सभी नित्य हैं जैसे मैं नित्य विग्रह हूँ।

''आश्रित्य मत्प्रियां विप्र मां वशीकर्त्तुमर्हसि।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।।'' (पद्म. पु.)

हे विप्र! मेरी प्रिया का आश्रय लेकर मुझे वश में कर सकते हो।

यह परम रहस्य मैंने तुम्हें कहा है। इसलिए सभी प्रकार के प्रयत्नों से मेरी प्रिया की शरण में जाओ। (पद्म. पु.)

इत्यादि शतशः श्रुतितदर्थोपाब्रृहकपंचरात्रपुराणसंहितादि वाक्यानि श्रीराधाकृष्णयोः सर्वथाऽभिन्नस्वरूपत्वं, महाविष्णुत्वं, ऐश्वर्य्यप्रधानचतुर्भुज-नारायणाविर्भावकारणत्वं, सर्वेश्वरत्वं, व्यूहाङ्गित्वं, सर्वावताराणामवतारित्वं, परस्परात्मत्वं, भगवतः सर्वमूलस्वरूपत्वं च स्फुटं वदन्ति। तस्यादुक्ताक्षेपा-णामनभिज्ञताद्योतकत्वमेवेति दिक्।

इस प्रकार सैंकड़ों श्रुतियाँ, उनके अर्थ का उपबृंहण करने वाले पंञ्चरात्र पुराण संहिताओं के वचन श्रीराधाकृष्ण के सर्वथा अभिन्न स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। साथ ही राधा-कृष्ण का महाविष्णुत्व, ऐश्वर्य प्रधान चतुर्भुज नारायण आविर्भाव, सर्वेश्वरत्व, व्यूहाङ्गित्व, सभी अवतारों का अवतारित्व तथा सबके मूल भगवान् हैं आदि का भी स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। इसलिए उक्त आक्षेपों को अज्ञान का द्योतक समझना चाहिए।

तत्रादौ श्रीगोपालतापन्याम्-

कृष्णो ह वै परमं दैवतम्।।

इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्त्तितम्।

''तद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्ताः संय्यजन्ते न कामान्। तेषामसौ गोपवेषः प्रयत्नात्प्रकाशयेदात्मपदं तदैवेति च श्रुती।। अत्र विष्णोः पदमित्युक्त्वा आत्मपदमिति पुनर्वचनं विष्णुवादिनाम्नां श्रीकृष्ण एव मुख्यावृत्तिरिति प्रदर्शनाय।।''

इस विषय में सर्वप्रथम गोपालतापिनी उपनिषद् में कहा है--

कृष्ण ही परम देवता है।

जो नित्य सन्नद्ध होकर सम्यक् प्रकार से यजन करते हैं, उनके लिए गोपवेशधारी (श्रीकृष्ण) प्रयत्न पूर्वक आत्मपद का प्रकाशन करते हैं वही विष्णु का परम पद है। यह श्रुति है। यहाँ विष्णोः पदम्-अर्थात् विष्णु का पद (स्थान-लोक) यह कहकर पुनः आत्मपद यह वचन यह प्रमाणित करता है कि विष्णु आदि के द्वारा मुख्य रूप से श्रीकृष्ण का ही कथन किया जाता है।

मुख्यावृत्तिरिति--परब्रह्म-नारायण-वासुदेव-हरि-मुकुन्द-

पुरुषोत्तम-सच्छिवेन्द्राग्नियमवरुणप्राणादिशब्दानां मुख्यया वृत्त्या वाच्यो महाविष्णुः श्रीकृष्ण एव। तस्यैवोपदर्शितरीत्या सर्वेषामाविर्भावकारणत्वात्। तत्र शिवेन्द्रादिशब्दानां तत्तद्देवतावाचकत्वेऽपि सर्वान्तर्यामिणि सर्वकारणकारणे सर्वेश्वरेश्वर एव मुख्यावृत्तिः। ''नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति, एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, नमामः सर्ववचसां -प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः''-इत्याद्युदाहृतश्रुति-स्मृतिभ्यः। अन्यत्र तु गौण्येव। तेषां स्वतन्त्र-सत्ताविरहात्, तदाविर्भूतत्व-तद्व्याप्यत्व-तन्नियम्यत्व-तद्पृथक्सत्ताव-त्वादिनेति संक्षेपः। ''यदासीत्तदधीनमासी''दित्यादिश्रुतेः। श्रीकृष्णनाम्नोऽपि द्विभुज-चतुर्भुजस्वरूपयोर्मुख्यवृत्तित्वेऽपि ऐश्वर्य्यप्रधानचतुर्भुजरूपापेक्षया माधुर्यमयद्विभुजस्यैव तस्यान्तरङ्गत्वाच्चतुर्भुजस्याविर्भावकारणत्वादिना द्विभुज एव श्रीकृष्णे मुख्यावृत्तिरित्याशयः। एतच्चोपरिष्टान्मूल एव स्फुटी भविष्यति। द्विभुज सकाशाच्चतुर्भुजादीनामाविर्भावोक्तिरपि औपचारिकैव। अप्राकृते धाम्नि तत्तद्भगवद्व्यूहाङ्गानामवताररूपाणांच नित्यत्वावगमात्। ''नित्याः सर्वे परे धाम्नि'' इति अत्रैव वक्ष्यमाणात्। ''स इममेवात्मानम्.''

''तत्सृष्ट्वा तदनुप्राविशत्'' इत्यादि श्रौतोक्तिवदत्रापि सत एवाविर्भावः प्रवेशश्चेति बोध्यम्।

परब्रह्म, नारायण, वासुदेव, हरि, मुकुन्द, पुरुषोत्तम, सत्, शिव, इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण तथा प्राण आदि शब्दों द्वारा मुख्य वृत्ति (अभिधा) से वाच्य (कहा गया) महाविष्णु श्रीकृष्ण ही है। श्रीकृष्ण ही सभी के आविर्भाव का कारण है। शिव, इन्द्र आदि शब्द यद्यपि उन-उन देवताओं के वाचक हैं किन्तु इनकी मुख्यवृत्ति सर्वान्तर्यामी, सर्वकारण, सर्वेश्वर में ही है। ''सभी नाम जिसमें व्याप्त होते हैं, एक सत् तत्त्व को ही विद्वान् अनेक प्रकार से कहते हैं, जिसमें सभी वचनों की शाश्वत् प्रतिष्ठा है, सभी वेदों से मैं ही वेद्य हूँ।'' इत्यादि श्रुति और स्मृतियों के वचनों से यही प्रमाणित होता है कि इन शब्दों के द्वारा मुख्य रूप से श्रीकृष्ण ही वाच्य है। अन्य देवता तो गौण रूप से वाच्य है। शिव आदि उससे आविर्भूत होते हैं, उससे व्याप्त होते हैं, उससे नियम्य होते हैं, उससे (श्रीकृष्ण से) उनकी सत्ता भिन्न नहीं होती है। ''जो था वह उसी (श्रीकृष्ण) के अधीन था'' यह श्रुति है।

श्रीकृष्ण नाम की भी मुख्य वृत्ति द्विभुज और चतुर्भुज श्रीकृष्ण अर्थ

में है तथापि ऐश्वर्य प्रधान चतुर्भुज रूप की अपेक्षा माधुर्यमय द्विभुज रूप ही अन्तरङ्ग होने तथा चतुर्भुज रूप के आविर्भाव का कारण होने के कारण मुख्य वृत्ति से वाच्य (अभिधेय) है। अर्थात् श्रीकृष्ण शब्द की मुख्य वृत्ति द्विभुज स्वरूप में ही है। द्विभुज से चतुर्भुज रूप का आविर्भाव होना भी गौण रूप से ही है। आप्राकृत धाम में सभी भगवद्व्यूहाङ्ग और अवतार नित्य ही हैं। यहीं आगे कहा जाएगा--''उसका सर्जन करके उसमें प्रविष्ट हो गया'' इत्यादि श्रुतियों की उक्ति के समान यहाँ भी सत् से ही आविर्भाव और प्रवेश समझना चाहिए।

अतः- परमात्मा परं ब्रह्म परमं ब्रह्म शाश्वतम् ।
नारायणो हरिर्विष्णुर्मुकुन्दः पुरुषोत्तमः ।
इत्यादिनामभिर्गीतः श्रीकृष्णः पूर्ण ईश्वरः ।।

एवमेव ब्रह्मसंहितायां--

''ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ।।''इति ।।
''नाम्ना सर्वोत्तमं नाम कृष्णाख्यं मे परन्तपेति च ।।''

अतः परमात्मा परब्रह्म है। परब्रह्म शाश्वत् है (अथवा शाश्वत् को परब्रह्म कहा गया है)। नारायण, हरि, विष्णु, मुकुन्द, पुरुषोत्तम आदि नामों से अभिगीत (कहा गया) श्रीकृष्ण पूर्ण ईश्वर है। इसी प्रकार ब्रह्मसंहिता में-

सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर है। इसके आदि में कोई भी अन्य नहीं है वही सबके आदि में है। सभी कारणों का कारण वही गोविन्द है। हे परन्तप! कृष्ण नाम ही सभी नामों में उत्तम है।

कृष्णेति नाम द्विभुजश्रीकृष्ण एव पर्य्यवस्यति अतस्तस्यैव निखिलनिगमवेद्य परात्परपरब्रह्मत्व-सर्वेश्वरेश्वरत्व-सर्वकारणकारणत्व-सच्चिदानन्दविग्रहत्व-परिपूर्णतमभगवत्त्व-वासुदेवादिसर्वव्यूहाङ्गित्व-स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्व-सर्वशक्तिमत्त्वसर्वावतारित्व-सर्वाकर्षकत्व-निःसमानातिशयानन्दनत्वसर्वप्रेरकत्वाखिलैश्वर्य्यमाधुर्य्यवत्त्व-नित्यविहारित्वादि नित्यानपायि निःशेषपरब्रह्मगुणयोगं वक्तुमुपक्रमते-एवमेवेति। अस्मिन्नर्थे ब्रह्मसंहितोक्तश्लोकं प्रतीकत्वेनोपपन्यस्यत विविक्षितार्थसिद्धये-ईश्वरः परम कृष्णेत्यादिना। न च वाच्यमद्वैतमते,

सांख्यानामिव, मायाख्या प्रकृतिरेव कर्त्री, निर्धर्मकं चिन्मात्रं केवलाधिष्ठानमात्रं ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिधर्मविरहितं ब्रह्म तुअकर्तृ उदा-सीनमिति। ईक्षतेर्नाशब्द-मित्यधिकरणेन वेदान्तसूत्रेषु अकर्तृब्रह्मवादस्य दत्तोत्तरत्वादिति संक्षेपः। नापि स्वयमेवाचेतना प्रकृतिः स्वस्य नियामिकेति-समञ्जसम्। ज्ञातृत्वकर्तृत्वादीनां चेतनासाधारणधर्मत्वात्।

कृष्ण इस नाम का पर्यवसित अर्थ द्विभुज स्वरूप कृष्ण ही है अतः वही समस्त वेद से वेद्य, परात्पर ब्रह्म, सर्वेश्वर, सर्वकारण-कारण, सच्चिदानन्दविग्रह, परिपूर्णतम भगवान्, वासुदेवादि सर्वव्यूहाङ्गी, स्वभाव से समस्त दोषों का परिहार कर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वावतारी, सर्वाकर्षक, निःसमान, अतिशयानन्द, सर्वप्रेरक, अखिल ऐश्वर्यवान्, माधुर्यवान्, नित्यविहारी, नित्यानपायी, निःशेष परब्रह्म है। इसी विवक्षित अर्थ की सिद्धि के लिए ब्रह्मसंहिता में कहे गए श्लोक को ''ईश्वरः परमः कृष्णः'' प्रतीक रूप में उद्धृत करते हैं।

सांख्य एवं अद्वैत मत में ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अद्वैत मत में धर्मशून्य, चिन्मात्र, केवलाधिष्ठान मात्र ज्ञातृत्व-कर्त्तृत्वादि धर्म रहित ब्रह्म अकर्ता है। सांख्य मत में भी माया नामक प्रकृति ही कर्त्री है। स्वयं अचेतन प्रकृति स्वयं की नियामिका कैसे हो सकती है। ज्ञातृत्व और कर्तृत्व चेतन के असाधारण धर्म हैं।

अतएव ब्रह्मांडपुराणे श्रीकृष्णनामामृतस्तोत्रे-

सहस्रनाम्नां पुण्यानां शतावृत्त्या तु यत्फलम्।
एकावृत्त्यैव कृष्णस्य नामैकं तत्प्रयच्छति।। इति।।

अत्र कृष्णस्येत्येवोक्तं, यत्त्वग्रे गोविन्दनाम्ना स्तोष्यते तत् खलु कृष्णत्वेऽपि तस्य गवेन्द्रत्ववृन्दावनेन्द्रत्वादिवैशिष्ट्यप्रदर्शनार्थमेव। त्वं गवामिन्द्रतां गत इति श्रीदशमे महेन्द्रोक्तेः। वृन्दावने तु गोविन्द इत्यादिवाराहतंत्राच्च।

अतः ब्रह्माण्डपुराण के श्रीकृष्णनामामृत स्तोत्र में कहा है-पुण्य सहस्रनामों की सैंकड़ों आवृत्तियों से जो फल मिलता है वह फल कृष्ण नाम की एक आवृत्ति से मिल जाता है।

यहाँ (श्रीकृष्णनामामृत स्तोत्र में) कृष्ण के नाम से पुण्य प्राप्त होने

की जो बात कही है तथा आगे वह (कृष्ण) गोविन्द नाम से स्तुति किया जाएगा। वह उसके कृष्ण होने पर उसके गवेन्द्रत्व, वृन्दावनेन्द्रत्वादि वैशिष्ट्य को प्रदर्शन करने के लिए है। तुम गौओं के इन्द्र हो गए हो यह दशम में महेन्द्रोक्ति में कहा है। तथा वाराहतन्त्र में कहा है कि तुम वृन्दावन में गोविन्द हो।

मूल--

श्रीकृष्णनामोच्चारण-फलस्यापि तदितरनामापेक्षया उत्कर्षविशेषं दर्शयितुं ''नाम्नां सर्वोत्तम०'', ''सहस्रनाम्नां०'' इत्यादिपुराणवाक्यान्युपस्थापयति। न चैतत्तन्नामोत्कर्षगानं औपचारिकमिति वाच्यम्। नामिनोऽसमोर्द्धत्वज्ञापकोऽयं तन्नाम्न उत्कर्षविशेष इति न विस्मर्त्तव्यम्।

यत्त्वग्र इति--यत्त्वग्रे ''गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामीति'' ब्रह्मसंहितायां गोविन्दनाम्ना श्रीकृष्णः स्तूयते तत्खलु कृष्णत्वेऽपि तस्य गोविन्दत्ववृन्दावनेन्द्रत्वादिवैशिष्ट्यप्रदर्शनार्थमेव ज्ञेयम्।

कृष्ण के अन्य नामों के उच्चारण की अपेक्षा श्रीकृष्ण नाम के उच्चारण का फल अतिशय वाला है। इसीलिए ''नाम्नां सर्वोत्तमं.''-''सहस्रनाम्नां..'' इत्यादि पुराण वाक्यों को उद्धृत किया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उन सहस्रनामों का उत्कर्ष केवल औपचारिक (गौण) है। अपितु ''श्रीकृष्ण'' नाम वाला तत्त्व अनुपमेय (बेजोड़) है अतः उसके नाम के उच्चारण में विशेष उत्कर्ष है। इसे विस्मरण नहीं करना चाहिए।

एक स्थान पर कहा गया कि श्रीकृष्ण के नाम की एक आवृत्ति ही सहस्र नामों की आवृत्ति के समान फलदायी होती है तथा आगे ब्रह्मसंहिता (ब्रह्माण्ड पुराण की) में ''गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामीति'' आदि पुरुष उस गोविन्द का मैं भजन करता हूँ। इस प्रकार कृष्ण की स्तुति की गई है। तात्पर्य यह है कि उसके कृष्ण होने के साथ-साथ गोविन्दत्व और वृन्दावनेन्द्रत्व होने से उसका वैशिष्ट्य है।

तदेवं रूढिबलेन तन्नाम्नः प्राधान्यात्तस्यैवेश्वरइत्यादीनि विशेषणानि।।

अथ गुणद्वारापि तद्दृश्यते। यथाह गर्गः।।

''आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।

शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः।।

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जना''इति।।

अनयोरर्थः।। अस्य कृष्णत्वेन दृश्यमानस्य प्रतियुगं नानातनूरवतारान् गृह्णतः प्रकाशयतः शुक्लादयो वर्णा आसन् प्रकाशमवापुः स च शुक्लादिरवतार इदानीं साक्षादवतारसमये कृष्णतां गतः। अस्य कृष्णतायामेवान्तर्भूतः किं पुनः कृष्ण इति भावः। अत एव कृष्णीकर्त्तृत्वात्सर्वाकर्षकत्वाच्च कृष्ण इति मुख्यं नाम।। तस्मादस्यैव तानि रूपाणीत्याह।। बहूनीति।।

एवमेवैकाक्षरमालायामपि दृश्यते ।। यथा-

कः शुक्लः कं सुखं तोयमिति।। अव्यक्तरागोऋर्नाक इति।।

षः श्रेष्ठे गौरनीलयोरिति।। णं दर्शनं णो नाभिश्च ण आनन्दो हरेस्तनुरिति च। क ऋ ष णेति चतुर्णां वर्णानां शुक्लाव्यक्तरागगौरनीलादिभिर्वर्णैः समुदितैरानन्दात्मिका हरेस्तनुर्भवति।। तैरेव कृष्णेति नाम सिद्ध्यतीति।। यथा च ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीगर्गः।।--

''ब्रह्मणो वाचकः कोऽयमृकारोऽनन्तवाचकः।
शिवस्य वाचको षश्च न-कारो धर्मवाचकः।।
अकारो विष्णुवचनो श्वेतद्वीपनिवासिनः।
सर्वेषां तेजसां राशिः सर्वमूर्त्तिस्वरूपकः।।
सर्वाधारः सर्वबीजस्तेन कृष्ण इति स्मृतः।
कृषिर्निर्वाणवचनो नकारो मोक्षवाचकः।।
अकारो दातृवचनस्तेन कृष्ण इति स्मृतः।
कृषिश्च श्रेष्ठवचनो नकारो भक्तिवाचकः।।
अकारो दातृवचनस्तेन कृष्ण इति स्मृतः।।
कर्मनिर्मूलवचनः कृषिर्नो दास्यवाचकः।
अकारः प्राप्तिवचनस्तेन कृष्ण इति स्मृतः''।। इति।।

इस प्रकार रूढि (प्रसिद्धि) के बल से कृष्ण नाम का ही (ब्रह्म अर्थ में) प्राधान्य है। उसी के ईश्वर आदि विशेषण हैं।

गुणों के आधार पर भी यह देखा जाता है। जैसे गर्ग ने कहा है। (नामकरण के समय)

युग के अनुसार शरीर ग्रहण करने वाले इस (कृष्ण) के तीन वर्ण (रंग) थे, शुक्त, रक्त और पीत। इस समय (श्रीकृष्णावतार में) कृष्ण वर्ण हो गया है। तुम्हारे पुत्र के गुण और कर्म के अनुसार बहुत से नाम और रूप हैं उनको मैं (गर्ग) जानता हूँ अन्य जन नहीं।

इनका अर्थ। कृष्ण रूप में दिखाई देने वाले, प्रत्येक युग में अनेक शरीर वाले अवतारों को ग्रहण करने वाले या प्रकाशित करने वाले श्रीकृष्ण के शुक्ल, रक्त और पीत वर्ण थे जो प्रकाशित हुए। वह-वह शुक्ल आदि अवतार साक्षात् अवतार के इस समय कृष्ण (कृष्णवर्ण) रूप को प्राप्त हो गए हैं। ये वर्ण कृष्ण में ही अन्तर्भूत हो गए। पुनः कृष्ण कहने का क्या भाव (तात्पर्य) है? सभी अवतारों में कृष्ण ही कर्त्ता हैं अथवा सभी का आकर्षक होने के कारण ''कृष्ण'' यही मुख्य नाम है। इसलिए कृष्ण के ही ये सब रूप हैं ऐसा कहा गया है। ''बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते'' इस रूप में।

इसी प्रकार एकाक्षर माला में भी देखा गया है। यथा-कः शुक्लः कं सुखं तोयमिति ''क'' का अर्थ शुक्ल वर्ण, सुख तथा जल ये तीन अर्थ हैं। ''ऋ'' का अर्थ अव्यक्त राग तथा स्वर्ग (नाक) है। ''ष'' का अर्थ श्रेष्ठ गौर और नीलवर्ण है। इसी प्रकार ''ण'' का दर्शन, नाभि आनन्द और हरि का शरीर ये चार अर्थ हैं।

क, ऋ, ष और ण इन चारों वर्णों का अर्थ है-शुक्ल, अव्यक्त राग, गौर, नील आदि वर्णों से समुदित हरि का आनन्दात्मक शरीर। उन्हीं से ''कृष्ण'' यह नाम सिद्ध होता है। जैसा की ब्रह्मवैवर्त्त में श्रीगर्ग ने कहा है।

ककार (क) ब्रह्म का वाचक है, ऋकार (ऋ) अनन्त का वाचक है, षकार (ष) शिव का वाचक है और नकार (न-ण) धर्म का वाचक है। श्वेत द्वीप निवासी विष्णुवाचक-अकार (अ) है। सभी तेजों की राशि (सर्वतेजस्समूह) सर्वमूर्ति स्वरूप, सर्वाधार और सबका बीज होने से कृष्ण कहा जाता है। (अर्थात् कृष्ण को कृष्ण इसलिए कहते हैं कि वह समस्त तेज का पुञ्ज है, सभी मूर्तियाँ (रूप) उसी के रूप हैं। वह सर्वाधार है सभी की उत्पत्ति का बीज है)।

कृषि (कृष्) निर्वाण अर्थ को कहता है, नकार (न, ण) मोक्ष वाचक है, अकार (अ) दाता अर्थ को कहता है-इसीलिए ''कृष्ण'' यह कहा गया है। (कर्म निर्वाण पूर्वक मोक्षदायक कृष्ण है)।

कृषि (कृष्) श्रेष्ठ अर्थ का वाचक है, नकार भक्ति का वाचक है, अकार का अर्थ दाता है-इस प्रकार ''कृष्ण'' शब्द व्युत्पन्न होता है जो श्रेष्ठ भक्ति प्रदान करे वह कृष्ण है। कृषि (कृष्) कर्म को निर्मूल करने अर्थ में है, 'न' दास्यभाव को कहता है, अकार प्राप्ति अर्थ को कहता है-इस प्रकार कृष्ण शब्द प्रचलित है।

अर्थात् 'कृष्ण' इस नाम के उच्चारण से दास्य भाव की स्वीकृति पूर्वक कर्मबन्धन छूट जाते हैं तथा भगवान् की प्राप्ति होती है।

तदेवंरूढिबलेनेति-शास्त्रेष्वपि कृष्णनाम्न एव प्राचुर्य्येण परब्रह्मणि रूढिर्दृश्यते, इत्यतो विष्णवादिनामापेक्षयापि तस्यैव प्राधान्यप्रतीतिः। तस्मादीश्वरादिविशेषणान्यपि कृष्णस्यैवेति ज्ञेयमिति।

अथ गुणद्वारापीति-विष्णवादिनामान्तरापेक्षया कृष्णनाम्न एव परब्रह्मणि रूढिप्राचुर्य्यमिति साधितं श्रीगोपालतापनी-ब्रह्मसंहिता-ब्रह्माण्ड-पुराणादिप्रमाणोपन्यासेन। अथ गुणविषयकपर्य्यालोचनेन, तन्नामघटकवर्णा-र्थानुसन्धानेन, तद्विग्रहस्यश्यामतानुसन्धानेन, सर्वावताराणां स्वस्मिन् कृष्णीकर्तृत्वेन, सर्वाकर्षकपरमानन्दघनविग्रहवत्त्वेनापि तस्य तन्नाम्नश्चासमोर्द्ध-पारम्यमायातीत्याह अथगुणद्वारापीत्यादिना।

शास्त्रों में भी कृष्ण नाम की ही प्रचुर रूप में परब्रह्म अर्थ में रूढि (प्रसिद्धि) देखी जाती है। अर्थात् परब्रह्म के अर्थ में कृष्ण शब्द रूढ हो गया है। इसीलिए विष्णु आदि नामों की अपेक्षा भी उसी (कृष्ण) नाम की प्रधान रूप से प्रतीति होती है। इसलिए ईश्वर आदि विशेषण भी कृष्ण के ही हैं।

श्रीगोपालतापिनी, ब्रह्मसंहिता, ब्रह्माण्डपुराण आदि में भी विष्णु आदि नामों की अपेक्षा कृष्ण नाम की ही प्रसिद्धि परब्रह्म में देखी जाती है।

गुणों के विषय में विचार करने से, उसके नाम (श्रीकृष्ण) के घटक वर्णों (क् ऋ, ष् अ आदि) के अर्थ का अनुसन्धान करने से, उस (कृष्ण) के विग्रह की श्यामता का अनुसन्धान करने से, सभी अवतारों का अपने में कृष्ण कर्तृत्व (कृष्ण के कर्त्ता होने) से, सभी को अपने में आकर्षित करने

वाले परमानन्द विग्रह वाला होने से उस (श्रीकृष्ण) और उसके नाम की अनुपमेयता (असमोर्द्धत्व-बेजोड़पन) सिद्ध होता है।

तदेव तस्यासमाभ्यधिकत्वं ब्रह्मवैवर्त्तवाक्येन द्रढयति ब्रह्मणो वाचकः कोऽयमित्यादिना। क-ऋ-ष्-ण्-अ इत्येतेषां कृष्णशब्दघटकावयवानां क्रमेण ब्रह्मानन्तशिवधर्मविष्णुवाचकानां तन्नाम्नि सम्मिलितत्वेन तस्यैव सर्वांशित्वं, सर्वतेजोराशित्वं, सर्वमूर्त्तिस्वरूपकत्वं, सर्वाधारत्वं, सर्वबीजत्वं च सिद्ध्यतीतिभावः। किञ्च, कृषिर्निर्वाणवचन इत्यादिनिरुक्त्यापि मोक्षदत्वेन, मुक्तोपसृप्यत्वेन, सर्वशरण्यत्वेन, सर्ववरेण्यत्वेन, निर्हेतुकप्रेमलक्षणभक्तिप्रदातृत्वेन, निःशेषकर्मनिर्मूलनपूर्वकस्वदास्यप्रदत्वेनापि तस्यैव कृष्ण नाम्न एव तादृशपारम्यमवगम्यतइत्यर्थः।

योगवृत्तित्वेऽपीति--तदेवं गुणद्वारा तन्नाम्नः पारम्ये सिद्धे, तस्य यौगिकार्थानुसन्धानेनापि प्रोक्त एव निर्णय आयातीति प्रसिद्धमहाभारतपद्येन साधयति कृषिरित्यादिना। परमबृहत्तमः सर्वाकर्षक आनन्दः कृष्णशब्दवाच्य इतिज्ञेयमित्यन्तेन।

उक्तमहाभारतीयपद्यस्य श्रीकृष्णेतरपरत्वमाशंक्य तदुपासनैकपरगौतमीयतन्त्रस्थतत्तुल्यार्थकपद्योपन्यासेन समाधत्ते-नचेदमित्यादिना।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के ''ब्रह्मणोवाचकः कोऽयमृकारो अनन्तवाचकः'' इस वाक्य से कृष्ण की सर्वोत्कृष्टता दृढ कर रहे हैं। ''क् ऋ-ष्-ण्-अ'' कृष्ण पद के घटक ये वर्ण क्रमशः ब्रह्मा, अनन्त, शिव, धर्म और विष्णु के वाचक हैं। इस प्रकार ''कृष्ण'' नाम में इन सबके सम्मिलित होने से उसी (कृष्ण) का ही सर्वांशी होना, सर्वतेजो राशि होना सर्व मूर्तिस्वरूप होना, सर्वाधार होना और सर्वबीज होना सिद्ध होता है यह भाव है, किञ्च ''कृषिर्निर्वाणवचनो नकारो मोक्ष वाचकः'' इस निर्वचन के द्वारा भी ''कृष्ण'' मोक्षदाता, मुक्तजनों से उपसृप्य, सबको शरण देने वाला, सबके द्वारा वरण करने योग्य, निर्हेतुक प्रेमलक्षण भक्तिप्रदाता, निःशेष कर्मों को निर्मूल करके अपना दास्य भाव प्रदान करने वाला होने के कारण सबसे परे अर्थात् सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होता है। तात्पर्य है कि कृष्ण नाम ही सर्वोपरि है। गुणों के द्वारा कृष्ण नाम के परमसिद्ध होने पर यौगिक अर्थ के अनुसन्धान से भी यही निर्णय आता है-इसके समर्थन में महाभारत का ''कृषिर्भूवाचकः शब्दो

णश्च निर्वृत्तिवाचकः'' यह पद्य उद्धृत करते हैं। कृष्ण शब्द से परमबृहत्तम, सर्वाकर्षक आनन्द अर्थ वाच्य है यह समझना चाहिए।

यदि कोई महाभारत के इस पद्य को कृष्ण से भिन्न के अर्थ में करे तो इसके समान अर्थ वाले ''गौतमीयतन्त्रस्थ पद्य को उद्धृत करते हैं।''

तदेवं गुणद्वारात्प्राधान्यसूचकस्य तन्नाम्न प्राधान्ये लब्धे

''कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।''

इतियोगवृत्तित्वेऽपि तस्य तादृशत्वं लभ्यते।। न चेदं महाभारतीयं पद्यमन्यपरम्। तदुपासनास्वतंत्रे गौतमीयतन्त्रेऽष्टादशाक्षरव्याख्यायां तदेतत्तुल्यं पद्यं दृश्यते।।

''कृषशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः।
सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयत्वत'' ।। इति ।।

तस्मादयमर्थः।। भवन्त्यस्मात्सर्वेऽर्था इति भूधात्वर्थ उच्यते, भावशब्दवत्।। स चात्र कर्षतेरेवार्थस्तस्यैव प्राप्तत्वात्।। गौतमीये भूशब्दस्य सत्तावाचकत्वेऽपि तद्धात्वर्थसत्तैवोच्यते।। घटत्वं सत्तावाचकमित्युक्ते घटसत्तैव गम्यते, तु पटसत्ता न वा सामान्य-सत्तेति।। अथ निर्वृत्तिरानन्दः। तयोरैक्यं सामानाधिकरण्येन व्यक्तम्।। यत्परं ब्रह्म सर्वतोऽपि बृहत्तमं सर्वस्यापि बृंहणं वस्तु तत्कृष्ण इत्यभिधीयते।। किन्तु कृषेराकर्षमात्रार्थत्वेन णशब्दप्रतिपाद्येनानन्देन सह सामानाधिकरण्यासंभवाद्धेतुहेतुमतोरभेदोपचारः कर्त्तव्यः।। स चाकर्षप्राचुर्यार्थः।। आयुर्घृतमितिवत्।। ब्रह्मशब्दस्य तत्तदर्थत्वं च ''बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्म परमं विदु''रिति विष्णुपुराणात्।। ''अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म ?-बृंहति बृंहयतीति श्रुतेश्च।। एवमेवोक्तं बृहद्गौतमीये''--

''कृष्शब्दो हि सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः।
सत्तास्वानन्दयोर्योगाच्चित्परं ब्रह्म प्रोच्यते ।।''इति ।।

अद्वयवादिभिरपि सत्तास्वानन्दयोरैक्यमाकर्षकप्रचुरतयैव मन्तव्यम्।। शाब्दिकैर्भिन्नाभिधेयत्वेन प्रतीतेः।। सत्ताशब्देन चात्र सर्वेषां सतां प्रवृत्तिहेतुर्यत्परमं सत्तदेवोच्यते।। सदेव सोम्येदमग्र आसीदिति

श्रुतेः ।। अभिन्नाभिधेयत्वे वृक्षस्तरुरितिवद्विशेषणविशेष्यत्वायोगादेकस्य वैयर्थ्याच्च, गौतमीयपद्यं चैवं व्याख्येयम् ।। पूर्वार्द्धे सर्वाकर्षणशक्तिविशिष्ट आनन्दः कृष्ण इत्यर्थः ।।

इस प्रकार गुणों के आधार पर भी कृष्ण नाम की ही प्रधानता सिद्ध होती है।

कृषि भूवाचक शब्द है, ण निर्वृत्ति वाचक है इन दोनों का ऐक्य ही परब्रह्म है उसे ही कृष्ण कहा जाता है। इस योगवृत्ति से भी कृष्ण का ब्रह्मपरक अर्थ प्राप्त होता है। महाभारत का यह पद्य अन्य अर्थ परक नहीं है। उपासना परक गौतमीयतन्त्र में ''अष्टादशाक्षर'' मन्त्र की व्याख्या में इसी के समान पद्य मिलता है-वह इस प्रकार है--

कृष् शब्द सत्ता अर्थक है और 'ण' आनन्द स्वरूप है। भावानन्दमयता से आत्मा (जीवात्मा) सुख स्वरूप होवे।

इसका यह अर्थ है। भू धातु का अर्थ है इससे सब अर्थ उत्पन्न होते हैं, भाव शब्द के समान। वह अर्थ यहाँ (कृष्ण शब्द में) कृष् शब्द का है क्योंकि वही यहाँ प्राप्त है। (अर्थात् जो अर्थ भू धातु का है वही अर्थ कर्षति का है-कर्षन्त्यर्था अस्मात्)। गौतमीयतन्त्र में भूशब्द का सत्तावाचक अर्थ है किन्तु उसका धात्वर्थ सत्ता ही है।

सत्ता के वाचक 'घटत्व' शब्द के उच्चारण करने पर घट की सत्ता (घट-सत्ता) का ज्ञान होता है न कि पट की सत्ता (पटसत्ता) का और न सामान्य सत्ता (किसी के होने का भाव) का। (कृष्शब्दश्च सत्तार्थोणश्चा-नन्दस्वरूपकः) इस श्लोक में कृष् का अर्थ सत्ता (सत्) तथा ण का अर्थ आनन्द (निवृति) कहा है। सामानाधिकरण्य से दोनों की एकता कही गई है। जो परब्रह्म है, सबसे बढा हुआ है, सबका बृंहण करने वाली वस्तु है कृष्ण है। किन्तु कृष् के आकर्षक मात्र अर्थ होने से ण शब्द प्रतिपाद्य आनन्द के साथ सामानाधिकरण्य संभव नहीं है, अतः हेतु और हेतुमान् में अभेदोपचार स्वीकार करना चाहिए। आकर्षक अर्थ प्रचुर अर्थ में है (अतिशय आनन्द) आयुर्घृतम् के समान। ब्रह्म शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रतिपादित करते हुए विष्णुपुराण में कहा गया है-सबसे बृहत् होने के कारण, बृंहण (बढने) के कारण ब्रह्म को ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म को ब्रह्म क्यों कहते हैं-इसके उत्तर

में श्रुति का वचन दिया गया है-बृंहति (जो स्वयं बढता है) अथवा बृंहयति (बढाता है)।

बृहद्गौतमीय में यही कहा गया है ''कृष् शब्द सत्तार्थक है तथा ''ण'' आनन्द स्वरूप है।

सत्ता और आनन्द के योग से चित् परब्रह्म कहा जाता है।

अद्वयवादियों को भी सत्ता और आनन्द की एकता आकर्षक की प्रचुरता के आधार पर ही माननी चाहिए।

शाब्दिकों के मत में प्रत्येक पद की प्रतीति भिन्न अभिधेय रूप में होती है। यहाँ सत्ता शब्द से उस सत् को लिया जाता है जो सभी प्रकार की सत्ताओं की प्रवृत्ति का कारण है। जैसा कि श्रुति में कहा गया है-''सदेव सोम्येदमग्र आसीदिति'' हे सोम्य! सबसे पहले सत् ही था। सभी पदों से एक ही अभिधेय हो तब ''वृक्षस्तरुः'' यहाँ विशेषण-विशेष्य भाव का योग न होने से एक पद व्यर्थ हो जाता है इसलिए गौतमीय पद्य की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए-''पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ होगा-सर्वाकर्षणशक्ति-विशिष्ट आनन्दः कृष्णः-अर्थात् सभी प्रकार की आकर्षण शक्ति से विशिष्ट आनन्द ही कृष्ण है।''

ननु ''कृषिर्भूवाचकः शब्दः'', ''कृषशब्दश्च सत्तार्थो'' इत्युभयत्रापि सामान्यसत्तैवावगम्यते, ''सदेव सोम्येद''-मितिश्रुतावपीति चेन्न। तस्या एवेक्षणबहुभवनसंकल्पादियोगश्रवणात्सर्वेषां सतां प्रवृत्तिहेतुभूता आदिकारण-सत्तैवात्र कृष्-भू-सत्तादिशब्दैरुच्यते। ''अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता''-इत्यादिश्रीगीतोक्तेश्चेत्याशयेनाह-भवन्त्यस्मात्सर्वेऽर्था इति भू-धात्वर्थउच्यत इति।

तदेवं कृष्णशब्दे कृषेः सर्वप्रवर्त्तक-सर्वसत्ताप्रदाभिन्ननिमित्तोपादान-कारणरूपसत्तार्थकत्वं निश्चीयते। कर्षतेर्निर्विशेषनिर्धर्मकचिन्मात्रसत्ताभ्युपगमे तु आनन्देन सह तादृशसत्तायाः सामानाधिकरण्यं ईक्षणादि च दुर्घटम्। न च वाच्यं मायायोगेन सच्चिन्मात्रस्वरूपस्यापि तत्तत्सुघटमिति। तथा सति आनन्दस्य मायिकत्वेन ''तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत'' इत्यादिना सत्तास्वानन्दयोरैक्योक्तिर्व्याहन्येत। सत्तायाः पारमार्थिकत्वादानन्दस्य मायिकत्वेन मृगजलवदाभासमात्रत्वात्तस्य परब्रह्मत्वोक्तिरनुपपन्ना। नहि वस्तु-

स्वरूपविशेषत्वानङ्गीकारे आनन्दरूपविशेष उपपद्यते। कृष्-णाभ्यां चात्र परमेव ब्रह्माभिधीयते। ततश्च कृष्णशब्देन परस्पराव्यभिचारिसत्त्व-चित्त्वानन्द-त्वात्मकसच्चिदानन्दविग्रह उच्यते।

कृषिर्भूवाचकः शब्दः कृषि-भूवाचक शब्द है तथा ''कृष्शब्दश्च सत्तार्थो'' कृष् शब्द सत्ता अर्थ में है-इन दोनों स्थानों पर सामान्य सत्ता का ही बोध होता है। ''सदेव सोम्येदमिति'' ''हे सोम्य! सद् ही सबसे पहले था।'' इस श्रुति में सामान्य सत्ता का अर्थ नहीं है अपितु-ईक्षण (स ऐक्षत), बहुभवन (अनेक होना-एकोऽहं बहुस्याम्), संकल्प करना (सोऽकल्पयत्) आदि भावों का ज्ञान होता है। ''कृषिर्भूवाचकः शब्दः'' तथा ''कृषशब्दश्च सत्तार्थो'' इत्यादि के द्वारा सभी प्रकार की सत्ताओं की प्रवृत्ति कारण आदि सत्ता रूप अर्थ कहा जाता है। ''अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'' इत्यादि के द्वारा सभी सत्ताओं की मूल सत्ता का कथन किया गया है-''भवन्त्यस्मात् सर्वेऽर्था'' इस प्रकार जिससे सभी अर्थ आविर्भूत होते हैं यह 'भू' धातु का अर्थ है।

इस प्रकार कृष्ण शब्द में कृषि धातु का अर्थ सर्वप्रवर्तक सर्वसत्ताप्रद, अभिन्ननिमत्तोपादान कारण रूप सत्ता अर्थ है।

यदि कृष् धातु का अर्थ निर्विशेष, निर्धर्मक चिन्मात्र सत्ता अर्थ लिया जाएगा तब आनन्द के साथ सत्ता का (सत् का) सामानाधिकरण्य और ईक्षण आदि का उसमें (सत्ता मात्र-सत् में) होना संभव नहीं है। माया के योग से भी सन्मात्र में आनन्द आदि का योग मानना सुसङ्गत नहीं है। यदि माया द्वारा सत् में आनन्द का योग मानेंगे तब ''तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते'' (सत् और आनन्द की एकता को परब्रह्म कृष्ण कहा जाता है) इस उक्ति का खण्डन हो जाएगा। क्योंकि सत्ता (सत्) तो पारमार्थिक है तथा आनन्द मायिक है (मृगमरीचिका के समान) तब उस मायिक आनन्द को परब्रह्म कैसे कहा जा सकता है। वस्तु स्वरूप विशेष को स्वीकार किये बिना आनन्द विशेष को स्वीकार करना भी संगत नहीं होगा। (कहने का तात्पर्य यह है कि जो सत् को निर्धर्मक, निर्विशेष मानते हैं उनके मत में सत् में आनन्द को स्वीकार नहीं किया जा सकता-जबकि परमब्रह्म सत्-चित् और आनन्दमय है।)

कृष् और ण (कृष्ण) के द्वारा परब्रह्म का अभिधान किया जाता है। अतः कृष्ण-इस शब्द से परस्पर अविनाभाव रूप से-सच्चिदानन्दविग्रह रूप परब्रह्म का अभिधान (कथन) किया जाता है।

ननु भिन्नार्थकयोः कृष्-णयोः कथं सामानाधिकरण्यसंभव इतिचेदाह-आयुर्घृतमितिवत् हेतुहेतुमतोरभेदोपचारेणैव तत्संभवो वाच्य इति। सर्वाकर्षणे परमबृहत्तमानन्दस्य हेतुत्वेन युक्तं सामानाधिकरण्यं भिन्नार्थयोरपि तयोरिति भावः। अद्वयवादिभिरपीति-गत्यन्तराभावादित्यर्थः। यदि तु सच्चिदानन्दपद-त्रयस्य प्रत्येकमभिन्नाभिधेयत्वं मन्यते तदा तेषां पदानां मिथो विशेषणविशेष्या-योगात् केवलमन्योन्यपर्य्यायत्वापत्तेस्त्रयाणां द्वयोः पौनरुक्त्याद् वैयर्थ्यप्रसङ्गः। तस्माद्भिन्नार्थानामपि सच्चिदानन्दपदानां परब्रह्मणि अन्योन्याव्यभिचारित्व-मेवाभ्युपेयमन्यथा ब्रह्मस्वरूपे असत्त्वजडत्वानानन्दत्वानामन्यतमप्रसक्ति-र्दुर्वारेत्याशयेन बृहद्गौतमीयपद्यं पठति-''सत्तास्वानन्दयोर्योगाच्चित्परं ब्रह्म चोच्यते'' इति। तस्य सर्वाकर्षणशक्तिविशिष्टस्यानन्दस्य कृष्णाख्यस्य परब्रह्मत्वेन सर्वान्तरतमत्वेन सर्वात्मत्वेन परमप्रेमास्पदत्वात् तद्विषयकपरम-प्रेममयत्वेनैव जीवात्मन आनन्दयोगो वक्तव्यः, ''रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती''ति श्रुतेरित्यभिप्रायेण गौतमीयपद्यस्थभावशब्दं प्रेमपरत्वेन व्याचष्टे -भावः प्रेमा, तन्मयानन्दत्वात् इति।

प्रश्न उठता है कि भिन्न अर्थ वाले कृष् और ण इन दोनों का सामानाधिकरण्य कैसे संभव है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-''आयुर्घृतम्-के समान हेतु और हेतुमान् में अभेदोपचार होने से संभव है। जैसे घृत आयु को बढाने का अव्यभिचारी कारण है किन्तु उसे ही आयु कह दिया जाता है उसी प्रकार सभी के आकर्षण में परमबृहत्तम आनन्द हेतु है। अतः आकर्षण और आनन्द भिन्नार्थक होते हुए भी परस्पर समान अधिकरण में रह सकते हैं।

हेतु-हेतुमद् भाव रूप अभेदोपचार से (गौण प्रयोग अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग से) अद्वयवादियों को भी कोई और उपाय न होने के कारण इस अभेदोपचार को स्वीकार करना पड़ेगा।

यदि सत्, चित् और आनन्द इन तीन पदों में प्रत्येक का अभिन्न अर्थ माना जाएगा (अर्थात् सत्-चित् और आनन्द का एक ही अर्थ माना

जाएगा) तब तीनों में विशेषण-विशेष्य भाव न होने से एक-दूसरे के पर्याय ही सिद्ध होंगे अतः पुनरुक्ति दोष होगा। (जैसे-घोड़ा, अश्व, वाजी शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं अतः इनका एक साथ प्रयोग नहीं होता है वैसे ही सत् चित् आदि का एक ही अर्थ मानने पर इनका एक साथ प्रयोग नहीं होगा) इस कारण से भिन्न-भिन्न अर्थों वाले सत् चित् और आनन्द पदों का अर्थ परब्रह्म में अन्योन्य (एक दूसरे के) अव्यभिचारिरूप से स्वीकार करना चाहिए अन्यथा ब्रह्म के स्वरूप में असत्व, जडत्व,अनानन्दत्व की सत्ता को रोका नहीं जा सकता, इसी आशय को व्यक्त करने के लिए बृहद्गौतमीय के पद्य को उद्धृत किया जाता है-''सत्ता और आनन्द के योग से चित् को परब्रह्म कहा जाता है।''

सर्वाकर्षण रूपशक्ति से विशिष्ट आनन्द रूप कृष्ण ही ब्रह्म है। उसके सर्वान्तरतम एवं सर्वात्मरूप होने के कारण वह परम प्रेमास्पद भी है। ब्रह्म (कृष्ण) विषयक परम प्रेममय होने के कारण जीवात्मा का आनन्द के साथ योग हो जाता है-इसीलिए कहा गया है-रसो वै सः (वह परमात्मा श्रीकृष्ण रस है) ''रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति'' रस (श्रीकृष्ण) को प्राप्त करके ही यह (जीवात्मा) आनन्द वाला हो जाता है। इसी भाव को लेकर गौतमीयपद्य में स्थित भाव शब्द प्रेमपरक है (कृष्शब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः। सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयत्वतः।।)

अत्रायमाशयः।।-वस्तुस्वरूपज्ञानमात्रेणैव नानन्दप्राप्तिः किन्तर्हि निरतिशयप्रियताविषयत्वेनैव। अन्यथा भक्तिं विनापि सर्वे ज्ञानमात्रेणैव तदानन्दं प्राप्नुयुः। निरतिशयप्रेमास्पदस्यैवानन्दप्रदत्वं, यद्वा निरतिशयानन्दप्रदस्यैव निरतिशयप्रेमास्पदत्वं लोकेऽपि सुप्रसिद्धम्। किं पुनः स्वाभाविकनिरतिशय-प्रियतास्पदस्य परमात्मनः श्रीकृष्णस्य। यत्र यावन्मात्र आनन्दस्तावन्मात्रमेव प्रियत्वम्। निरतिशयानन्दानुभूत्या निरतिशयप्रियतास्पदत्वम्। तदेवं प्रियतानन्द-रसानां मिथोऽविनाभावत्वेन प्रेमा एव रस आनन्दश्चेति सूपपन्नम्। ''अनन्य-ममता विष्णौ ममता प्रेमसंज्ञिता'', ''सम्यङ्ममसृणितस्वान्त'', इत्यादिना प्रेमास्पदविषयक चित्तद्रवादियुतममतातिशयलक्षणा चेयं प्रियता।

वक्ष्यति चोपरिष्टाद्रसशब्दस्य प्रेम्ण्येव मुख्यावृत्तिरिति।

''उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः।

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधा''वित्यादिना च।

(कृष् विलेखने। विलेखनमाकर्षणं) (भ्वा.प.)

ब्रह्मशब्दस्यापि न निर्धर्मकवस्तुपरत्वम्। ''अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति। बृंहति बृंहयतीति'' श्रुत्यैव तदाशंकाया निराकृतत्वात्। उक्तमहाभारतीयपद्यस्य फलितार्थं निगमयति-तदेवं स्वरूपगुणाभ्यामिति।

यहाँ इसका आशय है कि वस्तु के स्वरूप ज्ञान मात्र से आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है। तब प्रश्न होता है किससे होती है? उत्तर है निरतिशय प्रियता का विषय बनने से (अर्थात् जो अत्यन्त प्रिय होने का विषय बनेगा उससे आनन्द की प्राप्ति होगी। अन्यथा भक्ति के बिना ही सभी केवल ज्ञान मात्र से आनन्द प्राप्त करने लगेंगे। निरतिशय प्रेमास्पद ही आनन्द प्रदान करता है अथवा निरतिशय आनन्द प्रदान करने वाला ही निरतिशय प्रेमास्पद होता है-ऐसा लोक में प्रसिद्ध है।

स्वाभाविक एवं निरतिशय प्रियता के पात्र परमात्मा श्रीकृष्ण का तो पुनः कहना ही क्या। जहाँ जितना मात्र आनन्द उतना ही प्रियत्व। निरतिशय आनन्द की अनुभूति से निरतिशयप्रियता स्पदत्व होता है। इस प्रकार प्रियता, आनन्द और रस परस्पर अविनाभाव रूप से रहते हैं। अतः प्रेमास्पद में ही (या प्रेमास्पद ही) रस और आनन्द रहता है (अथवा प्रेमास्पद ही रस और आनन्द है) ''अनन्य ममता वाले विष्णु में ममता ही प्रेम कही जाती है।'' चित्त का सम्यक् प्रकार से द्रवीभूत हो जाना ही प्रेम या ममता है। इस प्रकार प्रेमास्पद (श्रीकृष्ण) में चित्त के द्रवीभाव से युक्त अतिशय ममता ही प्रियता है। रस शब्द का मुख्य अर्थ प्रेम है यह आगे कहा जाएगा।

''जिस प्रकार सागर में तरङ्गें उत्पन्न होती हैं, निमग्न होती हैं उसी प्रकार अखण्ड रसवान् सभी रस और भाव प्रेम में उत्पन्न और निमग्न होते हैं।''

''कृष् का अर्थ विलेखन है। विलेखन का अर्थ आकर्षण है (भा.प.)'' ब्रह्म शब्द निर्धर्मक वस्तु परक नहीं है। ब्रह्म को ब्रह्म कैसे कहते हैं? बृंहति, बृंहयति-इति श्रुति ने इस प्रश्न का समाधान कर दिया है। उक्त महाभारतीय पद्य का फलितार्थ-तदेवं-स्वरूप और गुण के द्वारा परमबृहत्तम

और सर्वाकर्षक आनन्द ही कृष्ण शब्द के द्वारा कहा जाता है।

उत्तरार्द्धे--यस्मादेवं सर्वाकर्षकरूपोऽसौ तस्मादात्मा जीवश्च तत्र सुखरूपो भवेत्।। तत्र हेतुः-भावः प्रेमा तन्मायानन्दत्वात् इति।।

तदेवं स्वरूपगुणाभ्यां परमबृहत्तमसर्वाकर्षक आनन्दः कृष्ण-शब्दवाच्य इति ज्ञेयम्।।

स च शब्दः श्रीदेवकीनन्दन एव रूढः।। सोऽपि देवकी-यशोदा-नन्दनत्वेन समानार्थकः।। द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीत्यपीति स्कान्दात्।। अस्यैव सर्वानन्दकत्वं वासुदेवोपनिषदि दृष्टं-देवकीनन्दनो निखिलमानन्दयादिति।। आहुश्च नामकौमुदीकाराः।।

श्रीकृष्णशब्दस्य तमालश्यामलत्विषि यशोदातनये परब्रह्मणि रूढिरिति।। ततश्चासौ शब्दो नान्यत्र संक्रमणीयः। यदाह भट्टः।। लब्धात्मिका सती रूढिर्भवेद्योगापहारिणी।। कल्पनीया तु लभ्येत नात्मनं योगबाधतः।।इति।।

क्योंकि आनन्द सर्वाकर्षक रूप है अतः आत्मा और जीव सुख स्वरूप होवे। उसका कारण है-भाव-प्रेम। प्रेम आनन्दमय होने से (उत्तरार्द्ध में कहा है-सत्ता स्वानन्दयोर्योगाच्चित्परं ब्रह्म प्रोच्यते)।

इस प्रकार स्वरूप और गुण के द्वारा परम बृहत्तम-सर्वाकर्षक आनन्द ही कृष्ण शब्द से वाच्य है। ऐसा समझना चाहिए।

वह (कृष्ण) शब्द श्रीदेवकीनन्दन अर्थ में रूढ है। वह (देवकीनन्दन) शब्द भी देवकीनन्दन और यशोदानन्दन होने के कारण समानार्थक है। स्कन्द के अनुसार नन्दभार्या (नन्दपत्नी) के यशोदा और देवकी-ये दोनों नाम हैं। वासुदेवोपनिषद् में इसी (देवकीनन्दन) शब्द को देवकीनन्दन कहा गया है- ''देवकीनन्दनो निखिलमानन्दयादिति'' (देवकीनन्दन सबको आनन्दित करें) जैसे कि नामकौमुदीकार ने कहा है--

श्रीकृष्ण शब्द तमाल के समान श्यामकान्ति वाले यशोदा तनय परब्रह्म में रूढ है। इसलिए इस शब्द का अन्य अर्थ में संक्रमण नहीं करना चाहिए।

जैसा कि भट्ट ने कहा है--

शास्त्र से प्रमाणित रूढि यौगिक अर्थ का अपहरण करने वाली

होती है। पुरुष बुद्धि से कल्पित रूढि में योग कल्पित अर्थ के अपहरण का सामर्थ्य नहीं है।

कृष्णशब्दस्य यशोदातनये रूढेर्नासौ शब्दस्तदितरस्मिन् संक्रमणीय इत्याह-ततश्चासाविति ।। ननु तस्य तथात्वे देवकीतनयत्वं विश्रुतं व्याहन्येतेति चेदाह-'द्वे नाम्नी नन्दभार्याया'इति ।। इदमत्र रहस्यम्।। ऐश्वर्यमित्रवात्सल्यादि-भाववतां देवकीतनयत्वं, शुद्धवात्सल्यादिवतां यशोदातनयत्वं तस्येष्टमिति भावः। ''मणिर्यथाविभागेन नीलपीतादिभिर्गुणै''रिति वक्ष्यमाणपंचरात्रोक्तन्या-यात् ।। तदाह वचनभंग्या श्रीदशमे श्रीगर्गः-''प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्त-वात्मजः ।। वासुदेव इति श्रीमान् अभिज्ञाः संप्रचक्षत''इति ।। अस्यार्थः ।। अयं तवात्मजः क्वचित्प्राग्वसुदेवस्य जातः। क्वचिदिति किंचित्कार्यविशेषार्थं ऐश्वर्यमिश्रभाववत्सु आदौ चतुर्भुजरूपेण स्वप्रकाशान्तरेण आविर्भूय ततः कंसभयालीकमिषेण त्वद्गृहं रहसि प्रापितः सन् द्विभुजे तवात्मजे मायया सह तदानीमेव जाते लीनः स्वयंरूपेणात्र चकास्ति-नतु प्रकाशान्तरेणेति गूढोऽभि-प्रायः ।। सोऽयं वस्तुतस्तवैवात्मजो भावान्तरमिश्रलीलान्तरवशादाकृत्यन्तरं भजते तत्तद्भावपोषायेत्यर्थः ।। श्रीगर्गोक्तेर्गूढाभिप्रायो नन्देनापि न ज्ञातः ।। अन्या-''भुजद्वययुतः कृष्णो न कदाचिच्चतुर्भुजः। वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन् न गच्छती''त्याद्युक्तयो न संगच्छेरन्।

ननु ''कृषिर्भूवाचकः शब्द'' इत्यत्र योगवृत्त्या ''सत्यं ज्ञानमनन्त'' मित्यादिना मंत्रवर्णेन प्रोक्तमेव गीयते व्यापकचित्सदानन्दवस्तु ।। अतस्तेन वाक्येन विग्रहरूपश्रीकृष्णग्रहणमयुक्तमिति चेच्छास्त्रप्रमाणान्विता रूढिर्यौगिकार्थमपि बाधते, ननु पुरुषबुद्धिकल्पिततायास्तस्यास्तादृशसामर्थ्य-मस्ति शास्त्रप्रमाणविरहादित्यायशेन भट्टोक्तिं पठति-लब्धात्मिकेत्यादिना ।। तदेवं कृष्णनाम्नो यशोदातनये रूढेः सच्चिदानन्दार्थत्वेन च नामिनस्तस्य परब्रह्मत्वमबाधितमिति विवक्षितोऽर्थः ।।

कृष्ण शब्द यशोदातनय अर्थ में रूढ है अतः इस शब्द का अन्य अर्थ में संक्रमण नहीं किया जाना चाहिए। प्रश्न उपस्थित होता है कि कृष्ण शब्द का अर्थ देवकीपुत्र भी प्रसिद्ध है यदि कृष्ण शब्द यशोदातनय में ही रूढ हो तब देवकीतनय अर्थ में व्याघात हो जाएगा-इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ''नन्दभार्या के यशोदा और देवकी ये दो नाम थे। यहाँ रहस्य

यह है-ऐश्वर्य मिश्रित वात्सल्यादि भाव वालों के लिए कृष्ण शब्द का अर्थ देवकीतनय है तथा शुद्ध वात्सल्यादि भाव वालों के लिए कृष्ण शब्द का अर्थ यशोदातनय (पुत्र) है। जैसे-नील-पीत आदि गुणों के योग से मणि नील-पीत आदि रंगों में दिखती है वैसे ही कृष्ण शब्द से दोनों अर्थ लिए जाते हैं पंचरात्र में ऐसा कहा गया है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में भी प्रकारान्तर से श्रीगर्ग कहते हैं-(नन्द को कहते हैं) तुम्हारे पुत्र ने किसी प्रयोजन से पहले वसुदेव के यहाँ जन्म लिया है इसीलिए इसका नाम वासुदेव पड़ा। गर्ग कहते हैं कि हे नन्द! यह तुम्हारा पुत्र प्रयोजन विशेष से ऐश्वर्यमिश्र भाव वालों में पहले चतुर्भुज रूप से प्रकट होकर कंस के भय के मिथ्या बहाने से एकान्त में तुम्हारे घर में पहुँचा दिया गया। महामाया के प्रभाव से चतुर्भुज वह स्वरूप तुम्हारे द्विभुज पुत्र में अन्तर्हित होकर प्रकाशित हो रहा है-यह प्रकाशान्तर नहीं है।

वस्तुतः यह तुम्हारा ही पुत्र तद्-तद् भाव का पोषण करने के लिए भावान्तर से मिश्रित लीलान्तर के लिए अन्य आकृति को धारण करता है (अर्थात् ऐश्वर्यमिश्रवात्सल्यादि भाव के पोषण के लिए चतुर्भुज आकृति एवं शुद्धवात्सल्यादि भाव के पोषणार्थ द्विभुज आकृति को धारण करता है-यह एक ही प्रकाश (चित् तत्त्व है) है, (भिन्न-भिन्न नहीं)। श्रीगर्ग की इस उक्ति का गूढ अभिप्राय नन्द भी नहीं समझ पाए। अन्यथा-द्विभुज कृष्ण कभी भी चतुर्भुज नहीं हो सकता। वृन्दावन का परित्याग करके वह कहीं भी नहीं जाता है। इत्यादि युक्तियों की सङ्गति नहीं हो सकती थी।

प्रश्न उपस्थित होता है कि ''कृषिर्भूवाचकः शब्दः'' यहाँ योगशक्ति से ''सत्यं ज्ञानमनन्तं'' इत्यादि मन्त्र के वर्णों से कहा गया सच्चिदानन्द वस्तु का ही अर्थ लिया जाता है। अतः उस वाक्य से रूढि द्वारा शरीरधारी श्रीकृष्ण अर्थ का ग्रहण युक्ति संगत नहीं है-ऐसा यदि कहा जाता है तब इसका उत्तर भट्ट (कुमारिल भट्ट) की कारिका से दिया जा सकता है--कारिका का अभिप्राय यह है कि-शास्त्र प्रमाण से युक्त रूढि यौगिक अर्थ का भी बाध कर देती है (जैसे यहाँ श्रीकृष्ण शब्द के यौगिक अर्थ सत्-चित् और आनन्द है किन्तु रूढि के द्वारा यह शब्द तमाल श्यामलकान्तियुक्त यशोदातनय परब्रह्म अर्थ को कहता है अर्थात् यौगिक अर्थ को बाध देता है)

शास्त्र प्रमाण से रहित केवल पुरुष बुद्धि से कल्पित रूढि में यह सामर्थ्य नहीं होता है कि वह यौगिक अर्थ को बाधित कर दे।

कहने का तात्पर्य है कि इस प्रकार कृष्ण नाम के यशोदातनय अर्थ में रूढ होने से नामी के सच्चिदानन्द रूप अर्थ के द्वारा उस कृष्ण का परब्रह्म रूप अर्थ भी बाधित नहीं होता है।

परब्रह्मत्वंच श्रीभागवते-गूढं परं ब्रह्ममनुष्यलिङ्गमिति।। मनुष्यशब्दो-ऽत्र द्विभुजपरब्रह्मपरः।। साधारणनरपरत्वे परब्रह्मत्वविरोधात्।। तथा-यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनमिति तत्रैवोक्तेः।। श्रीविष्णुपुराणे च यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परंब्रह्म नराकृतीति।। श्रीभगवद्गीतासु च।। ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमिति।। ब्रह्मतत्प्रतिष्ठा-ऽहमिति परब्रह्मत्वमेव सिद्धमिति भावः।। श्रीगोपालतापन्यां च।। योऽसौ परंब्रह्मगोपाल इति। अथ मूलमनुसरामः।। यस्मादेव तादृक्-कृष्णपदवाच्यस्तस्मादीश्वरः।

सर्ववशयिता।। तदिदमुपलक्षितं बृहद्गौतमीये कृष्णस्यैवार्थान्तरेण।। अथवा कर्षयेत्सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्।। कालरूपेण भगवांस्तेनायं कृष्ण उच्यते इति।। कलयति नियमयति सर्वमिति हि कालशब्दार्थः। तथा च तृतीये तमुद्दिश्योद्धवस्य पूर्ण एव निर्णयः।। स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्त समस्तकामः।। बलिंहरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोट्येडितपादपीठ इति।। अत्र हि चिरशब्दस्य मुक्तप्रग्रहया वृत्त्या महाकालपुराधिपादयः संगृहीताः।। श्रीगीतासु-विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदिति।।

श्रीगोपालतापन्यां--(कृष्णो ह वै)-एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य इति।। यस्मादेव तादृगीश्वरस्तस्मादेव परमः।। परा सर्वोत्कृष्टा मा महालक्ष्मीरूपा श्रीराधाख्या यस्य सः।। आत्मना रमया रेम इति वक्ष्यमाणात्।। रेमे तया चात्मरत इति श्रीदशमाच्च।। श्रीगोपाल-तापन्यां--कृष्णो ह वै परमं दैवतमिति।। यस्मादेव तादृक् परमः तस्मादादिश्च।। तदुक्तं श्रीदशमे-आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच हेति।। टीका च-आद्यो हरिरित्येषा।। एकादशे तु तस्याद्यत्वश्रेष्ठत्वे युगपदाह--पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोस्मीति।। नचैतदादित्वं तदवतारापेक्षं

किन्त्वनादि।। न विद्यते आदिर्यस्य तादृशः।।

तापन्यां-एकोवशीत्याद्युक्त्वाह, नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामिति।। यस्मादेव तादृशतयानादिस्तस्मात्सर्वकारण-कारणम्। सर्वेषां कारणं कारणार्णवशायी महत्स्रष्टा पुरुषस्तस्यापि कारणम्।। तथा च श्रीदशमे श्रीदेवकीवाक्यं यस्यांशांशांशभागेन विश्वस्थित्यप्यथोद्भवाः।। टीका च-यस्यांशः पुरुषस्तस्यांशो माया, तस्या अंशा गुणाः, तेषां भागेन परमाणुमात्रलेशेन विश्वोत्पत्त्यादयो भवन्तीत्येषा।। तथा च ब्रह्मस्तुतौ-नारायणोऽङ्गंनरभूजलायनादिति।। नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।। तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृत इति यो लक्षितो नारायणः स तवाङ्गं नत्वङ्गीत्यर्थः।।

तदेवमीश्वरत्वेन परमत्वेनादित्वेनानादित्वेन सर्वकारणकारणत्वेन च कृष्णशब्दस्य यौगिकार्थोऽपि साधितः।। ये च तच्छब्देन कृषणाभ्यां परमानन्दमात्रं वाचयति तेऽपीश्वरादिशब्दैस्तत्र स्वाभाविकीं शक्तिं मन्येरन्। तस्मिन्नद्वितीयत्वेन सर्वकारणत्वेन च वस्त्वन्तरशक्त्या-रोपायोगात्।। तथा च श्रुतिः।। आनन्दो ब्रह्मेति।। को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।। आनन्दाद्धीमानि भूतानि जायन्ते।। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया चेत्यादिका।। ननु स्वमतयोगवृत्तौ च सर्वाकर्षक परमबृहत्तमानन्दः कृष्ण इत्यभिधानाद-विग्रह एव स इत्यवगम्यते।। आनन्दस्य विग्रहत्वानवगमात्।।

श्रीकृष्ण परब्रह्म है यह भागवत में ''गूढ परब्रह्म मनुष्य लिङ्ग है-इस प्रकार कहा गया है। यहाँ मनुष्य शब्द द्विभुज रूप परब्रह्म के लिए है। साधारण मनुष्य परक होने पर परब्रह्म से विरोध होता है। इसीलिए जो (मनुष्य लिङ्ग) मित्र, परमानन्द, पूर्ण, सनातन ब्रह्म है-ऐसा वहीं कहा गया है। श्रीविष्णुपुराण में भी जहाँ (वृन्दावन में) कृष्ण नामक परब्रह्म नराकृति (मनुष्य की आकृति लेकर) अवतीर्ण हुआ है। श्रीभगद्गीता में भी-''मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा (स्थिति) हूँ।'' ब्रह्म और उसकीप्रतिष्ठा मैं हूँ-इस प्रकार यह (श्रीकृष्ण) परब्रह्म ही सिद्ध होता है-यह भाव है। श्रीगोपालतापिनी में भी-''जो यह परब्रह्म है वह गोपाल है। अब मूल (मूलकथ्य) का अनुसरण

करते हैं। जिस कारणसे ही उस प्रकार कृष्ण पद वाच्य है इस कारण ईश्वर है।

सबको वश में करने वाला। बृहद्गौतमीय के कृष्ण शब्द के अर्थान्तर से यही अर्थ उपस्थित होता है। अथवा यह भगवान् काल रूप से स्थावर-जङ्गम रूप समस्त जगत् को खींचता है इस कारण कृष्ण कहा गया है।

सबको नियमित करना (कलन करना) काल शब्द का अर्थ है। (अर्थात् सभी जो नियमित करे वह काल है)। तथा तृतीय स्कन्ध में उस (कृष्ण) को उद्देश्य करके उद्धव का पूर्ण निर्णय इस प्रकार है-स्वयं श्रीकृष्ण असमानी है, तीनों लोकों के अधीश हैं, अपनी राज्यलक्ष्मी से समस्त काम को प्राप्त कर चुके हैं। उपहार (बलि) प्रदान करने वाले चिरकाल से स्थित लोकपालों से अपनी मुकुट के अग्रभाग से पूजित पादपीठ वाले श्रीकृष्ण हैं। यहाँ चिर शब्द से मुक्त प्रग्रह वृत्ति (बेरोकटोक वृत्ति)द्वारा महाकाल पुर के के अधिप आदि अर्थ गृहीत होता है।

श्रीगीता में कहा है-मैं (श्रीकृष्ण) इस समस्त जगत् को अपने एकांश से नियन्त्रित करके स्थित हूँ।

श्रीगोपालतापिनी में (कृष्णो ह वै) सर्वव्यापक, सबको वश में करने वाला एकमात्र श्रीकृष्ण ही स्तुत्य है। क्योंकि सबके ईशन के कारण ईश्वर है अतः परम है। परम का अर्थ है-परा-सर्वोत्कृष्ट-मा-महालक्ष्मी रूपा श्रीराधा जिसकी है-वह श्रीकृष्ण परम तत्त्व है। आत्मा रमा (शक्ति, राधा) से रमण करने वाला-जैसा कि आगे कहा जाएगा। उस (आत्मा) में रमण करने से श्रीकृष्ण को आत्मरत कहते हैं-(श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध) श्रीगोपालतापिनी में भी श्रीकृष्ण को ही परम देवता कहा गया (कृष्णो ह वै परमं दैवतमिति) क्योंकि यह परम देवता है अतः आदि भी (सबके आदि में) है।

जैसा कि दशम स्कन्ध में उद्धव ने हरि को आद्य कहा है। ग्यारहवें स्कन्ध में हरि को एक साथ आद्य और श्रेष्ठ कहा है-श्रेष्ठ (ऋषभ) और आद्य कृष्ण संज्ञक पुरुष के प्रति मैं नत हूँ। यह आदित्व उसके अवतार की अपेक्षा से नहीं है अपितु उसके अनादि होने से है-जिसके आदि में कोई

विद्यमान नहीं है वैसा श्रीकृष्ण (आदि) है।

तापनी में श्रीकृष्ण को एक और वशी कहकर नित्यों में नित्य चेतनों में चेतन कहा है वैसा होने के कारण जिस कारण वह अनादि है इसलिए वह सभी कारणों का कारण है। कारण सागर में रहने वाला सभी का कारण महास्रष्टा जो पुरुष है-श्रीकृष्ण उसका भी कारण (कारणों का कारण) है। इस विषय में दशम स्कन्ध में देवकी का वाक्य है-''जिसके अंशांश भाग से विश्व का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि होते हैं। टीका में-जिस (परमब्रह्म) का अंश-पुरुष उसका अंश-माया, उस माया के अंश गुण (सत्त्व,रजस, तमस आदि) उनके भी भाग परमाणु मात्र से विश्व की उत्पत्ति आदि होती है। ब्रह्म स्तुति में कहा है-नारायण (परमात्मा) का अङ्ग है, मनुष्य, पृथिवी और जल, फैला हुआ होने के कारण। नर से उत्पन्न होने के कारण तत्त्वों को नार कहा जाता है। उस परब्रह्म के वे तत्त्व विस्तार (अयन) हैं इस कारण इस तत्त्व विस्तार को नारायण कहा जाता है। वह नारायण तुम्हारा (परब्रह्म-श्रीकृष्ण का) अङ्ग है न कि अङ्गी।

इस प्रकार ईश्वर रूप से, परब्रह्म रूप से, आदि रूप से, अनादि रूप से, सर्वकारण के कारण रूप से कृष्ण के यौगिक अर्थ को सिद्ध किया है (अर्थात् यौगिक अर्थ की भी संगति सिद्ध की है। जो तत् शब्द कृष् और ण से परमानन्द मात्र का बखान करते हैं वे भी ईश्वर आदि शब्दों से वहाँ स्वाभाविकी शक्ति को मानते हैं। उस ईश्वर में अद्वितीय और सर्वकारण होने के कारण अन्यशक्ति (स्वाभाविकी शक्ति से भिन्न) का आरोप का योग नहीं हो सकता। श्रुति ने कहा है- आनन्द ब्रह्म है।

इस आनन्द रूप ब्रह्म से भिन्न कोई अन्य तत्त्व हो नहीं सकता। यदि कोई अन्य तत्त्व अनन, प्राणन क्रिया करता तब आकाश आनन्द रूप नहीं होता। आनन्द रूप ब्रह्म से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है अतः आकाश जो आनन्द से प्रकट होता है वह भी आनन्द रूप ही है। श्रुति का वचन है-आनन्द से ही भूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) उत्पन्न होते हैं। उस आनन्द का न तो कोई कार्य है और न कोई कारण है, न कोई उसके समान है और न कोई उससे अधिक है। इस (आनन्द रूप ब्रह्म) की परा स्वाभाविकी शक्ति ज्ञान, बल और क्रिया आदि रूप से अनेक प्रकार की

सुनी जाती है। स्वमत में योगवृत्ति से अर्थ लेने में सर्वाकर्षक परमबृहत्तम आनन्द ही कृष्ण कहा जाता है-इस प्रकार अविग्रह (अशरीर) ही नहीं समझने के कारण।

ननु यथा तरंगापेक्षया अब्धेरेव परत्वं सार्वदिकत्वादव्यभिचरित-त्वात्तदाधारत्वात्तद्व्यापकत्वाच्च, तथा प्रकृतेऽपि भगवद्विग्रहाणां अवताराणां परब्रह्मत्वेऽपि आविर्भावतिरोभावादिना अनित्यत्वेनापरत्वमेव वाच्यं, न पुनस्तेषां परत्वमुपपद्यत इति चेन्न।। न वयं कपोलकल्पनां कुर्मस्तस्य परब्रह्मत्वं शास्त्रोक्तमेवाभ्युपगच्छामोऽतीन्द्रिया-प्राकृतवस्तुनः शब्दैकप्रमाणत्वादित्याशयेन श्रीभागवत-तापन्यादिप्रमाणमुपन्यस्यति-परब्रह्मत्वं चेत्यादिना।। न ह्यत्राब्धितरंगन्यायेन तस्य तत्त्वं, यदात्मकोब्धिस्तदात्मकस्तरंग इति, तथात्वे परत्वोक्तेरौपचारिकत्वेन गौणत्वापातात्, न ह्यपरस्य परत्वोक्तिः संगच्छते।। प्रत्युत ''ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाह''मित्यादिना तद्विग्रहस्यैव परत्वसिद्धेः।। सार्वदिकत्वादिहेतूनामस्मिन्नपि अव्यभिचरितत्वादनैकान्तिकत्वमिति भावः।। सन्ति च पुराणपंचरात्रादिषु ''ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाह'' मित्यस्योपबृंहणभूतानि वाक्यानि।। तथाहि पाद्मे पातालखंडे वृन्दावनमाहात्म्ये--

''नित्यानन्दतनुः शौरिर्य्योऽशरीरीति भाष्यते।।

प्रश्न उपस्थित करते हैं-जैसे तरङ्ग की अपेक्षा सागर पर (उत्कृष्ट-व्यापक) है-क्योंकि सागर में तरङ्ग की अपेक्षा सार्वदिकत्व (सभी दिशाओं में रहना) है, अव्यभिचरितत्व है। (अर्थात् जब-जब तरङ्ग उत्पन्न होती है उस-उस काल में सागर रहता है), तदाधारत्व है (तरङ्गों का आधार होना है), तद्व्यापकत्व (तरङ्गों की अपेक्षा व्यापक होना) है, वैसे ही प्रकृत में भी भगवद्विग्रहों अर्थात् अवतारों का परब्रह्मत्व होने पर भी आविर्भाव-तिरोभाव आदि द्वारा अनित्य होने से अपरत्व ही कहा जाना चाहिए, न कि उनमें परत्व (परब्रह्मत्व) सिद्ध होता है-ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो यह युक्ति संगत नहीं है। हम कपोल कल्पना नहीं करते हैं अपितु विग्रहों-अवतारों का परब्रह्मत्व ही स्वीकार करते हैं। इसका आधार शास्त्रोक्त शब्द प्रमाण है क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तुओं में शब्द ही एकमात्र प्रमाण होता है। इसी आशय से श्रीभागवत और तापन्यादि के प्रमाण उपस्थित करते हैं-परब्रह्मत्वं च आदि के द्वारा (मूल में)।

यहाँ अब्धि-तरङ्ग न्याय से परत्व-अपरत्व का निर्णय नहीं किया जा सकता क्योंकि जैसा अब्धि (सागर) है वैसी ही तरङ्ग है। अतः तरङ्ग की अपेक्षा अब्धि का परत्व औपचारिक है। अपर को पर कहना युक्ति सुगत नहीं है। मैं ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा (स्थिति) हूँ इत्यादि गीता का वाक्यों से भगवद्विग्रह ही परब्रह्म सिद्ध होते हैं।

मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ इस अर्थ के उपबृंहण हेतु पुराण-पञ्चरात्र आदि में बहुत से वाक्य हैं। जैसे-पद्मपुराण के पातालखण्ड के वृन्दावन माहात्म्य में-नित्यानन्दतनुः नित्य आनन्द शरीर वाले विष्णु (कृष्ण) अशरीरी कहे जाते हैं।

वाय्वग्निनाकभूमीनामंगाधिष्ठातृदेवताः ।
निरूप्यते ब्रह्मणोऽपि तथा गोविन्दविग्रहः ।।

वायु, अग्नि, आकाश और भूमि के अधिष्ठातृ देवता ब्रह्म के अङ्ग हैं, ये ही गोविन्द का विग्रह है।

सेन्द्रियोऽपि यथा सूर्य्यस्तेजसा नोपलभ्यते ।
तथा कान्तियुतः कृष्णः कालं मोहयति ध्रुवम् ।।

इन्द्रिय युक्त को भी सूर्य जैसे घने तेज के कारण उपलब्ध नहीं होता है वैसे ही कान्तियुक्त श्रीकृष्ण भी उपलब्ध नहीं होते हैं। निश्चय ही वह काल को मोहित कर देते हैं।

न तस्य प्राकृती मूर्तिर्मेदोमांसास्थिसंभवा ।...

उस कृष्ण की प्राकृत देह भी मेद-मांस और अस्थियों से बनी हुई नहीं है।

तदंघ्रिपंकजद्वन्द्वनखचन्द्रमणिप्रभाः ।
आहुः पूर्णब्रह्मणोऽपि कारणं वेददुर्गमम् ।।...

उसके चरण कमल द्वय की नख-चन्द्र मणियों की प्रभा को ही पूर्णब्रह्म का वेददुर्गम कारण कहा गया है।

ततो मामाह भगवान् वृन्दावनचरः स्वयम् ।
यदिदं मे त्वया दृष्टमिदं रूपं सनातनम् ।।
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं सच्चिदानन्दविग्रहम् ।।

तदनन्तर वृन्दावन में विचरण करने वाले स्वयं भगवान् ने मुझे कहा

कि मेरे इस सनातन, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, सच्चिदानन्दविग्रह, रूप को तुमने देखा है।

पूर्णपद्मपलाशाक्षं नातः परतरं मम ।।
इदमेव वदन्त्येते वेदाः कारणकारणम् ।।

पूर्णपद्मपलाशाक्ष रूप से परे मेरा कोई अन्य स्वरूप नहीं है। वेद इसी रूप को कारणों का कारण कहते हैं।

सत्त्यं चापि परानन्दं चिद्घनं शाश्वतं शिवम् ।।....
यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम् ।।

तुमने आज मेरे सत्य, चिद्घन, परानन्द, शाश्वत, शिव, अलौकिक स्वरूप को देखा है।

घनीभूजामलप्रेमसच्चिदानन्दविग्रहम् ।।
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम् ।।
वदन्त्युपनिषत्संघा इदमेव ममानघ ।।

(मेरा अमल घनीभूत प्रेम रूप सच्चिदानन्द स्वरूप है। उपनिषद् इस रूप को निराकार, निर्गुण, व्यापक, क्रियाहीन और परात्पर कहते हैं।

प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वरम् ।।
असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि ।।
(मत्कृपैकग्राह्यत्वात्)

हे अनघ। मुझे निर्गुण इसलिए कहते हैं क्योंकि मुझ में प्राकृतिक गुणों का अभाव है, तथा मेरे गुण अनन्त हैं तथा सामान्य जन के लिए असिद्ध हैं।

अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्म्मचक्षुषा ।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे सुरेश्वर ।।

हे सुरेश्वर! सभी वेद मुझे नीरूप (अरूप) इसलिए कहते हैं क्योंकि मेरा रूप चर्मचक्षुओं से अदृश्य है।

व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः ।
अकर्तृत्वात्प्रपंचस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि ।।

चिदंश से व्यापक होने के कारण यह ब्रह्म है ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं। इस जगत् प्रपञ्च का कर्त्ता नहीं होने के कारण मुझे निष्क्रिय कहते

हैं।

मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम्।
न करोमि स्वयं किंचित्सृष्ट्यादिकमहं शिव।।''

हे शिव! मेरे अंश माया के गुणों से सर्जन-पालन-संहार आदि कार्य करते हैं। मैं स्वयं सृष्टि आदि कार्य नहीं करता हूँ।

वेददर्शीत्याख्याथर्वणशाखायां त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषदिः-

''यथा सर्वगतस्य निराकारस्य महावायोश्च तदात्मकस्य महा-वायुदेवस्य चाभेद एव श्रूयते सर्वत्र। यथा पृथिव्यादीनां व्यापकशरीराणां देवविशेषाणां च तद्विलक्षणतदभिन्नव्यापकापरिच्छिन्ना निजमूर्त्याकारदेवताः श्रूयते सर्वत्र। तद्वत्परब्रह्मणः सर्वात्मकस्य साकार-निराकारभेदविरोधो नास्त्येव। विविधविचित्रानन्तशक्तेः परब्रह्मणः स्वरूपज्ञानेन विरोधो न विद्यते। तदभावे सत्यनन्तविरोधो विभाति। अन्यथा सर्वपरिपूर्णस्य परब्रह्मणः परमार्थतः साकारं विना केवलनिराकारत्वं यद्यभिमतं तर्हि केवलनिराकारस्य गगनस्येव परब्रह्मणोऽपि जडत्वमापद्येत। तस्मात् परब्रह्मणः परमार्थतः साकार-निराकारौ स्वभावसिद्धौ''इति।। बृहद्वामनपुराणे उत्तरस्थाने खिले भृग्वादीन्प्रति ब्रह्माः श्रुतय ऊचुः।।--

वेददर्शी इस नामावली अथर्ववेद की शाखा के त्रिपाद्विभूति महानारायण उपनिषद् में कहा है--

जिस प्रकार सर्वव्यापक निराकार महावायु और तदात्मक (महावायु स्वरूप) त्वक् (त्वचा) के स्वामी रूप में प्रसिद्ध साकार महावायु देव का अभेद ही सर्वत्र सुना जाता है। जैसे पृथिवी आदि महाभूतों के तथा व्यापक शरीर वाले देव विशेषों के निजमूर्त्याकार देवता सर्वत्र सुने जाते हैं जो मूर्त्याकार देवता उन पञ्च महाभूतों से विलक्षण भी हैं तथा उनसे अभिन्न भी हैं तथा व्यापक हैं। उसी प्रकार सर्वात्मक परब्रह्म के साकार और निराकार भेद में विरोध नहीं है। विविध और विचित्र तथा अनन्त शक्ति वाले परब्रह्म के स्वरूप ज्ञान से विरोध कहीं नहीं ठहरता है। स्वरूप ज्ञान के अभाव में अनन्त विरोध दिखाई देता है।

यदि सर्व परिपूर्ण परब्रह्म का परमार्थतः साकार स्वरूप को स्वीकार किए बिना केवल निराकार स्वरूप ही स्वीकार किया जाएगा तब निराकार

गगन के सदृश परब्रह्म का जड रूप ही रहेगा। अतः परब्रह्म के निराकार और साकार ये दोनों रूप स्वभाव सिद्ध हैं।

बृहद्वामनपुराण के उत्तरस्थान में खिल में भृग्वादि के प्रति ब्रह्म श्रुतियाँ कहती हैं--

नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ।
सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ।।

हे अच्युत! नारायण आदि के रूप हमने जान लिए हैं। यह सब सगुण ब्रह्म हैं। उनमें (नारायण आदि में) हमारी वस्तु बुद्धि नहीं है।

ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम् ।
वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ।।

जिस परम निर्गुण रूप को हम ब्रह्म कहते हैं और जो कि मन-वाणी और इन्द्रियों से परे है-उसको हम नहीं जान पा रहे हैं।

आनन्दमात्रमिति यत्प्रवदन्ति पुराविदः ।
तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ।।

यदि आप हमें कुछ वरदान देना चाहते हैं तो पुराविद् जिसे आनन्दमात्र कहते हैं उस रूप को हमें दिखलाओ।

श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतेः परम् ।
केवलानुभवानन्दात्मकमक्षरमध्यगम् ।।

यह सुनकर भगवान् ने अक्षर में विद्यमान प्रकृति से परे केवल अनुभवानन्दात्मक लोक का दर्शन करवाया।

यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्वृतम् ।
मनोरमनिकुंजाढ्यं सर्वर्तुसुखसंयुतम् ।। इत्यादि ।।

जहाँ (परमात्मा के लोक में) मनोरम निकुञ्जों से परिपूर्ण, सभी प्रकार की ऋतुओं में सुख से भरा हुआ, कामना के अनुसार फल से युक्त वृन्दावन नाम का वन था।

स्कान्दे वैष्णवखंडे वासुदेवमाहात्म्ये सृष्टिप्रकरणेः--

''अथ ज्ञानस्वरूपं ते वच्मि सांख्येन निश्चितम् ।
क्षेत्रादि ज्ञायते येन तज्ज्ञानं हि निरुच्यते ।।

स्कन्दपुराण में वैष्णवखण्ड के वासुदेव माहात्म्य के सृष्टि प्रकरण

में--

सांख्य ने जिसे ज्ञानस्वरूप निश्चित किया है और जिससे क्षेत्र-आदि का ज्ञान होता है उस ज्ञान का निर्वचन किया जा रहा है।

वासुदेवः परं ब्रह्म बृहत्यक्षरधामनि ।
आदावेकोऽद्वितीयोऽभून्निर्गुणो दिव्यविग्रहः ।।(पुरुषविधः)

बृहत् अक्षरधाम में वासुदेव ही परब्रह्म है सभी के आदि में अकेला, अद्वितीय, निर्गुण रूप वह दिव्यविग्रह वाला (पुरुषविध स्वरूप वाला) प्रकट हुआ।

सकार्य्य-मूलप्रकृतिः सकालाक्षरधामनि ।
प्रकाशेऽर्कस्य रात्रीव तिरोभूता तदाऽभवत् ।।

जैसे सूर्य के प्रकाश में रात्रि तिरोहित (छिपी हुई) रहती है वैसे ही उस अक्षरधाम में काल और कार्य सहित मूलप्रकृति छिपी हुई है।

सिसृक्षा चाभवत्तस्य ब्रह्मांडानां यदा तदा ।
सकालाविर्बभूवादौ महामाया ततो हि सा ।।

जब उस वासुदेव को ब्रह्माण्डों के सर्जन की इच्छा हुई तब वह काल सहित महामाया सबसे पहले आविर्भूत हुई।

तां कालशक्तिमादाय वासुदेवोऽक्षरात्मना ।
सिसृक्षयैक्षत यदा सा चुक्षोभ तदैव हि ।।

अक्षरस्वरूप वासुदेव ने उस कालशक्ति को लेकर जैसे ही उसे सर्जन की इच्छा से देखा, वह उसी समय क्षुब्ध (आन्दोलित) हो गई।

तस्याः प्रधानपुरुषाः कोटिशो जज्ञिरे मुने ।
युज्यन्ते स्म प्रधानैस्तैः पुरुषाश्चेच्छया विभोः ।।

हे मुनि! उससे करोड़ों प्रधान पुरुष उत्पन्न (प्रकट) हुए। व्यापक परमात्मा की इच्छा से पुरुष उन प्रधान पुरुष से संयुक्त होते थे।

पुमांसो निदधुर्गर्भांस्तेषु तेभ्यश्च जज्ञिरे ।
ब्रह्मांडानि ह्यसंख्यानि तत्रैकं तु विविच्यते ।।....

पुरुषों (पुरुषतत्त्व) ने उन (प्रधान पुरुषों) में गर्भ रखा तथा उनसे असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए। उनमें एक ब्रह्माण्ड का विववेचन किया जा रहा है।

कृष्णमेव परं ब्रह्म विदित्वा ते नराकृति।''

भक्तिं प्रपेदिरे विप्राः प्रणमन्तस्तमादरात्।। इत्यादि।।

नराकृति कृष्ण को ही परमब्रह्म समझकर आदर के साथ उसे ही प्रणाम करते हुए वे विप्र भक्ति को प्राप्त हो गए। इत्यादि।

ब्रह्मवैवर्त्ते ब्रह्मखंडे--

''तद् ब्रह्म शक्तिः प्रकृतिः सर्वबीजस्वरूपिणी।

(प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्-ब्र.सू.)

यतस्तच्छक्तिमद्ब्रह्म चेदं प्रकृतिलक्षणम्।।

ब्रह्मवैवर्त्त के ब्रह्मखण्ड में :-

सर्व बीजस्वरूपिणी प्रकृति उस ब्रह्म की शक्ति है। क्योंकि प्रकृति के लक्षण में ''ब्रह्म शक्तिमान्'' है ऐसा कहा गया है।

(प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुरोध से प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है। ब्र. सू.)

तेजोरूपं च तद्ब्रह्म ध्यायन्ते योगिनः सदा।

वैष्णवास्तत्र मन्यन्ते मद्भक्ताः सूक्ष्मबुद्धयः।।

तेजोरूप उस ब्रह्म का सभी योगी सदैव ध्यान करते हैं। किन्तु सूक्ष्म बुद्धि वाले मेरे भक्त वैष्णव ऐसा नहीं मानते।

तत्तेजः कस्य नाश्चर्यं ध्यायन्ते पुरुषं विना।

कारणेन विना कार्य्यं कुतो वा प्रभवेद्भुवि।।

बिना पुरुष के केवल उस तेज का ध्यान करना किसे आश्चर्य में नहीं डालता? पृथ्वी पर बिना कारण के कार्य का होना कहाँ सम्भव है?

ध्यायन्ते वैष्णवास्तस्मात्तत्र रूपं मनोहरम्।

स्वेच्छामयस्य पुंसश्च साकारस्यात्मनः सदा।।

इसीलिए वैष्णवगण सदैव उसमें स्वेच्छामय पुरुष के मनोहर रूप का, जो परमात्मा का साकार रूप है, ध्यान किया करते हैं।

तत्तेजोमंडलाकारे सूर्य्यकोटिसमप्रभे।

नित्यं स्थलं च प्रच्छन्नं गोलोकाभिधमेव च।....

नानाचित्रविचित्राढ्ये वसन्तं वरमीश्वरम्।

नवीननीरदश्यामं किशोरवयसं शिशुम्।....

करोडों सूर्यों के समान प्रकाशमान जो मण्डलाकार तेजः पुंज है, उसके भीतर नित्यधाम छिपा हुआ है, जिसका नाम गोलोक है।

(उस गोलोकधाम में) नानाचित्र विचित्र और अमूल्य सिंहासन पर श्रीसर्वेश्वर कृष्ण विराजमान हैं, वे किशोर अवस्था के बालक हैं।

कोटिचन्द्रप्रभाजुष्टं पुष्टं श्रीयुक्तविग्रहम् ।।

उनका सौन्दर्य कोटि कन्दर्पों की लावण्यलीला को तिरस्कृत कर रहा है। उनका पुष्ट श्रीविग्रह करोड़ों चन्द्रमाओं की प्रभा से सेवित है।

सुस्मितं मुरलीहस्तं सुप्रशस्तं सुमंगलम् ।
परमोत्तमपीतांशुकयुगेन समुज्ज्वलम् ।।....
भक्तिप्रियं भक्तनाथं भक्तानुग्रहकातरम् ।
रासेश्वरं सुरसिकं राधावक्षःस्थलस्थितम् ।।

उनके मुख पर मुसकराहट खेलती रहती है। उनके हाथ में मुरली शोभा पाती है। उनकी मनोहर छवि अत्यन्त प्रशंसनीय है। परम उत्तम दो पीताम्बर धारण करने से वे सुशोभित –वे भक्तों के प्रिय हैं तथा भक्तों के नाथ हैं और भक्तों पर अनुग्रह करने वाले हैं वह रासेश्वर हैं, सुरसिक हैं, राधा के वक्षःस्थल पर विराजमान हैं।

एवंरूपमरूपं तं मुने ध्यायन्ति वैष्णवाः ।
सततं ध्येयमस्माकं परमात्मानमीश्वरम् ।।

ऐसे निराकार परमात्मा का वैष्णवगण सदैव ध्यान करते हैं। वही परमात्मा, ईश्वर हम लोगों के ध्येय हैं।

अक्षरं परमं ब्रह्म भगवन्तं सनातनम् ।
स्वेच्छामयं निर्गुणं च निरीहं प्रकृतेः परम् ।।

उसे अक्षर अविनाशी, परब्रह्म एवं सनातन भगवान् कहा गया है। वह निर्गुण और निरीह है तथा प्रकृति से परे है।

सर्वाधारं सर्ववश्यं सर्वज्ञं सर्वमेव च ।
सर्वेश्वरं सर्वपूज्यं सर्वसिद्धिकरप्रदम् ।।

वह समस्त का आधार, सर्वबीज, सर्वज्ञ, सब कुछ, सर्वेश्वर, सबके पूज्य और समस्त सिद्धियों के दाता है।

स एव भगवानादिर्गोलोके द्विभुजः स्वयम् ।

गोपवेषश्च गोपालैः पार्षदैः परिवेष्टितः ।।

वही एकमात्र भगवान् हैं, जो गोलोक में द्विभुज होकर गोपवेश में स्वयं रहते हैं तथा गोपाल पार्षदों से घिरे हुए हैं।

परिपूर्णतमः श्रीमान् श्रीकृष्णो राधिकेश्वरः ।
सर्वान्तरात्मा सर्वत्र प्रत्यक्षः सर्वगः स्मृतः ।।

वे परिपूर्णतम श्रीकृष्ण, श्रीमान् राधिकेश्वर, सबके अन्तरात्मा, सबके स्थानों में प्रत्यक्ष होने योग्य और सर्वगामी है।

कृषिश्च सर्ववचनो णकारश्चात्मवाचकः ।
सर्वात्मा च परं ब्रह्म तेन कृष्णः प्रकीर्त्तितः ।।

कृष् का अर्थ समस्त और नकार का अर्थ आत्मा है इसीलिए वे सर्वात्मा परब्रह्म कृष्ण नाम से कहे गए हैं।

स एवांशेन भगवान् वैकुंठे च चतुर्भुजः ।
चतुर्भुजैः पार्षदैस्तैरावृतः कमलापतिः ।।

वही भगवान् अपने अंश से चतुर्भुज होकर वैकुण्ठ में चार भुजाओं वाले पार्षदों समेत लक्ष्मीपति रूप से निवास करते हैं।

स एव कलया विष्णुः पाता च जगतां प्रभुः ।
श्वेतद्वीपे सिन्धुकन्यापतिरेव चतुर्भुजः ।।

वही अपनी कला (अंश) मात्र से विष्णु होकर समस्त जगत् की रक्षा करते हैं और श्वेत द्वीप में सिन्धु कन्या लक्ष्मी के पति होकर चार भुजाओं से स्थित हैं।

एतत्ते कथितं सर्वं परब्रह्मस्वरूपकम् ।
अस्माकं चिन्तनीयं च सेव्यं वन्दितमीप्सितम् ।। इत्यादि ।।

इस प्रकार मैंने परब्रह्म का स्वरूप सभी प्रकार से तुम्हें बता दिया जो हम लोगों के चिन्तनीय, सुसेवा के योग्य और प्रिय एवं स्मरणीय हैं।

तत्रैव प्रकृतिखंडे नारायणः--

वैष्णवास्तन्न मन्यन्ते मद्भक्ताः सूक्ष्मदर्शिनः ।
वदन्ति इति ते कस्य तेजस्तेजस्विनं विना ।।

वहीं प्रकृति खण्ड में नारायण कहते हैं--

(योगीजन जिस ब्रह्मतेज का ध्यान करते हैं उसे वैष्णव लोग

मान्यता नहीं देते हैं। उनका कहना है कि बिना तेजस्वी व्यक्ति के वह तेज किसका कहा जाएगा।

तेजोमंडलमध्यस्थं ब्रह्म तेजस्विनं परम्।
अतीव सुन्दरं रूपं विभ्रतं सुमनोहरम्।
किशोरवयसं शान्तं सर्वकान्तं परात्परम्।।
नवीननीरदश्यामं राधेशं श्यामसुन्दरम्।। इत्यादि।।
श्रीगीतासु-''मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।।''

इसलिए उस तेजोमण्डल के मध्य में वह परम तेजस्वी परब्रह्म रहते हैं, जो स्वेच्छामय, सर्वरूप तथा समस्त कारणों के कारण हैं। वे अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त मनोहर रूप धारण करके किशोरावस्था में विराजमान रहते हैं। वे शान्त, सबके कान्त और परात्पर हैं। उनका श्यामविग्रह नवीन मेघ की कान्ति का परम धाम है। वह राधेश श्यामसुन्दर है।

श्रीगीता में--

हे धनञ्जय! मुझ से परे अन्य कुछ भी नहीं है।

वृहदारण्यके-''आत्मैवेदमग्रआसीत्पुरुषविधः'' इत्यादि च।। इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवाक्यैः श्रीकृष्णविग्रहस्य व्यापकचिज्ज्योतिः स्वरूपब्रह्मापेक्षया तदाश्रयत्वेन परत्वं सनातनत्वं सर्वकारणकारणत्वं सर्वेश्वरेश्वरत्वं प्रतिपाद्यमानं न शास्त्रप्रमाणापेततर्कबलेन निराकर्त्तुं शक्यमित्याशयेनाह-परब्रह्मत्वमेव सिद्धमिति।।

''नासदासीन्नो सदासी''दित्यादि ऋग्वेदीयसूक्तं तु परब्रह्मणः प्राकृतपादविषयकं कृत्स्नप्रपंचस्याव्यक्ते लीनत्वा-त्तदानीं, नतु त्रिपाद्विभूत्याख्यामृतपादविषयकम् अन्यथा नित्याप्राकृतपादप्रतिपादकश्रुतिस्मृतिविरोध इति ध्येय।।

बृहदारण्यक में-सबसे पहले पुरुषविध आत्मा ही था।

इस प्रकार श्रुति-स्मृति और पुराणों के वचनों से श्रीकृष्ण विग्रह की व्यापक चिज्ज्योतिः स्वरूप ब्रह्म की अपेक्षा तदाश्रय होने से (चिज्ज्योतिः स्वरूप ब्रह्म का आश्रय होने के कारण) पर, सनातन, सभी कारणों का कारण, सर्वेश्वर रूप में, प्रतिपादित किया जाता है। इसका खण्डन शास्त्र प्रमाण और तर्क बल से नहीं किया जा सकता है। इसीलिए मूल में कहा

है-परब्रह्मत्वमेव सिद्धमिति।।

''उस समय (सृष्टि के आरम्भ में) न तो सत् था और न असत् ही था'' इत्यादि ऋग्वेदीय सूक्त परब्रह्म के प्राकृत पाद के विषय में कहता है- अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में परब्रह्म का प्रकृतिरूप पाद भी नहीं था क्योंकि समस्त प्रपञ्च उस समय अव्यक्त में लीन था। ''नासदासीन्नो सदासीत्'' वेद की यह ऋचा परमात्मा के विभूतिरूप अमृत स्वरूप त्रिपाद का निषेध नहीं करती है (अर्थात् त्रिपाद तो इस सृष्टि के पूर्व में भी अनादि काल से स्थित है)। अन्यथा नित्य अप्राकृत पाद की सर्वदा सत्ता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति और स्मृतियों से विरोध हो जाएगा।

तदेवं उक्तरीत्या सिद्धे यशोदातनयस्य परब्रह्मत्वे ''ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारण'' मिति पूर्वोक्तब्रह्मसंहितापद्योक्तेश्वरादिविशेषणान्युपपादयति तत्तत्प्रमाणोपन्यासपूर्वकं- यस्मादेव तादृक्कृष्णपदवाच्य इत्यादिना।। सर्ववशयितेति-सर्ववशयितृत्वमेव- परमेश्वरत्वमित्यर्थः।।

''जगद्वशे वर्त्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्।।'' म.भा.वि. स.।

''एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः''-गो. ता.

इस प्रकार यशोदा तनय श्रीकृष्ण परब्रह्म है-यह सिद्ध होता है।

''सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर है। वह अनादि है तथा आदि (सभी से पहले विद्यमान) है, सभी कारणों का कारण गोविन्द है। ब्रह्मसंहिता में कहे गए इस पद्य में आए हुए ईश्वर आदि विशेषणों का प्रमाण पूर्वक उपपादन करते हैं। (यस्मादेव..इत्यादिना-मूल)

सर्ववशयिता का अर्थ परमेश्वर है।

यह समस्त चराचर जगत् श्रीकृष्ण के वश में है। म. भा. वि.स.।

''एकाकी, वशी (सबको वश में करने वाला) सर्वव्यापक कृष्ण स्तुत्य (ईड्यः) है।'' गो. ता.

''य एको जालवानीशत ईशनीभिः'' ''वशी सर्वस्य लोकस्य'' ''सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा'' 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्', 'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनाम्,' ''ईशानं भूतभव्यस्य,'' ''सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः,''

''एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः,'' ''एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा,'' ''भीषास्माद्वातः पवते'' 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्,' ''ज्ञः कालकालो.''-इत्यादि-श्रुतिस्मृतिगीतो यः सर्वेश्वरः स कृष्ण एव, ''एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य-'' इत्यादिगोपालतापनीश्रुतेरिति भावः।। तदेवं कृष्णशब्दस्य सच्चिदानन्दपदार्थ-त्वं,''यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक''इति श्रुत्याभिगीतं सर्वकारणकारणत्वं, सर्वेश्वरत्वं, सर्ववशयितृत्वं, कालकालत्वं, सर्वनियन्तृत्वं, सर्वेड्यत्वं, आद्यत्वमनादित्वं च सिद्धम्।। नामनामिनोरभेदेन यशोदानन्दनस्यैव तत्सर्वं विशेषणजातं, तस्मिन्नेव कृष्णशब्दस्य रूढेरितिभावः। तस्मादेव परम इति-ऐश्वर्य्यमाधुर्य्यरूपस्वरूपशक्तिगुणादिप्राकट्यतारतम्यमपि परमत्वापरमत्वयोर्विनिगमकमित्याशयेन परमशब्दस्य प्रकृतोपासनानुकूलमर्थं व्याचष्टे-परा सर्वोत्कृष्टा मा महालक्ष्मी श्रीराधाख्या यस्य स इति। सर्वोत्कृष्टत्वं च तस्या उपरिष्टाद्वक्ष्यति।

अथ यदुक्तं प्रतिपक्षिणा कृष्णस्य नारायणावतारत्वमिति तत्रोत्तरमाह-''नारायणोऽङ्गं''इत्यादिना। दर्शितानि चैतदर्थकानि पुराणादिवाक्यानि प्रागेव। या तु तस्य क्वचिन्नारायणावतारोक्तिः सा तस्यैश्वर्य्य-भावप्रधानभक्तावेव विनियुज्यते, न तु शुद्धवात्सल्यादिभक्ता-विति संक्षेपः। सति चैश्वर्य्यस्फुरणे भावस्य संकीर्णत्वेन शुद्धत्वहान्या न रसानन्दाधायकत्वमिति ध्येयं। वक्ष्यति चोपरिष्टाद्रसस्य शुद्धतावाप्त्यै रसाभास निवारणार्थं च स्थायिनो ऐश्वर्य्यभावास्पृष्टत्वमत्यन्तमपेक्षितमिति। माधुर्य- भावप्रचुरभक्तौ तु माधुर्य्यं ह्यैश्वर्य्यविस्मारकं स्थायि, ऐश्वर्य्यस्फुरणं तु क्वचित्संचारितयैवेति विवेकः। तस्मात्प्रकृतयुगलसहचरीभावस्य स्थायिनोऽसंकीर्णत्वमत्यन्तमपेक्षित-मित्याशयः।

''जो अकेला जालवान् अपनी शक्तियों से शासन करता है। (सबको वश में करता है)''

''समस्त लोक को वश में करने वाला है।''

''महात्मा सभी को अपने आधिपत्य में करता है।''

वह ईश्वरों का परम महेश्वर, देवताओं का परम देवता, पतियों का पति, पर से भी परम एवं भुवनेश है, वही (कृष्ण ही) स्तुति करने योग्य है-ऐसा हम जानते हैं।

बहुत से निष्क्रियों को अकेला वश में करने वाला है।

भूत और भव्य (होने वाले) के ईशान को।

सबको वश में करने वाला, सबका ईशान (शासन करने वाला)।

यह सबका ईश्वर है, यह भूतों का अधिपति है।

एकोवशीसर्वभूतान्तरात्मा-सभी भूतों की अन्तरात्मा अकेला वश में करने वाला।

भीषास्माद्वातः पवते-इसके भय से वायु पवित्र करता है।

महद्भयं वज्रमुद्यतं-(इसने) महान् भयंकर वज्र उठा रखा है।

ज्ञः कालकालो..जो ज्ञाता है और काल का भी काल है।

इत्यादि श्रुति और स्मृतियों में प्रख्यात जो सर्वेश्वर है वह कृष्ण ही है। ''सभी को वश में करने वाला अकेला श्रीकृष्ण ही स्तुति करने योग्य है'' इत्यादि गोपालतापनी श्रुति का भी यही भाव है। इस प्रकार कृष्ण शब्द का अर्थ सच्चिदानन्द पदार्थ है। ''जो अकेला ही कालात्मयुक्त समस्त कारणों को अपने नियन्त्रण में रखता है-इत्यादि श्रुति द्वारा श्रीकृष्ण को सभी कारणों का कारण, सर्वेश्वर, सर्ववशयिता, काल का भी काल, सर्वनियन्ता, सर्वस्तुत्य आदि और अनादि सिद्ध किया गया है। नाम और नामी में अभेद होने से ये सभी विशेषण यशोदानन्दन में ही घटित होते हैं, उसी (यशोदानन्दन) में श्रीकृष्ण शब्द रूढ होता है (प्रसिद्ध है)। इसीलिए उसे परम कहा गया है। ऐश्वर्य, माधुर्य, स्वरूपशक्ति और गुण आदि के उत्कृष्ट रूप में प्रकट होने में परमत्व तथा अल्परूप में प्रकट होने पर अपरमत्व शब्द का प्रयोग हो सकता है अतः यहाँ प्रकृत उपासना के अनुकूल परम शब्द का अर्थ करते हैं-''परा सर्वोत्कृष्टा मा महालक्ष्मी श्रीराधाख्या यस्य स इति'' सर्वोत्कृष्ट महालक्ष्मी श्रीराधा जिसकी है वह श्रीकृष्ण परम है।

श्रीकृष्ण का सर्वोत्कृष्टत्व आगे कहेंगे।

प्रतिपक्षी ने श्रीकृष्ण नारायण के अवतार हैं ऐसा जो कहा है उसका उत्तर कहते हैं-

नारायण अंग है-इत्यादि के द्वारा (अर्थात् नारायण अंग हैं तथा श्रीकृष्ण अंगी (प्रधान) है। इस आशय को प्रकट करने वाले पुराण आदि

के वाक्य पहले दिए गए हैं। श्रीकृष्ण नारायण के अवतार हैं-ऐसी कोई उक्ति कहीं मिलती भी है वहाँ उसका तात्पर्य ऐश्वर्य भाव प्रधान भक्ति में ही है न कि शुद्ध वात्सल्यादि भक्ति में। अर्थात् जहाँ ऐश्वर्य प्रधान भक्ति है वहाँ श्रीकृष्ण को नारायण का अवतार कह देते हैं तथा जहाँ शुद्ध वात्सल्यादि भक्ति प्रधान है वहाँ श्रीकृष्ण अवतारी अर्थात् प्रधान-परमब्रह्म है ऐसा कहा जाता है।

ऐश्वर्य के स्फुरण होने पर भाव के सांकर्य से शुद्धत्व की हानि से नारायण का अवतार श्रीकृष्ण रसानन्द का आधायक नहीं होता है। आगे प्रतिपादन करेंगे कि रस की शुद्धता के लिए तथा रसाभास के निवारण के लिए स्थायी भाव में ऐश्वर्य भाव का मिश्रण नहीं होना चाहिए।

माधुर्य भाव की प्रचुरता वाली भक्ति में तो माधुर्य ही ऐश्वर्य का विस्मरण कराने वाला स्थायी भाव होता है तथा ऐश्वर्य भाव का स्फुरण तो कहीं संचारी भाव के रूप में आता है। इस कारण प्रकृत में युगल सहचरी भाव रूप स्थायी भाव में किसी भी प्रकार की संकीर्णता (मिश्रण) सह्य नहीं है (अर्थात् संकीर्णता की अपेक्षा नहीं है)।

सत्यम्।। किन्त्वयं परमापूर्वः पूर्वसिद्धानन्द इत्याह-सच्चिदानन्दलक्षणो विग्रहस्तद्रूप एवेत्यर्थः।। तथाच ब्रह्मस्तुतौ-त्वय्येव नित्यसुखबोधतनाविति।। तापनीयहयशीर्षयोः।। सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे।। नमो वेदान्तवेद्यायेति।। ब्रह्माण्डपुराणे नामामृतस्तोत्रे-नन्दव्रजजनानन्दी सच्चिदानन्दविग्रह इति।। एतदुक्तं भवति।। सत्त्वं खल्वव्यभिचारित्वमुच्यते।। तद्रूपत्वं च श्रीदशमे ब्रह्मादिवाक्ये।। सत्यव्रतं सत्यपरं० इत्यादौ व्यक्तम्।। तथोद्योगपर्वणि सत्येप्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्।। सत्यात्सत्यं च गोविन्दस्तस्मात्सत्यो हि नामत इति।। श्रीदेवकीवाक्ये च।। नष्टे लोके इत्यादि द्वयेन।। तथा तत्रैव-''तदिदं ब्रह्माद्वयं शिष्यते'' इति।। श्रीगीतासु च-यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।

तापन्यां--जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्य इत्यादि।। अथ चिद्रूपत्वं तच्च स्वप्रकाशत्वेन परप्रकाशकत्वम्।। तच्चोक्तं ब्रह्मणा

श्रीदशमे ।। एकस्त्वमात्मेत्यादौ स्वयं ज्योतिरिति ।। तापन्यां-यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै विद्यास्तस्मै गापयति स्म कृष्णः ।।। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।। इति ।। न चक्षुषा पश्यति रूपमस्येति ।। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वामिति श्रुत्यन्तरवत् ।। अथानन्दरूपत्वम् ।। तद्धि सर्वांशेन निरुपधि परमप्रेमास्पदत्वम् ।। तच्च श्रीदशमे ब्रह्मस्तवान्ते-''ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्ण'' इत्यादि प्रश्नोत्तरयोर्व्यक्तम्।। यथा चानुभूतमानकदुन्दुभिना--विदितोऽस्ति भवान्साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृगिति ।। आनन्दं ब्रह्मणो रूपमिति श्रुत्यन्तरवत् ।।

तदेवं तस्य सच्चिदानन्दविग्रहत्वे सिद्धे विग्रह एवात्मा तथा आत्मैव विग्रह इति सिद्धम् ।। अतो जीववद्देहित्वं तस्य नेत्यपि सिद्धान्तितम् ।। यथोक्तं श्रीशुकेन ।। कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।। जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति माययेति ।। तथापि तस्य देहिवल्लीला कृपापरवशतयैवेत्यर्थः ।। मायादंभे कृपायां चेति विश्वप्रकाशात् ।।

बात तो सत्य है। किन्तु यह श्रीकृष्ण परम अपूर्व पूर्वसिद्ध आनन्द ही है ऐसा कहते हैं। सच्चिदानन्दविग्रह तो उसका (आनन्द का) रूप ही है। तथा ब्रह्म स्तुति में-नित्य सुख बोध रूपी शरीर वाले तुम में ही।। तापनीय और हयशीर्ष में कहा है--

वेदान्तवेद्य, बिनाश्रम के सब कुछ सम्पन्न करने वाले सच्चिदानन्द रूप कृष्ण को नमस्कार।

ब्रह्माण्डपुराण में नामामृतस्तोत्र में-

(वह श्रीकृष्ण) नन्द और व्रजवासियों को आनन्द देने वाले सच्चिदानन्द विग्रह है। यह कहा गया है। श्रीकृष्ण का सत् स्वरूप अव्यभिचारी रूप (अनन्य रूप) से कहा गया है। श्रीकृष्ण का सद्रूप तो श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ब्रह्मादि वाक्य में ''सत्यव्रत, सत्यपरायण इत्यादि में..'' व्यक्त हुआ है। तथा महाभारत के उद्योग पर्व में-''श्रीकृष्ण सत्य में प्रतिष्ठित है तथा सत्य श्रीकृष्ण में प्रतिष्ठित है। सत्य से सत्य प्रतिष्ठित है इसलिए गोविन्द सत्य नाम से कहा गया है। और देवकी के वाक्य में'' नष्टे लोके..

लोक के नष्ट होने पर-इत्यादि दो पद्यों के द्वारा। तथा वहीं पर-इस प्रकार ब्रह्माद्वय अवशिष्ट रहता है। और श्रीगीता में--

क्योंकि मैं क्षर (नाशवान् जड़ पदार्थों) से अतीत हूँ और अक्षर (अविनाशी) जीवात्मा से भी उत्तम हूँ इसलिए लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

तापनी में यह (परमात्मा) जन्म और जरा से भिन्न अच्छेद्य और स्थायी है। यह चिद्रूप है। (इसका प्रतिपादन करते हैं) वह स्वप्रकाश होते हुए अन्य का प्रकाशक है। जैसा कि ब्रह्मा ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में कहा है-एकस्त्वमात्मा-इत्यादि में परमात्मा को स्वयं ज्योति कहा है। तापनी में-जिस श्रीकृष्ण ने कल्प के आदि में ब्रह्मा का निर्माण किया तथा उसे विद्याएँ पढाई। मुमुक्षु मैं आत्मा और बुद्धि के प्रकाश स्वरूप उस देव की शरण में जाता हूँ। इति। (साधक) इसके रूप को अपने चर्म चक्षु से नहीं देखता है। यह आत्मा प्रवचन से, मेधा से और शास्त्र ज्ञान से प्राप्त करने योग्य नहीं है। यह परमात्मा जिसे वरण करता है वह ही इसे प्राप्त कर सकता है। यह आत्मा उसे ही अपना रहस्य प्रकट करता है। यह अन्य श्रुति भी है, यह आनन्दरूप है। (अब इसके आनन्दरूप का प्रतिपादन करते हैं)। क्योंकि यह सर्वांशरूप से उपाधि रहित परम प्रेम का आस्पद (आश्रय) है। यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में ब्रह्मस्तव के अन्त में कहा गया है--

इत्यादि प्रश्नोत्तर में यह व्यक्त हुआ है। आनकदुन्दुभि (वसुदेव) ने जैसा कि अनुभव किया है-

''आप (श्रीकृष्ण) प्रकृति से परे साक्षात् परम पुरुष के रूप में विदित (ज्ञात) हो तथा सबकी बुद्धि के चक्षु, केवल आनन्दस्वरूप हो। अन्य श्रुति भी कहती है-आनन्द ब्रह्म का रूप है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्दविग्रह सिद्ध होने पर विग्रह ही आत्मा है तथा आत्मा ही सच्चिदानन्द विग्रह है-यह सिद्ध होता है। अतः जीवों के समान देहधारी नहीं है यह सिद्धान्त है। (वह सच्चिदानन्द विग्रह है जीव सच्चिदानन्दविग्रह नहीं है)।

जैसा कि श्रीशुकदेवजी ने कहा है--

''तुम समस्त ब्रह्माण्ड के आत्माओं के आत्मा इस श्रीकृष्ण को

समझो। जगत् के हित के लिए वह माया से देहधारी के समान प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण की यह देहधारी के समान लीला केवल जगत् पर कृपा करने के लिए है। माया शब्द के दो अर्थ हैं-दम्भ और कृपा ऐसा कोश में कहा गया है।

ये च तच्छब्देनेति-कृष्-णाभ्यां स्वरूपशक्तितद्धर्म निरपेक्षकेवल-सच्चिदानन्दमात्रस्याभ्युपगमे, स्वसच्चिदानन्दस्वरूपानुभूतिहेतुभूतस्वरूप-शक्तिप्रत्याख्याने च, तस्य तादृश स्वस्वरूपानुभूत्यनुपपत्तेस्तस्मिन्स्वरूप-शक्तिरवश्यमभ्युपेया। स्वस्वरूपानुभूतिहेतुभूतसंविच्छक्तिविरहे घटस्यापि सच्चिदानन्दत्वं सुवचम्। न च मायैव तस्य स्वरूपानुभूतिहेतुः, स्वरूपशक्ति-मननस्य गौरवमात्रत्वमितिवाच्यम्। मायावादिनस्तव मते मायाब्रह्मणोर्द्वयोरपि ज्ञातृत्वधर्मविरहत्वाभ्युपगमेन मायायोगहेतुकमपि तस्य ज्ञातृत्वरूपक्रियावत्त्वं न संभवति। ब्रह्मणो निष्क्रियत्वाभ्युपगमात्।

और जो कृष् और ण शब्द से परमानन्दस्वरूप मात्र को स्वीकार करते हैं उनको भी ईश्वर आदि शब्दों से उसमें स्वाभाविकी शक्ति को भी मानना चाहिए-ये विचार जो मूल में व्यक्त किया है उसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि कृष् और ण शब्द के द्वारा स्वरूप शक्ति और उसके धर्म से निरपेक्ष केवल सच्चिदानन्द मात्र का बोध होने पर भी तथा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति की कारणस्वरूप स्वरूपशक्ति को अस्वीकार करने पर सच्चिदानन्द स्वरूप का बोध सम्पन्न नहीं हो सकता अतः उनको भी (कृष्ण शब्द का केवल सच्चिदानन्द अर्थ मानने वालों को भी) कृष्ण में स्वरूपशक्ति अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ेगी। स्वरूपशक्ति सच्चिदानन्द स्वरूप का बोध कराने की कारणस्वरूपा है-इस शक्ति के बिना घट को भी हम सच्चिदानन्द भली प्रकार से कह सकते हैं। और माया ही उसके स्वरूप की अनुभूति का कारण है अतः स्वरूपशक्ति को मानना गौरवमात्र है ऐसा नहीं कहना चाहिए। टीकाकार मायावादी को कह रहे हैं कि तुम्हारे मत में माया और ब्रह्म इन दोनों का ही ज्ञातृत्व धर्म से विरह सिद्ध होने से माया के योग से होने वाला उस ब्रह्म का ज्ञातृत्वस्वरूप क्रियावान् होना सम्भव नहीं है। ब्रह्म का निष्क्रियत्व सिद्ध होने से (क्योंकि जानना भी एक क्रिया है जब ब्रह्म निष्क्रिय है तब वह जानता है ऐसा नहीं कहा जा

सकता)।

मायायाः सदसद्विलक्षणानिर्वचनीयभावरूपत्वाभ्युपगमस्तु तस्यास्त्रैकालिकासत्त्व एव पर्य्यस्यति अन्यथा अद्वैतभंगापत्तेः। किञ्च, यत्र यस्यात्यन्तिकाभावो न तत् तत उत्पद्यते, अभावाद्भावोत्पत्तिवत्, कथं असतः सज्जायेतेतिश्रुतेः। तस्मादसत्वरूपायास्तस्या ब्रह्मणा सह योग एवासंभवदुक्तिकः।

न च ब्रह्मसंपर्कात् मायायाः सत्त्वगुणे ज्ञानत्वोपचारात्, 'सत्त्वात्संजायते ज्ञान'मितिश्रीभगवद्गीतोक्त्या च सर्वं संभवदुक्तिमिति वाच्यम्। न तावज्जडस्वरूपाया मायाया जडस्य सत्त्वगुणस्य ज्ञातृत्व- योगः संभवति- अन्यथा तस्या जडत्वाभ्युपगमानुपपत्तेः। सत्त्वं तु स्वरूपगतस्वाभाविक- ज्ञातृत्वधर्मस्योपकारकमात्रमुपनेत्रवद्बद्धदशायामित्येषोऽर्थः 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानमित्यस्य। किञ्च, स्वाभाविकयावदात्मवृत्तिज्ञातृत्वधर्मो वस्तुनश्चेतनस्व- रूपत्वसाधकः। तदभावे तत्त्वासिद्धिनियमात् अन्यथा घटेऽपि तत्त्वस्य सुवचत्वात्। न च ज्ञातृत्वधर्ममन्तरेण चेतनस्वरूपत्वस्य अन्यत्किञ्चि- द्विनिगमकप्रमाणमस्ति। तस्मात्स्वरूपशक्तिरवश्यमभ्युपेया।

तदेवाह तेऽपि चेश्वरादिशब्दैस्तत्र स्वाभाविकीं शक्तिं मन्येरन्निति। अकामतोऽपीत्यर्थः। तदेव श्रुतिप्रमाणेन साधयति परास्येत्यादिना। नहीश्वरत्वसर्वकारणकारणत्वादिगुणाः कथमपि ब्रह्मण्युपपद्यन्ते तद्धेतुभूतां सर्वनियामिकां, सर्वप्रवर्त्तिकां स्वरूपशक्तिं विनेति भावः।। ''आनन्दो ब्रह्मे''ति ब्रह्मानन्दयोः सामानाधिकरण्यात्, ''आनन्दाद्ध्येवेमानि भूतानि जायन्ते'' इत्यानन्दस्य सर्वकारणत्वश्रवणात्।

सदसद् से विलक्षण अनिर्वचनीय, भावरूप माया है-यह माया का स्वरूप जो अद्वैत वेदान्त में स्वीकार किया गया है उसका पर्यवसान यह है कि माया सत्ता त्रैकालिक नहीं है (तीनों कालों में नहीं है) अन्यथा अद्वैत का भङ्ग हो जाता (यदि माया भी तीनों कालों में रहेगी तब ब्रह्म और माया ये दो तत्त्व स्वीकार करने पर अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता)।

और जहाँ जिस वस्तु का आत्यन्तिक अभाव नहीं होता है वह वस्तु उससे उत्पन्न होती है-अभाव से भाव की उत्पत्ति के समान। प्रश्न होता है यह कैसे? असत् से सत् की उत्पत्ति होती है-यह श्रुति वचन है। (जैसे

दधि में घृत का आत्यन्तिक अभाव नहीं है तब घृत दधि से उत्पन्न होता है-घृताभाव वाले दधि से भावरूप घृत की उत्पत्ति होती है-यही असत् से सत् की उत्पत्ति है)।

इस कारण असत् स्वरूपा माया का ब्रह्म के साथ योग ही असंभववद् उक्ति वाला है (अर्थात् असत्स्वरूप माया का ब्रह्म के साथ योग है यह कहना सम्भव नहीं है)।

और ब्रह्म के सम्पर्क से माया के सत्त्वगुण युक्त होने पर ज्ञानत्व का उपचार (गौण) होने से सत्त्व गुण से ज्ञान होता है-(सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्) इस भगवद् गीता की उक्ति से सब संभववद् उक्ति वाला यह वचन है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए।

जड़स्वरूपा माया के जडस्वरूप सत्त्व का ज्ञातृत्व के साथ योग सम्भव नहीं है। अन्यथा उसके जड़ होने से ज्ञान की संगति नहीं होगी। अर्थात् माया जड़ है, जड़ में होने वाला सत्त्वगुण भी जड़ ही होगा, जड़ में ज्ञातृत्व का योग सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञातृत्व धर्म चेतन का है जड़ का नहीं-यदि ऐसा नहीं हो तो माया को जड़ भी नहीं कहा जा सकेगा।

सत्त्वगुण तो बद्धदशा में स्वरूपगत स्वाभाविक ज्ञातृत्व धर्म का उपकारक मात्र है, उपनेत्र के समान यह अर्थ है-''सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्'' इस उक्ति का। (सत्त्वात् संजायते ज्ञानम् इस उक्ति का स्वारस्य यह है कि जैसे नेत्र में स्वाभाविक ज्योति होने पर उपनेत्र दर्शन क्रिया में उपकारक होता है वैसे ही जीव की बद्ध दशा में सत्त्वगुण स्वरूपगत स्वाभाविक ज्ञातृत्व धर्म का उपकारक मात्र होता है)।

स्वाभाविक रूप से आत्मा में रहने वाला ज्ञातृत्व धर्म वस्तु के चेतनस्वरूप का साधक है। उसके (ज्ञातृत्व धर्म के) अभाव में चेतन की सिद्धि नहीं की जा सकती अन्यथा घट में चेतनत्व सिद्ध किया जा सकेगा। ज्ञातृत्व धर्म को छोड़कर चेतन स्वरूप के निर्धारण के लिए अन्य कोई प्रमाण नहीं है (अर्थात् जो ज्ञाता है वही चेतन है)। इसलिए स्वरूप शक्ति को अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

इसी बात को सिद्ध करने के लिए मूल में-तेऽपिचेश्वरादिशब्दैः.. इस वाक्य के द्वारा कहा गया है कि न चाहते हुए भी उनकी स्वाभाविकी

शक्ति को स्वीकार करना चाहिए। इसी को ''परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते'' इस श्रुति के प्रमाण से सिद्ध करते हैं। ब्रह्म ईश्वरत्व, सर्वकारणकारणत्वादि गुणों वाला है यह बात तब तक युक्तिसंगत नहीं है जब तक इनकी हेतुभूता, सर्वनियामिका सर्वप्रवर्त्तिका स्वरूप शक्ति को स्वीकार नहीं करेंगे। ''आनन्दो ब्रह्म''-आनन्द ब्रह्म है इसमें ब्रह्म और आनन्द एक ही अधिकरण में है (अर्थात् जो आनन्द है वही ब्रह्म है जो ब्रह्म है वही आनन्द है) आनन्दाद्..आनन्द से ही ये भूत (पञ्च महाभूत एवं सूक्ष्मभूत) उत्पन्न होते हैं-इस वाक्य के द्वारा भी आनन्द सबका कारण सुना जाता है।

''को ह्येवान्या''दित्यादिना तस्यैव सर्वधारकत्चसर्वप्राणन-हेतुत्वश्रवणाच्च तस्य स्वरूपभूतैव तादृशी शक्तिरप्यर्थादुक्ता भवति-अन्यथा आनन्दस्य ब्रह्मणा सह सामानाधिकरण्यस्य सर्वकारणत्वादेश्चानुपपत्तेः। किञ्च, ''स ऐक्षते''त्यत्र ईक्षणक्रियाश्रयत्वमपि सच्छब्दोदितस्य ब्रह्मण एव वाच्यम्। निर्धर्मकत्वे तु तस्य तदनुपपत्तिः। न च वाच्यं तदानींतनगुणसाम्यावस्था-पन्नाव्याकृतयोगादीक्षणोपत्तिरिति। साम्यावस्थापन्नसत्त्वगुणस्य योगादुक्तरीत्या नेक्षणकर्तृत्वोपपत्तिः।

नापि कालशक्तिकृतगुणक्षोभेण तादृगीक्षणं संभवतीति वाच्यम्। कालस्याप्यचेतनत्वेन चेतननिरपेक्षस्वतंत्रकर्त्तृत्वाभावात्। न चायस्कान्तमणि-वत्कालस्य स्वयंप्रेरकत्वात्प्रेरकान्तरस्यानावश्यकत्वात् प्राक्कर्मसंस्कारोद्बुद्ध-कालशक्ति-प्रबोधित सत्त्वगुणकर्त्तृकेक्षणं ब्रह्मण्यारोप्यत इति वाच्यम्। ''कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छे''त्यादिना कालादीनां ब्रह्मानपेक्षस्वतन्त्रकारणत्वस्य ''यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः'' इति श्रुत्यैव निराकृतत्वात्। अनुसंधातारं विना नाचेतनानां गुणकर्मकालादीनां ईक्षण-सामर्थ्यमस्तीति दिक्।

''को ह्येवान्याद्'' मूल में इस वाक्य के द्वारा कहा गया है कि आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही सबका धारक है तथा सभी के प्राणन (श्वास-प्रश्वास) का कारण है'' इन वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म की स्वरूपभूता स्वाभाविकी शक्ति भी ब्रह्म सदृश ही है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तब ब्रह्म का आनन्द के साथ सामानाधिकरण्य एवं सर्वकारणकारणत्वादि संगति भी नहीं हो सकेगी। और भी ''स ऐक्षत'' उसने देखा-इस प्रकार ईक्षण क्रिया का

आश्रय लेना भी सत् शब्द से कहे गए ब्रह्म का ही कहा जा सकता है। ब्रह्म को निर्धर्मक मानने पर यह वाक्य संगत नहीं होगा।

ईक्षण आदि के समय ब्रह्म की सत्त्वादि गुणों के साथ साम्य अवस्था थी, गुण और ब्रह्म अव्याकृत थे (अर्थात् अभिन्न थे) अतः स्वाभाविक शक्ति के बिना गुणों से ईक्षण क्रिया सम्भव है। यदि कोई ऐसा कहे तो यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि साम्यावस्थापन्न सत्त्वगुण के योग ये उक्त रीति से ईक्षण कर्तृत्व की संगति नहीं है। (सत्त्व से ईक्षण क्रिया में सहायता तो आ सकती है किन्तु ईक्षण कर्तृत्व नहीं, वह तो स्वाभाविकी शक्ति के बिना सम्भव नहीं है)।

काल शक्ति से गुणों में क्षोभ होने से ईक्षण सम्भव है-यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि काल अचेतन है, उसमें चेतन के बिना कर्तृत्व सम्भव नहीं है।

अब यदि यह कहें कि जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) लोहे के कणों को स्वयं प्रेरित करती है-अन्य प्रेरक की आवश्यकता नहीं होती है उसी प्रकार प्राक्कर्मों के संस्कारों से उद्बुद्ध काल शक्ति से प्रबोधित सत्त्वगुण के द्वारा की गई ईक्षण क्रिया का ब्रह्म में आरोप किया जा सकता है-यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि श्रुति ने काल आदि को ब्रह्म से निरपेक्ष कारण नहीं माना। श्रुति में कहा गया है-''कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा'' अर्थात् जिस ब्रह्म की इच्छा से काल आदि कारण बनते हैं तथा ''यः कारणानि...'' अर्थात् जो अकेला ब्रह्म काल आदि से युक्त समस्त कारणों को अपने में अधिष्ठित किए हुए है। अर्थात् काल में स्वतन्त्र कारणता नहीं है-ब्रह्म की इच्छा से ही उसमें कारणता है। अचेतन रूप गुण, कर्म, काल आदि में ईक्षण का सामर्थ्य अनुसन्धाता (चेतन-ब्रह्म) के बिना नहीं है।

ननु ''आनन्दो ब्रह्मे''त्यादिषु सुखादिवदेव आनन्दस्यापि अविग्रहत्व-मेवावगम्यते। भवद्भिरपि कृष्णशब्दस्य यौगिकार्थः 'सर्वाकर्षकपरमबृहत्तमा-नन्द' इत्येवाभिहितः। तत्कथं पुनस्तस्य विग्रहत्वमभ्युपगम्यते शास्त्रेऽनुक्तम-पीति चेदाह-सत्यमिति। न वयमानन्दस्य विग्रहवत्वं ब्रूमः, किन्तर्हि सच्चिदा-नन्दसनातननराकृतिपरब्रह्मण एवानन्दत्वं वदामः। रसस्वरूपसच्चिदानन्द-

विग्रहस्य साक्षात्कारेण जीवात्मनो यो निरतिशयानन्दानुभवस्तस्य अस्तु नाम अविग्रहत्त्वं सुखादिवत्, किन्तु यस्य साक्षात्कारेण जीवस्यानन्दलाभस्तस्य तु साक्षादेवानन्दस्वरूपत्वम् वाच्यम्। निरतिशयानन्दप्रदत्वात्। यथा सितोपलाखंडस्यास्वादने यो माधुर्य्यानुभवस्तस्याविग्रहेत्वेऽपि सितोपलायास्तु न निराकारत्वम्। आकारस्य तत्राव्यभिचारात्तथैवात्रापि बोध्यम्। धर्मभूतानन्द-स्याविग्रहत्वेऽपि धर्मिणस्तस्य विग्रहाकारत्वमित्यर्थः। तदेवाह--किन्त्वयं परमापूर्वः पूर्वसिद्धानन्द इति। परमापूर्व इति प्रागुक्तरीत्या श्रीराधिकाहेतुको नित्यसिद्धनिरतिशयानन्द इत्यर्थः। एतेन स्वरूपानन्दानुभूतिः परस्परात्मभूत-दम्पतीरूपेणनित्यैवावस्थितस्य परब्रह्मणो नित्यैवेत्युक्तं भवति। नतु सच्चिदा-नन्दस्वरूपयोस्तयोः स्वरूपेतरवस्तुसंयोगहेतुका। परस्परात्मभूतयोस्तयोर्मिथो निरतिशयप्रियताहेतुकनित्यपरमानन्दस्वरूपत्वात्। तस्माद्युक्तमुक्तं प्रियताख्यप्रेम्णः परमात्मरूपत्वं रसरूपत्वं चेति। एतदेव सिद्धान्तयति-सच्चिदानन्दलक्षणो विग्रहस्तद्रूप एवेत्यर्थइति। उक्तलक्षणविग्रह एवानन्दः, नतु आनन्दस्य विग्रह इति भावः। सच्चिदानन्दपद-त्रयार्थं स्फोरयितुमाह-एतदुक्तं भवतीति। तत्रादौ सत्त्वं लक्षयति-सत्त्वं खल्वव्यभिचारित्वमिति। रूपान्तरादिना यद्व्यभिचरति तन्न सत्। कादाचित्कत्वात्। व्यभिचारो नाम अनियतसत्ताकत्वं तत्तु नास्ति श्रीकृष्ण-विग्रहे, तस्यैव परब्रह्मत्वसर्वेश्वरत्व-सर्वकारणकारणत्वानादित्व-कालकलयितृत्वादि-गुणश्रवणादित्याशयेन ''सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्य'' मित्यादि श्रीदशमस्थपद्यं, ''सत्यात्सत्यं च गोविन्दस्तस्मात्सत्यो हि नामत'' इति चोद्योगपर्वीयं वाक्यं चोपन्यस्यति। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति' श्रुतेश्च।

ननु-''आनन्द ब्रह्म है'' इत्यादि वाक्यों में सुखादि के समान आनन्द का भी अविग्रहत्व (शरीराभाव) ही समझा जाता है। आपने भी कृष्ण शब्द का यौगिक अर्थ स्वीकार करते हुए'' उसे सर्वाकर्षक परम बृहत्तम आनन्द ही कहा है। तब पुनः उसका (कृष्ण का) विग्रहत्व (शरीरधारित्व) कैसे सम्भव होता है तथा शास्त्र में भी अनुक्त होने से (अर्थात् शास्त्र में भी विग्रह नहीं कहा है) यदि यह प्रश्न है तब कहते हैं-सत्यम् (मूल में कहा है) हम आनन्द को विग्रहवान् नहीं कहते हैं, तो किसको कहते हैं? हम सच्चिदानन्द सनातन नराकृति परब्रह्म को ही आनन्द

कहते हैं। रसस्वरूप सच्चिदानन्दविग्रह के साक्षात्कार से जीवात्मा को जो निरतिशय आनन्दानुभव होता है भले ही वह होवे अविग्रहवान् सुखादि के समान, किन्तु जिसके साक्षात्कार से जीव को आनन्द लाभ होता है उसे तो साक्षात् आनन्दस्वरूप ही कहना चाहिए क्योंकि वह निरतिशय आनन्द प्रदान कराता है। जैसे सितशर्करा के आस्वादन में जो माधुर्य का अनुभव होता है उस आनन्द के अविग्रहवान् होने पर भी सितशर्करा तो निराकार नहीं है (अर्थात् आनन्द सुखादि के समान निराकार (अविग्रहवान्) है किन्तु जिससे आनन्द प्राप्त होता है वह विग्रहवान् है-जैसे सितशर्करा)। आकार वहाँ अव्यभिचरित रूप से विद्यमान रहता है ऐसा समझना चाहिए। धर्मभूत आनन्द के अविग्रह होने पर भी उसका धर्मी विग्रहवान् होता है। इसी को सिद्ध करते हुए मूल में कहते हैं-''किन्त्वयं परमापूर्वः पूर्व सिद्धानन्द इति'' परमा अर्थात् महालक्ष्मी स्वरूपा श्रीराधा हैं पूर्व में जिसके। तात्पर्य है श्रीराधा हेतुक नित्य सिद्ध निरतिशय आनन्द। इससे सिद्ध होता है कि परस्पर आत्मभूत दम्पतीरूप से नित्य ही स्थित परब्रह्म की स्वरूपानन्द की अनुभूति नित्य होती है, न कि सच्चिदानन्दस्वरूप वाले उन दोनों की (श्रीराधा-कृष्ण की) स्वरूप से भिन्न वस्तु के संयोग द्वारा (अर्थात् श्रीराधा और कृष्ण दोनों ही सच्चिदानन्द स्वरूप है अतः दोनों की स्वरूपानन्द की अनुभूति भी नित्य आनन्दस्वरूप ही सिद्ध होती है न कि भिन्न-स्वरूप वाले तत्त्वों के संयोग से होने वाली)। वे दोनों परस्पर एक दूसरे की आत्मा हैं। वे एक दूसरे के लिए निरतिशय प्रियता के हेतु हैं तथा नित्य परमानन्दस्वरूप हैं। इसलिए ठीक ही कहा गया है कि प्रियता नामक प्रेम परमात्मरूप और रसरूप है। ग्रन्थकार यही सिद्धान्त रूप में सिद्ध करते हैं कि-सच्चिदानन्दलक्षण विग्रह उसका रूप ही है। सच्चिदानन्दलक्षण विग्रह ही आनन्द है, न कि आनन्द का विग्रह सच्चिदानन्दलक्षण है। सच्चिदानन्द पद में आने वाले तीनों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कहा है (मूल में) एतदुक्तं भवति.. सबसे पहले सत्त्व को स्पष्ट करते हैं-अव्यभिचारित्व ही सत्त्व है। जो कभी रूपान्तर को प्राप्त करके व्यभिचरित होता है वह सत् नहीं हैं। व्यभिचार का अर्थ है अनियत सत्तावाला होना। वह श्रीकृष्ण के विग्रह में नहीं है (अर्थात् उनकी कभी अनियत सत्ता नहीं होती है-नियत सत्ता ही रहती है)। श्रीकृष्ण के

विग्रह को ही परब्रह्म, सर्वेश्वर, सर्वकारणकारण, अनादि और कालकलयिता के रूप में सुना जाता है। ''सत्यव्रतं.. वह सत्यव्रत है, सत्यपरायण है, त्रिकाल सत्य है--इत्यादि श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का पद्य तथा ''सत्यासत्यं.. गोविन्द सत्य से उत्कृष्ट सत्य है अतः सत्यनाम से कहा जाता है-महाभारत के उद्योग पर्व का यह वाक्य इसी आशय को प्रकट करते हैं। तथा श्रुति भी उसे-सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म-ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है ऐसा कहती है।

श्रीकृष्णविग्रहस्योक्तशास्त्र-प्रमाणैः परब्रह्मत्वेन परमसत्यत्वम-व्यभिचारित्वमित्यर्थः। परब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रं च तद्विग्रहस्यैव परब्रह्मत्वं वक्ति-''यदा पश्यः''इत्यादि श्रुतेः। महाप्रलयादिष्वपि तस्यावशिष्टत्वोक्तेः। चिद्रूपत्वं लक्षयति-स्वप्रकाशत्वेन परप्रकाशकत्वमिति। ''तस्य भासा सर्वमिदं विभाती''ति श्रुतेः। ''तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं'' इति श्रुत्यन्तराच्च। न च वाच्यं परब्रह्मण एव तत्त्वं श्रुतिभिः प्रतिपाद्यते-नतु श्रीकृष्णविग्रहस्येति। चेत्तत्तु श्रुतिसिद्धम्-''योऽसौ-परं ब्रह्म गोपालः,'' ''वनमालिनमीश्वर'' मित्यादितापनीश्रुतेरित्युक्तमेव। किञ्च श्रीकृष्णविग्रहः परैर्न प्रकाश्यत इत्यत्र ''यमेवैष वृणुते.''इत्यादिश्रुतिरपि प्रमाणमित्याह। इतिहासपुराणरूपवेदार्थोपबृंहणाच्च तद्विग्रहस्य सच्चिदानन्दघनस्वरूपस्य तत्त्वं सिद्धमित्याशयः। आनन्दरूपत्वं लक्षयति-सर्वांशेननिरूपधिपरम-प्रेमास्पदत्वमिति। आनन्दरूपत्वस्य तथात्वमेव विनिगमकमित्यर्थः। ननु नित्यदंपतीरूपेणावस्थितस्यैकस्मिन्नेव ब्रह्मस्वरूपे स्वरूपतद्घटकशक्तिधर्मात्मके आत्मात्मीयसंबंधकल्पनेन भेदाभेदकल्पनमयुक्तम्। ''ब्रह्मस्वरूपं भिन्नाभिन्नं, स्वरूपतच्छक्तिधर्मवैभवावच्छेदकद्वयात्मकत्वात्''-इत्युक्तं स्यात्तथा सति। ननु-अस्तु नाम तथा, कानुपपत्तिरिति चेत्प्रष्टव्यो भवान्-परब्रह्मणः सच्चिदानंदत्वस्वरूपत्वं शक्ति- सापेक्षं तन्निरपेक्षं वा? नान्त्यः, घटस्यापि तथात्वप्रसंगात्। आद्यश्चेदिष्टापत्तिः यत्कृता हि ''भगवत्ता''इत्यादिना स्वरूपतद्धर्मवैभवस्य स्वरूपशक्तेक्त्युपजीवित्वाच्छक्तिश्चोपजीव्यत्वाच्च। नहि औष्ण्यादिधर्मप्रत्याख्याने स्वरूपनाम किञ्चिद्वस्त्ववतिष्ठते। अन्यथा मायावादिमतप्रवेशात्। नहि स्वरूपे स्वरूपघटकशक्तिनिरपेक्षा-नन्दत्वज्ञातृत्वादिधर्मः कथमपि संभवति। तस्मात्स्वरूपे भिन्नाभिन्नत्वमननं

वैष्णवसिद्धान्तहानिकरमितिसिद्धम्। अचिन्त्या खल्वित्युक्तेः। पारिशेष्यात्स्वरूपघटकशक्तिमद्ब्रह्मैव स्वरूपद्वैधीकरणे दम्पतीरूपेणावतिष्टत अनादित एवेति राद्धान्तः। ''स इममेवात्मानं'' इति श्रुतेः।

शास्त्र के इन प्रमाणों से परब्रह्म होने से श्रीकृष्ण का विग्रह परम सत्यस्वरूप है। परब्रह्म शास्त्र योनि है (अर्थात् शास्त्र ही परब्रह्म को शब्द प्रमाण से सिद्ध करता है) और शास्त्र श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्द विग्रह को ही परब्रह्म कहता है-''यदा पश्य-इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। महाप्रलय आदि में भी वह अवशिष्ट रहता है।

चिद्रूप को लक्षित करते हैं-

स्वप्रकाशरूप से पर प्रकाशक होना ही चिद् है। श्रुति कहती है-उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है। अन्य श्रुति में भी कहा है-तं ऊ देवमात्मबुद्धिप्रकाशं-उस देव को आत्म बुद्धि प्रकाश कहते हैं। श्रुतियों के द्वारा यह परब्रह्म के स्वरूप का ही प्रतिपादन किया जा रहा है न कि श्रीकृष्ण के विग्रह का-ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि श्रुति वचनों से यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण के विग्रह का ही यह वर्णन है जैसे कि तापनी श्रुति में कहा गया है-''योऽसौ..'' जो यह गोपाल है वह पर ब्रह्म है-अथवा जो यह पर ब्रह्म है वह गोपाल है ''वनमालिनमीश्वरम्'' वनमालाधारी ईश्वर को।

श्रीकृष्ण का विग्रह पर से प्रकाशित नहीं होता है (पर से प्रकाशित न होने का अर्थ है, बाह्य कारण-तप, ज्ञान, इन्द्रिय, शास्त्र श्रवण से प्रकाशित न होना है)। अपितु ''यमेवैष वृणुते'' श्रीकृष्ण जिसको वरण करते हैं उससे प्रकाशित होता है-यह श्रुति का प्रमाण है। वेदार्थ को उपबृंहण करने वाले इतिहास और पुराण से भी यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द विग्रह है।

आनन्दरूप का लक्षण करते हैं-वह श्रीकृष्ण सर्वांशरूप से निरुपधि परम प्रेमास्पद है। परमप्रेमास्पद होना ही आनन्दरूप का निर्धारक है।

ननु नित्य दम्पती रूप से अवस्थित एक ही ब्रह्मस्वरूप में स्वरूप एवं उसके घटक शक्ति धर्म रूप आत्मा एवं आत्मीय सम्बन्ध की कल्पना से भेदाभेद कल्पना युक्ति संगत नहीं है। भेदाभेद रूप कल्पना करने पर-''ब्रह्मस्वरूप भिन्नाभिन्न है, स्वरूप तथा उसकी शक्ति रूप धर्मवैभवरूप

अवच्छेदक के द्वयात्मक होने के कारण-ऐसा कहा जाएगा। अब कहते हैं तब इससे क्या, वैसा ही हो, इसमें क्या असंगति है? इस पर हम आपसे पूछते हैं-परब्रह्म का सच्चिदानन्द स्वरूप शक्ति सापेक्ष है अथवा शक्ति निरपेक्ष? अन्तिम नहीं हो सकता, यदि ब्रह्म शक्ति निरपेक्ष होकर सच्चिदानन्द स्वरूप होगा तब घट में यह सच्चिदानन्द स्वरूप का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। अब यदि प्रथम विकल्प को आप मानते हैं अर्थात् शक्ति सापेक्ष को तब आपत्ति इष्ट है-''यत्कला हि भगवत्ता'' इत्यादि के द्वारा स्वरूप तथा उसके धर्म वैभव के स्वरूप शक्ति से उपजीवी होने के कारण तथा शक्ति के उपजीव्य होने के कारण। उष्णता आदि धर्मों के निषेध करने पर स्वरूप नाम की कोई वस्तु ठहर नहीं पाएगी। (अर्थात् उष्णता के बिना अग्नि का कोई स्वरूप नहीं है)। अन्यथा मायावादी के मत का प्रवेश हो जाएगा। स्वरूप में स्वरूप घटक शक्ति से निरपेक्ष आनन्दत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्म किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हैं। यही बात ''अचिन्त्या खलु'' आदि उक्ति के द्वारा कही गई है। पारिशेष्य न्याय से स्वरूप घटक शक्तिमान् ब्रह्म ही स्वरूप को दो भागों में विभक्त करने पर अनादि काल से दम्पती रूप से स्थित रहता है-यही सिद्धान्त है। ''स इममेवात्मानं''-उसने इस आत्मा को दो रूप में विभक्त किया-यह श्रुति प्रमाण है।

इसलिए स्वरूप में भिन्नाभिन्नत्व मानना वैष्णव सिद्धान्त के लिए हानिकर है यह सिद्ध हुआ।

(सम्प्रदायधुरन्धराः केचित्तु पूर्वाचार्याः स्वरूपगुणानां स्वरूपेणा-त्यन्ताभेदम् अस्वीकुर्वन्तस्तेषां गुणानां स्वरूपेण सह भेदाभेदात्मक-सम्बन्धमेवाभ्युपगच्छन्ति, स्वरूपगुणानां भक्तवात्सल्य-कारुण्यादीनां भगवता कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं शक्यत्वात्। इति चेत्स्यान्नाम। तेषां स्वरूपगुणानां नित्यानामाविर्भावतिरोधानमात्रेणोक्तसंबन्धस्य प्रतीतिमात्रत्वात्। नहि ते स्वरूपगुणा अनित्या आगन्तुकाः कादाचित्का वेति अभ्युपगन्तुं शक्यते। भगवद्विग्रहवत्तेषामपि नित्यत्वेन स्वरूपेऽव्यभिचरितत्वात्। अन्यथा नित्यायाः श्रीकृष्णेन सूर्य्यतत्प्रभावत्स्वरूपेण नित्याविनाभावसंबद्धायाः श्रीराधिकाया अपि तेन भेदाभेदसंबन्धः सुवचो भवेत्। किन्त्वेतदभ्युपगमे शतशस्तयोः सर्वांशेन अभेदोक्तिर्व्याहन्येत। तच्चानिष्टम्। तस्मात् ''अचिन्त्याः खलु ये

भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यत्स्यात्तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।।'' इति शास्त्रवचनान्नियामकात् स्वरूपतद्गुणानां भेदाभेदादिना अचिन्त्यत्वमेव निश्चीयते। सितोपलाया मार्धुर्य्यवत्स्वरूपगुणानामपि भगवत्स्वरूपग्रहणेनैव ग्राह्यत्वात्। भगवत्स्वरूपस्य मानसप्रत्यक्षेण चाक्षुषप्रत्यक्षेण वा, भगवद्गुणा-नामपि ग्राह्यत्वादिति संक्षेपः।)

(सम्प्रदाय के धुरन्धर कुछ पूर्वाचार्यों ने स्वरूप गुणों का स्वरूप के साथ अत्यन्त अभेद को अस्वीकार करते हुए उन गुणों का स्वरूप के साथ भेदाभेदात्मक सम्बन्ध स्वीकार किया है। भगवान् अपने स्वरूप गुणों यथा भक्तवात्सल्य, कारुण्य आदि का अपने साथ योग करने, न करने तथा अन्यथा करने में समर्थ हैं यदि ऐसा स्वीकार करते हैं तब उत्तर देते हुए टीकाकार लिखते हैं कि स्वरूप गुण नित्य हैं उनका आविर्भाव-तिरोभाव मात्र होता है-इसी से उनके भेदाभेद सम्बन्ध की प्रतीति होती है (अर्थात् स्वरूप गुण स्वरूप के साथ नित्य अत्यन्ताभेदरूप से रहते हैं)। स्वरूप गुणों को अनित्य, आगन्तुक, कदाचित् आने वाले नहीं माना जा सकता। भगवद्विग्रह के समान नित्यरूप से स्वरूप में अव्यभिचरित रूप से रहते हैं। अन्यथा सूर्य और उसकी प्रभा के समान नित्य अविनाभावरूप से श्रीकृष्ण के साथ नित्य रहने वाली श्रीराधिका का भी भेदाभेद सम्बन्ध सरलता से कहा जा सकता है। ऐसा स्वीकार करने पर (भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार करने पर) सर्वांशरूप से उन दोनों में अभेद प्रतिपादित करने वाली सैकड़ों उक्तियाँ बाधित होंगी और वह अनिष्ट होगा। इसलिए ''जो अचिन्त्य भाव हैं उनको तर्क के सहारे नहीं जोड़ना चाहिए। अचिन्त्य उसे कहते हैं जो प्रकृति से परे हो। इस शास्त्र के वचन के आधार पर भेदाभेद के द्वारा स्वरूप और उसके गुणों का भी अचिन्त्यत्व ही निश्चित होता है (अर्थात् स्वरूप और तद्गुण गुणों में भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए ऐसा करने पर वे अचिन्त्य ''प्रकृति से परे होने के कारण हो जाएँगे तथा उनका तर्क के आधार पर योग नहीं करना चाहिए'' सितशर्करा (सितोपला) के माधुर्य के समान स्वरूपगुण भी भगवत्स्वरूप के ग्रहण से ही ग्राह्य होते हैं (अर्थात् अभेद रूप से ही ग्राह्य हैं) भगवत्स्वरूप मानस प्रत्यक्ष अथवा चाक्षुष प्रत्यक्ष से ग्राह्य है उसी प्रकार भगवद्गुण भी मानस वा चाक्षुष प्रत्यक्ष से

ग्राह्य हैं)।

शिशुपालदुर्योधनकंसपूतनाघबकादीनां श्रीकृष्ण-विग्रहः परमप्रेमास्पदत्वेन कुतो न स्फुरतीति चे 'द्यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-' इतिश्रुतिरत्रापि तस्य तत्त्वेन स्फुरणे सम्यक् चरितार्थेत्यवगन्तव्यम्। तद्विषयकतादृशप्रेमापि तदनुग्रहेणैवाविर्भवतीत्यर्थः। सोपाधिकप्रेम्णस्तु न सर्वांशेन तद्विग्रहस्य प्रियता। उपाधेश्चापि प्रियत्वात्। उपाधिप्रियत्वेनैव तत्प्रियत्वात्। यदा तु तद्विग्रहस्यैवात्मताऽनन्य-ममताविषयत्वे तदैव तस्य निरुपाधिपरमप्रेमास्पदत्वस्फूर्त्तिः। तदतिरिक्तस्वसुखानुसन्धानात्मकममतया प्रेम्णः सोपाधिकत्वमित्यर्थः।

उक्तविवेचनस्य फलितार्थं निगमयति-तदेवमिति तदेवं तस्य सच्चिदानन्दविग्रहत्वे सिद्धे, विग्रह एवात्मा तथात्मैव विग्रह इति सिद्धमिति। एतेन निर्धर्मक-निराकार-परमात्म-वादिनः पक्षो व्यावृत्तः। निराकारचिज्ज्योतिषो विग्रहब्रह्मणः प्रकाशत्वेनाभ्युपगमात्।तथात्वेऽपि (अर्थाद्विग्रहत्वेऽपि) तस्मिन् जीववद् देह-देहिविभागेनेत्याह-अत जीववदिति। उक्तार्थे श्रीभागवतदशमस्थप्रमाणं पठति-कृष्णमेनमिति। अयं कृष्णो विग्रहरूप एव सर्वात्मेति विग्रहस्यैव सर्वात्मत्वमुक्तं, ''अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट'' इति श्रुतेः। अत्र पुरुषाकारत्वेऽपि, 'पूर्णत्वात्पुरिशयनाच्च पुरुष' इति व्युत्पत्त्या, पुरुषशब्देन तस्य विग्रहाकारत्वेऽपि पूर्णत्वं ध्वनितम्। ननु सर्वात्मनो व्यापकस्य कथं देहित्वमिति चेदाह श्रीमुनीन्द्रः-देहीवाभाति माययेति।

द्यर्थकोऽयमत्र मायाशब्दः। ''मायादम्भे कृपायाञ्च'', ''माया तु वयनं ज्ञानं''-इति कोशात्। तत्र दम्भार्थपक्षे-मायया अन्तःस्थितदम्भेन हेतुना तद्वतामेव देहीवाभाति। कृष्णोऽयं देही अस्मद्वदिति प्रतीतिविषयो भवतीत्यर्थः। कृपार्थपक्षे तु-तत्कृपाभाजनानां देही 'इव', न तु जीववद्देही किन्तु साक्षात्स्वयं सर्वात्मेति 'इव'शब्दस्य स्वारस्यम्। ननु ''अविजिघत्सोऽ-पिपास''इत्यादिना श्रुत्या सर्वात्मनः पिपासा-विजिघत्सा-पाप्मादिराहित्यमुक्तं, कृष्णे तु तत्तत्प्रतीतिरिति चेदाह-तस्य देहिवल्लीला तु कृपापरवशतयैवेति। न तु देहिवत् प्राकृतविग्रहहेतुकीत्यर्थः। स्वरूपतोऽपास्तसमस्तदोषत्वात् नित्यनिर्विकारत्वाच्च। ननु-''जहौ तच्च कलेवरम्''इत्यादिना श्रीमद्भागवत

एव तावत्तस्य शरीरत्यागश्रवणात् कथं देहदेहिविभागाभावः श्रीकृष्णविग्रहे इति चेत् समाधानं शृणु तदुक्तेरसुरव्यामोहनार्थत्वं विजानीहि। अन्यथा- ''योऽसौ परं ब्रह्मगोपालः, कृष्णस्तु भगवान् स्वयं, त्वय्येव नित्यसुखबोधतनौ, कृष्णमेनमवेहि त्वं, यदात्मिको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः, यो वेत्ति देहं कृष्णस्ये''त्यादिनां बाधप्रसङ्गात्। तस्माज्जहावित्यस्य लोकलोचनप्रत्यक्षीकरणं, आच्छादयामास, तत्याजेत्यर्थः।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रीकृष्ण का विग्रह जिस प्रकार भक्तों के लिए परमप्रेमास्पद है उसी प्रकार दुर्योधन-शिशुपाल-पूतना-बकासुर आदि के लिए परम प्रेमास्पद के रूप में क्यों नहीं स्फुरित होता- तो इसका उत्तर यह है कि श्रुति में कहा गया है कि ''परमात्मा जिसको अनुग्रह पूर्वक वरण करते हैं उसी के द्वारा वह प्राप्य है। भगवद्विषयक परम प्रेम का आविर्भाव भी उसके अनुग्रह से ही सम्भव है। उपाधिग्रस्त प्रेम से तो सर्वांश रूप से उसके विग्रह की प्रियता नहीं होती है। उपाधिग्रस्त प्रेम में उपाधि भी प्रिय होती है। उपाधि की प्रियता से ही वह (श्रीकृष्ण) प्रिय होते हैं।

श्रीकृष्ण के विग्रह की निरुपाधिक परम प्रेमास्पद के रूप में स्फुरणा भी तब होती है जब वह विग्रह ही आत्म रूप में अनन्य ममता का विषय बने। इसके अतिरिक्त स्वसुख के अनुसन्धानात्मिकी ममता से प्रेम सोपाधिक ही होता है।

उक्त विवचेन का फलितार्थ प्रकट करते हैं--''तदेवमिति (मूल)-

इस प्रकार उस श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्द विग्रह सिद्ध होने पर विग्रह ही आत्मा है तथा आत्मा ही विग्रह है-यह सिद्ध होता है। इस विवेचन से परमात्मा को निर्धर्मक और निराकार मानने वालों का पक्ष समाहित हो जाता है निराकार चिज्ज्योतिस्वरूप विग्रह ब्रह्म को प्रकाशरूप से स्वीकार करने के कारण। वैसा होने पर भी (अर्थात् विग्रहवान् होने पर भी) उसमें जीव के समान देह-देही का विभाग नहीं है (जैसे जीव देही है तथा शरीर देह है वैसा नहीं है) इसीलिए मूल में-जीववद् देहित्वं तस्य नेत्यपि-कहा गया है। इस अर्थ को पुष्ट करने के लिए भागवत के दशम स्कन्ध का प्रमाण उपस्थित करते हैं-''कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्'' यह कृष्ण विग्रह रूप

ही सर्वात्मा है विग्रह (सच्चिदानन्दरूप) को ही सर्वात्मा कहा गया है। श्रुति का वचन है-अंगुष्ठमात्रः पुरुषः.. जनों के हृदयों में अंगुष्ठमात्र पुरुष सदा सन्निविष्ट रहता है। पुरुषाकार होने पर भी ''पूर्ण होने के कारण तथा पुरि अर्थात् देह में शयन करने के कारण पुरुष'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर पुरुष शब्द से विग्रहाकार होने पर भी उसका पूर्णत्व ध्वनित होता है। सर्वात्मा तथा व्यापक उस श्रीकृष्ण का देह धारित्व कैसे सिद्ध होता है यदि यह प्रश्न हो तो मुनीन्द्र (श्रीशुकदेव) ने कहा है-यह श्रीकृष्ण माया से देही के समान प्रतीत होता है।

यह माया शब्द दो अर्थों में है। ''माया दम्भे कृपायाञ्च''-माया का अर्थ दम्भ भी है तथा कृपा अर्थ भी। कोश में कहा है-माया बनावटी ज्ञान है। दम्भ पक्ष में (श्रीकृष्ण माया से देही के समान प्रतीत होते हैं)। माया अर्थात् अन्तःस्थित दम्भ से, दम्भ वालों को देहधारी के समान प्रतीत होता है-अर्थात् श्रीकृष्ण हमारे समान ही देहधारी हैं-ऐसा प्रतीत होता है (मायाग्रस्त जनों को) माया का कृपा अर्थ करने पर श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त जनों को - देही इव देहीआत्मा के समान, न कि जीववत् देहधारी के समान किन्तु वह स्वयं साक्षात् सर्वात्मा है-ऐसा ज्ञात होता है-यही 'इव' शब्द का स्वारस्य है। ''अविजिघत्सोऽपिपास'' ''भूख प्यास रहित'' इत्यादि श्रुति के द्वारा सर्वात्मा को भूख, प्यास, पाप आदि से रहित कहा है।

यदि कोई कहे कि कृष्ण में तो भूख, प्यास की प्रतीति होती है तब इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं कि श्रीकृष्ण की देहधारी के समान लीला तो भक्तों पर कृपा करने के लिए है न कि अन्य देहधारियों के समान प्राकृत कार्यों के लिए। ''स्वरूप से ही समस्त दोषों का परिहार करने के कारण तथा नित्य निर्विकार होने से'' जहौ ''तच्च कलेवरम्'' श्रीकृष्ण ने उस कलेवर (देह) को छोड़ दिया-भागवत की इस उक्ति द्वारा ज्ञात होता है श्रीकृष्ण ने शरीर त्याग किया तब यह कैसे कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण के विग्रह में देह और देही का विभाजन नहीं है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए लिखते हैं कि यह उक्ति असुरों के व्यामोहन के लिए है-ऐसा समझना चाहिए। अन्यथा-''जो यह पर ब्रह्म गोपाल'' ''कृष्ण स्वयं भगवान् है'' ''तुझ नित्यसुख-बोध शरीर में ही'' ''तुम इसे कृष्ण समझो'' ''जिस रूप

वाला भगवान् है उस रूप में अभिव्यक्ति है'' ''जो कृष्ण की देह को समझता है'' इत्यादि उक्तियों का बाध उपस्थित हो जाएगा। अतः ''जहौ तच्च कलेवरम्'' में जहौ का अर्थ है जो अब तक लोक लोचन से प्रत्यक्ष होते थे उस स्वरूप को छिपा लिया, अथवा उस स्वरूप को त्याग दिया।

तदेवमस्य तथा तथा सद्रूपत्वादिलक्षण-वस्तुनः श्रीकृष्णरूपत्वे सिद्धेऽनन्तलीलाभिनिविष्टत्वेऽपि मुख्यत्वं गोविन्द एवेत्याह-गोविन्द इति ।। तस्यापि गवेन्द्रत्ववृन्दावनेन्द्रत्वोभयलीलाभिनिविष्टत्वेऽप्युत्तरस्यैव तदिति ।। यथा गोपालतापन्यां तमेतमात्मानं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनमिति ।। तथा अत्राप्युत्तरत्र-लक्ष्मीसहस्रशत-संभ्रमसेव्यमानमित्यारभ्य श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुष इत्युपक्र-मोपसंहाराभ्यां वक्ष्यमाणायाः स्तुतेस्तत्रैव तात्पर्य्याच्च। एवं च भक्तवासनानुसारेण क्वचित्प्रकाशमानेऽपि चतुर्भुजत्वे द्विभुजस्यैव मुख्यत्वमिति ज्ञेयम् ।। तापन्यां-सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।। द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरमिति ।।

इस प्राकर इस सद्रूपत्वादि लक्षण वस्तु के श्रीकृष्ण रूप सिद्ध होने पर (अर्थात् सच्चिदानन्दविग्रह ही श्रीकृष्ण है-यह सिद्ध होने पर) तथा उस श्रीकृष्ण के अनन्त लीलाओं में अभिनिविष्ट होने पर भी मुख्यत्व गोविन्द का ही है। गोविन्द के भी गवेन्द्रत्व और वृन्दावनेन्द्रत्व-इन दोनों लीलाओं में अभिनिवेश होने पर उत्तरलीला अर्थात् वृन्दावनेन्द्रत्व लीला का ही प्राधान्य है। जैसा गोपालतापनी में कहा है-

''वृन्दावनरूपी देववृक्ष के नीचे विराजमान सच्चिदानन्द विग्रह आत्मरूप उस गोविन्द की (मैं स्तुति करूँगा) तथा यहाँ आगे भी ''लक्ष्मी को सैंकड़ों हजार संघों से सेव्यमान यहाँ आरम्भ करके-श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः'' पर्यन्त-उपक्रम और उपसंहार के द्वारा स्तुति का तात्पर्य भी वृन्दावनेन्द्रत्व में ही है।

भक्तों की वासना के अनुसार कहीं चतुर्भुज स्वरूप के प्रकाशित होने पर भी द्विभुजस्वरूप का ही मुख्यत्व होता है। तापनी में-

विकसित कमल नयन, मेघ के सदृश कान्ति वाले, विद्युत् के सदृश अम्बर वाले, द्विभुज, ज्ञानमुद्रा सम्पन्न, वनमाली ईश्वर को चित्त से स्मरण

करता हुआ मुक्त हो जाता है।

वराहतन्त्रे श्रीगोविन्दवृन्दावनाख्ये पटले--

नराकृतिर्नित्यरूपो वंशीवाद्यरतः सदा।। इन्द्रनीलमणिस्वच्छो द्विभुजो मधुराकृतिः।। प्रेमानन्दमयः शुद्धः सर्वदा नवयौवनः।। विष्णुधर्मोत्तरे।। द्विभुजं मेघसंकाशं गोविन्दं पुरुषोत्तममिति।। अथैतस्यामूर्त्तादपि परमत्वं श्रीदशमे श्रीदेवकीस्तुतौ।। रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।। सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः।। अस्यार्थः।। ननु सारांशविवेके सति जगदपि ब्रह्मत्वेनोपलभ्यते तर्हि केन विशेषः श्रीभगवत्मूर्त्तेस्तत्राह--साक्षादिति।। मायानावृतत्वेनेत्यर्थः।। तस्मादिदं व्यक्तत्वं षाड्गुण्यं कृपादिविकारित्वमंगप्रत्यङ्गविशेषवत्त्वं करचरणादिचेष्टासौष्ठवं च स्वरूपधर्मवैभवमेव।। अतः सत्तामात्रं केवलधर्मिरूपम्।। ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यम्।। ब्रह्म सर्वतोऽपि बृहत्।। आद्यं जन्मरहितम्।। दृष्टदोषप्राकृततत्तद्धर्मनिरासेन ज्ञानिनः प्रतिप्रकाशमानं तद्वस्तु यद्रूपं श्रीविग्रहं प्राहुः स तद्रूपो भवान्।। न चैतदपि तद्वद्दोषार्हं भवेत्।। अदृष्टदोषत्वात्।। तत्तद्दोषाणां विद्वदनुभवार्थं शास्त्रे निराकृतत्वाच्चेत्यभिप्रेत्य स्वयमपि निराकरोति।। तत्र जन्मादिराहित्यं साक्षादित्यनेनैव।। तत्तन्निजपरिच्छदवता स्वस्वरूपेणैव प्राकट्यात्।। परिच्छिन्नत्वं निराकरोति।। विष्णुरिति।। व्यापकमूर्तिरित्यर्थः।।

अव्यक्तत्वम्-अध्यात्मदीप इति।। प्रत्युतास्माकं बुद्ध्यादिकमिदमेव प्रकाशयते, ततो ब्रह्मवत्स्वयमेव प्रकाशते।। ततश्च न केनापि व्यज्यते इति।। शब्दश्लेषेणात्मानमधिकृत्य वर्त्तमाना अध्यात्मानः।। आत्मारामाः।। तानपि दीपयति परमानन्देनोल्लासयतीति ब्रह्मतोऽपि परमाविर्भावत्वं दर्शितम्।। साक्षादित्यनेन च तथैव व्यञ्जितम्।। स्फुटास्फुटत्वेन तारतम्यादिति दिक्।। एवमेव हयशीर्षपंचरात्रे।। आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्त्तश्चामूर्त्त एव च।। अमूर्त्तस्याश्रयो मूर्त्तः परमात्मा नराकृतिरिति।। तथा च स्कान्दे निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैर्विहीनः।। आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादिः सर्वत्रगः स्वगतभेदविवर्जितात्मा।।

अस्यार्थः ।। निर्गता दोषा यस्मात्स चासौ पूर्णगुणविग्रहश्चेति ।। भक्तचित्तसंकोचजनकत्वं दोषत्वम् ।। ते चोक्ता --१. वैष्णवतंत्रे- अष्टादशमहादोषै रहिता भगवत्तनुः ।। सर्वैश्वर्य्यमयी सत्यविज्ञाना-नन्दरूपिणी ।।१ ।। विष्णुयामले ।। मोहस्तन्द्राभ्रमो रुक्षरसता काम उल्बणः ।। लोलता मदमात्सर्ये हिंसा खेदपरिश्रमौ ।। असत्यं क्रोध आकांक्षा आशंका विश्वविभ्रमः ।। विषमत्वं परापेक्षा दोषा अष्टादशोदिताः ।। तथा च प्रयोगः--भगवद्विग्रहो नित्यः ।। अभौतिकत्वात् ।। अनित्यत्वव्याप्तेश्चापौरुषेयशब्दैर्बाधितत्वात् ।। नृकपालं शुचीतिप्रमावत् ।। ते च शब्दाः ।। चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो यं मनो विदुरित्यादयः ।।

वराहतन्त्र में श्रीगोविन्दवृन्दावन नामक पटल में--

नराकृति, नित्यस्वरूप, सदा वंशीवाद्य में रत, इन्द्रनीलमणि के समान स्वच्छ, द्विभुज, मधुराकृति प्रेमानन्दमय शुद्ध और सर्वदा नवयौवन वाले श्रीकृष्ण (वन्दनीय) हैं।

विष्णुधर्मोत्तर में--

द्विभुज, मेघसदृश, गोविन्द, पुरुषोत्तम को (नमन करते हैं)।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की देवकी स्तुति में इसे अमूर्त से भी परम कहा गया है।

जिस तुम्हारे रूप को आद्य, अव्यक्त, ब्रह्मज्योति, निर्गुण, निर्विकार, सत्तामात्र, निर्विशेष और निरीह कहा गया है, वह तुम अध्यात्म दीप साक्षात् विष्णु हो।

इसका अर्थ है-सारांश का विवेक होने पर जगत् भी ब्रह्म रूप में उपलब्ध हो जाता है। तब किससे विशेष रहता है? भगवन्मूर्ति से विशिष्ट रहता है-''साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः'' कहने से यह ज्ञात होता है। माया के हटने से यह सम्भव होता है।

इस कारण से श्रीकृष्ण का व्यक्त स्वरूप, षाड्गुण्यत्व, कृपादि का विकारित्व, अंग-प्रत्यंगों का विशेषरूप और कर-चरण आदि की चेष्टा का सौष्ठव स्वरूप धर्म का वैभव है। धर्मी का स्वरूप केवल सत्तामात्र है इसीलिए यह स्वप्रकाश चैतन्य ज्योति ही है। सर्वत्र बृहत् भाव से विद्यमान को ब्रह्म कहते हैं। आद्य इसलिए कहा गया है कि वह जन्म से रहित है।

दृष्टदोष वाले प्राकृत धर्मों के निराकरण से ज्ञानियों के प्रति प्रकाशमान उस वस्तु का जो रूप है उसे ही श्रीविग्रह कहा गया है, वही उसका रूप है। यह आपका (श्रीकृष्ण का) दोष योग्य नहीं है क्योंकि उसमें दोष देखे नहीं हैं। यद्यपि उन-उन दोषों का विद्वानों के अनुभव के लिए शास्त्र में निराकरण किया गया है लेकिन ग्रन्थकार उनका स्वयं भी निराकरण करता है। उसके लिए श्लोक में जन्मादिराहित्य और साक्षात्-ये शब्द दिए गए हैं। जन्मादिरहित कहने का तात्पर्य है कि अपने-अपने परिच्छद वाले स्वरूप से प्रकट होना है। परिच्छिन्नत्व अर्थात् सीमाबद्धत्व का निराकरण करने के लिए श्लोक में विष्णु पद कहा गया है जिसका अर्थ है सबको अपने में व्याप्त करने वाला अर्थात् व्यापकमूर्ति।

अव्यक्त कहने का तात्पर्य है-अध्यात्मदीप। हमारी बुद्धि आदि को यही प्रकाशित करता है तथा ब्रह्म के समान स्वयं भी प्रकाशित होता है इसलिए यह किसी अन्य से व्यक्त नहीं होता है-अतः अव्यक्त कहा जाता है (जैसे घट दीपक से व्यक्त-प्रकाशित होता है किन्तु दीपक घट को भी प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी प्रकाशित होता है वैसे ही यह श्रीकृष्णतत्त्व है)।

अध्यात्मदीप में आए हुए पद 'अध्यात्म' का अर्थ है-आत्मा-नमधिकृत्य वर्त्तमाना-आत्मा को विषय बनाकर रहने वाले आत्माराम। उन आत्मारामों को दीप्त करता है-अर्थात् परमानन्द से उल्लसित करता है-अतः यह ब्रह्म से भी उत्कृष्ट आविर्भाव है-यह ''अध्यात्मदीप'' पद से व्यक्त किया गया है। साक्षात् इस पद से भी यही बात व्यञ्जित होती है। स्फुट और अस्फुट के तारतम्य से (श्रीकृष्ण आत्मारामों को उनके भावतारतम्य के अनुसार स्फुट और अस्फुट रूप से व्यञ्जित करते हैं)। इसी प्रकार हयशीर्ष पञ्चरात्र में कहा गया है-आनन्द मूर्त और अमूर्त भेद से दो प्रकार का कहा गया है।

नराकृति मूर्त्त परमात्मा अमूर्त्त का आश्रय है। स्कन्दपुराण में--

(श्रीकृष्ण) दोषरहित, पूर्णगुणविग्रह, आत्मतन्त्र निश्चेतनात्मक शरीर गुणों से विहीन, आनन्दमात्र हाथ, पैर-मुख-उदरादि सर्वगामी, स्वगत भेद रहित स्वरूप वाला है। इसका अर्थ है-जिससे समस्त दोष चले गए हैं ऐसा

तथा पूर्णगुणविग्रहस्वरूप परमात्मा है। दोष का अर्थ है-भक्तों के चित्त को संकुचित करना। दोषों का वर्णन-वैष्णव तन्त्र में किया गया है-''भगवान् का शरीर अट्ठारह महादोषों से रहित है। तथा सर्वैश्वर्यवान् और सत्य,विज्ञान और आनन्द रूपी है।''

विष्णुयामल में--

मोह, तन्द्रा, भ्रम, रूक्षता, काम, लोलता (चञ्चलता), मद, मात्सर्य, हिंसा, खेद, परिश्रम, असत्य, क्रोध, आकांक्षा, आशंका, विश्वविभ्रम, विषमता, परापेक्षा-ये अट्ठारह दोष कहे गए हैं।

और प्रयोग (भगवद्विग्रह को नित्यसिद्ध करने की प्रक्रिया) भगवद्-विग्रह नित्य है। अभौतिक होने के कारण (अभौतिक अर्थात् पञ्चभूतों से न बना हुआ)। अनित्यत्व की व्याप्ति अपौरुषेय शब्दों से बाधित हो जाती है। नृक्पाल (मनुष्य का कपाल) शचि (पवित्र) है-इस प्रमा (यथार्थानुभव) ज्ञान के समान।

वे अपौरुषेय शब्द हैं-जिसे चक्षु का चक्षु, श्रोत्र (कान) का श्रोत्र और मन का मन समझो।

न चापाणिपाद इत्यादिश्रुत्यादावेव पाण्याद्यभावः श्रूयत इति वाच्यम् ।। प्राकृतपाणिपादादीनामेव निषिद्धत्वात् ।। आनन्दमात्र-करपादेत्यादिवक्ष्यमाणाच्च । ननु भयपलायनादिश्रवणात् पाल्यत्वावगमाच्च पारतन्त्र्यप्रतीतेः कथं तथात्वमिति तत्राह ।। आत्मतन्त्र इति ।। स्वयमेव पिता मातेत्यादिपुराणवाक्याद्दयादिकं भक्तिपोषायैवेति भावः ।। एवं सन्दर्शिता ह्यंग हरिणा भक्तवश्यतेति तत्रैव श्रीमुनीन्द्रोक्तेः ।। ननु तथात्वे शरीरित्वासंभव इति चेत्सत्यम् ।। निश्चेतनात्मकेत्यादि ।। तदुक्तं श्रीविष्णुपुराणे ।। सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।। पाद्मे च ।। योऽसौ निर्गुण इत्युक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः ।। प्राकृतैर्हेयसंयुक्तै-र्गुणैर्हीनत्वमुच्यते ।। इति ।। ब्राह्मे ।। अनामाऽसौऽप्रसिद्धित्वादरूपो भूतवर्जनादिति ।। योगभास्करे च ।।

एकः सकलमुख्यत्वादानन्दाद्वैततोऽद्वयः ।।
आत्मा ज्ञानमयत्वाच्च व्यापकस्तु स्वशक्तितः ।।
आकाशदेहो नीलत्वाद्व्यापकत्वादनावृतः ।।

अरुणो निर्गुणो हीनः प्रकृतेर्गुणरूपयोः ।।
सूर्य्यादिरप्रकाश्यत्वात्स्वयंज्योतिरुदाहृतः ।।
त्रिकालावस्थितेः सत्यो ह्यनन्तः कालरूपतः ।।
योगमायानियंतृत्वात्स्थूलसूक्ष्मस्वरूपवान् ।।
भगवान् भगयुक्तत्वादीशः सर्वेश्वरत्वतः ।।
पुरुषोऽतीतमाय-त्वादद्वयत्वात्समः सुहृत् ।।
अक्रियोऽयमनासक्त्या ज्ञानत्वाच्च निरञ्जनः ।।
विहीनः प्राकृतैर्दोषैः शास्त्रीयैरित्यगोचरः ।।
अवतारसहस्राणि कृष्णस्य परमात्मनः ।।
अवतारी ततो ज्ञेयः स्वयंरूपः परात्पर इति ।।

अथवा वासुदेवाध्यात्म्ये ।।

अप्रसिद्धेस्तद्गुणनामगुणोऽसौ प्रकीर्त्तितः ।।
अप्राकृतत्वाद्रूपस्य ह्यरूपोऽसावुदीर्य्यते ।।
सम्बन्धेन प्रधानस्य हरेर्नास्त्येव कर्तृता ।।
अकर्त्तारमतः प्राहुः पुराणं पुराविदः ।।
अदृश्ये भावना नास्ति दृश्यमानो विनश्यति ।।
इत्यादिवचनं तत्तुजगद्ब्रह्मपरं मतम् ।।
अदृश्यं केवलं ब्रह्म जगद्दृश्यमिदं मतम् ।।
ईश्वरस्तु तयोर्भिन्नः सच्चिदानन्दविग्रहः ।। इति ।।

तदेतदचिन्त्यशक्त्येतिभावः ।।

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्चयइति श्रीदशमोक्तेः ।।

स्वगतेत्यादिकमानन्दमात्रेत्यस्यैव विवरणम् ।। न तु परिकराद्यभेदज्ञापकम् ।। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायात्तत्पर्य्यन्त-धावनमन्याय्यमितिभावः ।। न च ब्रह्मणि साकारत्वासम्भव इति वाच्यम् ।। अधिदैवस्य तथात्वात् ।। तदुक्तमनुमानसमन्वये ।।

सिन्धौ सिन्धुर्मरुद्वायौ वह्नौ वह्निर्धरा क्षितौ ।।
गंगायां च यथा गंगा ब्रह्म ब्रह्मणि मूर्तिमत् ।।
तस्य तस्य च सेतुबन्ध-भीमसेनोत्पत्ति-खाण्डवदाह-धरोद्धार-

भगीरथानुग्रहादौ तथा तथा दृष्टत्वात्।। इति सर्वमनवद्यम्।। तदेवं मूर्त्तस्य नराकृतेः परब्रह्मणः स्वयंभगवत्त्वे साधिते चतुर्भुजत्वादिकमस्यैव प्रकाशविलासादिना सङ्गमनीयम्।।

''अपाणिपादः'' (कर-चरण रहित) इत्यादि श्रुति के द्वारा श्रीकृष्ण में पाणि-पाद का अभाव सुना जाता है-ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि इस श्रुति वचन में प्राकृत पाणि-पाद का ही निषेध है सच्चिदानन्दविग्रह रूप पाणि-पाद का नहीं। आनन्दमात्र कर-पाद आदि का कथन आगे किया जाएगा। (भगवद्विग्रह नित्य है क्योंकि वह अभौतिक है, जहाँ नित्य का अभाव होता है वहाँ अभौतिकत्व का भी अभाव होता है अर्थात् जो अनित्य होता है वह भौतिक होता है जैसे घट, पट, मनुष्य देह आदि। (अपौरूषेय वाक्यों-वैदिक वाक्यों से भगवद्विग्रह को सच्चिदानन्द कहा गया है अतः जहाँ अनित्यत्व भौतिक पदार्थों में रहता है उससे भगवद्विग्रह व्याप्त नहीं है अर्थात् भगवद्विग्रह भौतिक नहीं है अतः अनित्य भी नहीं है)।

प्रश्न होता है कि श्रीकृष्ण के विषय में भय-पलायन आदि भी सुने जाने के कारण पाल्यत्व (पालनीयत्व, रक्षणीयत्व) की प्रतीति होने से पारतन्त्र्य (पराधीनता) की प्रतीति होती है अतः वह स्वतन्त्र कैसे होगा-इसीलिए समाधान हेतु श्रीकृष्ण को ''आत्मतन्त्र'' कहा गया है। पुराणों के वाक्यों से ज्ञात होता है कि वह स्वयं ही पिता और माता है। भयादि का कथन तो भक्ति के पोषण के लिए है। मुनीन्द्र की उक्ति से ज्ञात होता है कि हरि ने भक्तवश्यता (भक्तों के वश में होना) को प्रकट किया है। प्रश्न होता है कि इस प्रकार भक्तपरवश्यता मानने पर शरीरी होना असम्भव है-तो ऐसा कहना ठीक ही है। निश्चेतनात्मक शरीर के गुणों से युक्त होने के कारण। विष्णुपुराण में कहा है-जहाँ प्राकृत गुण हैं वहाँ ईश्वर में सत्त्वादि (सच्चिदानन्द) गुण नहीं होते हैं। और पद्मपुराण में-शास्त्रों में जगदीश्वर कहा है। जो निर्गुण कहा गया है उसके शास्त्रों में जगदीश्वर तात्पर्य है प्राकृत हेय गुणों से रहित। ब्रह्मपुराण में-अप्रसिद्ध होने के कारण अनाम और पञ्चभूतों से रहित होने के कारण अरूप (परमात्मा किसी एक नाम से प्रसिद्ध न होने से अनाम तथा भूतों से रहित होने से रूप रहित) है। और योग भास्कर में--

''परमात्मा समस्त में मुख्य होने के कारण एक, आनन्दरूप होने

से द्वैत से अद्वय, ज्ञानमय होने से आत्मा, स्वशक्ति के कारण व्यापक, नील स्वरूप होने से आकाश देह, व्यापक होने से अनावृत, प्रकृति के गुण और रूप से हीन होने के कारण निर्गुण और अरूप, सूर्य आदि से अप्रकाश्य होने से स्वयं ज्योति कहा जाता है। त्रिकाल में स्थित होने से सत्य, कालरूप होने से अनन्त, योगमाया का नियन्ता होने से स्थूल और सूक्ष्म स्वरूप वाला, भग (छह प्रकार के ऐश्वर्य) से युक्त होने से भगवान् सर्वेश्वर होने से ईश, मायातीत होने से पुरुष, अद्वय होने के कारण सम और सुहृत्, अनासक्ति के कारण अक्रिय, ज्ञान होने से निरञ्जन, प्राकृत और शास्त्रीय दोषों से हीन होने के कारण वह अगोचर कहा जाता है। परमात्मा कृष्ण के हजारों अवतार हुए हैं। इसी कारण श्रीकृष्ण को स्वयंरूप, परात्पर और अवतारी कहते हैं।

अथवा वासुदेवाध्यात्म्य में--

गुणों की अप्रसिद्धि के कारण इसे अगुण (निर्गुण) कहते हैं। प्राकृत रूप न होने से इसे अरूप कहते हैं। प्रधान (प्रकृति) के सम्बन्ध के कारण हरि की कर्तृता नहीं है (अर्थात् प्रकृति ही कर्ता है) अतः पुराणादि इसे अकर्ता कहते हैं। अदृश्य में भावना नहीं है, दृश्यमान् नष्ट हो जाता है इत्यादि वचन जगद् और ब्रह्म परक माने गए हैं। केवल ब्रह्म अदृश्य है, यह जगत् दृश्य है। सच्चिदानन्द विग्रह ईश्वर उन दोनों से भिन्न है। इति।। यह अचिन्त्य शक्ति से होता है यह भाव है। जिसके न कोई अन्दर है, न कोई बाहर है, न जिससे पूर्व है और न अपर। जो (परमेश्वर) जगत् का भी जगत् (आन्तरिक तत्त्व) है और वह पूर्व, अपर, अन्दर, बाहर सब कुछ है यह भागवत के दशम स्कन्ध में कहा गया है।

परमात्मा को स्वगत भेदों से रहित माना है इसका अर्थ है वह आनन्दमात्र है न कि परिकर आदि से अभिन्न है। ''जिस अर्थ परक शब्द होता है वही शब्द का अर्थ होता है।'' इस न्याय के कारण-तत्पर्यन्त धावन अन्याय है (तात्पर्य है कि जिस अर्थ का बोध कराने के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है वह अर्थ ही शब्दार्थ होता है न कि शब्द प्रयोग पश्चात् जितने अर्थों का बोध हो वह शब्दार्थ होता है)।

ब्रह्म में साकारत्व सम्भव नहीं है-ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। अधिदैव साकार होने के कारण अनुमान समन्वय में कहा गया है--

''जैसे सिन्धु (सागर) में सिन्धु, वायु में मरुत्, अग्नि में अग्नि, क्षिति (पृथिवी) में धरा (धरती) और गंगा में गंगा अधिदेवता के रूप में है उसी प्रकार ब्रह्म में ब्रह्म मूर्त्तिमत् है।'' उन-उन का मूर्तिमद् रूप क्रमशः सेतुबन्ध में, भीमसेन की उत्पत्ति में, खाण्डवदाह में, पृथिवी के उद्धार में, भगीरथ पर अनुग्रह में देखा गया है। ये सब अनवद्य (अनिर्वचनीय) है। इसी प्रकार परब्रह्म के मूर्त्तस्वरूप नराकृति की भगवत्ता सिद्ध किए जाने पर चतुर्भुजत्वादिक रूप प्रकाश के विलास के रूप में सुसंगत समझने चाहिए।

यथा श्रीकृष्णयामले रुक्मिणीं प्रति वासुदेवः--

''सर्वेषामीश्वरः कृष्णः सर्वकारणकारणम् ।।
प्रेमानन्दरसास्वादी विहारी विश्वनायकः ।।
पूर्णावतारी त्रिस्थानरञ्जनोऽञ्जनसन्निभः ।
सच्चिदानन्दसान्द्रात्माऽनन्तसौन्दर्यविग्रहः ।।
दिव्ये वृन्दावने नित्यं विहरत्यखिलार्थदः ।
कालमायागुणैर्मुक्ते पूर्णप्रेमामृतास्पदे ।।
विभुरेषोऽद्वयः क्वापि स्वेच्छयावतरत्यजः ।
अस्यैव वैभवाः कान्ते वयं सर्वगुणान्विताः ।।
एवमन्येऽवतारास्तु वृन्दावनविहारिणः ।
कोटिशः सन्ति चार्वङ्गि ब्रह्माण्डप्रचयेष्वपि ।।
क्वचिदंशैः कलाभिश्च शक्त्यावेशैः क्वचित्क्वचित् ।
कार्यार्थे सम्भवन्त्येते आत्मनः कृष्णचन्द्रतः ।।
प्रादुर्भूता यथा दीपाद्दीपास्तत्तद्गुणान्विताः ।
स्वस्वस्थानस्थिताः सर्वे तमो भीतिहराः प्रिये ।।

जैसे श्रीकृष्णयामल में रुक्मिणी के प्रति वासुदेव का वचन--

सब का ईश्वर श्रीकृष्ण, सभी कारणों का कारण, प्रेमानन्दरसास्वादी, विहारी, विश्वनायक, पूर्णावतारी, त्रिस्थान को आनन्दित करने वाला, कज्जल के सदृश, सच्चिदानन्द से सान्द्र आत्मा, अनन्त सौन्दर्यविग्रह, समस्त अर्थों को देने वाला दिव्य वृन्दावन में नित्य विहार करने वाला है। यह व्यापक, अद्वय और अज (अजन्मा) श्रीकृष्ण काल और माया के गुणों से मुक्त पूर्ण प्रेमामृत-पात्र में अपनी इच्छा से अवतरित होता है। हे कान्ते!

—

सभी गुणों से हम और अन्य भी अवतार इसी वृन्दावनविहारी के वैभव हैं। हे सुन्दर अंगवाली! इस ब्रह्माण्ड के समुदाय में करोड़ों और भी अवतार हैं जो श्रीकृष्णचन्द्र से साक्षात् अवतरित होते हैं कहीं उनके अंशों से कहीं कलाओं से कहीं शक्ति के आवेश से अनेक कार्यों को सम्पन्न करते हैं। हे प्रिये! जैसे दीपक से जलने वाला अन्य दीपक उस जैसा ही होता है वैसे ही प्रकट हुए ये अवतार भी श्रीकृष्णचन्द्र के गुणों से अन्वित होते हैं तथा अपने-अपने स्थान पर स्थित होकर अन्धकार और भय को हरण करने वाले होते हैं।

तथा सर्वेऽवतारास्ते श्रीकृष्णावरणाश्रिताः।
विहरन्त्यात्मनो भावैः स्वस्वभक्तैरुपासिताः।।
नित्याश्चापि परे धाम्नि रमन्ते स्वविलासतः।
कार्यार्थे विकृतिं यान्ति व्यक्ते द्रव्यगुणात्मके।।
कृतकार्याः पुनर्यान्ति स्वस्वधाम्न्यविलात्मकाः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां दातारः सेवतां सदा।।
कृष्णस्तु प्रेमभावेन विहरत्यनिशं प्रभुः।
प्रेमानन्दमयः साक्षादच्युतानन्दविग्रहः।।
अस्मद्विलक्षणं कंचिद्विद्धि तं कमलेक्षणे।
विना प्रेमानुसन्धानात्तत्प्राप्तिर्नैव जायते।।''इति।।

ये सभी अवतार श्रीकृष्ण के आवरण में आश्रित होकर अपने-अपने भक्तों से उपस्थित होकर आत्म भाव से विहार करते हैं। ये नित्य होते हुए अपने विलास से परधाम में रमण करते हैं। व्यक्त होने वाले द्रव्य और गुणात्मक कार्यों के लिए विकार को भी प्राप्त होते हैं तथा कार्य सम्पन्न करके अविलीन होने वाले ये पुनः अपने-अपने धाम में चले जाते हैं। सेवा करने वालों को ये सदा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देने वाले होते हैं। साक्षात् अच्युतानन्दविग्रह प्रेमानन्दमय भगवान् कृष्ण तो निरन्तर प्रेमभाव से विहार करते रहते हैं। वासुदेव कह रहे हैं कि हे कमलनयनी उस श्रीकृष्ण को हम से विलक्षण समझो। प्रेम के अनुसन्धान के बिना उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।।इति।।

इत्थं सद्रूपत्वादिलक्षणवस्तुनः श्रीकृष्णरूपत्वे सिद्धे, तस्य अनन्त-

लीलाभिनिविष्टत्वेऽपि मुख्यत्वं गोविन्द एवेत्याह-''अनादिरादिर्गोविन्द''इति। ननु गोविन्दस्यापि प्रकटाप्रकटलीलायां व्रजनिकुञ्जभेदेन, गोलोकवृन्दावनभेदेन च, प्रकाशद्वैविध्यं वाच्यम्। अन्यथा तल्लीलायौगपद्यस्यासंभवात्। तत्र उभयोः प्रकाशयोः कतरस्य मुख्यत्वमित्याशङ्कां समादधन्नाह-उत्तरस्य वृन्दावनेन्द्रस्यैव तन्मुख्यत्वमिति। ननु किमत्र विनिगमकमिति चेदाह-तथाहि गोपालतापन्यां ''वृन्दावनसुरभूरुहतलासीन''मिति। ''लक्ष्मीसहस्रशतसंभ्रमसेव्यमान''-मित्यारभ्य ''श्रियः कान्ताः कान्तः'' इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां वक्ष्यमाणस्तुते-र्वृन्दावनेन्द्र एव तात्पर्य्याच्चेति। तत्रैव ''परमपुरुषः''इत्युक्तेर्गोविन्दस्य व्रज-लीलाव्यापृतस्य वृन्दावन निकुञ्जापेक्षया बहिरङ्गत्वादित्यर्थः। शृङ्गारापेक्षया सख्यवात्सल्यादीनां बहिरङ्गत्वं सुप्रसिद्धमेवेति भावः। शान्तादिपञ्चविधरसे सुखातिशयेन शृङ्गारस्य मुख्यत्वात्। ''स यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर''मिति श्रुतेश्च। सिद्धान्तमाह-एवं न भक्तवासनानु-सारेणेत्यादिना। मुख्यत्वस्य तु निर्णायिका तत्प्रकारकवासनैव। क्वचित्प्रकाश-मानैश्वर्य्यप्रधानचतुर्भुजत्वापेक्षया माधुर्य्यप्रधानद्विभुजस्यैव मुख्यत्वमुक्तहेतो-रित्याशयः। यथा न्यायासनाधिष्ठितचक्रवर्त्त्यपेक्षया, मित्रैः सह क्रीडा व्यापृतस्यापेक्षया वा अन्तःपुरगतस्य अन्तरङ्गत्वं मुख्यत्वं च उत्तरोत्तरानन्दोत्कर्षात्, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। दर्शितान्येतदर्थकानि पुराणादिवाक्यानि प्रागेव। एतदेव तापनीवाक्योपन्यासेन द्रढयति ''सत्पुण्डरीकनयनं ''मेघाभं वैद्युतं वरं, द्विभुजज्ञानमुद्राढ्यं वेणुशृंगधरं किंवा-इत्यादिना।

इस प्रकार सच्चिदानन्द लक्षण वस्तु श्रीकृष्णस्वरूप है-यह सिद्ध होने पर, उसके (श्रीकृष्ण के) अनन्तलीलाओं में अभिनिष्टि (संलग्न) होने पर भी मुख्यता गोविन्द की ही है-इसीलिए कहा है-''अनादिरादि गोविन्दः (अनादि और आदि गोविन्द है)।''

गोविन्द का भी प्रकट एवं अप्रकट लीला में व्रजलीला और निकुञ्जलीला के भेद से, गोलोकलीला एवं वृन्दावनलीला के भेद से प्रकाश का द्वैविध्य कहना चाहिए। (प्रकाश रूप गोविन्द दो रूपों में एकसाथ प्रकट होता है) अन्यथा उसकी ये लीलाएँ एक साथ असम्भव है (प्रकाश का द्वैविध्य स्वीकार करने पर ये प्रकटाप्रकटादि लीलाएँ सम्भव हैं)।

इन दोनों प्रकाशों में किस प्रकाश की प्रधानता है इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं-उत्तर लीला वृन्दावनेन्द्रलीला का ही प्राधान्य है। इसका निर्णायक तत्त्व क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-गोपालतापनी में कहा गया है-वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनमिति (वृन्दावन रूपी देववृक्ष के नीचे विराजमान गोविन्द) तथा-लक्ष्मीसहस्रशत... कान्ताः कान्तः (करोड़ों लक्ष्मी समुदाय से सेव्यमान) इत्यादि उपक्रम और उपसंहार के द्वारा स्तुति का तात्पर्य वृन्दावनेन्द्र में ही है। वहीं पर ''परमपुरुष'' इस उक्ति से व्रजलीला में संलग्न गोविन्द वृन्दावन निकुञ्जलीला में व्याप्त गोविन्द की अपेक्षा बहिरङ्ग हैं। शृंगार की अपेक्षा सख्य-वात्सल्य आदि की बहिरङ्गता सुप्रसिद्ध ही है (व्रजलीला में सख्य और वात्सल्य है वह बहिरङ्ग है तथा वृन्दावन निकुञ्जलीला में शृंगार है इस लीला में संलग्न गोविन्द अन्तरङ्ग है-क्योंकि यह लीला अन्तरङ्ग लीला है)।। शान्त आदि पांच प्रकार के रसों में सुखातिशयता के कारण शृंगार मुख्य है। श्रुति का वचन है-''वह (गोविन्द) प्रिय स्त्री से आलिङ्गित होता हुआ न बाह्य को और न अन्तर को जानता है (शृंगार में बाह्य और आन्तरिक वस्तुओं का ज्ञान नहीं रहता है केवल प्रेमाश्रय का ही ज्ञान रहता है)'' सिद्धान्त कहते हैं-मूल में कहे गए वाक्य 'भक्तवासनानुसारेण'-की व्याख्या करते हुए कहते हैं मुख्यता का निर्धारण भक्तवासना के अनुसार होता है। कहीं प्रकाशमान ऐश्वर्य प्रधान चतुर्भुज रूप की अपेक्षा माधुर्य प्रधान द्विभुज स्वरूप की ही प्रधानता होती है। जैसे न्यायासन पर बैठने वाले चक्रवर्ती की अपेक्षा मित्रों के साथ क्रीड़ा में संलग्न की प्रधानता होती है, तथा इसकी अपेक्षा भी अन्तःपुर में स्थित चक्रवर्ती की अन्तरङ्गता और मुख्यता होती है क्योंकि उत्तरोत्तर आनन्द का उत्कर्ष रहता है वैसे ही यहाँ पर भी आनन्द के उत्कर्ष के आधार पर वृन्दावन निकुञ्ज लीला में संलग्न गोविन्द की प्रधानता है। इस अर्थ के समर्थन करने वाले पुराणों के वाक्य पूर्व में दिए गए हैं। इसी को तापनी के वाक्य उपस्थित करके और दृढ करते हैं-सत्पुण्डरीकनयनं.. द्विभुज ज्ञानमुद्राढ्य (अर्थ मूल में दिया गया है)।

वराहतन्त्रोक्तवाक्येन च--''प्रेमानन्दमयः शुद्धः''इत्यादिना अत्र प्रेमानन्दमय इति विशेषणेन प्रेममयलीलाया अन्तरङ्गत्वं मुख्यत्वं च सूचितम्।

आनन्दोत्कर्षहेतुत्वात्। निरुपाधिप्रेमास्पदत्वमानन्दत्वमित्युक्तमेवेति भावः। अन्तरङ्गप्रेममयमुख्यलीलानधिकारिभ्य एवैश्वर्य्यप्रधानचतुर्भुजरूप-श्रैष्ठ्योपदेश इति तात्पर्य्यम्। अधिकारभेदेनैव शास्त्रव्यवस्थावाच्या। अन्यथा अव्यवस्था दुर्वारा स्यात्।

ननु ''दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।।''
''यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।''

''प्रेमानन्दमयः शुद्धः'' (प्रेमानन्दमय शुद्ध है) वराहतन्त्र के इस वाक्य से भी यही बात कही गई है। यहाँ 'प्रेमानन्दमय' इस विशेषण से प्रेममयलीला को अन्तरङ्ग एवं मुख्य कहा गया है इसका कारण है आनन्द का उत्कर्ष (जिसमें आनन्द का उत्कर्ष हो वही मुख्य)। निरुपाधिक प्रेमास्पदत्व ही आनन्द है। अन्तरङ्ग प्रेममय मुख्य लीला के जो अधिकारी नहीं है उनके लिए ऐश्वर्यप्रधान चतुर्भुज रूप को ही श्रेष्ठता के रूप में उपदेश किया गया है। अधिकार के भेद से ही शास्त्र की व्यवस्था कही जानी चाहिए। अन्यथा अव्यवस्था को रोका नहीं जा सकेगा।

''दिव्य, अमूर्त्त, पुरुष बाह्य और आभ्यन्तर वाला तथा अज है। वह प्राण रहित, मन रहित है शुभ्र है, अक्षर से भी पर जो उससे भी वह पर है। जो चक्षु से नहीं देखता है जिसकी शक्ति से चक्षु देखते हैं उसे ही तुम ब्रह्म समझो, जिसकी उपासना करते हो उसको नहीं।''

'' अशरीरं शरीरेषु०'', ''अस्तीत्येवोपलब्धव्यः''

''यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमचक्षुः श्रोत्रमपाणिपादं'' ''केवलो निर्गुणश्च'' ''एको देवः सर्वभूतेषु गुढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा''-इत्यादि श्रुतिभिः सर्वव्यापकत्वात् परब्रह्मणो विग्रहत्वनिषेधात् कथं द्वैविध्यमानन्दस्येति चेत् ''किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः'', ''यदात्मको भगवांस्तदात्मिका भगवतो व्यक्तिः, ज्ञानात्मिका ऐश्वर्य्यात्मिका शक्त्यात्मिका'', ''सा ब्रह्मेति होवाच (केनोप.) 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशंपुरुषं ब्रह्मयोनिम्' ''आत्मै-वेदमग्र आसीत्पुरुषविधः'', ''पुरुषं कृष्णपिंगलम्'', ''सहस्रशीर्षा पुरुषः'', ''हिरण्यकेशो हिरण्यश्मश्रुः''-इत्यादिश्रुतिभिर्डिंडिमघोषेण ब्रह्मणो विग्रहाकार-

त्वस्य श्रूयमाणत्वात् तस्य सिद्धं विग्रहाकारत्वम्। न च वाच्यमुक्तविग्रहाकारस्य मायिकत्वे ''दिव्यो ह्यमूर्त्तः''इत्यादिश्रुतिरेव प्रमाणमिति।

उदाहृतश्रुतिभिस्तद्विग्रहस्य प्राकृतहेयगुणाभावमात्रस्य विवक्षितत्वात्, सच्चिदानन्दात्मक-विग्रहप्रतिषेधे तात्पर्य्याभावाच्च अन्यथा नराकृतिपरब्रह्मसाक्षात्कारेण परममोक्षश्रवणं, 'तमेतं सच्चिदानन्दविग्रहम्', 'सत्पुंडरीकनयनम्'इत्यादिविग्रहत्वश्रवणं च विरुद्धयेतेत्याशयेन मूर्त्तामूर्त्तभेदेन आनन्दस्य द्वैविध्यं प्रतिपादयन् हयशीर्षवाक्येन समाधानमाह-एवमेवेत्यादिना। नराकृतिपरब्रह्मणोऽमूर्त्तादपि परमत्वं दर्शयति-अथैतस्येति। मायानावृतत्वेनेत्यर्थ इति च। सूर्य्यातपस्य मेघाद्यावृतत्वेऽपि यथा तद्बिम्बस्यानावृतत्वं तद्वत्प्रकृतेऽपि तस्य मायानावृतत्वं बोध्यम्।

ननु ''नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'' इत्यनेन स्वयं भगवतैव स्वस्य योगमायावृतत्वकथनात्कथं मायानावृतत्वमिति चेद्योगमायाशब्दस्य स्वसत्यसंकल्पात्मिका स्वेच्छेत्यर्थः। ''माया तु वयुनं ज्ञानम्''इति कोशात्। ''यमेवैष वृणुते०''इत्यादिश्रुतेर्नराकृतिसच्चिदानन्दब्रह्मणो व्यापकचिज्ज्योतिर्हि प्रकाश इत्येतदर्थकानि पुराणवचनानि दर्शितान्येव प्राक्। व्यापकचिज्ज्योतिस्तु मायया त्रिगुणात्मिकया आवृतं, विग्रहस्त्वनावृत इत्येषो ह्यमूर्त्ताद्ब्रह्मणो मूर्त्तस्य नराकृतेस्तस्य महान् विशेष इति फलितोऽर्थः। स्वरूपधर्माणां स्वरूपापेक्षया परतन्त्रसत्तावत्त्वं, तथात्वेन च तेषां तेन भिन्नाभिन्नत्वं वक्तुं नोचितम् ''अनुच्छित्तिधर्मा''इत्यादिश्रुतेरित्याशयेन षाड्गुण्यलावण्यमाधुर्य्यकृपावात्सल्यादीनां स्वरूपधर्मवैभवत्वेन स्वरूपत्वं, सितोपलाया माधुर्य्यवत्, अग्नेरौष्ण्यवदित्याह-तस्मादिदमित्यादिना।

केचित्तु स्वरूपधर्माणां स्वरूपापेक्षया परतन्त्रसत्तावत्त्वेन न तेषां स्वरूपत्वमिच्छन्ति, तदयुक्तम् । वैष्णवमते सधर्मकस्यैव स्वरूपत्वाभ्युपगमात्। ''सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरस''इत्यादि-श्रुतेः। न चात्रापि चिदचितोरिव ब्रह्मस्वरूपाद्भिन्नाभिन्नत्वं चोदनार्हम्, 'अचिन्त्याः खलु ये भावा'-इत्याद्यसकृदुक्तमेव। अदृष्टदोषत्वादिति-''जहौ तच्च कलेवर'' मित्यादिषु श्रूयमाणं तस्य देहविसर्जनं तु प्रागुक्तरीत्या असुरव्यामोहनार्थमिति-स्थितम्। अन्यथा भगवद्विग्रहनित्यत्वप्रतिपादकशास्त्रहानिः, ''यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः''इति हि शास्त्रम्।

''शरीरों में जो अशरी है''''सत्ता है इसलिए प्राप्तव्य है'' ''वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य है वह चक्षु और श्रोत्र तथा कर-चरण से हीन है'' ''वह केवल निर्गुण है'' ''वह अकेला देव सभी भूतों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी और सभी भूतों की अन्तरात्मा है'' ''इत्यादि श्रुतियों से सर्वव्यापक होने के कारण परब्रह्म के विग्रह होने का निषेध किया गया है तब प्रश्न होता है कि आनन्द का द्वैविध्य कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं-- ''भगवान् की व्यक्ति (अभिव्यक्ति) किस प्रकार की होती है-इसका उत्तर देते हुए कहा गया है-''भगवान् जिस प्रकार का है उसकी अभिव्यक्ति उसी प्रकार की है।'' वह ज्ञानात्मिका, ऐश्वर्यात्मिका और शक्त्यात्मिका-इस प्रकार तीन प्रकार की होती है। वह ब्रह्म है (केनोप)

''जब दृष्टा स्वर्णाभ जगत्कर्ता, सर्वसमर्थ, ब्रह्मयोनि (ब्रह्म जिसका उत्पत्ति स्थान है) पुरुष को देखता है।'' ''सर्वप्रथम पुरुषविध आत्मा ही था।'' ''कृष्ण-पिङ्गल पुरुष को'' ''सहस्रशीर्षा पुरुष'' ''हिरण्यकेश हिरण्यश्मश्रु (स्वर्णिम दाढी मूंछ)'' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का विग्रहाकारत्व सुना जाने के कारण उसका विग्रहाकारत्व सिद्ध है। (अर्थात् ब्रह्म व्यापक होते हुए भी विग्रहाकार-साकार है)।

उक्त विग्रहाकार मायिक है और ''दिव्यो ह्यमूर्त्त'' (वह दिव्य अमूर्त्त है) यह श्रुति इसमें प्रमाण है-ऐसा नहीं कहना चाहिए।

पूर्व में उदाहृत श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के विग्रह में प्राकृत हेय गुणों का अभाव मात्र विवक्षित है न कि विग्रहत्व का अभाव। सच्चिदानन्द विग्रह के निषेध में तात्पर्य का अभाव है। अन्यथा नराकृति परब्रह्म के साक्षात्कार से परम मोक्ष का सुनना तथा ''तमेतं सच्चिदानन्दविग्रहं'' ''सत्पुण्डरीकनयनं'' इत्यादि के द्वारा विग्रहत्व का श्रवण परस्पर विरुद्ध हो जावे अतः इसी आशय को ध्यान में रखते हुए मूर्त्त और अमूर्त्त भेद से आनन्द का द्वैविध्य प्रतिपादित करते हुए हयशीर्ष वाक्य से समाधान करते हुए लिखा है-अमूर्त्त से भी नराकृति परब्रह्म का परमत्त्व दिखाया गया है। क्योंकि माया के निवृत्त होने पर नराकृति परब्रह्म के साक्षात्कार से जगत् भी ब्रह्मरूप में प्रतीत होता है। सूर्य का आतप जैसे मेघ आदि से ढँक जाता है परन्तु उसका बिम्ब अनावृत (बिना ढँका हुआ) रहता है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए

(विग्रह ब्रह्म स्वयं माया से अनावृत्त ही रहता है किन्तु उसकी ज्योति प्रतीति माया से आवृत रहती है, माया हटने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है)।

प्रश्न होता है ''योगमाया से आवृत मैं सबके लिए प्रकाश (प्रकाशक) नहीं होता हूँ-यह भगवान् ने स्वयं अपने आपको योगमाया से आवृत कहा है तब उसे माया से अनावृत कैसे कहते हैं। तब इसका उत्तर है कि योगमाया शब्द का अर्थ है स्वसत्यसंकल्पात्मिका स्वेच्छा-अर्थात् भगवान् स्वेच्छा से अपने को आवृत करते हैं न कि माया में वह शक्ति हो कि उनको आवृत करले।

''कोश में कहा है-माया तु वयनं ज्ञानम्'' (माया बुद्धि पूर्वक ज्ञान है-बनावटी ज्ञान है)।

''यमेवैषवृणुते'' जिसे वह वरण करता है उसे ही प्रकाश होता है-इत्यादि श्रुति तथा ''नराकृति सच्चिदानन्द ब्रह्म की व्यापक चिज्जयोति ही प्रकाश है-इस अर्थ को प्रतिपादित करने वाले पुराण वचन पूर्व में दिए गए हैं।''

इस विवेचन का फलितार्थ यह है कि ''त्रिगुणात्मिका माया से व्यापक चिज्ज्योति के आवृत होने पर भी (सच्चिदानन्द) विग्रह अनावृत रहता है यही अमूर्त ब्रह्म से मूर्त नराकृति ब्रह्म का महान् भेद है अथवा यही वैशिष्ट्य है।''

स्वरूप धर्म स्वरूप की अपेक्षा परतन्त्र सत्ता स्वरूप है, इसलिए उनका (स्वरूप धर्मों का) स्वरूप से भिन्नाभिन्नत्व कहना उचित नहीं है। ''अनुच्छित्तिधर्मा'' इति श्रुति के आशय के षाड्गुण्य, लावण्य, माधुर्य-कृपा, वात्सल्य आदि का स्वरूप धर्म वैभव से स्वरूपत्व सिद्ध होता है, जैसे सितोपला का स्वरूप माधुर्य तथा अग्नि का स्वरूप ऊष्णता है। इसलिए स्वधर्म तथा स्वरूप अभिन्न है।

कुछ लोग स्वरूप धर्मों की स्वरूप की अपेक्षा परतन्त्रसत्ता होने के कारण उनकी स्वरूपता स्वीकार नहीं करते हैं, यह युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि वैष्णव मत में धर्म सहित का ही स्वरूपत्व स्वीकार किया गया है। इसमें ''सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धः'' यह श्रुति प्रमाण है। यहाँ पर चिदचित् के समान ब्रह्म स्वरूप से भिन्नाभिन्नत्व नहीं कहना चाहिए। ''अचिन्त्याः

खलु ये भावाः'' इत्यादि के द्वारा अनेक बार इस बात को कहा गया है। इसमें कोई दोष भी नहीं देखा गया है-''जहौ तच्चकलेवरम्'' (उसने कलेवर त्याग दिया) इत्यादि में जो श्रीकृष्ण आदि के कलेवर त्याग का श्रवण होता है वह असुरों के व्यामोहन के लिए है-अन्यथा भगवद् विग्रह नित्य है इसका प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों की हानि होगी। ''यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः'' यह शास्त्र प्रतिपादित करता है कि जो परमात्म श्रीकृष्ण के देह को भौतिक समझता है-वह अज्ञानी है।

अभक्तलोकदृष्ट्या परदाराभिमर्शनादि यद्यद्दोषरूपं तत्तत्परमात्मनि आत्मारामे ह्याप्तकामे भक्तानुग्रहैककामे न दोषावहम्। स्वार्थविरहात्। वस्तुतस्तु ये परस्य तस्यैव दारास्तेषां प्रकटलीलायां परदाराभासमात्राणां ह्यभिमर्शने कुतस्तस्य दोषप्रसक्तिरिति वक्ष्यमाणाभिप्रायेणेदमुत्तरम्। भयपलायनादिकमपि भक्तिपोषायैवेति--तत्तद्भावेन भजतां तत्तद्भावपोषयैव तस्य तथा तथा चेष्टित-मिति भावः।

भक्तवश्यतेति-''अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे''त्यादि श्रीनवमात्। अव्यक्तत्वमाहेति-जीवानां बुद्ध्यादिकरणप्रकाशकस्य परमात्मनः प्रकाशने न तेषां जडानां परप्रकाश्यानां सामर्थ्यमस्तीति भावः। ''येनाहुर्मनो मतम्'', ''तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'' ''एतैनैव विजानाती''ति श्रुतिभ्यः। भक्तानुग्रहार्थन्तु स्वेच्छयैव तस्य व्यक्तत्वं, व्यक्त-त्वेऽपि तद्भगवत्त्वज्ञानं तत्कृपयैव।

आनन्दो द्विविध इति-अमूर्तस्यानन्दस्य मूर्त्तानन्दो सच्चिदानन्द-लक्षणविग्रह आश्रय इत्यर्थः। भगवद्विग्रहः साक्षादानन्द आनन्दगुणकश्च, तत्र विग्रहरूपस्य आनन्दस्य मूर्त्तत्वं, स्वभक्तैरनुभूयमानतदानन्दगुणस्यामूर्त्तित्वं सितोपलाया माधुर्य्यवदित्युक्तमेव। ननु तस्य विग्रहत्वे करचरणमुखोदरादि-स्वगतभेदो दुर्वारः। न ह्येकस्मिन्प्रज्ञानैकघनवस्तुनि वस्त्वन्तरयोगमृते भेदप्रतीतिस्तद्योगेऽभ्युपगते च करचरणादीनामस्वरूपापत्तिरिति चेदाह आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि इति यथा हेम्नि कल्पितस्यालंकारस्यावभेदेऽपि तस्य सुवर्णमात्रत्वं न व्यभिचरति तथैव प्रकृतेऽपि करपादमुखोदरादीति।

जो भगवान् के भक्त नहीं हैं उनकी लोकदृष्टि से परदाराभिमर्शन (पराई स्त्रियों का स्पर्श) आदि जो दोष है वह आत्माराम, आप्तकाम,

भक्तानुग्रह ही एकमात्र कामना वाले परमात्मा में दोष नहीं है। क्योंकि उससे (परमात्मा से) भिन्न कोई है ही नहीं। वस्तुतः उस परात्पर की ही सब दाराएँ हैं, उन्हीं का प्रकटलीला में परदाराभास मात्र है, उन दाराओं के अभिमर्श में उसमें दोष कैसे आएगा। (जब परमात्मा की ही समस्त दाराएँ हैं) अप्रकट लीला में सभी दाराएँ उसकी ही दारा है प्रकटलीला में पराई दिखती है-पराई होने का आभास मात्र है अतः उनके अभिमर्शन में दोष उपस्थित नहीं.होता है) परमात्मा में भय और पलायन आदि भी भक्ति के पोषण के लिए ही है। भिन्न-भिन्न भाव से भजन करने वालों के उन-उन भावों के पोषण के लिए उस परमात्मा की वे भय-पलायन आदि चेष्टाएँ होती हैं।

भक्तवश्यता-हे द्विज! मैं भक्तों के पराधीन अस्वतन्त्र के समान हूँ। अव्यक्त की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-जीवों के बुद्धि आदि अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाले परमात्मा को प्रकाशित करने का सामर्थ्य परप्रकाश्य जड पदार्थों का नहीं है अतः वह परमात्मा अव्यक्त है। ''जिसके अनुग्रह से ज्ञानी मन के मत को प्रकट करते हैं'' ''प्रकाशमान उस परमात्मा के पीछे ही सब प्रकाशित होते हैं-उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होता है'' ''इसी की शक्ति से जानता है'' इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है। भक्तों पर अनुग्रह करने से ही वह स्वेच्छा से व्यक्त होता है उस व्यक्त में भी भगवत्ता का ज्ञान उसकी कृपा से ही होता है।

आनन्द दो प्रकार का है। अमूर्त आनन्द का आश्रय सच्चिदानन्दविग्रह मूर्त्त आनन्द है। भगवद् विग्रह साक्षात् आनन्द और आनन्दगुण वाला है, उसमें विग्रहरूप आनन्द मूर्त्तिमान् रहता है। भक्तों के द्वारा अनुभूयमान उस परमात्मा का आनन्द गुण अमूर्त्त होता है जैसे सित शर्करा का माधुर्य है। भगवान् को विग्रह वाला मानने पर उसमें कर-चरण-मुख-उदर आदि के रूप में होने वाले स्वगत भेदों को रोका नहीं जा सकता-यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि एक प्रज्ञानैक रूप वस्तु में वस्त्वन्तर के योग के बिना स्वगत भेद की प्रतीति नहीं हो सकती है, और वस्त्वन्तर के योग को स्वीकार करने पर कर-चरण आदि स्वरूप नहीं बन पाएँगे (वस्त्वन्तर सिद्ध होने पर) यदि ऐसा कहा जावे तब उत्तर यह है कि भगवान् के आनन्द विग्रह में कर-मुख आदि भी आनन्दरूप ही हैं अतः

स्वगत भेद नहीं होता है। इसको उदाहरण से समझते हैं कि जैसे स्वर्ण में बनाए गए आभूषण में अवयवों का भेद होने पर भी उसका स्वर्ण स्वरूप खण्डित नहीं होता है (अर्थात् आभूषण के प्रत्येक अवयव में स्वर्णत्व रहता है) वैसे ही भगवद्विग्रह आनन्दमात्र है अतः हाथ-पैर आदि में भी आनन्दत्व अक्षुण्ण बना रहता है।

नृकपालं शुचीति प्रमावदिति-नृकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात् शंखवदिति या नृकपालविषयिका शुचित्वरूपप्रमा, सा यथा यद्यत्प्राण्यङ्गं तत्तच्छुचीतिनियमव्यभिचारेण बाधिता, तथैव-भगवद्विग्रहोऽनित्यः भौतिकत्वात् अस्मदादिशरीरवत्, यो यो विग्रहः स स भौतिक इति व्याप्तेश्चापि अपौरुषेयशब्दैर्बाधितत्वं बोध्यमित्यर्थः। ते च शब्दा इति-प्रागुक्ताः ''यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'', ''किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः'', ''अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः, स वा एष पुरुषविध एव'', ''आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः''इत्यादयः। ''श्रोत्रस्य श्रोत्र''मित्यस्यार्थस्तु भगवद्विग्रहो दर्शनश्रवणादिव्यापारेषु प्राकृतकरणानधीनः।

''सर्वतः पाणिपादं त''दितिश्रुतेः, ''चिदानन्दघनत्वात्तद्देहस्येत्यर्थः। तदेवाह न चापाणिपादेत्यादिना, आनन्दमात्रकरपादेत्यादिना च। तस्य निर्गुणादिविशेषणानामर्थं पुराणोपदर्शितरीत्याऽऽह योऽसौ निर्गुण इत्युक्त'' इत्यादिना। अप्राकृतस्वरूपगुणनिषेधे तु उक्त श्रुतिस्मृतिविरोधोऽपरिहार्यः। ईश्वरस्तु तदुभयाश्रयो भिन्नः सच्चिदानन्दविग्रह-इति,-उक्तदृश्यादृश्ययोराश्रयः सच्चिदानन्दविग्रह इत्यर्थः। ''न चान्तर्न बहिर्यस्येति तद्विग्रहस्यैव पूर्णब्रह्मत्वमाह श्रीदशमवाक्येन। ''तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्य''मित्यादिश्रुतेः, तस्मादानन्दमात्रत्वात्तत्करचरणाद्यवयवानां न तस्मिन् स्वगतभेदकल्पनावकाश इति भावः।

भगवद्विग्रह की नित्यता सिद्ध करने के लिए अनुमान की प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराते हुए अपौरुषेय वचनों का आश्रय लेते हैं-अनुमान की प्रक्रिया-''नृकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात्शंखवद्-इति'' नृकपाल (मनुष्य का कपाल) शुचि पवित्र होता है-प्राणी का अंग होने के कारण, शंख के समान व्याप्ति दिखलाते हैं-यद्यत् प्राण्यङ्ग, तत्तच्छुचिः- जो जो प्राणी का अंग है वह शुचि है-किन्तु यह व्याप्ति इस नियम के व्यभिचरित होने के कारण

बाधित होती है (क्योंकि सभी प्राणियों के सभी अंग पवित्र नहीं होते हैं) वैसे ही भगवान् के विग्रह को अनित्य सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रक्रिया एवं यह व्याप्ति बनाई जा सकती है-''भगवद्विग्रह अनित्य है, भौतिक होने के कारण, हम लोगों के शरीर के समान, व्याप्ति-जो-जो विग्रह है वह-वह भौतिक (पञ्चभूतों से बना हुआ) है-हमारे शरीर के समान।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह व्याप्ति अपौरुषेय शब्दों से खण्डित हो जाती है-भगवद् विग्रह को नित्य सिद्ध करने के लिए मूल में अनुमान की पक्रिया इस प्रकार दी गई है-''भगवद्विग्रहो नित्योऽभौतिकत्वात्'' अर्थात् भगवान् का विग्रह नित्य है क्योंकि भौतिक नहीं है-जो जो भौतिक होता है वह अनित्य होता है जैसे हम लोगों का शरीर। भगवद्विग्रह को नित्य सिद्ध करने वाले तथा अनित्यत्व की व्याप्ति को खण्डित करने वाले अपौरुषेय शब्द इस प्रकार है-''दर्शक जब ब्रह्मयोनि, हेमवर्ण वाले, कर्त्ता और ईश पुरुष को देखता है'' ''भगवान् की व्यक्ति (प्रतीति) किस प्रकार की है'' ''आनन्दमय अन्तर आत्मा अन्य ही है अथवा यह पुरुषविध ही है'' ''पुरुष आत्मा ही सबसे पहले विद्यमान था'' ''श्रोत्र का श्रोत्र मन का मन'' आदि मन्त्रों का अर्थ है कि भगवद्विग्रह दर्शन-श्रवण आदि व्यापारों में प्राकृत करण (इन्द्रियों) के अधीन नहीं है।

''वह सब ओर पाणि-पाद है'' ''उसका देह चिदानन्दघन है'' इसी को मूल में कहा गया है वह भौतिक पाणि-पाद वाला नहीं अपितु आनन्दमात्र पाणिपाद वाला है। उसके लिए निर्गुण आदि (विशेषणों का वही अर्थ है जो पुराणों में दिखलाया गया है। यदि परमात्मा में अप्राकृत स्वरूप एवं गुणों का निषेध करेंगे तब श्रुति-स्मृतियों में दिखता हुआ विरोध अपरिहार्य रहेगा। ईश्वर उभयाश्रय (दृश्यादृश्य) तथा उनसे भिन्न सच्चिदानन्दविग्रह है जैसे कहा है-सच्चिदानन्दविग्रह दृश्यादृश्य का आश्रय है। ''न चान्तर्नबहिर्यस्य'' इत्यादि के द्वारा भगवद्विग्रह को ही पूर्ण ब्रह्म कहा है (श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध) वह महद् ब्रह्म अपूर्व है, जिससे कोई पर नहीं है, जो अनन्तर और अबाह्य है-यह श्रुति वाक्य है। इस प्रकार वह आनन्दमात्र है अतः उसके कर-चरण आदि अवयवों की उसमें स्वगत भेद कल्पना नहीं है।

ननु एवं तर्हि अप्राकृतधाम्नि तत्परिकरयोरपि तेनाभेदोऽस्तु, बाधकाभावादिति चेदाह,-परिकरपर्य्यन्त-धावनमन्याय्यं, यतो यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायस्य सर्वसम्मतत्वादिति। पुनश्च ब्रह्मणि साकारत्वासंभवतामाशंक्य निराकरोति-अधिदैवस्य तथात्वादित्यादिना। तत्रानुमानसमन्वयोक्तोदाहरणं पठति-सिन्धौसिन्धुरित्यादि। ''वाय्वग्निनाकभूमीनामंगाधिष्ठातृदेवताः। निरूप्यते ब्रह्मणोऽपि तथा गोविन्दविग्रहः।'' इति पाद्मोक्तवचनं प्रागेवोदाहृतम्। इति सर्वं निरवद्यमिति-तदेवं श्रीकृष्णविग्रहस्य परात्परपूर्णब्रह्मत्वं निर्दोषत्वं च साधितम्।।

अब प्रश्न होता है कि अप्राकृतधाम में उनके परिकरों के साथ उसका अभेद होना चाहिए किसी बाधक के उपस्थित न रहने के कारण-यदि कोई ऐसा कहे तब उत्तर यह है कि परिकर पर्यन्त जाना अन्याय है क्योंकि ''यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'' (जिस अर्थपरक शब्द होता है वही उस शब्द का अर्थ होता है) यह न्याय सर्व सम्मत है (अर्थात् जो शब्द परमात्मा, सच्चिदानन्दविग्रह आदि अर्थ को ज्ञात करवाने के लिए प्रयुक्त होते हैं उनसे परिकर अर्थ समझना युक्ति संगत नहीं है)।

पुनः ब्रह्म में साकार होने की असम्भावना की आशंका प्रकट करके उसका निराकरण करते हैं। (अर्थात् ब्रह्म साकार नहीं हो सकता-सम्भव नहीं है कि ब्रह्म साकार हो-इस आशंका का खण्डन करते हैं) अधिदैव साकार होता है-जैसा कि अनुमान समन्वय में कहा गया है-सिन्धु में सिन्धु, वायु में मरुत्, अग्नि में अग्नि, पृथिवी में धरा और गंगा में गंगा अधिदेवता के समान ब्रह्म में ब्रह्म मूर्त्तिमान् है। अग्नि वायु आदि अधिष्ठातृ देवता साकार हैं। ब्रह्म के भी गोविन्दविग्रह (साकाररूप) का निरूपण किया जाता है। यह पद्मपुराण का वचन पहले कह दिया गया है। यह सब निरवद्य है। इस प्रकार श्रीकृष्ण विग्रह का परात्परपूर्णब्रह्मत्व दोष रहित सिद्ध होता है।

ननु चतुर्भुजादिभगवद्रूपाणामपि शास्त्रे परत्वे उद्घुष्यमाणे कथं द्विभुजस्यैव परात्परत्वं? तथात्वे च शास्त्रेऽभ्यस्यमानचतुर्भुजादीनां परत्वस्यौपचारिकत्वापत्तेः, शास्त्रावहेलनप्रसंगश्चेति चेन्न। ''यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय'' इति श्रीभागवतोक्तेः, ''मणिर्यथा

विभागेन नीलपीतादिभिर्गुणैः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः'' इति पंचरात्रोक्तेः, ''तं यथायथोपासते तथैव भवति'', ''इतिश्रुतेश्च तत्तद्भक्ताभिरुच्यनुसारेण तत्तद्भगवद्रूपस्य पारम्येऽभिहितेऽपि सर्वान्तरतमस्य असमोर्द्ध-सौन्दर्यमाधुर्य्यमयरूपस्यैव पूर्वोक्तन्यायेनान्तरंगतमत्वं व्यूहाङ्गित्वं च, तस्यैव साक्षाद्रसस्वरूपत्वेन निरतिशयानन्दरूपत्वात् निरतिशयानन्दप्रदत्वं परमप्रियतास्पदत्वं चेत्युक्तमेव। ''यत्र नान्यत्पश्यति-स भूमे''तिश्रुतेश्च। ''एतद्रसाभितृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिःक्वचित्'' इति श्रीभागवतोक्तन्यायाच्च। तदेवाह-चतुर्भुजत्वादिकमस्यैव प्रकाशविलासादिना संगमनीयमिति। अन्यथा प्रागुदाहृतं पुरा-पंचरात्रतापन्यादिषु श्रुतं तस्यासमोर्द्धत्वं चतुर्भुजादिकारणत्वं च बाध्येतेति भावः। श्रीकृष्णयामलोक्त्या उक्तसिद्धान्तं पुष्णाति-''सर्वेषामीश्वरः कृष्णः'' इत्यादिना।

प्रश्न होता है कि शास्त्र में चतुर्भुज भगवद्रूपों का परत्व उद्घोषित किया गया है तब द्विभुजरूप का ही परात्परत्व कैसे है? और यदि द्विभुज का ही परात्परत्व स्वीकार करने पर शास्त्र प्रतिपादित चतुर्भुज आदि का परत्व गौण हो जाएगा तथा शास्त्र की अवहेलना का प्रसंग भी उपस्थित होगा-ऐसे कोई कहे तो यह ठीक नहीं है। ''साधकजन जिस-जिस बुद्धि से उरु (बहुतों के द्वारा गीयमान, विस्तृत गति वाले) को विभावित करते हैं वह-वह वपु (रूप) सज्जनों के अनुग्रह के लिए उद्यत रहता है।'' यह भागवत की उक्ति है।

''जैसे नील-पीत आदि गुणों के योग से मणि भिन्न-भिन्न रूप में भासित होती है उसी प्रकार भक्तों के ध्यान भेद से अच्युत (श्रीकृष्ण) भी रूप भेद को प्राप्त होता है। पञ्चरात्र की इस उक्ति से यह सिद्ध होता है। श्रुति का भी वचन है-''जिस-जिस प्रकार से भक्त उसकी उपासना करता है वह वैसा ही हो जाता है'' इन सभी श्रुतियों से भक्तों की रुचि के अनुसार उन-उन भगवद्रूपों के पर सिद्ध होने पर भी सर्वान्तरतम, अतुलनीय सौन्दर्य और माधुर्य रूप वाले द्विभुज श्रीकृष्ण का ही पूर्वोक्त न्याय से अन्तरङ्गत्व और व्यूहाङ्गित्व सिद्ध होता है। उसी के साक्षाद् रस रूप होने से, निरतिशय आनन्दरूप होने से उसे निरतिशय आनन्दत्व तथा परमप्रियतास्पदत्व कहा गया है। ''जहाँ अन्य नहीं देखता है'' ''वह भूमाभाव है'' इस श्रुति से तथा

''इसके रस से तृप्त की अन्यत्र कहीं रति नहीं होती है'' भागवत की इस उक्ति से श्रीकृष्ण की परमप्रियता सिद्ध होती है। प्रकाश के विलास आदि से इस श्रीकृष्ण की चतुर्भुज आदि के रूप में संगति बैठानी चाहिए अन्यथा पूर्व में उदाहृत पुराण-पञ्चरात्र और तापनी आदि में सुनी गई उसकी (द्विभुज की) अतुलनीयता तथा चतुर्भुज आदि का कारणत्व बाधित हो जाएगा। श्रीकृष्णयामल की उक्ति से उक्त सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं-''सबका ईश्वर कृष्ण है।''

एतेन सर्वावताराणां व्यूहानां च द्विभुजश्रीराधाकृष्णावरणस्थितत्वं, तद्वैभवत्वं नित्यधामस्थितिकत्वं, तत्तद्भक्तैस्तत्तद्रूपोपास्यत्वं, कार्यार्थं प्राकृत-मंडलेऽवतरणं, सर्वेषां भगवद्रूपाणामविशेषेण पुरुषार्थचतुष्टयदातृत्वं चोक्तं भवति। भगवदवतारेषु न्यूनाधिकशक्त्याविष्करणमेव पारम्यापारम्योक्तेर्हेतुः। यस्मिंस्तु भगवद्रूपे निरतिशयैश्वर्य्यमाधुर्य्याविष्कारो न कदाचिद्व्यभिचरति तदेव तु द्विभुजं श्रीकृष्णरूपं शास्त्रे सर्वकारणकारणमित्युक्तमित्यर्थः। एतत्तुप्रेमैकग-म्यमित्याह श्रीवासुदेवः-''विना प्रेमानुसन्धानात्तत्प्राप्तिर्नैव जायत'' इति।

इस विवेचन से सभी अवतारों और व्यूहों की श्रीराधाकृष्णावरण में स्थित होना, उसका वैभव, नित्यधाम में स्थितित्व भिन्न-भिन्न भक्तों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों का उपास्यत्व, कार्य के लिए प्राकृत मण्डल में अवतरण, सभी भक्त रूपों का अशेषरूप से पुरुषार्थ चतुष्टय का दातृत्व उक्त होता है। भगवदवतारों में कौन पर है कौन अपर है इसका कारण अवतारों में शक्ति का आविष्कार न्यूनता और अधिकता है। जिस भगवद् रूप में निरतिशय ऐश्वर्य और माधुर्य का आविष्कार कभी व्यभिचरित नहीं होता है अर्थात् सर्वदा बना रहता है वही द्विभुज श्रीकृष्ण रूप शास्त्र में सभी कारणों का कारण कहा गया है। यह सब एकमात्र प्रेम से गम्य है-यह बात वासुदेव ने कही है-''प्रेम के अनुसन्धान के बिना उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।''

यथोक्तं लघुभागवतामृते--

स्वयंरूपस्तदेकात्मरूप आवेशनामकः।
इत्यसौ त्रिविधो भाति प्रपञ्चातीतधामसु।।

तत्र स्वयंरूपः--

अनन्यापेक्षि यद्रूपं स्वयंरूपः स उच्यते।। स च

दर्शित एव प्राक् ।। अथ तदेकात्मरूपः--

यद्रूपं तदभेदेन स्वरूपेण विराजते ।
आकृत्यादिभिरन्यादृक् स तदेकात्मरूपकः ।।
स विलासः स्वांश इति धत्ते भेदद्वयं पुनः ।।

तत्र विलासः ।। स्वरूपमन्याकारं यत्तस्य भाति विलासः ।

प्रायेणात्मसमं शक्त्या स विलासो निगद्यते ।।
परमव्योमनाथस्तु श्रीकृष्णस्य यथा मतः ।
परमव्योमनाथस्य वासुदेवश्च यादृशः ।।

अथ स्वांशः--

तादृशो न्यूनशक्तिं यो व्यनक्ति स्वांश ईरितः ।
संकर्षणादिर्मत्स्यादिर्यथा तत्तत्स्वधामसु ।।
अयमेवावताराख्यां धत्ते सद्धर्मपालने ।। ते च ।।
पूर्वोक्ता विश्वकार्यार्थमपूर्वा इव चेत्स्वयम् ।
द्वारान्तरेण वाविः स्युरवतारा इतीरिताः ।

श्रीकृष्णयामले--

चत्वार्य्यङ्गानि कृष्णस्य प्रपंचातीतधामसु ।
विलासाङ्गं लयाङ्गं च लीलाङ्गं भोगसंज्ञकम् ।।
भोगाङ्गेष्ववताराः स्युर्विज्ञेयास्ते चतुर्विधाः ।
केचित्कार्यावतारास्तु के चान्ये कारणात्मकाः ।।
कार्य्याभासोद्यताः केचित्केचित्कारणभासकाः ।
कार्य्यावतारास्त्वंशाख्याः पुरुषाख्यास्तथापरे ।
ततः परे गुणात्मान आवेशाख्यास्ततः पर इति ।।

अथावेशाः--

ज्ञानशक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः ।
त आवेशा निगद्यते जीवा एव महत्तमाः ।।
वैकुण्ठेऽपि यथा शेषो नारदः सनकादयः ।
अक्रूरदृष्टास्ते चामी दशमे परिकीर्त्तिता इति ।।
प्रकाशस्तु न भेदेषु गण्यते स हि नो पृथक् ।।
यथा ।। अनेकत्र प्रकटता रूपस्यैकस्य यैकदा ।

सर्वथा तत्स्वरूपैव स प्रकाश इतीर्य्यते ।।
द्वारवत्यां यथा कृष्णः प्रत्यक्षं प्रतिमन्दिरं ।
चित्रं बतैतदित्यादि प्रमाणेन हि साधितः ।।
गोकुले रासलीलायां प्रकटायां स दर्शितः ।
कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्व्रजयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ।। अपिच-
क्वचिच्चतुर्भुजत्वेऽपि न त्यजेत्कृष्णरूपताम् ।
अतः प्रकाश एव स्यात्तस्यासौ द्विभुजस्य च ।।
प्रपंचातीतधामत्वमेषां शास्त्रे पृथग्विधम् ।
पाद्मीयोत्तरखण्डादौ सुप्रसिद्धं विराजते ।
प्रकृतस्योपयुक्तत्वाद् दिङ्मात्रमिह दर्शितम् ।
ज्ञेयो विशेषजिज्ञासा चेत्सन्दर्भेषु विस्तरः ।।
।। इति श्रीकृष्णस्वरूपनिरूपणयुक्तिः ।। प्र. २।।

लघु भागवतामृत में जैसे कहा है-प्रकाश से अतीत धामों में यह श्रीकृष्ण स्वयंरूप, एकात्मरूप, आवेशनामक स्वरूप-इन तीन रूपों में प्रकाशित होता है।

स्वयंरूप-किसी अन्य की अपेक्षा न करने वाला रूप स्वयंरूप कहा जाता है। उसका पूर्व में विवेचन हो गया।

तदेकात्मरूप--

आकृति आदि से अन्य के समान प्रतीत होने वाला रूप स्वरूप से उससे (श्रीकृष्णचन्द्र से) अभेद रूप से विराजमान होता है उसे तदेकात्मरूप कहते हैं। वह (तदेकात्मरूप) पुनः विलास और स्वांश-इन दो भेदों को धारण करता है।

विलास (स्वरूप)--

उसका अन्याकार स्वरूप शक्ति से विलास पूर्व प्रायः आत्मसदृश प्रतीत होता है-उसे विलास कहते हैं। जैसे श्रीकृष्ण का परमव्योमनाथ स्वरूप तथा परमव्योमनाथ का वासुदेव स्वरूप।

स्वांश (रूप)--

श्रीकृष्ण सदृश होकर भी जो न्यूनशक्ति को व्यक्त करे उसे स्वांश

(स्वरूप) कहते हैं-जैसे अपने-अपने धाम में संकर्षण आदि तथा मत्स्य आदि।

सद्धर्म का पालन करने में ये ही अवतार की संज्ञा धारण करते हैं।

विश्व कार्य के लिए पूर्वोक्त ये स्वयं अपूर्व के समान अन्य माध्यम से आविर्भूत होते हैं तब अवतार कहे जाते हैं।

श्रीकृष्णयामल में--

प्रपञ्च से अतीत धाम में श्रीकृष्ण के चार अंग हैं-विलासाङ्ग, लयाङ्ग, लीलाङ्ग और भोग संज्ञक अङ्ग।

भोगाङ्ग में चार प्रकार के अवतार समझने चाहिए। उनमें कुछ कार्यावतार अन्य कारणात्मकावतार, कुछ कार्याभासावतार और कुछ कारणाभासावतार हैं। उनमें कार्यावतार तो अंशाख्य अवतार हैं, कारणावतार पुरुषाख्य अवतार हैं, कार्याभासावतार गुणावतार है तथा कारणाभास अवतार आवेशाख्य अवतार हैं।

आवेशरूप--

जहाँ जनार्दन ज्ञानशक्ति आदि कला से आविष्ट होते हैं तब महत्तम जीवों को ही आवेशरूप कहते हैं। जैसे वैकुण्ठ में शेष, नारद, सनकादि हैं तथा दशम स्कन्ध में वर्णित आवेशरूप हैं अक्रूरदृष्ट जो हैं प्रकाश (प्रकाशावतार या प्रकाशरूप) इन भेदों में नहीं गिना जाता है वह हमसे (वासुदेव से) पृथक् है। जैसे-एक रूप की एक बार सर्वथा उसी स्वरूप वाली अनेकत्र (अनेक स्थानों पर) जो प्रकटता है वह ''प्रकाश'' कहा जाता है। जैसे द्वारका में श्रीकृष्ण प्रति मन्दिर में (प्रत्येक घर में-जितनी रानियाँ उतने ही मन्दिर, उतने ही श्रीकृष्ण) प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान रहे-यह विचित्र बात प्रमाण से सिद्ध कर दी गई।

गोकुल में प्रकट हुई रासलीला में श्रीकृष्ण ने जितनी गोपियाँ थी उतने ही अपने आपको प्रकट करके दिखा दिया और आत्माराम ने भी अपनी लीला से उन गोपियों के साथ रमण किया।

और भी--

वह श्रीकृष्ण कहीं चतुर्भुज होने पर भी कृष्ण रूपता (द्विभुज रूप) को नहीं छोड़ता है। अतः उस द्विभुज का यह प्रकाश रूप है।

इन सबको प्रपञ्चातीतधामरूप शास्त्र में भिन्न रूप से कहा गया है जो पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में प्रसिद्ध रूप से विराजमान है। जितना प्रकृत में उपयोगी है उसका दिङ्मात्र यहाँ दिखा दिया गया है यदि विशेष जिज्ञासा हो तो विस्तार से सन्दर्भ ग्रन्थों में देखना चाहिए।

इति श्रीकृष्णस्वरूपनिरूपणयुक्तिः ।।प्र.२।।

लघुभागवतामृतोक्त्याऽवताराणां वर्गीकरणं दर्शयति,-द्विभुजस्य व्यूहाङ्गित्व-प्रतिपत्तये। तत्र स्वयंरूपादिसंज्ञानां पृथक् पृथक् लक्षणं वक्ति- ''अनन्यापेक्षि यद्रूप''मित्यादिना। तत्र ''प्रकाशस्तु न भेदेषु गण्यते स हि नो पृथक्, सर्वथा, सर्वथा तत्स्वरूपत्वा''दिति सोदाहरणमाहअनेकत्रेत्यादिना। अपि च क्वचिच्चतुर्भुजत्वेऽपि स्वयंरूपतां न त्यजति, तदासौ द्विभुजस्य ''प्रकाश'' एव ज्ञेय इत्याह क्वचिदित्यादिना। इत्येवं वृन्दावनेन्द्रस्य श्रीकृष्णचन्द्रस्य सर्वकारण-कारणत्वं सर्वेश्वरेश्वरत्वं सर्वप्रेरकत्वं सर्वसेव्यत्वं, सर्ववरेण्यत्वं, व्यूहाङ्गित्वं निरतिशयैश्वर्य्यमाधुर्य्यत्त्वं, सर्वकारणकारणत्वं, सच्चिदानन्दविग्रहत्वं, प्रेमानन्दरसघनत्वम्, अपास्तसमस्तदोषत्वं, अशेष-कमनीयकल्याणगुणगणवत्त्वं संक्षेपेणोक्तं, विस्तरस्तु पाद्मादौ द्रष्टव्य इत्याह- पाद्मोत्तरखंडादावित्यादिना। तदेवं श्रीमदाद्याचार्य्यभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्र-प्रोक्तमेव श्रीकृष्णस्वरूपं 'स्वभावतोपास्ते'त्यादिकं मञ्जूषाकारैरत्रविविध-शास्त्रप्रमाणपुरस्सरं प्रपञ्चितमिति ज्ञेयं सुधीभिः।

इति श्रीराधाभक्तिमंजूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्याख्यटिप्पणीयुतायां श्रीकृष्णस्त्ररूपनिरूपणयुक्ति।।२।।

।। श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।।

मूल में लघु भागवतामृत की उक्ति से अवतारों का वर्गीकरण दिखलाते हैं-द्विभुज के व्यूहाङ्गित्व ज्ञान के लिए'' ''उस भगवान् के स्वयंरूप, तदेकात्मरूप आदि भेदों के पृथक्-पृथक् लक्षण किए जा रहे हैं।'' ''अन्यापेक्षियद् रूपम्'' आदि के द्वारा (इनका हिन्दी अनुवाद मूल में दे दिया है)।

प्रकाशरूप को स्वयंरूप आदि भेदों में नहीं गिना जाता है भगवान् का स्वरूप होने के कारण वह वासुदेव आदि रूपों से पृथक् है। भगवद्विग्रह चतुर्भुज रूप होने पर भी कहीं अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता इसलिए

द्विभुज रूप प्रकाशरूप ही है। इस प्रकार वृन्दावनेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र का सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणकारणत्व, सर्वसेव्यत्व, सर्ववरेण्यत्व, व्यूहाङ्गित्व, निरतिशय ऐश्वर्यत्व, माधुर्यत्व, सच्चिदानन्दविग्रहत्व, प्रेमानन्दरसघनत्व, समस्तदोषाभावत्व, अशेषकमनीय कल्याणगुणगणत्व संक्षेप से कहा गया है विस्तार से पद्मपुराण आदि में देखना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमदाद्याचार्य भगवन्निम्बार्काचार्य द्वारा ''स्वभावतो-ऽपास्तसमस्तदोष...'' इत्यादिक श्रीकृष्णस्वरूप का जो वर्णन किया था उसे ही मञ्जूषाकार ने यहाँ विविध शास्त्र प्रमाण पूर्वक प्रस्तुत किया है-ऐसा विद्वानों को समझना चाहिए।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा में भूषा प्रदर्शिनी नामक टिप्पणी में
श्रीकृष्णस्वरूपनिरूपण युक्ति श्रीकृष्णार्पणमस्तु।। प्र. २।।

।। अथ श्रीराधिकासद्भावयुक्तिः ।।प्र.३।।

एवं सिद्धेऽधिके कृष्णे साध्यते राधिकाऽधिका।
शोधिते त्वं पदार्थे यत्तत्पदार्थस्य शोधनम्।।
यदिति यथा।। तत्र बह्वृचपरिशिष्टश्रुतिः।।

राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजन्ते जनेष्वा इति अस्या अर्थः--राधयति वशीकरोति हरिमिति राधा अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वर इति श्रीदशमोक्तेः।। तथा राधया सह माधवः श्रीकृष्णो देवः।। दीव्यति नित्यं क्रीडतीति तथा सः।। नित्यविहारीत्यर्थः।। यद्वा हेतौ तृतीया।। फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुरिति शाब्दिकाः।। ततश्च राधया हेतुभूतया माधवः।। मायास्तस्या एव धव इति।। सैव तन्माधवतायां हेतुरित्यर्थः।। तथा देवोऽपि।। सैव तस्य नित्यविहारित्वे हेतुरित्यर्थः।। यद्वा--इत्थं भूतलक्षणे।। छात्रेणोपाध्यायमपश्यदितिवत्।। अत्र देवत्वं माधवत्वं च प्रकारस्तस्य ज्ञापिका राधेत्यर्थः।। यद्वा--राधयोपलक्षितो माधवः।। राधाज्ञाप्यमाधवत्वविशिष्ट इत्यर्थः।। जटाभिस्तापस इतिवत्।। यद्वा माधवः राधया सहैव देवः परमसेव्यः।। अन्यथा दोषश्रवणात्।। यथा सम्मोहनतन्त्रे।। गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्च्चयेत्।। जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत्पातकी शिवे।। स ब्रह्महा सुरापी च स्वर्णस्तेयी च पञ्चमः।। एतैर्दोषैर्विलिप्येत तेजोऽभेदान्महेश्वरि।। यस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम्। यस्मादिदं महादेवि गोपालेनैव भाषितम्।। इति।। अत्र कारिका।। ज्योतिः पदस्य गौरत्वे मुख्यावृत्तिः सितेतरे गौणीति तेन विज्ञेयं मुख्यत्वं गौरतेजस इति।।

अथ श्रीराधिकासद्भावयुक्तिः।।प्र. ३।।

इस प्रकार (श्रीकृष्ण स्वरूप निरूपण युक्ति प्रकरण अनुसार) श्रीकृष्ण के सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होने पर अब श्रीराधा की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की जा रही है। जैसे ''त्वम्'' पदार्थ के शोधित किए जाने पर ''तत्'' पदार्थ का शोधन होता है। यद् का अर्थ यथा है। इस विषय में बाह्वृच परिशिष्ट की श्रुति है- भक्तजनों में राधा के साथ माधव और माधव के साथ राधिका विशेष

रूप से शोभित होते हैं। इसका अर्थ है ''जो हरि को वश में करे वह राधा (राधयति वशीकरोति हरिमिति राधा)'' श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में कहा गया है- भगवान् (छः प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त) ईश्वर (सर्वसमर्थ) हरि (सबके सन्ताप हरण करने वाला) इस (गोपी विशेष) से राधित (वश में किया गया) है। तथा राधा के साथ माधव श्रीकृष्ण देव है। देव का अर्थ है- दीव्यति नित्यं क्रीडति स देवः-अर्थात् जो राधा के साथ नित्य क्रीडा करता है। नित्यविहारी यह अर्थ है देव कृष्ण का। अथवा यहाँ राधा शब्द में हेतु में तृतीया मानी जा सकती है। वैयाकरण हेतु का अर्थ करते हैं-जो फल का साधन बनने योग्य पदार्थ होता है वह हेतु (काशिका)। माधव को माधव बनाने में राधा हेतु है। मा अर्थात् लक्ष्मी-राधा का धव-पति माधव है। राधा ही माधवता में हेतु है। राधा के बिना श्रीकृष्ण माधव नहीं है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण के देव होने में भी राधा ही हेतु है। श्रीकृष्ण के नित्यविहारी होने में भी राधा ही हेतु है क्योंकि राधा के साथ ही उनका नित्यविहार होता है। अथवा ''राधया'' पद में ''इत्थं भूतलक्षणे'' अर्थात् उसके लक्षण (ज्ञापक चिह्न) से तृतीया मान सकते हैं। जैसे छात्र से ज्ञापित उपाध्याय को देखा। वैसे ही यहाँ देवत्व और माधवत्व एक प्रकार है उसकी ज्ञापिका (लक्षण-चिह्न) श्रीराधा है अर्थात् राधा रूपी चिह्न के बिना श्रीकृष्ण का देवत्व और माधवत्व ज्ञापित प्रकट होता है। अथवा यहाँ राधा को उपलक्षण भी मान सकते हैं-अर्थात् राधा से उपलक्षित माधव। इस प्रकार श्रीकृष्ण का अर्थ होगा, राधा द्वारा ज्ञाप्य माधवत्व विशिष्ट। ''जटाओं से तपस्वी- (जटाओं से ज्ञाप्य तपस्वी) के समान।'' अथवा ''राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका'' का अर्थ यह किया जा सकता है कि ''राधा के साथ ही माधव देव परम सेव्य है। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो दोष आता है। जैसे सम्मोहन तन्त्र में कहा है-हे शिवे ! गौर तेज (राधा) के बिना जो श्यामतेज (श्रीकृष्ण) की अर्चा करता है, जप करता है अथवा ध्यान करता है वह पातकी (परम पापी) होता है। उसे ब्रह्महत्या करने का, सुरा पान करने का, स्वर्ण चुराने का दोष लगता है। हे महेश्वरि। दोनों तेजों में भेद करने के कारण साधक इन दोषों से लिप्त होता है। हे महादेवि ! जिस प्रयोजन से ज्योति राधा-माधव रूप में दो प्रकार से प्रकट हुई-उसका कथन गोपाल ने

स्वयं ही किया है। यह कारिका है। ज्योति पद का मुख्य अर्थ गौरतेज है-श्यामतेज तो गौण अर्थ है-अतः गौरतेज की ही मुख्यता समझनी चाहिए। तथैव व्याहृतं श्रीमत्सुधानिधौ--

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशयः,
सोऽयं पूर्ण-सुधारुचेः परिचयं राकां बिना काङ्क्षति।
किञ्च श्यामरतिप्रवाहलहरी बीजं न ये तद्विदुस्ते,
प्राप्यापि महासुधाम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुरिति।।

न चैतावता माधवाराधनस्याङ्गं राधिकाराधनमिति भ्रमः कार्यः।। स्वयं पुरुषार्थरूपस्यापि श्रीभगवन्नाम्नः कर्मज्ञानादिपोषण-वत्तत्पोषकत्वात्।। अथ माधवेनैव राधिकेति।। अत्र देव इत्यनुषंगः।। ततश्च माधवेनैव राधिका देवीति लिङ्गविपरिणामोऽपि।। उभयत्र विभ्राजत इति वचनविपरिणामोऽपि।। यद्वा नाना रूपैरिति शेषः।। जनेषु तत्तदाविर्भावभक्तेषु नैवं वचनविपरिणामोऽपि।। अत्र चान्वय-सौकर्य्याय यथापदमुपादेयम्।। यदाह वामनः --

येनाप्नोति परां भूमिं पदगुप्तेऽभिधेयता।
तदव्ययमुपादेयं पदव्याख्याविशारदैरिति।।

ततश्च यथा माधवो देवो राधया आ सर्वतः विभ्राजते तथा राधिका देवी माधवेनैवेत्यर्थः।। अत्राद्यपादे सहायार्थतृतीयया प्रतीतमप्राधान्यं द्वितीपपादगतमेवपदं व्यावर्त्तयति।। नन्वपूर्वमिवोच्यते।। बहुभिरन्यथा मननात्तत्राह-जनेष्विति।। परमभक्तेष्वित्यर्थः।। सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत्। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना इति श्रीतृतीये कपिलोक्तेर्य एवंविदस्त एव जना नान्य इति भावः।। अत्र कारिकाः--

शिवकेशववच्चात्र भेदाभेदौ न सम्मतौ।
ज्योत्स्नावच्चन्द्रवह्न्योश्च प्रभावच्छशिसूर्य्ययोः।।
शक्तित्वे नहि गौणत्वं न जीवेश्वरवद्द्विदा।
एतौ एतत्समावेव परमाद्भुतवैभवौ।। यतः-
अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।।

इति भारतोक्तेः ।।

नेत्रयोः श्रोत्रयोर्बाह्वोर्द्वैरूप्येऽप्येकता यथा ।
वामदक्षिणभेदेऽपि न्यूनताधिकतापि नो ।।
इन्द्रियैक्यात्तथात्रापि वस्त्वैक्यमिति निर्णयः ।।
एतदेव विवरिष्यते ।।

इति श्रीराधिकासद्भावयुक्तिः ।।३ ।।

जैसे कि श्रीमत् सुधानिधि में कहा है--

जो राधा की दासता त्याग कर गोविन्द की सङ्गति का प्रयास करता है, वह रात्रि के बिना पूर्णसुधा कान्ति-चन्द्रमा का परिचय चाहता है। जो श्याम की प्रीति प्रवाह रूप लहरी की बीजभूता राधा को नहीं जानते हैं वे अमृत के महासागर को प्राप्त करके भी क्या उसकी एक बून्द भी पा सकेंगे।

इस विवेचन से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि राधिका की आराधना माधव की आराधना का अङ्ग है। अपितु राधा की आराधना कृष्ण की आराधना की पोषिका (पोषण करने वाली) है जैसे कर्म-ज्ञान आदि स्वयं पुरुषार्थ रूप भगवन्नाम का पोषण करते हैं।

अथ पूर्वकारिका में उक्त ''माधवेनैवराधिका'' में यहाँ देव शब्द जुड़ा है अतः यहाँ ''माधवेनैव राधिका देवी'' इस प्रकार देवशब्द में लिङ्गविपरिणाम कर लेना चाहिए। दोनों स्थान पर विभ्राजते'' इस प्रकार वचन में भी विपरिणाम करना चाहिए। (ग्रन्थकार ने प्रकरण के प्रारम्भ में बह्वृच परिशिष्ट की श्रुति उद्धृत की थी जो इस प्रकार है)--

''राधया माधवो देवो माधवेनैव राधका विभ्राजन्ते जनेष्वा।'' ''राधया माधवो देवो'' इस अंश पर अपना व्याख्यान कर चुके हैं अब ''माधवेनैव, राधिका'' इस अंश पर व्याख्यान कर रहे हैं-यहाँ इनका कहना है कि जिस प्रकार ''राधया माधवो देवो'' में ''देव'' शब्द आया है उसी प्रकार देव शब्द में लिङ्ग परिर्वतन करके ''माधवेनैव राधिका देवी'' कर लेना चाहिए साथ ही बहुवचन में प्रयुक्त ''विभ्राजन्ते'' में भी वचन परिवर्तन करके एक वचन का प्रयोग ''विभ्राजते'' बना लेना चाहिए अर्थ की दृष्टि से। इस प्रकार अर्थ होगा-माधव के साथ राधिका देवी सुशोभित होती है)।

ग्रन्थकार दूसरा उपाय यह बतला रहे हैं कि ''नानारूपैः'' यदि यह

पाठ शेष मान लिया जावे-अर्थात् यहाँ यह पद कहना शेष रह गया (नानारूपैः विभ्राजन्ते) तब वचन में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यहाँ अन्वय सुगम करने के लिए उचित पद ले आना चाहिए। जैसा कि वामन में कहा है-

''श्लोक आदि में पद के गुप्त रहने पर जिस पद से वाच्यार्थ उच्चकोटि को प्राप्त होवे, पद व्याख्या में विशारदों को उस अव्यय को ग्रहण कर लेना चाहिए।''

इस प्रकार जैसे पूर्व उक्त कारिका में-''माधवदेव राधा के साथ ''आ'' सब ओर से सुशोभित होता है उसी प्रकार से राधिका देवी माधव के साथ सब ओर से सुशोभित होती है।

कारिका के आद्यपाद ''राधया'' में सह अर्थ में तृतीया से राधा का अप्राधान्य प्रतीत होता है (सहयुक्तेऽप्रधाने-अप्रधान में तृतीया होती है) उस अप्राधान्य को द्वितीय पाद में आने वाला ''राधिका'' पद हटा देता है। ननु अपूर्व ही कहा जारहा है। बहुत से लोगों ने राधा को स्वरूप शक्ति आदि के रूप में अन्यथा समझा है-इसलिए उनके खण्डन के लिए कहा है ''जनेपु'' अर्थात् परमभक्तों में राधामाधव दोनों समप्राधान्य रूप से विराजमान रहते हैं। (भगवान् के विग्रह में समा जाना) मोक्ष तक नहीं लेते। भागवत ३/२९/३ । कारिका के ''जन'' पद के अर्थ को समझाने के लिए श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में भगवान् कपिल की उक्ति को उद्धृत करते हैं।

भक्तजन मेरे द्वारा दिए जाने पर भी, मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य (भगवान् के नित्य धाम में निवास), सार्ष्टि (भगवान् के समान ऐश्वर्य भोग, सामीप्य (भगवान् की नित्य समीपता) सारूप्य (भगवान् का सा रूप) और सायुज्य

इस विषय में कारिकाएँ हैं--

श्रीराधा और कृष्ण में न तो शिव और केशव के समान भेद-अभेद (स्वाभाविक भेद सहिष्णु अभेद) स्वीकृत हैं और न चन्द्र और अग्नि की ज्योत्स्ना तथा चन्द्र-सूर्य की प्रभा के समान अभेद स्वीकृत है (अर्थात् गुण-गुणिभाव, शक्ति शक्तिमद् भाव आदि से अभेद)। श्रीराधा को शक्ति मानकर गौणरूप भी मान्य नहीं है और जीव और ईश्वर के समान भेद भी

मान्य नहीं है। परम अद्भुत वैभव वाले ये दोनों राधा-कृष्ण इनके (राधाकृष्ण के) समान हैं। क्योंकि-महाभारत में कहा है--

जों अचिन्त्य भाव हैं उनको तर्क से संयुक्त नहीं करना चाहिए। अचिन्त्य का लक्षण है-जो प्रकृति से परे हो।

नेत्र, श्रोत्र (कर्ण) और भुजाओं में दो रूप होने पर भी जैसे एकता है। इनमें वाम-दक्षिण के रूप में भेद होने पर भी किसी में न तो न्यूनता होती है और न अधिकता-इन्द्रिय की एकता होती है वैसे ही यहाँ राधाकृष्ण के विषय में वस्तु की एकता भेद नहीं है। यही निर्णय है-इसी का विवरण देंगे।

इति श्रीराधिकासद्भावयुक्तिः।।३।।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां श्रीराधिकासद्भावयुक्तिः।।३।।

(भा. भू. प्र.) अथ श्रीराधिकासद्भावो नाम तस्या श्रीकृष्णवदेव सच्छब्दवाच्य परब्रह्मस्वरूपता। तादृशराधिकायाः श्रीकृष्णेन सह नित्यानपाय्यभिन्नत्वमिति यावत्। प्रकृतयुगलोपास्तौ तत्प्रकारकतत्सद्भावस्यानिवार्य्यत्वेनापेक्षितत्वात्। किञ्च, युगलोपास्तिर्नाम अनादित एव समप्राधान्यात्मकदम्पतीरूपेणावस्थितस्य सर्वकारणकारणरूपसर्वमूलपरब्रह्मस्वरूपस्य, निःसमानातिशयस्य मिथः परस्परात्मरूपस्य, सर्वांशेन मिथस्तुल्यगुणस्वरूपशक्तिकस्य युगलस्योपासनम्। न तु गौणप्रधानात्मना गौणप्रधानभावितत्वेन वावस्थितस्य तदित्येष सिद्धान्तः श्रीमदाद्याचार्यचरणैः-''कल्लोलकौ वस्तुत एकरूपकौ राधामुकुन्दौ समभावभावितौ। यद्वत्सुसंपृक्तनिजाकृती ध्रुवावाराधयामो व्रजवासिनौ सदे''-त्यादिना स्फुटमुक्तं स्वपट्टशिष्यभाष्यकारं श्री श्रीनिवासाचार्य्यं प्रति युग्माराधनव्रतप्रस्तावे। पठितश्चायं श्लोकः श्रीमदाद्याचार्यशिष्यैः श्रीमदौदुम्बराचार्य्यैः स्वरचितौदुम्बरसंहितायाम्। स एष श्लोकोऽङ्गेत्वितिश्लोकोक्तमनुरूपसौभगादिविशेषणैर्विशेषितं श्रीवृषभानुजाख्यश्रीराधास्वरूपं स्पष्टीकुर्वन् युगलोपासनाभिमतं तत्स्वरूपमसंदिग्धतयोपस्थापयति। न च वेदान्तरत्नमंजूषाविरोधोऽत्राशंक्यस्तत्रापि श्रीतापन्युक्तमेव द्विभुजोपासनं चतुर्भुजोपासनस्य पर्य्यायत्वेनोक्तं तद्भाष्यकारैः।

अथ श्रीराधिकासद्भावयुक्तिः-में कहे गए श्रीराधिका सद्भाव पद का अर्थ है श्रीराधा श्रीकृष्ण के समान ''सत्'' शब्द से वाच्य परब्रह्मस्वरूप है) क्योंकि सत्स्वरूपा श्रीराधिकाजी का श्रीकृष्ण के साथ नित्य अनपायित्व

और अभिन्नत्व है। प्रकृत युगलोपासना में परब्रह्म स्वरूप सद्भाव अनिवार्य रूप में अपेक्षित है।

युगलोपासना अनादि काल से ही समप्राधान्य भाव वाले दम्पती रूप में स्थित है। यह युगलोपासना सर्वकारणों की कारणस्वरूपा, सर्वमूल परब्रह्मस्वरूपा, निःसमानातिशयरूपा तथा सर्वांशतः परस्पर तुल्यगुणशक्ति स्वरूपा है। इस उपासना में गौण प्रधानभाव नहीं है-आद्य आचार्यचरण ने यह सिद्धान्त युग्माराधनव्रत प्रस्ताव में अपने पट्टशिष्य भाष्यकार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी को इस प्रकार कहा है--

व्रजवासी, सम्यक् प्रकार से घुलीमिली निज आकृति वाले, वस्तुतः एक स्वरूप, तरङ्गस्वरूप, समभाव से भावित श्रीराधा-मुकुन्द की हम सदा आराधना करते हैं।

श्रीमद्आद्याचार्य के शिष्य श्रीऔदुम्बराचार्य ने अपनी औदुम्बर संहिता में इस श्लोक को उद्धृत किया है। यही श्लोक ''अङ्गे तु वामे वृषभानुजां..'' इस श्लोक में कहे गए ''अनुरूपसौभगां-आदि विशेषणों से विशेषित श्रीवृषभानुजा नामक श्रीराधा के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ युगलोपासना के रूप में स्वीकृत उसके (श्रीराधा के) स्वरूप को असंदिग्ध रूप से उपस्थित करता है। यहाँ वेदान्तरत्नमंजूषा के विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिए। क्यों मञ्जूषा में भी भाष्यकार श्रीतापनी में कही गई द्विभुज उपासना को चतुर्भुज उपासना के पर्याय के रूप में कहा है।

नापि प्रलपितव्यं-''दश-श्लोकी नाद्याचार्य्यप्रणीता, नाप्यौदुम्बरसंहिता श्रीमदौदुंबराचार्य्यप्रणीता, न वा श्रीयुगलशतं, श्रीमहावाणी वा तत्तदाचार्य्यप्रणीता, तथाङ्गीकृतेऽपि तत्तन्निबन्धेषु प्रक्षिप्तभागस्य पर्याप्तत्वसंभवात् विश्वसनीयप्रमाणाभावाच्च, पुराणादीनि चापि स्मृतित्वाविशेषात्स्वातन्त्र्येण प्रमाणकोट्यनर्हाण्यविश्वसनीयान्यर्वाक्तनानी''ति। प्रमाणाभावात्। तत्तन्निबन्धानां तदुत्तरवर्त्याचार्य्यचरणैस्तत्तदाचार्य्यप्रणीतत्वस्याङ्गीकारात्। सत्सु चाप्तोक्तप्रमाणेषु तादृशप्रलापानां धृष्टतामात्रत्वात्। ''मुखमस्तीतिवक्तव्य''मिति न्यायापातात्। नास्तिककोटिप्रवेशाच्च। यथा हि नास्तिका वेदानामपि अपौरुषेयत्वमनङ्गीकुर्वन्तो न लज्जन्ते तथैवैतेऽपीत्युपेक्ष्याः खलु सर्वथा शिष्टैः सुरापानोन्मत्तवत्। न संभवति

जगदुत्पत्तिस्थितिलयकर्त्तुः परमेश्वरस्य अन्तर्यामितयान्तः प्रविश्य जगच्छास्तुः तत्तज्जीवकर्मानुसारफलदातुस्तेषां चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धये अनादित एव न किमपि संविधानमस्तीति। तदभावे तस्य शास्तृत्वमेव न घटेत, राज्ञः यथा शासन-विधानाभावे। शब्दमूलत्वात् सृष्टेरिति सिद्धान्तात्। तस्मादनाद्यपौरुषेय-वेदशास्त्रमितिदिक्।

प्रकृतमनुसरामः। ''कल्लोलकौ वस्तुत एकरूपका'' वित्यनेन तयोः स्वरूपभेदो व्यावृत्तस्तुल्यस्वरूपकत्वं चोक्तम्। ''समभाव-भाविता'' वित्यनेन तत्स्वरूप-विषयकगौणप्रधानादिविषमभावो, सर्वप्रकारक-भेदाभेददृष्टिश्च व्यावृत्ता। उभय-विषयकैकप्रकारकभावभावनं च विहितं, व्यावृत्तं च पृथक्पृथक्भावभावनम्। सख्यैकभावसाध्यत्वात्प्रकृतोपास्तेः। इयं हि श्रीराधाकृष्णात्मकयुगलोपासना द्विप्रकारा-दाम्पत्यं सख्यं चेति अभिलाषाभेदात्। न च मन्तव्यं दाम्पत्यभावासंमिश्रयुगलविषयकशुद्ध-सख्यात्मिकोपास्तेरसंभवोऽभावोऽश्रौतत्वं वा, गोपीभावानुसारित्वादस्या उपास्तेरन्यथा तस्या विकृतरूपत्वापत्तेरिति। यत श्रीकृष्णेन सह दाम्पत्यकामोपास्तिर्ह्यैश्वर्य्यभावप्रधाना, अत एव चास्यां कान्तविग्रहसंभोगस्य प्राधान्यम्। शुद्धसख्यकामोपास्तिस्तु अनौपचारिकात्मैकरतियुगलस्य नितरां तत्सुखैकसुखित्वमयी स्वार्थसुखगन्धवातास्पृष्टा दाम्पत्यादप्युत्कृष्टतरेति उपक्रमादावुक्तम्। भगवद्भक्तिरसस्य खलु यावन्निर्निमित्तत्वं तावदुत्कृष्टत्वं वाच्यम्। ''अनिमितत्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी''इति श्रीकपिलोक्तेः।

टिप्पणीकार कहते हैं कि ''दशश्लोकी आद्याचार्य के द्वारा प्रणीत नहीं है'' ''औदुम्बर संहिता औदुम्बराचार्य द्वारा प्रणीत नहीं है'' तथा श्रीयुगलशतक अथवा श्रीमहावाणी, उन-उन आचार्यों द्वारा प्रणीत नहीं है- यह प्रलाप नहीं करना चाहिए। वैसे अङ्गीकार करने पर भी उन-उन निबन्धों में (दशश्लोकी आदि में) प्रक्षिप्त भाग के पर्याप्त होने की सम्भावना से, विश्वसनीय प्रमाण के अभाव से, और पुराण आदि स्मृति से अभिन्न होने से स्वतन्त्र रूप में प्रमाण कोटि के योग्य न होने से, अविश्वसीय और अर्वाचीन हैं किन्तु इन तर्कों में प्रमाण का अभाव होने से टिप्पणीकार के अनुसार मान्य नहीं है। अर्थात् ऐसे कोई प्रमाण नहीं है कि इन ग्रन्थों में प्रक्षिप्त अंश हैं, ये अविश्वसनीय हैं, या प्रमाण कोटि के योग्य नहीं है या अर्वाचीन हैं। इन-

इन ग्रन्थों को उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने उन-उन आचार्यों के द्वारा प्रणीत स्वीकार किया है (अर्थात् उत्तरवर्त्ती ने आचार्यों के द्वारा प्रणीत स्वीकार किया है) अर्थात् उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने दशश्लोकी को आद्याचार्य प्रणीत, औदुम्बर संहिता को औदुम्बराचार्य द्वारा एवं इसी प्रकार अन्यों को तत्-तत् आचार्यों द्वारा प्रणीत स्वीकार किया है) तथा आप्त पुरुषों के द्वारा प्रणीत ये ग्रन्थ प्रमाण स्वरूप हैं, विश्वसनीय हैं अतः इनके विषय में किए जाने वाले प्रलाप धृष्टतामात्र हैं। इन प्रलाप करने वालों के लिए यही न्याय प्रवृत्त होता है कि मुख है इसलिए कुछ भी बोलें। इनके ये प्रलाप नास्तिक कोटि में प्रवेश है। जैसे नास्तिक लोग ''वेदों के अपौरुषेयत्व को अस्वीकार करते हुए लज्जित नहीं होते हैं वैसे ही इनकी भी सज्जनों को उपेक्षा कर देनी चाहिए जैसे सुरापान से उन्मत्त की उपेक्षा की जाती है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाले, सबके अन्तः प्रविष्ट होकर जगत् का शासन करने वाले, जीवों के कर्मानुसार फल देने वाले, जीवों के चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए अनादिकाल से ही परमेश्वर का कोई संविधान नहीं था-यह सम्भव नहीं है। जैसे शासन विधान के अभाव में राजा का शासकत्व सिद्ध नहीं होता (अतः हमें स्वीकार करना चाहिए कि परेश्वर का इस प्रकार का संविधान था) सृष्टि का मूल शब्द यह सिद्धान्त है (तथा शासन का मूल भी शब्द है) शब्दराशि वेद अनादि और अपौरुषेय है-विधाता ने पूर्वकल्प के अनुसार सृष्टि की रचना की। अतएव सृष्टि नित्य है, वेद शब्द से ही सृष्टि का आविर्भाव है। पूर्ववर्त्ती कल्प के जीवों के कर्मों के अभाव से विषम सृष्टि नहीं हो सकती। वेद परमात्मा का निःश्वास है इसीलिए प्रत्येक कल्प में यज्ञ पुरुष परमात्मा से उनका आविर्भाव होता है। अर्थात् वेद परमात्मा की वाणी है।

अब प्रकृत का अनुसरण करते हैं। ''कल्लोलकौ वस्तुत एकरूपकौ'' इस वाक्य के द्वारा राधाकृष्ण में स्वरूप भेद का निषेध किया है साथ ही वे दोनों तुल्य स्वरूप वाले हैं यह कहा गया है। श्लोक में आए हुए ''समभावभावितौ'' पद का स्वारस्य है कि इनके स्वरूप में कोई गौण हो, कोई प्रधान हो ऐसा विषम भाव नहीं है और सर्वप्रकारक भेदाभेद दृष्टि का भी निषेध किया गया है। राधा और कृष्ण में एक ही प्रकार की भावना से

भावित होना चाहिए, पृथक्-पृथक् भाव से भावित करने का निषेध है। प्रकृत-युगलोपासना एकमात्र सखीभाव से साध्य है। यह राधा-कृष्ण युगलोपासना अभिलाषा भेद से दो प्रकार की है-दाम्पत्य और सख्य भाव वाली। दाम्पत्य भाव से असंमिश्र युगल विषयक शुद्ध सख्यात्मिक उपासना असम्भव है, उसका अभाव है अथवा वह श्रुति सम्मत नहीं है-यह नहीं मानना चाहिए। गोपीभाव के अनुसार होने वाली यह उपासना सम्भव है, भावरूप है तथा श्रुति सम्मत है। यदि गोपीभाव नहीं मानेंगे तब इस उपासना में विकृत होने की आपत्ति होगी। क्योंकि श्रीकृष्ण के साथ दाम्पत्यकाम की उपासना ऐश्वर्य भाव प्रधान होती है अतः इसमें कान्तविग्रह के संभोग का प्राधान्य रहता है। शुद्ध सख्यभाव की उपासना तो दाम्पत्य उपासना से उत्कृष्ट है क्योंकि इसमें युगल की आत्मैकरति होती है, यह नितरां तत्सुखैकसुखित्वमयी होती है, यह सब विवेचन ग्रन्थ के उपक्रम में स्पष्ट किया जा चुका है। भगवद्भक्ति रस जितना निमित्त रहित (स्वार्थादि रहित) होता है उतना ही उत्कृष्ट होता है। इस विषय में कपिल की उक्ति है- ''निमित्त (कारण) रहित भगवद्भक्ति सिद्धि से भी बड़ी होती है।''

''सुसंवृक्ते''त्यनेनोभयविच्छेदव्यावृत्तिपूर्वकनित्याविच्छिन्न-त्वमभिप्रेतं, शृंगाररसैकरूपत्वञ्च। ''ध्रुवौ व्रजवासिना'' वित्यनेन नित्यदिव्यवृन्दावनस्थितिकत्वम्, आविर्भावतिरोभावगमागमादिराहित्यं च संसूचितम्। ''आराधयामः सदे''त्यनेन स्वसंप्रदायिनां युग्माराधनैकव्रतित्वं, तद्व्रतस्य च मुक्तावस्थान्वयित्वमप्युक्तम्। श्रीमदाद्याचार्य्योपदिष्टः सोऽयं ''कल्लोलका'' वितिश्लोकोऽङ्गेत्वितिश्लोकस्य भावस्फोरणे सहायकः श्रीयुग्माराधकैः साम्प्रदायिभिःस्वप्राणवन्मन्तव्यस्तथा सत्येव प्रोक्तयुगलो-पास्तिसंभवात्।

श्लोक में आए हुए ''सुसंपृक्त'' पद का अर्थ है-दोनों में कभी भी विच्छेद नहीं होता है, अविच्छिन्नत्व अभिप्रेत है साथ ही शृङ्गाररसैक रूप होना भी अभीष्ट है। ''ध्रुवौ व्रजवासिनौ'' का अर्थ है-नित्य दिव्य वृन्दावन में स्थित होना है, इससे आविर्भाव-तिरोभाव तथा आवागमन से रहित होना सूचित होता है-अर्थात् राधाकृष्ण नित्य दिव्य वृन्दावन धाम में स्थित रहते हैं न उनका आविर्भाव होता है, न तिरोभाव, न आगमन और न गमन

होता है। ''आराधयामः सदा'' इन पदों से स्वसम्प्रदाय का अनुसरण करने वालों का युगलोपासना के व्रती होना सूचित होता है। यह व्रत मुक्तावस्था में स्थित रहता है। आद्याचार्य द्वारा उपदिष्ट ''कल्लोलकौ-यह श्लोक'' ''अङ्गे तु वामे'' इस श्लोक के भाव को स्पष्ट करने में सहायक है। युगलोपासना के साम्प्रदायिक भक्तों को अपने प्राण के समान इसे मानना चाहिए, ऐसा होने पर ही युगलोपासना सम्भव है।

एतदेव श्रीमदाद्याचार्य्यप्रोक्तं श्रीराधिकास्वरूपम्-

''अत्राभिन्नत्वमुभयोः श्रीराधाकृष्णयोर्मितम्।
दर भेदे दरो भूयान् किं पुनः शक्तिभावने।।
शक्तित्वं राधिकायास्तु प्रदर्श्य परिहापितम्।
द्वयोः साम्येऽपि श्रीराधाप्राधान्येनैव सेवनम्।
स्वाधीनपतिकात्वेन रसे प्राधान्यमीरितम्।।''

इत्यादिना पदार्थसंग्रहे यत्प्रतिज्ञातं तदुपादयितुमुपक्रमते ग्रन्थकारः- ''एवं सिद्धेऽधिके कृष्ण'' इत्यादिना। (''यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा'', ''कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्'' इत्यादिना श्रीमदाद्याचार्य्यचरणै र्हिप्रेमभक्तिरसो भगवत्कृपाविशेषफलत्वेन वर्णितस्तेन प्रकृते रागानुगाभक्तेरपि तैरुक्तत्वात् नैश्वर्य्यभावप्रधानत्वं भक्तेः परमफलं, परमरसो वा कल्पयितुं शक्यते, निर्हेतुकप्रेमैश्वर्यभावयोर्नैकत्र युगपत्स्थायित्वेन स्थितिर्युज्यते, तयोः परस्परविरोधात्।)

यही है श्रीमद्आद्याचार्य द्वारा प्रोक्त श्रीराधा का स्वरूप। यहाँ टीकाकार ने ''अत्राभिन्नत्वमुभयो....रसे प्राधान्यमीरितं''-आदि श्लोक (मूल ग्रन्थ के पदार्थ संग्रह नामक प्रथम अधिकरण में प्रोक्त) को उद्धृत किया है (इसका हिन्दी अनुवाद उसी प्रकरण में दिया गया है। उक्त अर्थ का उपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने ''एवं सिद्धेऽधिके कृष्णे'' इत्यादि से उपक्रम किया है।) जिससे प्रेमलक्षणा रति हो, ''तत्पश्चात् उसकी कृपा के फल के रूप में भक्ति रस हो'' इत्यादि के द्वारा श्रीमद्आद्याचार्य ने भगवत् कृपा के विशेष फल रूप में प्रेम भक्ति रस का वर्णन किया है। इस विवेचन से प्रकृत विषय में ''रागानुगाभक्ति'' भी उनके द्वारा उक्त है-इसलिए भक्ति के फल के रूप में ऐश्वर्य भाव की प्रधानता अथवा परमरस को कल्पित किया जा

सकता है। निर्हेतुक प्रेम और ऐश्वर्य भाव की एक साथ स्थायी रूप में स्थिति युक्ति संगत नहीं है क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है।)

तत्र स्वरूपतः समप्राधान्यात्मकयुगलोपास्तावस्यां श्रीकृष्णस्वरूपवदेव श्रीराधास्वरूपेणापि सर्वथा तत्तुल्येन भाव्यमन्यथा प्रोक्तस्वरूपयुगलोपास्तिहानिरित्यतस्तयापि श्रीकृष्णसर्वविशेषणविशिष्टतयैवावश्यं भाव्यम्। तथात्वे हि यथा श्रीकृष्णस्वरूपं स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषम्, अशेषकल्याणगुणैकराशि, व्यूहाङ्गि, परंब्रह्म, वरेण्यं कमलेक्षणं हरि च, तथैव श्रीराधिकास्वरूपमपि स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषादि निःशेष श्रीकृष्णगुणगणसम्पन्नमित्यायातम्। न च वाच्यमेतादृशसमप्राधान्यात्मकं परब्रह्मणो युगलात्मनावस्थानं न कुत्रापि श्रुतमिति। सन्ति हि श्रुतिपुराणादिषु ह्येतदर्थकानि भूरीणि प्रमाणानि-तथा हि ''स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी वा भवताम्''-(बृ. उप. पुरुषविधब्राह्मणं।)

''येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्''-(श्रीराधातापन्युप.)

''अनादिरयं पुरुष एक एवास्ति, तदेवं द्विधारूपं विधाय सर्वान् रसान् समाहरति, स्वयमेव नायिकारूपं विधाय समाराधनतत्परोऽभूत्, तस्मात्तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति, तस्मादानन्दमयोऽयं लोकः-(सामरहस्योप.)

स्वरूप से समप्राधान्यत्मक युगलोपासना में श्रीकृष्ण के स्वरूप के समान ही राधा के स्वरूप को भी सर्वथा वैसा ही समझना चाहिए अन्यथा युगलोपासना की हानि होगी। अतः श्रीकृष्ण के सभी विशेषण राधा के भी अवश्य समझने चाहिए। ऐसा होने पर जैसे श्रीकृष्ण का स्वरूप ''स्वभावतोऽपास्त..'' इस पद्य में जिस प्रकार का कहा गया है वैसे ही राधा का स्वरूप भी है अर्थात् राधा भी स्वभावतः समस्त दोषों को दूर करने वाली, समस्त कल्याणकारी गुणों की निधि, व्यूहाङ्गिनी, परमब्रह्म, वरेण्य एवं कमलाक्षी है। इस विषय में यह नहीं कहना चाहिए कि समप्रधान रूप से परब्रह्म का युगल रूप से इस प्रकार होना कहीं नहीं सुना है। श्रुति पुराण आदि में इस अर्थ के सूचक बहुत से प्रमाण हैं-जैसे कि--

''स इममेवात्मानं...'' उस परब्रह्म ने अपने को दो प्रकार से प्रकट

किया। उसी से (उस स्वरूप प्रकार से) पति और पत्नी बन गए। (ब्र. उप. पुरुषविध ब्रह्मण)। ''रस सागर एक देह क्रीडा के लिए राधा और कृष्ण रूप से दो प्रकार से प्रकट हुए (जो यह राधा और जो यह कृष्ण रस सागर और एक देह है वह क्रीडा के लिए दो प्रकार से प्रकट हुए (श्रीराधातापन्युपनिषद्)। ''अनादि यह पुरुष एक ही है, वह ही दो रूप बनाकर सभी रसो का समाहार करता है, स्वयं ही नायिका रूप बनाकर समाराधन में तत्पर हो गया, इसीलिए उस नायिका राधा को वेदविद् रसिकानन्दा (रसिकों को आनन्द देने वाली) कहते हैं, उसी के कारण यह लोक आनन्दमय है (सामरहस्योपनिषद्)

''राधाकृष्णयोरेकमासनपद्म, एका बुद्धिः, एकं मनः, एकं ज्ञानं, एक आत्मा, एक पदम्, एका कृतिः, एकं ब्रह्मतयाऽऽसनं, हेममुरलिवाद्यं, हेमं पद्ममिति मानसपूजायां जपेन, ध्यानेन'' कीर्त्तनेन, स्तुतिमानसेन सर्वेण नित्यस्थलं प्राप्नोति नान्येन-(पुरु. बो. उप.)

''हरेरर्द्धतनू राधा, राधिकार्द्धतनुर्हरिः''
''अनयोरन्तरादर्शी मूर्त्यवच्छेदकोऽध ''-(ना. प.)।।१।।
''यः कृष्णः सापि राधा, या राधा कृष्ण एव सः।
अनयोरन्तरादर्शी संसारान्न विमुच्यते।।''-(ब्रह्म सं.)।।२।।
''आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्मारामतया विप्र प्रोच्यते गूढवेदिभिः।।''
(स्क.पु.भाग. मां.)।।३।।
''आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।'' (,,)
''राधा भजति तं कृष्णं स च तां च परस्परम्।
उभयोः सर्वसाम्यं च सदा सन्तो वदन्ति हि।''
(ब्र.वै.पु.प्र.खं.)।।४।।
''यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः।
तथा ब्रह्मस्वरूपा सा निर्लिप्ता प्रकृतेः परा।।''
(ना.पं.ज्ञानामृत सं.)।।५।।
''त्वं स्त्री पुमानहं राधे नैव वेदेषु निर्णयः।।''
(ब्र.वै.कृ.खं.)।।६।।
''इयं स्त्री स पुमान् किंवा स वा कान्ता पुनानियम्।

नहि वेदेषु वां भेदो दृष्टो वापि श्रुतोऽपि वा।।'' (संमो. तं.)।।७।।

इत्यादीनि प्रमाणानि प्रागेवोदाहृतानि पुनरत्रानुसन्धेयानि सुधीभिः।।

''राधा-कृष्ण का एकासन पद्म, एकबुद्धि, एक मन, एक ज्ञान, एक आत्मा, एक पद, एक कृति, एक ब्रह्मरूप में रहना, हेम मुरली वाद्य, स्वर्ण कमल-इस प्रकार मानस पूजा में जप, ध्यान, कीर्तन एवं स्तुति परायण मन से-इन सभी प्रकारों से साधक नित्यस्थल को प्राप्त करता है और कोई मार्ग नहीं है।''

''हरि का आधा शरीर राधा है, राधा का आधा शरीर हरि है'' इन दोनों में भेद देखने वाला मूर्ति भञ्जक अधम होता है। (ना.पं.)।।१।।

''जो कृष्ण है वह भी राधा है, जो राधा है वह कृष्ण ही है। इनमें भेद देखने वाला संसार से मुक्त नहीं होता। (ब्रह्म. सं)।।२।।

''हे विप्र ! उस कृष्ण की आत्मा तो राधा है, उसी से रमण करने के कारण यह (श्रीकृष्ण) रहस्य वेत्ताओं के द्वारा आत्माराम कहा जाता है। (स्क. पु. भाग. मा.)।।३।।

''आत्माराम श्रीकृष्ण की आत्मा निश्चय ही राधिका है। ''राधा उस कृष्ण को भजती है, वह श्रीकृष्ण उस राधिका को भजता है-परस्पर भजन करते हैं। सन्तजन दोनों का सब प्रकार से साम्य कहते हैं। (ब्र. वै. पु. प्र. खण्ड)।।४।।

''जिस प्रकार ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण प्रकृति से परे हैं वैसे ही ब्रह्मस्वरूपा राधा निर्लिप्त और प्रकृति से परे है। (ना. पं. ज्ञाना. पृ. १ से)।।५।।

''हे राधे ! तुम स्त्री हो और मैं पुरुष हूँ-वेदों में ऐसा निर्णय नहीं है। (ब्र. वै. कृ. खं.)।।६।।

''यह स्त्री है वह पुरुष है अथवा वह श्रीकृष्ण कान्ता है तथा यह राधा पुरुष है-ऐसा भेद न तो वेदों में देखा गया है और न सुना गया है। (ब्र. वै.)।।७।।

इस प्रकार के प्रमाण पहले भी इसी ग्रन्थ में दिए गए हैं विद्वानों को उनका अनुसन्धान यहाँ भी (इस प्रकरण में भी) करना चाहिए।

''शोधिते त्वं पदार्थे य''दिति--त्वंपदार्थस्थानीयात्तस्मात् तत्पदार्थस्थानीयायास्तस्याः। महिमाधिक्यादित्यर्थः। दुर्ज्ञेयत्वेन

पारोक्ष्याच्चेति भावः। ''आत्मा सा सः कलेवरमित्यत्रैवौक्तत्वात्।''

''त्वं'' पदार्थ का शोधन ''यदिति'' से किया गया है तथा तत् पदार्थ का शोधन तत्पदार्थस्थानीय ''तस्याः'' के द्वारा किया गया है- अर्थात् राधिका की महिमा का आधिक्य है। क्योंकि उसमें दुर्ज्ञेयत्व (अर्थात् उसका ज्ञान अधिक परिश्रम से होता है) तथा उसमें पारोक्ष्य (अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से उसका उल्लेख नहीं है- परोक्ष निर्देश है-''परोक्षप्रिया हि देवाः)'' जैसे यहीं कहा गया है कि ''वह राधा आत्मा है और वह श्रीकृष्ण कलेवर है।''

तत्रादौ बह्वृचपरिशिष्टश्रुतिमुखेन तामवतारयति-''राधया माधवो देव'' इत्यादिना। राधयतीत्यस्य वशीकरोतीति व्याख्यानम् ''अनया राधितो नून'' मित्यत्र तथैवावगमात्। देवशब्दं व्याचष्टे-तया सह नित्यविहारीत्यर्थ इति। हेतुशब्दस्य शाब्दिकरीत्या व्याख्यानमाह-फलसाधनेत्यादि। हेत्वर्थे तृतीयां मत्त्वा राधयेत्यस्यार्थमाह सैव तन्माधवतायां हेतुरिति। श्रीकृष्णस्य देवत्व-माधवत्वादिप्रकारज्ञापिका राधेतीत्थंभूतलक्षणार्थे तृतीयां मत्वार्थमाह।

सबसे पहले ''बह्वृच परिशिष्ट श्रुति के द्वारा इस रहस्य को प्रकट करते हैं-''राधया माधवो देवः'' इत्यादि द्वारा। ''राधयति'' का अर्थ में वश में करती है। ''अनया राधितो नूनम्'' के द्वारा भी यही बोध होता है। ''देव'' शब्द का व्याख्यान करते हैं-दीव्यति नित्यं क्रीडति-अर्थात् उस राधा के साथ जो नित्य विहार करता है। हेतु शब्द का शाब्दिक रीति से व्याख्यान करते हैं-फल साधन योग्य हेत्वर्थ में तृतीया (राधया पद में) स्वीकार करते हुए अर्थ करते हैं कि वह राधा ही माधव के माधव होने में हेतु है (माधव की व्युत्पत्ति करते हैं-मायाः अर्थात् राधायाः धवः पति-अर्थात् राधापति) ''राधया'' पद में ''इत्थंभूतलक्षणे (अर्थात् प्रकार विशेष को प्राप्त के ज्ञापक रूप में) अर्थ में तृतीया स्वीकार करते हुए अर्थ करते हैं-कि राधा श्रीकृष्ण के देवत्व-माधवत्वादि प्रकार की ज्ञापिका है। पृ. ११-भाग।।

देवशब्दं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे--परमसेव्य इति। माधवः राधया सहैव देवः परमसेव्य अन्यथा एकाकिनस्तस्य सेवने दोषश्रवणात्। दोषाभिधायकं शास्त्रं पठति-''गौरतेजो विनेत्यादि। नचैतत्तन्त्रोक्तं प्रमाणं स्वातंत्र्येण प्रमाणपदवीमर्हतीतिचेत्-नैतत् तन्त्रवाक्यं श्रुतिप्रमाणविरहितम्।

तथाहि बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणः-''आत्मैवेदमग्रआसीत्पुरुषविधः। सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्। स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ समपरिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्। ततः पतिश्चपत्नीचाभवताम्। तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्वः। इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्य्यत एव'' इति।

देव शब्द की प्रकारान्तर से व्याख्या करते हैं-परमसेव्य-इति, माधव राधा के साथ ही देव-अर्थात् परमसेव्य है-अन्यथा एकाकी उसके (माधव के) सेवन में दोष सुना जाता है। दोष को कहने वाला शास्त्र कहते हैं-गौरतेजो विना-इति-(गौरतेज-राधा के बिना। यह नहीं कहा जा सकता कि यह तन्त्र वाक्य है अतः स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं बन सकता। क्योंकि यह तन्त्र वाक्य श्रुति प्रमाण से रहित नहीं है। (श्रुति भी इसमें प्रमाण है)।

जैसे कि बृहदारण्यक में पुरुषविध ब्राह्मण-''सृष्टि के आदि में पुरुषविध आत्मा ही था।'' उसने देखकर देखा कि अपने से अन्य कोई नहीं है। वह आनन्दित नहीं हुआ, क्योंकि एकाकी रमण नहीं करता है। उसने दूसरे को चाहा। वही स्त्री और पुरुष के रूप में परस्पर संसंक्त की भाँति आभासित हुआ। उसने अपने इस देह को दो प्रकार से प्रकट किया। उसी से पति और पत्नी हो गए। इसलिए यह शरीर अर्द्धबृगल (द्विदल अन्न के एक दल) के समान है-ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। इसलिए यह (पुरुषार्द्ध) आकाश स्त्री से पूर्ण होता है। (वह उस स्त्री) से संयुक्त हुआ, उसी से मनुष्य उत्पन्न हुए हैं।।

तथा च शतपथब्राह्मणेऽग्निरहस्यकाण्डे मण्डलब्राह्मणे चः-- ''अर्द्धमुहैतदात्मनो यन्मिथुनं, यदा वै सहमिथुनेनाथ सर्वोऽथ कृत्स्नः।'' पुरुषसूक्ताध्याये उत्तरनारायणे-''श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'' इति। श्रीसूक्ते च-''लक्ष्मीमनपगामिनीम्'', ''ईश्वरीं सर्वभूतानाम्०।'' सुबालोपनिषदि चः-''आत्मानं द्वेधाऽकरोत्। अर्धेन स्त्री अर्धेन पुमान्'' इति। एवमेताभिः श्रुतिभिर्दम्पत्योर्मध्य एकतरस्य अर्धबृगलत्वअर्धत्व-अकृत्स्नत्व-अपूर्णत्वादिकथनात् एकतरोपासन उपासनाया अपि अकृत्स्नत्वमर्थादुक्तं भवति। अकृत्स्नत्वादेव एकतरस्योपासने दोषभाक्त्वञ्च। यस्माद्धेतोरेकं ज्योतिर्द्वेधाऽभूत्तस्मादेव राधामाधवयोरुभयोर्वस्तुत एकरूपत्वमभिन्न-

त्वमित्यर्थः। अत्र यो भेदकः सोऽधमो मूर्त्यवच्छेदक इति पाञ्चरात्राच्च।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के अग्नि रहस्य काण्ड एवं मण्डल ब्राह्मण में कहा है-आत्मा के जो अर्द्ध मिथुन है यदि वह अर्द्ध मिथुन के साथ होता है तब पूर्णता होती है। पुरुष सूक्त के उत्तरनारायण में कहा है-श्री (समृद्धि) और लक्ष्मी (सौन्दर्य) तुम्हारी पत्नी के रूप में हैं।'' श्रीसूक्त में-कभी विनष्ट नहीं होने वाली लक्ष्मी'' ''सब भूतों की स्वामिनी लक्ष्मी का मैं आवाहन करता हूँ। सुबालोपनिषद् में-''आत्मा को (परमात्मा ने अपने आपको) दो भागों में विभक्त किया। आधे में स्त्री और आधे में पुरुष।'' इन सभी श्रुतियों ये यह प्रतिपादित किया गया है कि दम्पती में एक स्त्री या पुरुष द्विदल वाले चने आदि का एक भाग है- आधा भाग है कृत्स्नता नहीं है, अपूर्णता है अतः एक की उपासना में अपूर्णता-अधूरापन है। अपूर्णता के कारण ही एक की उपासना में दोष है-उपासक दोष का भागी है। क्योंकि एक ही ज्योति दो प्रकार से प्रकट हुई है इसलिए राधा-माधव-इन दोनों का वस्तुतः एक रूप है अर्थात् अभिन्न है। इनमें जो भेदक-भेद करने वाला है वह अधम है, मूर्ति भञ्जक है-यह पाञ्चरात्र का कथन है।।

न च वाच्यं पुरुषविधब्राह्मणस्यापरब्रह्मप्रकरणत्वं, ज्ञेयस्वरूपभिन्नोपास्यब्रह्मस्वरूपप्रकरणत्वं वेति, कुतः? कृत्स्नजगत्कारणस्य परमात्मनोऽसाधारणलिङ्गज्ञापकत्वात् नेदमपरब्रह्मप्रकरणमिति निश्चीयते। वेदमन्त्रसंहितायाम्, उपनिषत्सु च तत्र तत्र पुरुषविधस्यैव परमात्मनः कृत्स्नजगत्कारणत्वेनोक्तत्वात्। तथाहि अस्मिन्ब्राह्मणे-''आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः'' इत्यनेन तस्य कालातीतत्वं, सनातनत्वं, कारणान्तराजन्यत्वं, पुरुषविधत्वञ्च गीतम्। ''सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्य'' दित्यनेन तस्यैकत्वाद्वितीयत्वम्। 'स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत्तस्मात्। पुरुषः, औषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद इत्यनेन तस्य पाप्माऽस्पर्शोपलक्षितस्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्वम्।

यह भी नहीं कहना चाहिए कि पुरुषविध ब्राह्मण का यह प्रकरण अपर ब्रह्म प्रकरण है अथवा ज्ञेय स्वरूप के भिन्न उपास्य ब्रह्म स्वरूप का प्रकरण है क्योंकि यह प्रकरण समस्त ब्रह्माण्ड के कारण परमात्मा का

असाधारण लिङ्ग का ज्ञापक होने से अपर ब्रह्म प्रकरण नहीं है-ऐसा निश्चय किया जाता है। वेदमन्त्र संहिता में तथा उपनिषदों में पुरुषविध परमात्मा को ही समस्त जगत् का कारण कहा गया है। जैसे इसी ब्राह्मण में-सृष्टि के आदि में पुरुष आत्मा ही था-अथवा आत्मा पुरुषविध था। इससे उस परमात्मा का स्वरूप कालातीत, सनातन, कारणान्तर से अजन्य एवं पुरुषविध कहा गया है।'' उसने (परमात्मा ने) आलोचन से अपने से भिन्न को नहीं देखा इससे उसका एकत्व और अद्वितीयत्व सिद्ध होता है।'' इससे पूर्व उसने सब पापों को दग्ध कर दिया था, इसलिए वह पुरुष हुआ। वह उसे दग्ध कर देता है जो उससे पहले होना चाहता है।'' इसी कथन से यह ज्ञात होता है कि पापों के अस्पर्श से उपलक्षित स्वभाव वाला वह है-''स्वभावतोऽपास्त-समस्तदोषः)''

''औषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेदे''त्यनेन पुरुषविधब्रह्मवेत्तुः सर्वश्रेष्ठ्यं (उष दाहे भ्वा.प.)। ''सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति'' इत्यनेन तस्य प्राकृतपुरुषवद्भयमनूद्य, तदपवादाय पुनः ''स हायमीक्षां चक्रे, यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति, तत एवास्य भयं वीयाय, कस्माद्ध्यभेष्यत्, द्वितीयाद्वै भयं भवती''त्यनेन अद्वितीयस्य, समानातिशयरहितस्य, तदधीनसत्ताकत्वेन तत्तन्त्रसत्तावत्त्वात्सर्वस्य, तस्याभयस्वरूपत्वं, तद्विज्ञानेन जीवानामपि भयरहितत्वं, सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वात्। ''स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छदित्यनेन स्वाभाविकलोकरीतिमनूद्य, ''स हैतवानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्ता'' वित्यनेन अनादित एव तस्य दम्पतीरूपस्य विद्यमानत्वं चावेद्य, ''स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चा भवताम्'' इत्यनेन जगद्रूपक्रीडां संकल्प्य तत्तद्रूपेण तयोः संभोगलीलावर्णयित्वा समस्तप्राणिमिथुनानां तत एवोत्पत्तिं, ''सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहं हीदं सर्वमसृक्षीति'' इत्यनेन च तस्य सर्वसर्जकत्वमवादीच्छ्रुतिः। अपरब्रह्महिरण्यगर्भादिपक्षे नोक्तविशेषेणानि सङ्गच्छन्ते। अतो नेदं पुरुषविध-ब्राह्मणं तत्प्रतिपादनपरम्, अपितु सनातन-दम्पतिस्वरूप-पुरुषाकार कृत्स्नजगत्कारणसच्चिदानन्दपरब्रह्मपरमिति निश्चीयते।

''औषति ह वै..एवं वेद'' इस कथन से पुरुषविध ब्रह्म के ज्ञाता का

ही सर्वश्रेष्ठत्व है।

''वह भयभीत हो गया। इसी से अकेला पुरुष भय मानता है। इस कथन से प्राकृत पुरुष के समान भय का कथन करके उसको हटाने के लिए पुनः कहा-''उसने यह विचार किया'' यदि मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है तो मैं किससे डरता हूँ? तभी उसका भय निवृत्त हो गया। किन्तु उसे भय क्यों हुआ? क्योंकि भय तो दूसरे से ही होता है। इससे सिद्ध होता है कि वह अद्वितीय है, समानता और अतिशय से रहित है, सभी उसके अधीन है, सभी उसी की सत्ता में हैं। इससे उसका अभय स्वरूप प्रकट होता है। इसी के ज्ञान से जीव भी भय रहित हो जाते हैं क्योंकि सब ब्रह्मात्मक है।

''वह रममाण नहीं हुआ। इसीसे एकाकी पुरुष रममाण नहीं होता। उसने दूसरे की इच्छा की। इस कथन से स्वाभाविक लोक रीति का अनुवाद करके'' वह जिस प्रकार परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं वैसे ही परिमाण वाला हो गया।'' इस कथन से वह अनादिकाल से ही दम्पती रूप में रहता है-ऐसा प्रतिपादन करके'' उसने अपने देह को दो भागों में विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए, इस कथन से जगत् क्रीडा का संकल्प करके, उस रूप में उनकी संभोग लीला का वर्णन करके तथा समस्त प्राणि मिथुनों की उससे ही उत्पत्ति होती है-ऐसा श्रुति प्रतिपादित किया है-(श्रुति में कहा है) श्रुति में कहा है-''उसने जाना'' मैं ही सृष्टि करता हूँ। मैंने इस सबको रचा है। इस प्रकार वह परमात्मा सबका सर्जक सिद्ध होता है। अपर ब्रह्म स्वरूप हिरण्यगर्भ आदि के पक्ष में ये विशेषण सङ्गत नहीं होते हैं। अतः यह पुरुषविध ब्राह्मण हिरण्यगर्भ ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं है अपितु सनातन दम्पती स्वरूप पुरुषाकार समस्त जगत् के कारण सच्चिदानन्द परब्रह्म का ही प्रतिपादक है-ऐसा निश्चय होता है।

अपि च, ''यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद्विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु।'' ''ततो विराडजायत इत्यादिमन्त्रैर्हिरण्यगर्भविराट्पुरुषयोर्जगद्बीजपुरुषात् सर्वकारणादुत्पत्तिश्रवणाच्चापि उक्त एव निश्चयः तत्रैव (पु.विध ब्राह्मणे) ''स एव इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य''इत्यनेन ''तत्सृष्ट्वा तदनुप्राविश''दिति श्रुत्यन्तरोक्तसर्वसृष्टप्रवेशमुक्त्वा, ''आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एके भवन्ति,

तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा, अनेन ह्येतत्सर्वं वेद'' इत्यनेन तस्यैव सर्वप्राप्यत्वं सर्वोपास्यत्वं, सर्ववेदनकारणत्वं चोपपाद्य, 'तदेत्प्रेयः पुत्रात्, प्रेयो वित्तात्, प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा, स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् ''प्रियं त्वा रोत्स्यतीति'' ईश्वरो ह तथैव-स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीते'' त्यनेन शरीरे परमात्मनः सर्वस्मादन्तरतरत्वं, सर्वातिशायिप्रियत्वं तद्रूपप्रियैकोपास्यत्वादिकथनेनापि उक्त एव निर्णय आयाति। न ह्येतानि परमात्मलिङ्गानि तदन्यत्रसंगच्छन्त इति दिक्। प्रकृतमनुसरामः।

''जो देवों में प्रथम है ऐसे सर्वप्रथम जायमान हिरण्यगर्भ को विश्व का अधिपति महर्षि रुद्र देखता है वह शुभ स्मृति से उसे संयुक्त करे। ''ततः विराड् उत्पन्न हुआ'' इत्यादि मन्त्रों से हिरण्यगर्भ एवं विशिष्ट पुरुष की जगत् के बीज रुप पुरुषः जो सबका कारण है से उत्पत्ति सुनी गई है-उससे भी यही निश्चय होता है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुष था वहीं पुरुषविध ब्राह्मण में आगे- ''वह (नाम-रूप वाला पुरुष) इस शरीर में नखाग्र पर्यन्त प्रवेश किए हुए है।'' इसके द्वारा तथा ''उसका सर्जन कर उसी में प्रविष्ट हो गया'' इस अन्य श्रुति से प्रतिपादित किया गया कि सभी सृष्ट पदार्थों में उसका प्रवेश है।

इस कथन के पश्चात् कहा गया है कि ''आत्मा'' है इस प्रकार ही उसकी उपासना करे, क्योंकि इस आत्मा में ही सब एक हो जाते हैं। यह जो आत्मा है वही इस सबका प्राप्तव्य है, क्योंकि यह आत्मा है, इस आत्मा के ज्ञात होने से ही इस समस्त जगत् को जानता है। इस विवेचन से ज्ञात होता है कि वही परमात्मा सबके लिए प्राप्तव्य है, उपास्य है, सबको जानने का कारण है। इस प्रतिपादन के पश्चात् कहा है-यह (आत्मा) पुत्र से भी प्रेय है, धन से भी प्रेय है अन्य सबसे प्रेय है, यह आत्मा उनकी अपेक्षा अन्तरतर है। यह जो आत्मप्रियदर्शी है यदि आत्मा से भिन्न (अनात्मा) को प्रिय कहने वाले पुरुष से कहे कि ''तेरा प्रिय नष्ट हो जायेगा'' तो वैसा ही हो जाएगा, क्योंकि वह समर्थ होता है। अतः आत्मा-रूप प्रिय की ही सबसे अन्तरतम है, सर्वातिशायिप्रिय है, आत्मा-रूप प्रिय ही एकमात्र उपासनीय है-यह ज्ञात होता है। इस सब प्रतिपादन से पूर्वोक्त निर्णय ही ठीक है कि परमात्मा पुरुषविध है। ये सभी वाक्य परमात्मा के

प्रतिपादक है-इनकी संगति अन्यत्र संगत नहीं होती है। अब प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं।

ज्योतिः पदस्य च गौरत्व एव मुख्यावृत्तिर्दृश्यते, सितेतरे तु गौणी। तेनापि गौरतेजस एव मुख्यत्वमायातीति श्रीराधाप्राधान्यभावेनोपासनं सूच्यते। श्रीराधासुधानिधिपद्येनेममेवार्थं द्रढयति--राधादास्यमित्यादिना। राकां विना पूर्णचन्द्रप्राप्तेर्यथाऽसंभवस्तथैव श्यामरतिप्रवाहलहरीबीजरूपां श्रीराधिकां तद्दास्यमन्तरेण प्रेमानन्दामृतबिन्दुप्राप्तिरप्यसंभवेत्यर्थः पूर्णचन्द्र-दर्शनमिच्छसि चेद्राकाशरणमादौ सम्पादयेत्याशयः। न चैतावतेति एतया राकोपमया माधवाराधनस्याङ्गं राधिकाराधनमिति न भ्रमितव्यम्। यथा द्वयोः स्वरूपयोर्मिथोङ्गाङ्गिभावो, गौणप्रधानभावो वा नेष्यते, तथैव तयोराराधनेऽपि स्वरूपदृष्ट्या स न कार्य्यः सर्वथा तुल्यस्वरूपत्वाद्द्वयोरित्याशयः। तत्प्राधान्य-भावस्तु शृङ्गारौपाधिकप्रेम-लीलानिबन्धनः, ''स्वाधीनपतिकात्वेन रसे प्राधान्यमीरित'' मिति मूलकृतैवोक्तत्वात्-अन्यथा लीलारसभंगापत्तेः प्रत्युत राधिकाराधनं श्रीकृष्णराधनपोषकमित्याह--स्वयं पुरुषार्थरूपस्येत्यादिना। बहुभिरन्यथामननादिति।

ननु स्वरूपशक्तित्वं तु तस्या बहुवाक्यप्रमाणितं, वेदव्यासादिभिरपि तत्र तत्र पुराणेषु प्रपञ्चितमपि कस्मादत्र नाद्रियत इत्याशंक्य ''राधया माधव'' इतिश्रुतिस्थ 'जन'पदव्याख्यानद्वारोत्तरयति-''जनेष्वा'' इति-जनेषु परम-भक्तेष्वासमन्तादित्यर्थ इत्यनेन जनपदार्थं स्पष्टीकुर्वन् तृतीयस्कन्धीय-श्रीकपिलोक्तिमवतारयति-सालोक्येत्याद्याम्। दीयमानं न गृह्णन्तीति-न ह्येषा युगलोपास्तिः स्वदाम्पत्यकामा-

ज्योति पद का गौरत्व-ज्योति मुख्य अर्थ है कृष्ण (असित) ज्योति गौण अर्थ है। उससे भी गौरतेज ही मुख्य है-इससे श्रीराधा की प्रधान रूप से उपासना सूचित होती है। श्रीराधासुधानिधि के पद्य से यही अर्थ दृढ़ हो रहा है-''राधादास्यम्'' इत्यादि के द्वारा।

रात्री के बिना जैसे पूर्ण चन्द्रमा की प्राप्ति संभव नहीं है वैसे ही श्यामसुन्दर के प्रति रति के प्रवाह की लहरी एवं बीजरूपा श्रीराधिका एवं उनके दास्य के बिना प्रेमानन्दामृतबिन्दु की प्राप्ति असम्भव है। यदि पूर्णचन्द्र के दर्शन की इच्छा रखते है तो रात्रि की शरण में जाना होगा-यह आशय

है। इस रात्री की उपमा से यह नहीं समझना चाहिए राधिका की आराधना माधव की आराधना का अङ्ग हैं-यदि ऐसा समझा जाएगा तो यह भ्रम होगा। जिस प्रकार राधा और माधव के स्वरूप में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं अथवा गौण प्रधान भाव नहीं है (अर्थात् कोई भी किसी का अङ्ग नहीं है और न कोई प्रधान है और न कोई गौण) वैसे ही इन दोनों की आराधना में स्वरूप दृष्टि से गौण-प्रधान भाव या अङ्गाङ्गिभाव नहीं समझना चाहिए, दोनों की आराधना समान स्वरूप वाली है-यह आशय है। श्रीराधिका की आराधना का प्राधान्यभाव तो शृङ्गार की उपाधि से युक्त प्रेमलीला का निबन्धन मात्र है क्योंकि ''स्वाधीन-पतिका के रूप से रस में प्राधान्य रहता है अन्यथा लीलारस में भङ्ग उपस्थित हो जाता है। जबकि राधिका का आराधन श्रीकृष्ण के आराधन का पोषक है-इसीलिए कहा है-''स्वयं पुरुषार्थरूपस्य''-बहुतों के अन्यथा मनन के कारण।

प्रश्न होता है कि राधा की स्वरूप शक्तिता (अर्थात् राधा श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति है) तो बहुत से वाक्यों से प्रमाणित है, वेदव्यास आदि के द्वारा जहाँ तहाँ पुराणों में इसका प्रतिपादन भी किया गया है, इन वाक्यों का यहाँ आदर क्यों नहीं किया जाता है-यह आशङ्का उठाकर ''राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजन्ते जनेष्वा'' (जनों में सर्वत्र राधा से माधव तथा माधव से राधिका सुशोभित होती है) इस श्रुति में स्थित जन-पद की व्याख्या से उत्तर देते हैं। ''जनेष्वा'' का अर्थ है परम भक्तों में सर्वत्र।। यह जन पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तृतीय स्कन्ध में श्रीकपिल की उक्ति को उद्धृत करते हैं-

''सालोक्य-सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना।'' अर्थ है-जन-भक्त वे हैं जो मेरी सेवा को छोड़कर सार्ष्टि-सामीप्य आदि मोक्ष को भी ग्रहण नहीं करते हैं)।।

यह युगलोपासना अपने दाम्पत्य की कामना वाली नहीं है।

''ये मां भजन्तिदाम्पत्ये तपसा व्रतचर्य्यया।

कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायये''ति श्रीभगवता श्रीरुक्मिणीं प्रत्युक्तत्वाच्छ्रीदशमे षष्टितमाध्याये। पुनश्च तत्रैवानन्तरश्लोके-

''मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्।

ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः ।।''इति

न च वाच्यमत्र मर्त्यशरीरे उपासकेन तादृशश्रीभगवद्विग्रहसम्भोग-भावना न कार्य्या, फलावस्थायां तु दाम्पत्यमयाचितमपि स्यादेवाप्राकृतधाम्नि, अन्यथा शृङ्गाररसोपासनस्य वैफल्यमेव स्यादिति। ''निर्हेतुकप्रेमैव रसशब्दस्य-मुख्यार्थ'' इत्यनभ्युपगच्छतामेव तादृशीधारणा, न तु रसस्वरूपविदामिति न विस्मर्त्तव्यम्। शृङ्गाररसोपासनफलवैपरीत्यं तु दत्तोत्तरम्। तत्सुखसुखित्वेन दम्पत्योः शङ्गार एव स्वशृङ्गारस्यान्तर्भावितत्वात् प्रोक्तयुगलोपासकैः। अपि च ''यत्क्रतु''रिति श्रुतिप्रमाणबलात् अत्रत्यभावस्यैव मोक्षान्वयित्वादिति संक्षेपः। वक्ष्यति च-

''लोकद्वयानपेक्षत्वं रसस्योपनिषत्परे''ति। परमनैरपेक्ष्येणैवेष प्रेमाख्यरस आस्वाद्यश्चित्तद्रवलक्षणः। परमनैरपेक्ष्यं च तदेव वाच्यं यत्रोपनतै-श्वर्य्यस्याप्यनादरः। दाम्पत्यकामत्वे तु कान्तप्राधान्येन श्रीकृष्णाराधनस्याङ्गिनः श्रीराधिकाराधनमङ्गं भवेत्तथा सति युगलविषयकाङ्गाङ्गिरूपभावद्वैविध्येन प्रोक्तयुगलोपास्तिस्वरूपहानिरिति ध्येयम्। अनेवंविदस्तु नात्र 'जन'शब्दवाच्या इत्यर्थः। अथ कारिकामुखेनोक्तार्थं स्फुटीकरिष्यन् प्रकृतयुगलोपासन उपास्य-स्वरूपविषयकसर्वप्रकारकभेदाभेददृष्टिरसम्मतेत्याह-शिवकेशववच्चात्रेत्या-दिना। तत्र भेदाभेदो हि (भेदसहिष्णुरभेदः) अंशांशिभावप्रयुक्तो, विभूतिविभूति-मत्त्वकृतो, जीवत्वेशत्वकृतो, गुणगुणि-धर्मधर्मिकृतः शक्तिशक्तिमत्त्वकृत, आश्रयाश्रयिभावकृतो वा वाच्यः। सर्वप्रकारकस्य तस्यात्रानभ्युपगमादित्याह-भेदाभेदो न सम्मत इति।

''कामना भोग की इच्छा रखने वाले अपने दाम्पत्य सुख के लिए जो अपवर्ग (मोक्ष) के स्वामी मुझ को तप से, व्रतचर्या से भजते हैं वे मेरी माया से मोहित हैं।''

भागवत के दशम स्कन्ध के साठवें अध्याय के ५३ वें श्लोक में भगवान् रुक्मिणी को कहते हैं-

''अपवर्ग के स्वामी एवं भौतिक सम्पत्तियों के स्वामी, मुझे प्राप्त करके भी वे मन्दभागी लोग निकृष्ट योनियों में प्राप्त होने वाली सम्पत्तियों को चाहते हैं-तन्मात्रों के कारण उनका सम्पत्तियों के साथ सङ्गम तो हो ही जाएगा अतः वे मन्दभाग्य लोग हैं।

है। इस रात्री की उपमा से यह नहीं समझना चाहिए राधिका की आराधना माधव की आराधना का अङ्ग हैं-यदि ऐसा समझा जाएगा तो यह भ्रम होगा। जिस प्रकार राधा और माधव के स्वरूप में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं अथवा गौण प्रधान भाव नहीं है (अर्थात् कोई भी किसी का अङ्ग नहीं है और न कोई प्रधान है और न कोई गौण) वैसे ही इन दोनों की आराधना में स्वरूप दृष्टि से गौण-प्रधान भाव या अङ्गाङ्गिभाव नहीं समझना चाहिए, दोनों की आराधना समान स्वरूप वाली है-यह आशय है। श्रीराधिका की आराधना का प्राधान्यभाव तो शृङ्गार की उपाधि से युक्त प्रेमलीला का निबन्धन मात्र है क्योंकि ''स्वाधीन-पतिका के रूप से रस में प्राधान्य रहता है अन्यथा लीलारस में भङ्ग उपस्थित हो जाता है। जबकि राधिका का आराधन श्रीकृष्ण के आराधन का पोषक है-इसीलिए कहा है-''स्वयं पुरुषार्थरूपस्य''-बहुतों के अन्यथा मनन के कारण।

प्रश्न होता है कि राधा की स्वरूप शक्तिता (अर्थात् राधा श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति है) तो बहुत से वाक्यों से प्रमाणित है, वेदव्यास आदि के द्वारा जहाँ तहाँ पुराणों में इसका प्रतिपादन भी किया गया है, इन वाक्यों का यहाँ आदर क्यों नहीं किया जाता है-यह आशङ्का उठाकर ''राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजन्ते जनेष्वा'' (जनों में सर्वत्र राधा से माधव तथा माधव से राधिका सुशोभित होती है) इस श्रुति में स्थित जन-पद की व्याख्या से उत्तर देते हैं। ''जनेष्वा'' का अर्थ है परम भक्तों में सर्वत्र।। यह जन पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तृतीय स्कन्ध में श्रीकपिल की उक्ति को उद्धृत करते हैं-

''सालोक्य-सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना।'' अर्थ है-जन-भक्त वे हैं जो मेरी सेवा को छोड़कर सार्ष्टि-सामीप्य आदि मोक्ष को भी ग्रहण नहीं करते हैं)।।

यह युगलोपासना अपने दाम्पत्य की कामना वाली नहीं है।

''ये मां भजन्तिदाम्पत्ये तपसा व्रतचर्य्यया।

कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायये''ति श्रीभगवता श्रीरुक्मिणीं प्रत्युक्तत्वाच्छ्रीदशमे षष्टितमाध्याये। पुनश्च तत्रैवानन्तरश्लोके-

''मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्।

ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः ।।''इति

न च वाच्यमत्र मर्त्यशरीरे उपासकेन तादृशश्रीभगवद्विग्रहसम्भोग-भावना न कार्य्या, फलावस्थायां तु दाम्पत्यमयाचितमपि स्यादेवाप्राकृतधाम्नि, अन्यथा शृङ्गाररसोपासनस्य वैफल्यमेव स्यादिति। ''निर्हेतुकप्रेमैव रसशब्दस्य-मुख्यार्थ'' इत्यनभ्युपगच्छतामेव तादृशीधारणा, न तु रसस्वरूपविदामिति न विस्मर्त्तव्यम्। शृङ्गाररसोपासनफलवैपरीत्यं तु दत्तोत्तरम्। तत्सुखसुखित्वेन दम्पत्योः शङ्गार एव स्वशृङ्गारस्यान्तर्भावितत्वात् प्रोक्तयुगलोपासकैः। अपि च ''यत्क्रतु''रिति श्रुतिप्रमाणबलात् अत्रत्यभावस्यैव मोक्षान्वयित्वादिति संक्षेपः। वक्ष्यति च-

''लोकद्वयानपेक्षत्वं रसस्योपनिषत्परे''ति। परमनैरपेक्ष्येणैवेष प्रेमाख्यरस आस्वाद्यश्चित्तद्रवलक्षणः। परमनैरपेक्ष्यं च तदेव वाच्यं यत्रोपनतै-श्वर्य्यस्याप्यनादरः। दाम्पत्यकामत्वे तु कान्तप्राधान्येन श्रीकृष्णाराधनस्याङ्गिनः श्रीराधिकाराधनमङ्गं भवेत्तथा सति युगलविषयकाङ्गाङ्गिरूपभावद्वैविध्येन प्रोक्तयुगलोपास्तिस्वरूपहानिरिति ध्येयम्। अनेवंविदस्तु नात्र 'जन'शब्दवाच्या इत्यर्थः। अथ कारिकामुखेनोक्तार्थं स्फुटीकरिष्यन् प्रकृतयुगलोपासन उपास्य-स्वरूपविषयकसर्वप्रकारकभेदाभेददृष्टिरसम्मतेत्याह-शिवकेशववच्चात्रेत्या-दिना। तत्र भेदाभेदो हि (भेदसहिष्णुरभेदः) अंशांशिभावप्रयुक्तो, विभूतिविभूति-मत्त्वकृतो, जीवत्वेशत्वकृतो, गुणगुणि-धर्मधर्मिकृतः शक्तिशक्तिमत्त्वकृत, आश्रयाश्रयिभावकृतो वा वाच्यः। सर्वप्रकारकस्य तस्यात्रानभ्युपगमादित्याह-भेदाभेदो न सम्मत इति।

''कामना भोग की इच्छा रखने वाले अपने दाम्पत्य सुख के लिए जो अपवर्ग (मोक्ष) के स्वामी मुझ को तप से, व्रतचर्या से भजते हैं वे मेरी माया से मोहित हैं।''

भागवत के दशम स्कन्ध के साठवें अध्याय के ५३ वें श्लोक में भगवान् रुक्मिणी को कहते हैं-

''अपवर्ग के स्वामी एवं भौतिक सम्पत्तियों के स्वामी, मुझे प्राप्त करके भी वे मन्दभागी लोग निकृष्ट योनियों में प्राप्त होने वाली सम्पत्तियों को चाहते हैं-तन्मात्रों के कारण उनका सम्पत्तियों के साथ सङ्गम तो हो ही जाएगा अतः वे मन्दभाग्य लोग हैं।

यहाँ यह भी नहीं कहना चाहिए कि मर्त्य शरीर में अपवर्गेश स्वरूप श्रीभगवद्विग्रह सम्भोग की भावना उपासक को नहीं करनी चाहिए क्योंकि फलावस्था में अप्राकृत धाम में दाम्पत्यभाव अयाचित हो ही जाएगा, अन्यथा शृङ्गार रसोपासना विफल होगी। वस्तुतः निर्हेतुक प्रेम ही रसशब्द का मुख्यार्थ है-इसको न समझने वालों की ही ऐसी धारणा (दाम्पत्य सुख प्राप्ति रूप) होती है न कि रस स्वरूप (निर्हेतुक प्रेम रस) को जानने वालों की। इसे नहीं भूलना चाहिए। यह शृङ्गार रसोपासना के फल का वैपरीत्य है-इसका उत्तर दिया जा चुका है।

उसके सुख में सुखी होना (राधा के सुख में कृष्ण का तथा कृष्ण के सुख में राधा का सुखी होना) ही दम्पती का शृङ्गार है तथा उन राधा-कृष्ण के शृङ्गार में ही अपने शृङ्गार का अन्तर्भाव होता है, ऐसा युगलोपासकों ने कहा है। और भी ''यक्रतुः'' इस श्रुति के प्रामाण्य से सिद्ध होता है कि यहाँ का भाव ही मोक्ष में अन्वित होता है और आगे कहेंगे-''दोनों लोकों की अपेक्षा न करना ही रस की पराकाष्ठा है।'' परम निरपेक्षता से चित्त का द्रवी होना ही आस्वाद्य प्रेम रस है, परम निरपेक्षता उसे ही समझनी चाहिए जहाँ प्राप्त ऐश्वर्य का भी अनादर हो। दाम्पत्य काम होने पर तो कान्त की प्रधानता के कारण श्रीकृष्ण की आराधना के अङ्गी होने से श्रीराधिका का आराधन अङ्ग होगा तब ऐसी स्थिति में युगल विषयक अङ्गाङ्गिभाव द्वैविध्य होने से कहे गए युगलोपासना के स्वरूप की हानि होगी-ऐसा समझना चाहिए। इस भाव को न समझने वालों को यहाँ ''जन'' शब्द से नहीं कहा है। कारिका के द्वारा उक्त अर्थ को स्पष्ट करते हुए प्रकृत युगलोपासना में उपास्य स्वरूप विषयक सर्व प्रकारक भेदाभेददृष्टि असम्मत है-इसलिए कहते हैं-''शिवकेशववच्चात्र'' इत्यादिना।

भेदाभेद का अर्थ है भेद सहिष्णु अभेद या अंशांशिभाव प्रयुक्त, अभेद या विभूति-विभूतिमत् कृत अभेद, जीव-लेशत्वकृत अभेद या गुण-गुणी, धर्म-धर्मिकृत अभेद, शक्ति-शक्तिमत्कृत अभेद अथवा आश्रया-श्रयिकृत अभेद कहना चाहिए। सभी प्रकार का भेदाभेद यहाँ संगत नहीं है इसीलिए कहा है भेदाभेद संमत नहीं है।

ननु कस्मान्नाभ्युपेयत इति चेत्सावधारणं महाभारतीय-

तदुक्तं ब्रह्मवैवर्त्ते--

परब्रह्मस्वरूपा सा परमानन्ददायिनी ।
ब्रह्मतेजोमयी शक्तिस्तदधिष्ठातृदेवता ।।इति ।।

यथा चाश्वपतिर्गजपतिरित्युक्ते सोऽपि किमश्वो गजो वा प्रतीयते तथा शक्त्यधिष्ठात्री किमियं शक्तिरिति भावः ।। यत्र क्वापि शक्तिरिति नरपतिरितिवत्सुवचेति ज्ञेयम् ।।

न चैवाकारकृतया भ्रान्त्या शक्तित्वमत्र हि ।
मोहिनीत्वेऽजितस्यापि तथात्वं स्यात्तथा सति ।।
रागाङ्गं तस्य सा तस्याः स वेत्यत्र न निर्णयः ।
एकत्वादतिरेकत्वादुभयोरुभयोरपि ।।
सशक्तिकं परं तत्त्वमिति सर्वत्र डिंडिमः ।
सत्कृता भगवत्तेति भेदश्चाप्यौपचारिकः ।।
नहि कण्ठोक्तिमात्रेण गौणता मुख्यतापि च ।
पौर्वापर्य्यविचारेण निर्णीतोऽर्थः सुसंमतः ।।
नो चेदुक्तं नारसिंहे शक्तित्वं रामकृष्णयोः ।
नृसिंहस्येति तत्र स्याद्यदि चात्रापि तद्भवेत् ।।

यथा द्वितीयस्कन्धक्रमसन्दर्भे श्रीनृसिंहपुराणवचनम्-

त्रसुदेवाच्च देवक्यामवतीर्य्य यदोः कुले ।
सितकृष्णे च मच्छक्ती कंसाद्यान् घातयिष्यत इति ।।
अथ श्रीराधिकाधिक्योपासने यदि शाक्तता ।
रामकृष्णादिमुख्यत्वे केन वार्येत सा दृढा ।।
अपि चावैष्णवत्वं चेद्रामोपास्तौ भवेत्तदा ।
राधिकाधिक्यमनने, तत्राभेदः किमत्र नो ।।
अथ राधास्य रागाङ्गं सोऽयमस्या लयाङ्गकः ।
इत्यादिकं शक्तिवादमाश्रित्यैव न तत्त्वतः ।।
तस्य सत्प्रतिपक्षत्वमात्मत्वादितिगम्यते ।
इयं स्त्री स पुमान् किंवा स वा कान्ता पुमानियम् ।।
इति श्रीब्रह्मवैवर्त्तवाक्यमत्रसहायकृत् ।।

इति शक्तित्वस्वीकारेऽपि श्रीराधिकोत्कर्षनिरूपणयुक्तिः ।।४ ।।

जैसा कि ब्रह्मवैवर्त्त में कहा है--

परमानन्दस्वरूपिणी, ब्रह्म तेजोमयी वह राधा परब्रह्मस्वरूपा शक्ति है तथा शक्तियों की अधिष्ठातृ देवता है।'' कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे अश्वपति या गजपति कहने पर क्या वह भी अश्व या गज प्रतीत होता है अर्थात् नहीं वैसे ही राधा को शक्तियों की अधिष्ठात्री देवता कहने पर क्या वह सामान्य शक्तिमात्र प्रतीत होगी? अर्थात् नहीं। जहाँ कहीं शक्तिपद से कहा गया है वहाँ पर ''नरपति'' के समान भली प्रकार से बोध कराना है ऐसा समझना चाहिए।

आकार की भ्रान्ति से यहाँ शक्तित्व नहीं माना जाना चाहिए। यदि आकार के आधार पर शक्तित्व स्वीकार करेंगे तब विष्णु के मोहिनी रूप धारण करने पर उसे भी शक्ति ही माना जाएगा। वह राधा उस कृष्ण की रागाङ्ग है अथवा वह कृष्ण उस राधा का रागाङ्ग है-इसका निर्णय नहीं है। दोनों में एकत्व होने के कारण, अतिरेक के कारण दोनों एक दूसरे के रागाङ्ग है। इसलिए परंतत्त्व सशक्तिक है-यह डिंडिम घोष है। जिसके द्वारा भगवत्ता होती है यह भेद औपचारिक है-वास्तविक नहीं।

केवल घोषणा मात्र से न तो गौणता होती है और न मुख्यता। पौर्वापर्य विचार से ही निर्णीत अर्थ सुसंमत होता है।। यदि ऐसा न हो तब नारसिंह में राम-कृष्ण की शक्तिमत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी अथवा राम और कृष्ण में नृसिंह की शक्तिमत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी, अथवा राधा-माधव प्रसङ्ग में भी इसी प्रकार स्वीकार करना पड़ेगा।

जैसे द्वितीय स्कन्ध क्रम सन्दर्भ में नृसिंहपुराण का वचन--

यदुकुल में वसुदेव देवकी में उतर कर मेरी श्वेत और कृष्ण शक्तियाँ कंस आदि का घात करेगी।।

अब यदि राधा की आधिक्य उपासना में शाक्तता है तब राम एवं कृष्ण आदि के मुख्य होने पर उस दृढ शाक्तता को कैसे रोका जा सकता है (क्योंकि उन रूपों में भी शक्ति ही तो प्रकट है)।।

यदि यह अवैष्णवता (शाक्तता) है तो यह राम (बलराम) की उपासना में भी होगी तथा राधिका को अधिक मानने में भी होगी।

राधा इस कृष्ण का रागाङ्ग है वह इस राधा का लयाङ्गक है-यह

बात शक्तिवाद के आश्रय से कही गई है-तत्त्वतः नहीं।

''आत्मत्वात् इस हेतु से उसका सत्प्रतिपक्ष उपलब्ध रहता है।'' यह स्त्री है, वह पुरुष है, अथवा वह (श्रीकृष्ण) कान्ता है, और यह (राधा) पुरुष है।। ब्रह्मवैवर्त्त का यह वचन इसमें सहायक है।

श्रीराधिकायाः शक्तित्वस्वीकारेऽपि तदुत्कर्षनिरूपणयुक्तिः।।४।।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां श्रीराधिकायाः शक्तित्वस्वीकारेऽपि तदुत्कर्षनिरूपणयुक्तिः।।४।।

(भा. भू. प्र.) अथ यदुक्तं ''शक्तित्वे नहि गौणत्व''मिति तदुपपादयति शक्तित्वपक्षोपन्यासमुखेन-''ननु भोः शक्तिरेवास्ये''त्यादिना तत्रादौ श्रीराधायाः स्वरूपशक्तित्वं शास्त्रप्रमाणैः सिसाधयिषुस्तत्पक्षमुत्थापयतिनिन्विति। आक्षेपकर्त्तुरयंभावः, स्वरूपशक्तितदाश्रययोरभेदेन स्यान्नाम तस्यास्तेनाभिन्नत्वं तथात्वेऽपि समप्राधान्यं तूभयोः सर्वथा अघटमानोक्तिकं शक्तिमात्रस्याश्रयसापेक्षत्वेन तदधीनसत्ताकत्वात्। न हि निराश्रया शक्तिः स्थातुं शक्नोति कुत्रापि तस्मात्स्वतन्त्रसत्ताकत्वावच्छिन्नाश्रयापेक्षया स्वरूपशक्तेरपि परतन्त्रसत्ताकत्वं तन्नियम्यत्वञ्चावश्यमभ्युपेयम्। परतन्त्रसत्ताकत्वेन न समप्राधान्यमित्यभिप्रायेण तस्याः स्वरूपशक्तित्वे मानान्युपन्यस्यति-'तथाहि प्रथमस्कन्धे' इत्यादिना। परब्रह्मवस्तु स्वरूपशक्तिमदेवाभ्युपेयम्। स्वरूपशक्तिनिरपेक्षं न तस्य वस्तुत्वं, शून्यतुल्यनिर्धर्मकवस्तुत्ववादापत्तेरित्याशयेनाह-विना शक्तिं न वस्तुतेति। सा च स्वरूपशक्तिः प्रकाशतदाश्रयवदग्न्यौष्ण्यवत्स्वरूपाश्रितेति शशिसूर्य्ययोर्ज्योत्स्नाप्रभादिदृष्टान्तेन स्पष्टयतिज्योत्स्नावदित्यादिना। पाद्मोत्तरखण्डे प्रणवव्याख्याने विष्णुवाचकाकार एव श्रियोऽन्तर्भावकरणेन विनिगमकेन स्वरूपशक्तेः स्वरूपात्पृथक्स्थितिर्गणना वा व्यावृत्तेति बोध्यम्। इयमेव हि स्वरूपस्यान्तरङ्गा चिच्छक्तिर्जीवानां तापत्रयविनाशनपूर्वकपरमानन्दप्राप्तौ हेतुभूतेत्याह परमानन्ददानं चेत्यादिना।

तत्र शक्तिश्चिदचिद्भेदेन द्विधा। स्वरूपगान्तरङ्गा चिच्छक्तिरेका, स्वरूपगत्वात्स्वरूपवदेवोपास्या। अस्वरूपगा त्रिगुणमयी जडा बहिरङ्गा स्वरूपावरिका तापत्रयोपलक्षितसंसरणहेतुभूता चिन्मायाप्रतिच्छविरूपा मायाख्या अपरा शक्तिः। इयं त्वनुपास्या बन्धकत्वात्। तयोश्चिदचिच्छक्त्योरन्योन्यविरुद्धत्वमचिन्त्यत्वमनन्तत्वं च श्रूयत इत्युक्त्वा तत्र ''स्वाभाविकी

ज्ञानबलक्रिया चे''त्यनेन स्वरूपगा चिच्छक्तिः।

अब जो यह कहा गया है कि राधा को माधव की शक्ति मानने पर भी उसमें अप्रधानता नहीं आती है। इसी का उपपादन शक्ति पक्ष को उपस्थित करते हुये करते हैं। मूल में कहा है-''ननु भोः शक्तिरेवास्य प्रोक्ता सर्वत्र राधिका'' सर्व प्रथम श्रीराधा को शास्त्र प्रमाण से स्वरूप शक्ति सिद्ध करने की इच्छा से पक्ष उपस्थित करते हुए मूल में कहा है-ननु भोः शक्तिरेवास्य प्रोक्ता...।।

स्वरूपशक्ति (राधा) और उसके आश्रय (माधव) में अभेद होने से उस राधा की उस माधव से अभिन्नता रहेगी, ऐसा होने पर दोनों का समप्राधान्य भाव (तुल्य प्रधानता का भाव) सर्वथा घटित नहीं होगा-ऐसा आक्षेप कर्ता का आशय है (अर्थात् पूर्व पक्ष का आक्षेप है कि स्वरूपशक्ति मानने पर दोनों में अभेद होने पर दोनों की प्रधानता होगी-यह नहीं कहा जा सकता) शक्तिमात्र अपने आश्रय की अपेक्षा तदधीन सत्ता वाली होने के कारण प्रधान नहीं हो सकती। तथा यह भी सिद्ध है कि आश्रय के बिना शक्ति कहीं भी स्थित नहीं रह सकती। इसलिए स्वतन्त्र सत्ता के भाव से युक्त आश्रय की अपेक्षा स्वरूप शक्ति भी पराधीन सत्ता वाली ही होगी तथा वह आश्रय से नियन्त्रित ही रहेगी-ऐसा अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। परतन्त्र सत्ता होने के कारण ही स्वरूपशक्तिरूपा राधा का समप्राधान्य नहीं है इसी अभिप्राय से उसके स्वरूपशक्ति होने में प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं-''तथाहि प्रथमस्कन्धे इत्यादिके द्वारा। परब्रह्मवस्तु को स्वरूपशक्तिमत् ही स्वीकार किया जाना चाहिए। स्वरूपशक्ति के बिना उसका वस्तुत्व ही सिद्ध नहीं होता है। जैसे शून्य के समान निर्धर्मक वस्तु होती है इसी आशय से कहा गया है-विना शक्तिं न वस्तुता वह स्वरूप शक्ति प्रकाश और उसके आश्रय के समान, अग्नि और उसकी उष्णता के समान स्वरूपाश्रित है। इस बात को चन्द्र और उसकी चाँदनी तथा सूर्य और उसकी प्रभा के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में ''प्रणव'' के व्याख्यान में स्पष्ट किया गया है कि विष्णु के वाचक ''अकार में ही श्री (राधा) के अर्थ का भी अन्तर्भाव करना चाहिए, क्योंकि स्वरूप शक्ति स्वरूप से पृथक् नहीं रहती है-अर्थात् स्वरूपशक्ति श्रीराधा की गणना माधव से पृथक् नहीं करनी

चाहिए। यही स्वरूप की अन्तरङ्ग चित्शक्ति जीवों के तापत्रय के विनाश पूर्वक परमानन्द प्राप्ति में हेतु होती है। परमानन्ददाने च इत्यादि के द्वारा यही स्पष्ट किया गया है।

शक्ति चित् और अचित् भेद से दो प्रकार की है। स्वरूप में स्थित अन्तरङ्ग चित् शक्ति प्रथम है, स्वरूपगत होने के कारण स्वरूप के समान ही उपास्या है। दूसरी शक्ति स्वरूप से बहिर्मूत त्रिगुणमयी जड, बहिरङ्ग एवं स्वरूप का आवरण करने वाली है। यही तापत्रय से उपलक्षित संसार का कारण है। यह चिन्माया की प्रतिच्छवि रूपा माया नाम की शक्ति है। यह बन्धन करने वाली होने के कारण उपास्या नहीं है। ये चित् और अचित् शक्तियाँ एक दूसरे के विरुद्ध हैं। इनकी अचिन्त्यता और अनन्तता भी सुनी गई है। चित् शक्ति ज्ञान-बल और क्रिया वाली स्वाभाविकी स्वरूपगा है।

''अजां ह्येकां लोहितशुल्लकृष्णा''मित्यनेन प्रधानाख्या माया चेति तयोः स्वरूपं विविच्य स्पष्टयति, तत्र श्रीविष्णुपुराणवचनेन श्री श्रीधरस्वामिव्याख्यानोपबृंहितेन परब्रह्मणः स्वाभाविकीं स्वरूपशक्तिं साधयति- ''निर्गुणस्य ब्रह्मणः कथं सर्गादिकर्तृत्वमुपपद्यत'' इत्याद्याक्षेपप्रतिवचनपूर्वकं- निर्गुणस्येत्यादिना। ''अचिन्त्यज्ञानगोचरा'' इत्यस्य श्लोकस्थपदस्य टीकाकारकृतमर्थं पठति-अचिन्त्यं तर्कासहं यज्ज्ञानं कार्य्यान्यथानुप- पत्तिप्रमाणकं तस्य गोचराः। यद्वा, भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः केवलमर्थापत्तिज्ञानगोचराः शक्तय इति। नहि शक्तिः शक्तिमानिव प्रत्यक्षीकर्त्तुं शक्यते। किन्तर्हि कार्य्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणेनानुमीयत एव केवलम्।

नापि शक्तेः शक्तिमतः सकाशाद्भेदोऽभेदो वा निर्णेतुं शक्यते। स्वरूपे भिन्नाभिन्नसंबधेन स्थितत्वात् तस्याः। स्वरूपापृथक्सिद्धत्वेन नित्यानपायि- त्वेन चाभेदः। स्वरूपनियम्यत्वेन च भेदोऽपि तस्यास्तेन वक्तुं सुशक इति भावः। तत्र तावन्मायावादिनः सर्वश्रुतितात्पर्य्यम् उपनिषत्सु भेदनिन्दाऽभेद- प्रशंसादिवि निगमकलिङ्गेन जीवब्रह्मणोरैक्यमित्यभ्युपगच्छन्तो निर्विशेषेऽ- द्वितीये त्रिविधभेदगन्धवर्जिते ब्रह्मस्वरूपे भेदप्रतीत्यापादकस्य ज्ञेयज्ञातृत्वादि- विभागमात्रस्य अज्ञानकल्पितत्वेन मिथ्यात्वं वदन्ति। तेषां मते यद्यज्ज्ञान- विषयीभूतं तत्तन्न स्वरूपम्। अस्वरूपत्वादेव तस्य मिथ्यात्वं ''प्रज्ञानधन'', ''एकामेवाद्वितीयं'', ''नेह नानास्तिकिञ्चने''त्यादिश्रुतिभ्यः। तथैवनाद्यज्ञान-

कल्पितो ब्रह्मस्वरूपे मिथ्यैव प्रतीयमानो जीवभाव इति तत्त्वमस्यादि-सामानाधिकरण्यबलेन प्रतिपादयन्ति। सामानाधिकरण्यान्यथानुपपत्त्या ब्रह्मणि प्रतीयमानो जीवभावो ज्ञातृत्वादिधर्मजातं च मिथ्यैवेति सिद्धान्तयन्ति।

प्रधान माया शक्ति का स्वरूप ''अजांह्येकां लोहित शुक्लकृष्णाम्-इस श्रुति में कहा है-जो रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण वाली अजन्मा मायाशक्ति है।

चित् शक्ति और माया शक्ति के स्वरूप का अलग-अलग विवेचन करके स्पष्ट करते हैं-श्री श्रीधर स्वामी की व्याख्या से उपबृंहित श्रीविष्णु पुराण के वचन से परब्रह्म की स्वाभाविकी स्वरूप शक्ति को सिद्ध करते हैं। निर्गुण ब्रह्म का सर्गादि की रचना का कर्तृत्व कैसे सिद्ध होता है'' यह आक्षेप प्रतिवचन पूर्वक'' निर्गुणस्याप्रमेयस्य...आदि के द्वारा कहा गया है।

श्रीपराशर के श्लोक में ''अचिन्त्यज्ञानगोचराः'' यह पद आता है। इस पद का टीकाकार के द्वारा किये गए अर्थ को लिखते हैं-अचिन्त्य अर्थात् तर्कातीत जो ज्ञान (कार्य की अन्यथा अनुपपत्ति प्रमाण वाला ज्ञान) उसके गोचर होना।। अथवा भिन्नाभिन्न आदि विकल्पों के द्वारा जिसका चिन्तन नहीं किया जा सके केवल अर्थापत्ति ज्ञान का ही जो विषय बने-ऐसी शक्तियाँ अर्थात् शक्तियाँ तर्कातीत ज्ञान का विषय बनती हैं। शक्तिमान् के समान शक्ति का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता किन्तु उसका केवल अनुमान कार्यानुपपत्ति प्रमाण के द्वारा किया जाता है।

शक्ति का शक्तिमान् के साथ भेद है या अभेद है इसका निर्णय नहीं किया जा सकता है, शक्ति स्वरूप में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से स्थित होने के कारण। स्वरूप से भिन्न स्थित न रहने के कारण तथा नित्य अनपायी रूप (नष्ट न होने वाले रूप) से अभेद है। स्वरूप से नियम्य होने के कारण शक्ति का स्वरूप से भेद भी कहा जा सकता है-यह भाव है। मायावादी सारी श्रुतियों का तात्पर्य उपनिषदों में भेद की निन्दा एवं अभेद की प्रशंसा के निश्चय के रूप में मानते हैं एवं जीव तथा ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हुए निर्विशेष, अद्वितीय तीनों भेदों की गन्ध से रहित ब्रह्म स्वरूप में भेद के प्रतिपादक ज्ञेय, ज्ञाता आदि विभाग मात्र को अज्ञान कल्पित एवं मिथ्या मानते हैं। उनके मत में जो-जो ज्ञान का विषय बनता है वह-वह स्वरूपतः

है ही नहीं। स्वरूप से न होना ही उनका मिथ्यात्व है। ''प्रज्ञान घन ब्रह्म है'' ''अद्वितीय एक तत्त्व ही है'' ''यहाँ नानात्व नहीं है'' इन श्रुतियों से यही प्रमाणित होता है कि एक से भिन्न अन्य की सत्ता नहीं है। मायावादी ''तत्त्वमसि'' (वह ब्रह्म तुम हो) इस महावाक्य में सामानाधिकरण्य के बल पर यह प्रतिपादित करते हैं कि ब्रह्म स्वरूप में जीवभाव अनादि अज्ञान से कल्पित मिथ्या ही प्रतीत होता है।

सामानाधिकरण्य की अन्यथा अनुपपत्ति (यदि जीव और ब्रह्म को समान अधिकरण में अर्थात् एक ही नहीं स्वीकार करेंगे तब ''वह ब्रह्म तुम हो-यह वाक्य नहीं कहा जा सकता) के द्वारा ब्रह्म में प्रतीयमान जीव भाव एवं ज्ञातृत्वादि धर्म समूह मिथ्या ही है-ऐसा सिद्धान्त स्थिर करते हैं मायावादी।

तन्मतानुपपत्ति-प्रदर्शनेन वैष्णवास्तु श्रौतब्रह्मकारण-वादान्यथानुपपत्तिमुखेन स्वाभाविकीस्वरूपशक्तिमद्ब्रह्मेत्यभ्युपगच्छन्ति। श्रुतिप्रतिपादितस्य सामानाधिकरण्यस्य च तदात्मकत्वतद्व्याप्यत्व-तच्छक्तिरूपांशत्व-तदपृथक्सिद्धत्वतदधीनस्थितिगतित्वादिना सामञ्ज-स्यमिच्छन्ति। किञ्च सर्वमिथ्यात्वज्ञानस्य सर्वत्राव्यभिचरितत्वाद्येन ज्ञानेन सर्वमिथ्यात्वं निरूप्यते तस्य ज्ञानस्य तु सत्यत्वमेवाभ्युपेयमद्वैतिना। अन्यथा, तस्यापि मिथ्यात्वे, मिथ्याज्ञानेन ज्ञातस्य ज्ञेयमिथ्यात्वस्यापि मिथ्यात्वं स्यात्। तथात्वे तु ज्ञेयसत्यत्वेन, स्वाभाविक-ज्ञातृत्वसत्यत्वेन चाद्वैतसिद्धान्तभङ्गो दुर्वारः स्यात्। तस्मात् 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशितत्वात्', ''अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्ति-धर्मा'', (अनुच्छित्तिः स्वरूपधर्माणां ज्ञातृत्वादीनां यस्य तादृशः), ''विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'', ''स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता'' ''साक्षी चेता'' इत्यादिश्रुतीनां स्वाभाविकज्ञातृत्वप्रतिपादिनीनां बाधप्रसङ्गवारणाय तस्य स्वाभाविकज्ञातृत्वमभ्युपेयम्।

न हि सर्वधारकत्वसर्वज्ञत्वस्वरूपानन्दानुभूतित्वानन्दप्रदत्वादि-निरूपितसच्चिदानन्दत्वरूपविशेषो ब्रह्मणि स्वरूपशक्तिनिरपेक्षः संभवति। प्रत्युत स्वपरज्ञातृत्वस्वरूपानन्दानुभूतित्वानन्दप्रदत्वसर्वधारकत्वाद्यव्यभिचारिधर्मजातमेव तस्य सच्चिदानन्दस्वरूपत्वसाधकं, तत्त्वस्य विनिगमकं च। यत्र नेदं तन्नैवम्।

अन्यथा तत्प्रकारकस्वरूपसामर्थ्यं विनापि घटस्यापि तत्त्वं सुवचम्।

वैष्णव इस मत में अनुपपत्ति (असंगति) दिखाते हुए स्वाभाविक स्वरूप शक्ति वाले ब्रह्म को स्वीकार करते हैं तथा अन्यथानुपपत्ति के द्वारा श्रौत ब्रह्म को ही कारण (सृष्टि का कारण) स्वीकार करते हैं।

''तत्त्वमसि'' इस श्रुति से प्रतिपादित सामानाधिकरण्य की संगति तदात्मकता के द्वारा, तद् व्यापत्व, तच्छक्तिरूपांशत्व, तदपृथक्सिद्धत्व, तदधीनस्थिति गतित्व के द्वारा सिद्ध करते हैं (तात्पर्य यह है कि जीवभाव मिथ्या नहीं है अपितु स्वाभाविक स्वरूप शक्तिमद् ब्रह्म का आत्म स्वरूप है अथवा उससे व्याप्य है-ब्रह्म व्यापक है जीव व्याप्य है, अथवा उसके शक्ति रूप का अंश है, अथवा उस ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध है अथवा उस ब्रह्म के अधीन स्थिति और गति वाला है)।।

इस पर वैष्णव कहते हैं कि सब मिथ्या ज्ञान है (अर्थात् जीव भाव मिथ्या है उसका ज्ञातृत्व-ज्ञेयत्व आदि धर्म भी मिथ्या है) इस ज्ञान के सर्वत्र अव्यभिचरित रूप से अर्थात् समान रूप से मान्य होने के कारण जिस ज्ञान के द्वारा मायावादी सबको मिथ्या सिद्ध कर रहे हैं उस ज्ञान को तो उन्हें सत्य अवश्य मानना पड़ेगा। अन्यथा उस ज्ञान के (जिस ज्ञान से सबको मिथ्या कहा जाता है) मिथ्या होने पर, मिथ्या ज्ञान से ज्ञात और ज्ञेय मिथ्यात्व का भी मिथ्यात्व हो जाएगा। ऐसा होने पर श्रेय सत्यत्व से तथा स्वाभाविक ज्ञातृत्व सत्य से अद्वैत सिद्धान्त का खण्डन कठिनाई से ही बचाया जा सकेगा। इसलिए ''अविनाशी होने के कारण दृष्टा की दृष्टिका लोप नहीं होता है।'' अथवा अनुच्छित्तिधर्मा यह आत्मा अविनाशी है'' (अनुच्छित्ति का अर्थ है-जिसके ज्ञातृत्व आदि स्वरूप धर्मों का उच्छेद न हो ऐसा) ''अरे विज्ञाता को किस से जाने (अर्थात् जो स्वयं विज्ञाता है उसे किस अन्य साधन से जानें?)'' ''वह (आत्मा) वेद्य को जानता है उसको जानने वाला कोई नहीं है।'' ''वह साक्षी चेता है'' इस प्रकार स्वाभाविक ज्ञातृत्व प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के बाध प्रसङ्ग के कारण के लिए उस (ब्रह्म-आत्मा) का स्वाभाविक ज्ञातृत्व स्वीकार किया जाना चाहिए।

सच्चिदानन्द स्वरूप विशेष ब्रह्म में (अर्थात्-ब्रह्म मायावादियों के समान निर्विशेष नहीं है अपितु सविशेष है) सबको धारण करना, सबको

जानना, स्वरूप के आनन्द की अनुभूति करना आदि धर्मों से सविशेषत्व निरूपित होता है तथा यह सविशेषत्व स्वरूप ब्रह्म में स्वरूप शक्ति के बिना नहीं हो सकता है। प्रत्युत स्व-पर ज्ञातृत्व, स्वरूपानन्दानुभूतित्व, आनन्दप्रदत्व, सर्वधारकत्व आदि अव्यभिचरित धर्मो से ही सच्चिदानन्दस्वरूप के निर्धारण करने वाले हैं (अर्थात् ब्रह्म सधर्मक-सविशेष है-निर्धर्मक निर्विशेष नहीं)।। जिसमें ये धर्म नहीं है वह सच्चिदानन्दस्वरूप भी नहीं है। यदि इन धर्मों के बिना ही ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप कहा जावे तब इन धर्मों से रहित घट को भी सच्चिदानन्द स्वरूप कहा जा सकता है।

न च वाच्यम् अनादिकालकर्मस्वभावादिना संक्षोभितमायायाः सत्त्वगुणे प्रतिबिम्बितस्य, अयोगोलकप्रविष्टाग्निवत्तस्मिन् स्वच्छत्वादा-भास्यमानस्य वा चिदाभासस्य अज्ञानाध्यस्तज्ञातृत्वमुपपद्यत इति। नहि चिन्मात्रे अचिन्मात्रे वा ईक्षणादिज्ञातृत्वधर्मः सच्चिदानन्दस्वरूपानुभूतित्वं वोपपद्यते। निर्धर्मकचिन्मात्रस्वरूपेऽत्यन्ताभावरूपस्य तस्य परसंयोगादिनापि जन्यत्वं न संभवति। संभवे च निर्धर्मकचितो विकारित्वापत्तिः। न ह्युपनेत्रमन्धस्य दृक्प्रदम्। ''कथमसतः सज्जायेत'', ''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत'' इत्यादिना अभावाद्भावोत्पत्तेरसंभवस्योक्तत्वात्। यत्र यस्यात्यन्ताभावो न तत्तत उत्पद्यत इति नियमात्। अन्यथा सिकताया अपि तैलोत्पत्तिर्मन्तव्या पण्डितमानिभिः। दृष्टान्ते यथा अयः पिण्डप्रविष्टस्याग्नेरेव दाहकत्वं नायःपिण्डस्य, तदभावे तदभावात्। तथैव बुद्ध्यादीनां जडानां चेतनासाधारणज्ञातृत्वधर्माविर्भावद्वारमात्राणां करणानां यथा उपनेत्रस्य न दृष्टत्वमेवं, न ज्ञातृत्वं, किन्तर्हि चेतनस्यैव तदित्यवगन्तव्यम्। तस्माद्विश्वरूप-कार्य्यान्यथानुपपत्त्या यथा ब्रह्मणि श्रुत्युक्तपरमकारणत्वनिर्वाहाय अज्ञान-कल्पितमिथ्याशक्तिरभ्युपेयतेऽद्वैतिभिर्वैदिकंमन्यैस्तथा श्रौतत्वनिर्वाहाय श्रुत्युक्ता स्वभाविक्येव सा कस्मान्नाभ्युपेयते? तदभ्युपगमेऽश्रुतकल्पना-श्रुतहान्यादिदोष-विरहेण लाघवमिति भावः। ''ईक्षतेर्नाशब्द''मितिन्यायाच्च। स्वरूपशक्तिप्रत्याख्याने सूत्रविरोधो दुर्वारः।

अयोगोलक (लोहे के गोले) में प्रविष्ट अग्नि के समान अनादिकाल से व्याप्त कर्म स्वभाव आदि के द्वारा संक्षोभित माया के सत्त्वगुण में प्रतिबिम्बित, स्वच्छता के कारण आभासमान् चिदाभास का अज्ञान के

कारण अध्यस्त ज्ञातृत्व आदि उत्पन्न होता है-यह भी नहीं कहना चाहिए। (मायावादियों का कहना है कि जिस प्रकार लोहा और अग्नि भिन्न-भिन्न हैं किन्तु अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले में अग्नि प्रविष्ट हो जाती है तथा लोहे का गोला भी आग ही कहा जाता है-तथा लोहे के धर्म भी अग्नि के ही समझे जाते हैं दोनों में अभेद हो जाता है वैसे ही अनादिकाल से कर्म-स्वभाव आदि के द्वारा संक्षुब्ध माया के सत्त्व गुण में चैतन्य प्रतिबिम्बित हो जाता है-स्वच्छता के कारण माया के सत्त्वगुण में चित् का आभास होता है तब अज्ञान (माया) के कारण ज्ञातृत्व आदि भी चित् में उत्पन्न हो जाते हैं) किन्तु वैष्णव कहते हैं कि यह कहना उचित नहीं हैं। वैष्णवों का कथन है कि न तो चिन्मात्र (धर्म रहित चिन्मात्र) में न अचिन्मात्र में ईक्षण (देखना) आदि ज्ञातृत्व धर्म अथवा सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति उत्पन्न (युक्तिसंगत) नहीं होती है। धर्म रहित चिन्मात्र में ज्ञातृत्व आदि का अत्यन्ताभाव रहता है तथा पर संयोग (माया आदि के संयोग) से भी उसमें ज्ञातृत्व आदि धर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। सम्भव होने पर धर्मरहित चित् के विकारी होने का दोष आएगा । जैसे उपनेत्र (चश्मा) अन्धे के लिए दृष्टि प्रदान नहीं करता-अपितु मन्ददृष्टि वाले की ही दृष्टि शक्ति को बढाता है वैसे ही धर्म रहित चित् में माया के संयोग से ज्ञातृत्व आदि सम्भव नहीं है। सधर्मकचित् में ही ज्ञातृत्व आदि धर्म सम्भव हैं। ''असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है'' ''असत् का भाव नहीं है तथा सत् का अभाव नहीं होता है (गीता)'' आदि के द्वारा अभाव से भाव की उत्पत्ति असंभव कही गई है। जहाँ जिसका अत्यन्त अभाव है वह उससे उत्पन्न नहीं होता है-यह नियम है''-अन्यथा अपने आप को पण्डित मानने वालों को बालु से भी तेल की उत्पत्ति माननी चाहिए। जैसे दृष्टान्त में लोहे के पिण्ड में प्रविष्ट अग्नि की ही दाहकता मानी जाती है न कि लोहे के गोले की, क्योंकि अग्नि के अभाव में (अर्थात् जब अयः पिण्ड (लोहे के गोले) में अग्नि नहीं है) दाहकता का भी अभाव रहता है। वैसे ही बुद्धि आदि जो जड़ पदार्थ हैं तथा चेतन के असाधारण धर्म ज्ञातृत्व आदि के आविर्भाव मात्र के करण बनते हैं (असाधारण कारण बनते हैं) न कि वे स्वयं ज्ञातृत्व आदि धर्मों वाले होते हैं जैसे उपनेत्र न तो दृष्टा है और न ज्ञाता है किन्तु चेतन ही ज्ञाता और दृष्टा है वैसे ही यहाँ

पर भी चेतन (चित् तत्त्व) को ही धर्म (ज्ञातृत्व आदि) से युक्त मानना चाहिए न कि माया के संयोग से उसमें ज्ञातृत्व आदि धर्मों का अध्यास स्वीकार करना चाहिए। इसलिए अपने आपको वैदिक मानने वाले अद्वैतवादी जिस प्रकार विश्वरूप कार्य की अन्यथा उपपत्ति न होने के कारण श्रुति में कहे गए परम कारण ब्रह्म में अज्ञान से कल्पित मिथ्या शक्ति को स्वीकार करते हैं वैसे ही वे श्रौतत्व (वैदिकत्व) का निर्वाह करने के लिए श्रुक्ति में कही गई ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति को क्यों नहीं स्वीकार कर लेते? (सार यह है कि वेदान्ती भी ब्रह्म को जगत् का परम कारण स्वीकार करते हैं किन्तु उसके निर्वाह के लिए ब्रह्म में मिथ्याशक्ति को स्वीकार करते हैं तथा अपने को वैदिक भी मानते हैं तब वैष्णवों का कहना है कि वेद में ब्रह्म में जगत् (कार्य) के निर्माण के लिए स्वाभाविक शक्ति स्वीकार की गई है तब उसे ही स्वीकार करना चाहिए न कि मिथ्या कल्पित माया को)।।

ब्रह्म में स्वाभाविक शक्ति स्वीकार करने पर अवैदिक कल्पना तथा वैदिक मान्यता की हानि रूपी दोषों के अभाव से लाघव ही होगा (कल्पित माया शक्ति को मानने पर दो दोष उपस्थित होते हैं-एक तो यह वैदिक कल्पना नहीं है तथा दूसरा दोष वेद में स्वीकृत स्वाभाविक शक्ति को न स्वीकार करना है-अतः स्वाभाविक शक्ति को स्वीकार करने पर-इन दोनों दोषों से बचा जा सकता है)।।

और ''ईक्षतेर्नाशब्दम्''-इस न्याय से भी। स्वरूप शक्ति का खण्डन करने पर इस सूत्र से विरोध के परिहार से नहीं बचा जा सकता है (अर्थात्-स्वरूप शक्ति को स्वीकार न करने पर सूत्र से विरोध रहेगा)।।

कल्पितां वाऽकल्पितां वा स्वरूपशक्तिं विना विश्वरचनानुपपत्तेः श्रुत्युक्तैव साऽभ्युपेया, अन्यथा तत्प्रतिपादकश्रुतिवाक्यानां बाधप्रसङ्ग इत्याशयः। किञ्चित्करत्वेनैवेति--नह्यकिञ्चित्कुर्वतो निर्धर्मकस्य स्थाणुवदज्ञातुः सर्वथोदासीनस्य कुत्रापि कारणता दृष्टा। नापि सा तादृशे ब्रह्मण्यनाद्यज्ञानाध्यस्तेतिवाच्यम्। ईक्षणात्पूर्वमध्यासकाभावात्। तथा च कस्तत्राध्यासक जीवो वा, ईश्वरो वा, श्रुतिर्वा, स्वयमज्ञानं वा? नाद्यौ, अध्यासोत्तरभावित्वात्। ईश्वरस्य सार्वज्ञ्यहानेः। नहि सर्वज्ञः कोऽपि स्वविपत्त्यर्थम् अज्ञानमङ्गीकरोति। श्रुतेरपि सार्वज्ञ्यादेव नाध्यासप्रयोजकत्वम्। तस्यास्तदनुवादकमात्रत्वमिति चेत्तदप्यसंभ-

वदुक्तिकम्। सार्वज्ञ्यहानेरेव। अज्ञान-तत्कार्यस्य त्रैकालिकात्यन्ताभावं ज्ञात्वापि कथं सा तदनुवादिनी? द्वैतं पश्यन्त्येव सा तदनुवादमात्रं करोत्यपवादार्थमित्यपि न संभवति। तस्याम् ईश्वरे वा बाधितानुवृत्तेः कथाऽसंभवात्। ज्ञानेन पूर्वाज्ञाने बाधिते सत्येव आविमुक्ति बाधितानुवृत्तिकथावसरः। न श्रुतेर्नापीश्वरस्यपूर्वाज्ञानमतस्तदभावे तदभावात्। न चतुर्थः, अचेतनत्वादवस्तुत्वादनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। तस्मादध्यासकाभावे ब्रह्मणि कारणताध्यासाभावः। अध्यासस्य अनादित्वमितिचेन्न, अध्यासमात्रस्य सादित्वनियमात्। अध्यस्तस्यानादित्वकथने व्याघातप्रसङ्गात्।

कल्पित अथवा अकल्पित स्वरूप शक्ति के बिना विश्व रचना की संगति नहीं हो सकती है। श्रुति में उक्त स्वाभाविक शक्ति को अङ्गीकार करना चाहिए अन्यथा उसके प्रतिपादक श्रुति वाक्यों के बाध (विरोध) का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा यह आशय है।

किञ्चित्करत्वेनैव-(मूल में उक्त) की व्याख्या कुछ भी न करने वाले निर्धर्मक, स्थाणु के समान अज्ञाता तथा सर्वथा उदासीन चेतन को कहीं भी कारणता नहीं देखी गई है। वह कारणता निर्धर्मक ब्रह्म में अनादि अज्ञान से अध्यस्त भी नहीं कहीं जा सकती है क्योंकि ईक्षण से पूर्व अध्यास का अभाव रहता है। (अध्यास-जो जैसा नहीं है उसे वैसा समझना अध्यास है)।

यहाँ विचार करना है कि अध्यासक कौन है? जीव है, अथवा ईश्वर है, अथवा श्रुति है, अथवा स्वयं अज्ञान है। प्रथम दो जीव और ईश्वर अध्यासक नहीं हैं क्योंकि ये दोनों अध्यास के पश्चात् होते हैं। ईश्वर को अध्यासक मानने पर उस ईश्वर के सर्वज्ञ होने की हानि होगी। क्योंकि कोई भी सर्वज्ञ अपनी विपत्ति के लिए अज्ञान को स्वीकार नहीं करता है।

श्रुति भी सर्वज्ञा है अतः वह भी अध्यासक की कारण नहीं है। श्रुति को अध्यास की अनुवादक मात्र भी यदि माना जावे वह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि इससे भी उसके सार्वज्ञा होनी की हानि होती है। अज्ञान और उसके कार्य के त्रैकालिक अत्यन्ताभाव को जानकर भी वह उसका अनुवाद करने वाली कैसे होगी? द्वैत को देखती हुई वह श्रुति उस अध्यास का अनुवाद मात्र करती है अपवाद के लिए यह भी संभव नहीं है। उस श्रुति में तथा ईश्वर

में बाधित अनुवृत्ति की कथा भी सम्भव नहीं है। ज्ञान के द्वारा पूर्व अज्ञान के बाधित होने पर ही मुक्ति से पूर्व तक बाधित की अनुवृत्ति हो सकती है। श्रुति और ईश्वर में पूर्व अज्ञान नहीं है, अतः अज्ञान के न होने पर उसके (अज्ञान के) बाध होने की अनुवृत्ति भी नहीं होगी। अध्यासक के तीनों विकल्पों (जीव, ईश्वर एवं श्रुति) के खण्डन के पश्चात् अब चतुर्थ विकल्प स्वरूप स्वयं अज्ञान का भी खण्डन करते हुए लिखते हैं कि चतुर्थ विकल्प अज्ञान भी अध्यासक नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, अवस्तु है और उसके मोक्ष का प्रसङ्ग भी उपस्थित नहीं होता है। इसलिए अध्यासक के अभाव रूप ब्रह्म में कारणताध्यास का अभाव है। अब यदि यह कहा जावे कि अध्यास अनादि है तब यह भी उचित नहीं है क्योंकि अध्यास मात्र सादित्व नियम वाला है (अर्थात् अध्यास अनादि नहीं सादि है)।।

ब्रह्मणि कारणताया अध्यस्तत्वे--''स ऐक्षत'', ''तदात्मानं स्वयमकुरुत'', ''एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि०', 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति', 'कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्', 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्', 'यमेवैषवृणुते.', ''नामरूपे व्याकरवाणि''-इत्यादि तत्स्वाभाविकस्वरूपगतज्ञातृत्वकर्तृत्वोपपादकानि श्रुतिवचनानि बाध्येरन्। तस्मान्न नाट्यशालास्थदीपवत् प्रकाशकत्वमात्रेणौदासीन्येनैव तस्य कारणत्वम्। सर्वप्रकाशकत्वं नाम सर्वज्ञातृत्वमिव-अन्यथा प्रकाशस्य दीपादिवज्जडत्वापत्तेः। किञ्च ब्रह्मणोऽकर्त्तृत्वाभ्युपगमे मायाया जडाया नियन्तुरभावादनिर्मोक्षप्रासङ्गान्मुक्तस्यापि पुनर्बन्धप्रसङ्गाच्च। यतो हेतोर्ज्ञातज्ञेयस्यापि यथापूर्वमेव द्वैतप्रतीतिस्तत एव न ज्ञानेनापि तस्या बाधइति निश्चीयते। तस्या ईश्वरशक्तित्वेन तत्कृपयैव तस्यानिवारणमात्रमिति सिद्धान्तः। तस्मात्किञ्चित्करत्वेनैवब्रह्मणः कारणत्वं वक्तव्यम्। नाकिञ्चित्कुर्वतइति सिद्धम्। किञ्चित्करत्वेनैव स्वाभाविकज्ञातृत्वादिस्वरूपशक्तिमत्त्वम्।

अध्यस्त को अनादि कहने पर व्याघात (कही हुई बात का खण्डन) का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। ब्रह्म में कारणता के अध्यस्त होने पर ''उसने ईक्षण किया'' ''उसने अपने आपको स्वयं प्रकट किया'' ''हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में सब हैं'' ''उस आत्मा को ही'' ''मैं ब्रह्म हूँ'' ''इस प्रकार समझा'' ''जगत्कर्त्ता, सर्वसमर्थ ब्रह्मयोनि पुरुष को'' ''अपने अनन्तगुणों

से निगूढ देवात्मशक्ति को'' ''जिसका वह वरण करता है'' ''मैं नाम और रूपात्मक जगत् को व्याकृत करता हूँ''-इत्यादि वाक्य उस ब्रह्म में स्वाभाविक स्वरूपगत ज्ञातृत्व एवं कर्त्तृत्व के उपपादक (प्रतिपादक) हैं वे बाधित होंगे (अतः ब्रह्म में कारणता को अध्यस्त (अवास्तविक-अस्वाभाविक) नहीं मानना चाहिए अपितु ब्रह्म में स्वाभाविक कर्त्तृत्व-ज्ञातृत्व धर्मों को स्वीकार करके उसमें कारणता स्वीकार करनी चाहिए)।। इसलिए नाट्यशाला के दीपक के समान प्रकाशकत्व मात्र से केवल औदासीन्य भाव से ब्रह्म की कारणता नहीं है। सर्वप्रकाशकत्व का अर्थ सर्वज्ञातृत्व समझना चाहिए अन्यथा प्रकाश में भी दीपक के समान जड़ता माननी पड़ेगी। यदि हम ब्रह्म को अकर्त्ता समझेंगे तथा जड़ माया के नियन्ता के अभाव में मोक्ष का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होगा एवं मुक्त का भी पुनः बन्धन उपस्थित हो जाएगा (अर्थात् यदि ब्रह्म को कर्त्ता नहीं स्वीकार करें तथा माया को ही जगत् की कर्त्ता समझा जावे तब-तब माया तो जड है, यदि उसका कोई नियन्ता कर्त्ता नहीं होगा तब वह अविवेक से कार्य करेगी ऐसी स्थिति में या तो किसी का भी मोक्ष नहीं होगा और यदि किसी का हो भी गया तो अविवेक के कारण पुनः बन्धन प्राप्त हो जाएगा)।। क्योंकि माया की जड़ता के कारण ज्ञात और ज्ञेय की पूर्ववत् द्वैत की ही प्रतीति होती रहेगी (जबकि मायावादी अद्वैत प्रतीति को मोक्ष मानते हैं) अतः ज्ञान से भी उस माया का बाध नहीं होता है-यह निश्चय होता है। उसे ईश्वर की शक्ति (स्वाभाविक शक्ति) स्वीकार करना चाहिए तथा उसकी कृपा से ही उसका निवारण होता है यह सिद्धान्त है। इसलिए कुछ करने के सामर्थ्य के कारण ही ब्रह्म का कारणत्व कहना चाहिए न कि कुछ न करते हुए यह सिद्ध होता है। किञ्चित् करत्व (कुछ करने के सामर्थ्य) से ही ब्रह्म स्वाभाविक ज्ञातृत्वादि स्वरूप शक्ति वाला है।

तदेवं मायावाद्यभ्युपगमवादेनैव अज्ञानातिरिक्तस्वाभाविकज्ञातृत्वादिना स्वरूपगतविशेषत्वे प्राप्ते, ''स्वाभाविकी''त्यादिना श्रुत्या या प्रतिपादिता सा स्वरूपशक्तिरिति टीकाकाराशयः। अतएव स्वरूपशक्तिहेतुकमेव ब्रह्मणो नित्यनिरंकुशैश्वर्य्यम् ''एष सर्वेश्वर'' इत्यादिश्रुत्या प्रतिपाद्यते। यथा पावकस्यौष्ण्यं तत्स्वरूपभूतं तदभिन्नं, तथैव परमात्मस्वरूपशक्तिस्तदभिन्ना, न मणिमन्त्रादिभिरग्नेर्दाहकशक्तिवत्केनचिद्विहन्तुं शक्या, सर्वनियन्तृत्वादेव। तत्र

चिदचिच्छक्त्योरन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्योन्यविरोधो ''मायां व्युदस्य चिच्छक्त्वा कैवल्ये स्थित आत्मनि'', ''स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं भगवन्त-मीमही''त्यादिविनिगकवाक्यैरवगम्यते।

'स्वतेजसा' इत्यस्य स्वरूपगतचिच्छक्त्येत्यर्थः। त एव चिदचिच्छक्ती पुनरपि श्रीविष्णुपुराणवाक्येन निर्दिशति-''याऽतीतगोचरा वाचा''मित्यादिना। या तत्र स्वरूपगाचिच्छशक्तिः सा जातिगुणादिविशेषणहीनत्वात्पर-ब्रह्माभिन्नत्वाच्च अवाङ्मनसगम्या। तस्याः सर्वावभासकत्वाज्जीव-बुद्ध्यादीनामपि बाह्यघटादिवत्प्रकाशकत्वाज्जडैर्वाङ्मन आदिकरणैस्त-त्प्रकाश्यैरसौ न प्रकाश्यत इत्यर्थः। ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्येतिज्ञानिनां सर्वज्ञानामपि ज्ञानं यस्याः स्वरूपविषयकावबोधे कुण्ठीभवति तादृशी सेत्यर्थः। तर्हि कथं तत् सद्भावनिश्चय इति चेदाह--विशुद्धभक्तिमतां चित्तेनैवावगम्येति। विशुद्धभक्तिमतां निर्हेतुकभक्तिमतामित्यर्थः। सा चेश्वरी। ईश्वरस्य तव अग्न्यौष्ण्यवन्नित्यत्वादिना स्वरूपभूतत्वात्। परां चिद्विलासरूपां परिणामादिना जडमायावन्न विकारार्हेति यावत्। सा च स्वरूपशक्तिः ''मूलप्रकृतिरीश्वरी'' त्यादिना ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ख्याता। एषैव ब्रह्मसंहिताया ''रमादेवी, नियति'' रित्यपि ख्याता । तत्र नियतिर्नाम ''स्वाश्रयाधीनत्वेन निखिलनियमन'' मित्यनेन तस्याः स्वातन्त्र्यं वार्य्यते पूर्वपक्षिणा। निखिलनियमनादेव देवी ईश्वरीति भाष्यते, नतु स्वातन्त्र्याभिप्रायेण, ''तद्वशंवदे''त्युक्तत्वात्। तयोश्चि-न्मायाशक्त्योर्वृत्तिभेदेन वैविध्यं दर्शयति श्रियापुष्ट्देयादिना तत्रश्र्यादयो विद्यान्ता-श्चिन्मायाशक्तिवृत्तयः। शक्तिपदेन अविद्या-परर्य्याया अचिच्छक्तिर्मायोक्ता।

इस प्रकार मायावादी के द्वारा स्वीकृत वाद से अज्ञान के अतिरिक्त स्वाभाविक ज्ञातृत्व आदि के कारण स्वरूपगत विशेष के प्राप्त होने पर ''स्वाभाविकी'' इत्यादि श्रुति के द्वारा प्रतिपादित जो है वह स्वरूप शक्ति है यह टीकाकार का आशय है। (अर्थात् स्वरूप शक्ति स्वाभाविक ज्ञातृत्व आदि से सम्पन्न है तथा माया से भिन्न स्वाभाविक शक्ति है)।। अतः स्वशक्ति के कारण ही ब्रह्म का नित्य निरङ्कुश ऐश्वर्य ''एष सर्वेश्वर''-यह सर्वेश्वर है-ऐसा प्रतिपादित किया जाता है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता उसका स्वरूप है और उसकी (अग्नि) से अभिन्न है वैसे ही परमात्मा की स्वरूप शक्ति उससे अभिन्न है। सर्वनियन्ता होने के कारण जैसे अग्नि की

दाहक शक्ति मणि और मन्त्र आदि से नियन्त्रित नहीं की जा सकती है वैसे ही परमात्मा की स्वाभाविक शक्ति भी किसी अन्य से नियन्त्रित नहीं होती है।

वहाँ अन्तरङ्ग चित् शक्ति एवं बहिरङ्ग अचित् शक्ति का जो अन्योन्य विरोध है उसका परिहार ''मायां व्युदस्य.. माया का परिहार करके चित् शक्ति से कैवल्य में स्थित आत्मा में'' अपने तेज (चित् शक्ति) से माया के गुण प्रवाह को नित्य निवृत्त करने वाले भगवान् की उपासना करते हैं इत्यादि वाक्यों से समझा जा सकता है (अर्थात् भगवान् की चित् शक्ति से मायारूपी अचित् शक्ति का प्रवाह नित्य निवृत्त हो जाता है तथा कैवल्य में स्थित आत्मा में भगवान् की उपासना होती है)।।

''स्वतेजसा..'' का अर्थ यहाँ स्वरूपगत चित् शक्ति है। इन दोनों चित् और अचित् शक्तियों का निर्देश विष्णु पुराण के वाक्य से करते हैं ''याऽतीतगोचरावाचाम् (वह चित् शक्ति वाणी से अतीत और अगोचर है)'' जो स्वरूपगा चित् शक्ति है वह जाति-गुण-आदि विशेषणों से रहित एवं परब्रह्म से अभिन्न होने के कारण वाणी और मन से अगोचर है (अवाङ्-मनसगम्या)। वह सबकी प्रकाशक है। बाह्य जगत् के घट आदि के समान वह जीव की बुद्धि आदि की भी प्रकाशक है इसलिए वह जड़ वाणी, मन आदि करणों से प्रकाशित नहीं होती है, यह अर्थ है। ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्या-का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि वह ज्ञानियों का ज्ञान भी उसके स्वरूप का बोध कराने में कुण्ठित हो जाता है ऐसी वह स्वरूपशक्ति चित् है। तब प्रश्न होता है कि ऐसी शक्ति की सत्ता है यह कैसे निश्चय हो? इसी का उत्तर देने के लिए मूल में ''विशुद्धभक्तिमतां चित्तेनैवावगम्या कहा है अर्थात् विशुद्ध भक्ति वाले साधकों के चित्त से ही उसका बोध होता है। ''विशुद्धभक्तिमताम्'' का अर्थ है बिना किसी प्रयोजन के भक्ति करने वाले।। वह ईश्वरी है। अग्नि की उष्णता के समान वह नित्यत्व आदि रूप से ईश्वर की स्वरूप भूता है। जड़ माया के समान वह परिणाम वाली विकार रूपा नहीं है अपितु चिद्विलास रूपा है। ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में स्वरूपशक्ति को'' मूल प्रकृतिरीश्वरी'' आदि कहा है।। अर्थात् वह मूल प्रकृति और ईश्वरी है। यही स्वरूप शक्ति ब्रह्म संहिता में ''रमा, देवी, नियति'' भी कही गई है यहाँ

पूर्वपक्षी नियति शब्द का अपने आश्रय के अधीन होने के कारण सबका नियमन करने के कारण वह नियति है यह अर्थ करते हुए उसके स्वातन्त्र्य को रोकता है। जबकि वह निखिल का नियमन करने के कारण ही देवी और ईश्वरी कही गई है न कि स्वातन्त्र्य के अभिप्राय से क्योंकि उसे ''तद्वशंवदा'' अर्थात् परमात्मा के अधीन कहा है।'' चित् और माया का वृत्तिभेद से वैविध्य दिखलाते हुए ''श्रिया पुष्ट्या'' आदि कहा गया है। यहाँ श्री से लेकर विद्या पर्यन्त चिन्माया शक्ति की वृत्तियाँ है शक्ति पद के द्वारा अविद्या अपर नाम वाली अचित् शक्ति माया कही गई है।

तदेवं स्थिते तयोश्चिदचिच्छक्त्योरुपास्यत्वानुपास्यत्वादि विवेकं दर्शयति तयोः स्वरूपभूता येत्यादिना। तस्याः स्वरूपभूतत्वादेव सेव्यत्वम्। अस्वरूपत्वाच्चापराया असेव्यत्वमित्यर्थः। भगवत्तादियन्मयीतियत्कृता हि भगवतो भगवत्तेत्युक्त्या स्वरूपशक्तिरुपजीव्या, 'भगवत्ता' ह्युपजीविकेति सिद्धान्तितम्। नहि स्वरूपशक्तिनिरपेक्षं भगवती भगवत्त्वं सम्भवतीति भावः। तत्र शक्तिवर्गलक्षणेत्यादि-स्वरूपशक्तितद्धर्माविवक्षया केवलं ज्ञानं ब्रह्मेति, मायाशक्तिप्राचुर्य्यात्मकचिच्छक्त्यंशविशिष्टम् अन्तर्यामित्वमयं परमात्मेति, आविष्कृतसर्वशक्तिसर्वातिशायि स्वरूपं भगवानिति शब्द्यत इति ''वदन्ति तत्तत्त्वविद'' इत्यस्य विशेषार्थो दर्शितः।

इस प्रकार चित् और अचित् का स्वरूपनिरूपण करके उन दोनों उपास्यत्व और अनुपास्यत्व के विवेक को दिखलाते हैं-''तयोः स्वरूपभूताः'' इत्यादि के द्वारा। चित्-शक्ति परमात्मा की स्वरूपभूता है अतः सेवनीय-उपासनीय है तथा अचित्-मायाशक्ति अस्वरूप होने के कारण असेव्य है-उपासनीय नहीं है।

''भगवत्तादियन्मय'' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि स्वरूपशक्ति उपजीव्या है, भगवत्ता उपजीविका है। स्वरूपशक्ति के बिना भगवान् का भगवत्त्व सम्भव नहीं है-अर्थात् स्वरूपशक्ति के बिना भगवान् को भगवान् नहीं कहा जा सकता है।

मूल के ''शक्तिवर्गलक्षणतद्धर्मातिरिक्तं'' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-शक्ति वर्ग के स्वरूप एवं उसके धर्मों से रहित केवल ज्ञान ही ब्रह्म है। मायाशक्ति के प्राचुर्य स्वरूप अचित् शक्ति विशिष्ट अन्तर्यामी को

परमात्मा कहा जाता है तथा आविष्कृत समस्त शक्तियों वाले तथा सर्वातिशायी स्वरूप को ''भगवान्'' कहते हैं-तत्त्वविद उसे ऐसा कहते हैं।'' यह विशेषार्थ है।

सा च स्वरूपशक्तिः ब्रह्मस्वरूपस्य सत्त्व-चित्त्वानन्दत्वेतिधर्म-त्रयानुरोधेन सन्धिनी, संविद्ह्लादिनीति एकापि त्रिविधभेदवतीति श्रीविष्णुपुराणवचनेन दर्शयति-ह्लादिनीत्यादिना। सन्धारणादिकार्य्यविशेष-विवक्षया संज्ञाभेद इति भावः। तत्र सम्विद्विद्याशक्तिः। सन्धिनी सर्वसन्धारणशक्तिः। ह्लादिनी आह्लादकारी। या तु ह्लादतापकरी मिश्रा त्रिगुणात्मिका माया सा सत्त्वादिमायिकगुणरहितस्य तव न स्वरूपभूता। जीवमेव विषयीकरोति सेत्यर्थः। 'ह्लादिन्यासम्विदाऽऽ-श्लिष्ट' इत्यत्र 'आश्लिष्ट''इत्यस्य सर्वतो व्याप्त इत्यर्थः।

सन्धिन्यादिशब्दानामर्थं स्फोरयति यया सत्तां ददाति धारयति च, सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्तिकरी सन्धिनी। तथा च चिद्रूपोऽपि यया सम्वेत्ति सम्वेदयति च, सा सम्वित्। एवं ह्लादरूपोऽपि भगवान् यया तं ह्लादं सम्वेत्ति सम्वेदयति, ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनीति। तासामुत्तरोत्तरोत्कर्षेण सन्धिनी-सम्विद्ह्लादिनीति क्रमं दर्शयति। इयमेव ह्लादिनी पञ्चरात्र-विष्णुपुराणादिषु गुह्यविद्याख्या भक्तिरितिप्रोच्यत इत्याह। इयमेव स्वरूपगा चिच्छक्तिरग्ने-र्दाहशक्तिवद्विष्णोरनपायिनी, स्वाश्रयभूतस्वरूपव्यापिनी, स्वरूपभिन्नत्वात् कालमायाद्यगोचरा, तत्र तत्र हरेरनुरूपरूपिणी, विष्णोर्वामाङ्गवर्त्तिनी स्याच्चेत्तदा श्रीमहालक्ष्मी रमेति प्रोच्यत इत्याह पञ्चरात्रविष्णुपुराण-बृहन्नारदीयादि-वाक्योपन्यासेन। स्वरूपाभिन्नत्वेऽपि ''लक्ष्म्याः पति'' रिति भेदव्यपदेश-स्त्वौपचारिकः। आनन्दस्वरूपस्यापि 'ब्रह्मण आनन्द' इतिवत्।

सद्रूप स्यापि तस्य 'ब्रह्मणः सत्ते' तिव्यपदेशवद्वा। एतावता सन्दर्भेण प्रमाणबद्धेन साधितं श्रीराधायाः शक्तित्वमवगणय्य कथं सा कृष्णसमा कृष्णाधिकावेति प्रलप्यते? शास्त्रमुपेक्ष्य दुराग्रहेण तस्या आधिक्यमनने शाक्तत्वं दुर्वारं स्यादिति पूर्वपक्षिण उक्तिः। किं तत् शाक्तत्वमिति जिज्ञासायां भक्तिरत्नाकर-वाराहतन्त्रादिवाक्यैः शाक्तत्वं दर्शयति-राधा कृष्णस्य रागाङ्गमित्यादिना। ''प्रेमरागमयाः'' ''प्रेमानन्दमयाः'' इत्यादिना यथेच्छं गोपीनां प्रेमपात्राणां गोपभोग्यत्वं वदन् किल शाक्तएवासौ ज्ञेयः। तथैव कृष्णस्य,

कृष्णेन प्रसादितेन वा, साध्या राधेति यो ब्रूयात्स एव शाक्तसंज्ञार्ह इत्यर्थः।।

स्वरूपशक्तेः श्रीराधायास्तत्प्राधान्येनोपासने पूर्वपक्षिणा या शाक्तत्वदोषप्रसक्तिरुक्ता तां निराचिकीर्षुस्तदुत्तरपक्षमुपन्यस्यन्नाह-अत्रोच्यते समाधानमित्यादि। अथ यदुक्तं प्रतिपक्षिणा-''तत्र नियतिर्नाम पराधीनत्वेन निखिलनियमनं, नियतिरूपत्वादेव तस्या ईश्वरीत्वं, न स्वातन्त्र्येण, स्वातन्त्र्येणेश्वरत्वं हि शक्त्याश्रयीभूतस्य स्वरूपस्यैव, तस्मात्स्वाधारभूतस्व-रूपापेक्षया तस्याः पारतन्त्र्येण न्यूनत्वमेव वाच्य''मित्यादि-तद्दूषयितुमुपक्रमते-''न हि शक्तिपदेनात्र तस्या न्यूनत्वमुच्यत''इत्यादिना। स्वरूपघटकशक्तेरपि स्वरूपापेक्षया न्यूनत्वं वदन् भ्रान्तोऽसीत्यर्थः यदा स्वरूपशक्तिमत एव स्वरूपत्वं शास्त्रे डिण्डिमायमानं श्रूयते, तदा कथं भोः सा स्वरूपघटका न्यूनसत्ताका? यन्निरपेक्षं चिन्मात्रस्य आनन्दस्वरूपमपि दुरुपपादं, सा स्वरूपशक्तिः कथं तदपेक्षया न्यूना वा परतन्त्रसत्ताका वेत्यादौ स्वमनसि विचारय। स्वरूप शक्तिनिरपेक्षं कीदृङ्नाम तदाश्रयीभूतं स्वरूपमिति वक्तव्यं सुधीभिरित्याशयः। प्रत्युत ''यत्कृता हि भगवतो भगवत्ते''त्यव्यभिचारिसत्येन तस्या एवाधिक्ये सिद्धे अलं तस्याः पारतन्त्र्यन्यूनसत्ताकत्वादिकथया। ''अचिन्त्याः खलु ये भावा०'' इत्याद्युक्तमेव। तस्माद्यत्रतत्राधिकत्वे-नेति''निगमयति।

वह एक ही स्वरूपशक्ति ब्रह्म के सत् चित् और आनन्द इन तीन धर्मों के अनुरोध से सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी इन तीन स्वरूपों (भेदों) वाली हो जाती है (सत् धर्म से सन्धिनी, चित् धर्म से संवित् और आनन्द धर्म से ह्लादिनी कही जाती है)

''ह्लादिनी..'' इत्यादि विष्णु पुराण के वचन से दिखाया गया है कि साधारण आदि कार्य विशेष को कहने की इच्छा से संज्ञा भेद होता है। उनमें संवित् विद्याशक्ति है। सन्धिनी सर्वसन्धारण शक्ति है। आह्लादकारी ह्लादिनी शक्ति है। आह्लाद को दूर करने वाली त्रिगुणात्मिका माया सत्त्वादि मायिक गुणों से रहित ब्रह्म की स्वरूप भूता नहीं होती है। वह माया शक्ति जीव को ही अपना विषय बनाती है। ''ह्लादिन्यश्लिष्ट'' का अर्थ है सर्वत्र ह्लादिनी व्याप्त है।

सन्धिनी आदि शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हैं-जिससे सता, धारण

की जाती है वह सभी देश-काल और द्रव्यों में व्याप्त रहने वाली सन्धिनी शक्ति है। तथा चित् स्वरूप भी जिससे जानता है या अन्यों को जनाता है वह शक्ति सम्वित् शक्ति है। इसी प्रकार ह्लादरूप भी भगवान् जिस शक्ति से ह्लाद प्राप्त करता है अन्यथा प्राप्त करवाता है, आह्लादित होता है, आह्लादित करवाता है वह ''ह्लादिनी'' कही जाती है। उनका उत्तरोत्तर उत्कर्ष से सन्धिनी-संवित् तथा ह्लादिनी क्रम दिखलाते हैं। यही ह्लादिनीशक्ति पञ्चरात्र एवं विष्णुपुराण आदि में गुह्यविद्या नामक भक्ति कही गई है। अग्नि की दाहक शक्ति के समान यही स्वरूपगा चित् शक्ति विष्णु से अभिन्न है, अपने आश्रयभूत स्वरूप में व्याप्त होने वाली है और यही जब विष्णु के वामाङ्ग में स्थित रहती है तब श्रीमहालक्ष्मी-रमा नाम से कही जाती है-पञ्चरात्र-विष्णुपुराण-बृहन्नारदीय आदि के वाक्य इसमें प्रमाण हैं। स्वरूप से अभिन्न होने पर भी ''लक्ष्मी के पति'' यह भेद कहना औपचारिक (लाक्षणिक) है जैसे आनन्द स्वरूप को भी ''ब्रह्म का आनन्द'' कहा जाता है (जबकि ब्रह्म आनन्दस्वरूप ही है आनन्द और ब्रह्म भिन्न-भिन्न नहीं है किन्तु औपचारिक रूप से ''ब्रह्म का आनन्द'' इस प्रकार भेद रूप से कहा जाता है वैसे ही महालक्ष्मी विष्णु का ही स्वरूप है भिन्न नहीं है)।।

इसी प्रकार सद्रूप ब्रह्म के लिए ''ब्रह्म की सत्ता'' यह भेद व्यवहार किया जाता है (वस्तुतः ब्रह्म और सत्ता में कोई भेद नहीं है-ब्रह्म सद्रूप ही है)।। जब प्रमाण सहित इस सन्दर्भ से श्रीराधा का शक्तित्व सिद्ध हो गया तब उसकी अवलेहना करके उसे कृष्ण के समान या कृष्ण से भी अधिक सिद्ध करने का प्रलाप क्यों किया जा रहा है? पूर्वपक्षी के कथन का सार यह है कि शास्त्र की उपेक्षा करके राधा को कृष्ण से अधिक मानने पर शाक्त होने के दोष से वैष्णव नहीं बच सकते। यह शाक्तत्व क्या है इस जिज्ञासा पर भक्तिरत्नाकार और वाराहतन्त्र आदि के वाक्यों से दिखला रहे हैं--

राधा कृष्ण का रागाङ्ग है इत्यादि (मूल) के द्वारा। वाराहतन्त्र में गोपियों को ''प्रेमरागमय'' कहकर रागाङ्ग कहा है तथा गोपों को ''प्रेमानन्दमय'' कहकर लयाङ्ग कहा है-प्रेमपात्र गोपियाँ गोपों से भोग्य हैं-ऐसा कहने वाला शाक्त ही है-ऐसा समझना चाहिए। वैसे ही कृष्ण की अथवा प्रसन्न किए हुए

कृष्ण से आराध्या राधा है ऐसे जो कहता है वह भी शाक्त ही है।

कृष्ण की स्वरूप राधा के प्राधान्य को स्वीकार करके उसकी उपासना में पूर्वपक्षी ने जो शाक्त होना दोष देखा है उसका निराकरण करने की इच्छा से उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-राधा नियति शक्ति है वह पराधीन रूप से ही समस्त का नियमन करती है, नियति रूप में ही वह ईश्वरी है, स्वतन्त्र रूप से नहीं, स्वतन्त्र रूप से ईश्वरत्व तो शक्ति के आश्रयीभूत स्वरूप (श्रीकृष्ण) का ही है, इसलिए अपने आधारभूत स्वरूप की अपेक्षा उसकी (श्रीराधा की) परतन्त्रता के कारण उसे न्यून ही कहना चाहिए अधिक नहीं-यह जो पूर्वपक्षी का कथन है-उसे दूषित करने के लिए कहते हैं-''शक्तिपद से उसकी (राधा की) न्यूनता नहीं कही गई है। सिद्धान्तपक्षी कहता है कि तुम स्वरूप शक्ति राधा को स्वरूप श्रीकृष्ण की अपेक्षा न्यून मानने के कारण भ्रान्त हो। जब शास्त्र में स्वरूपशक्ति वाले को ही स्वरूप कहा गया है (न कि स्वरूपशक्ति रहित को स्वरूप कहा है) तब वह स्वरूप घटकशक्ति स्वरूप से न्यून कैसे हो सकती है। जिस (स्वरूपशक्ति) के बिना चिन्मात्र का आनन्दस्वरूप होना सिद्ध नहीं होता, वह स्वरूपशक्ति स्वरूप की अपेक्षा न्यून या परतन्त्र कैसे हो सकती है-यह अपने मन में विचार करो। विद्वान् लोग स्वरूपशक्ति के बिना उसके आश्रयीभूत स्वरूप का स्वरूप कैसे कह सकेंगे (अर्थात् स्वरूपशक्ति के बिना स्वरूप का कोई भी स्वरूप नहीं कहा जा सकता है)।

प्रत्युत'' भगवान् की भगवत्ता जिसके द्वारा सिद्ध होती है इस अव्यभिचारिसत्य से उसी स्वरूपशक्ति का आधिक्य सिद्ध होने पर-उसकी (स्वरूपशक्ति की) न्यूनता अथवा परतन्त्र सत्ता की कथा करना बन्द कर देनी चाहिए। ''अचिन्त्या खलु ये भावाः..'' के द्वारा भी उक्त मत ही परिपुष्ट होता है, उसके आधिक्य भाव से भी यह सिद्ध किया जाता है कि स्वरूपशक्ति स्वरूप से भिन्न नहीं है।

यदुक्तं ब्रह्मसंहितावाक्योपन्यासेन ''तद्वशंवदे''ति, तत्र पृच्छ्यते-का सा शक्तिर्यया भगवान् स्वरूपशक्तिं वशीकुर्वन्नास्ते? नहि शक्त्यन्तरनिरपेक्षं स्वरूपशक्तिवशीकरणं संभवति, अन्यैव काचित्स्वरूपशक्तिस्तस्या नियामिकेति चेत् तस्या अपि स्वरूपापेक्षया पारतन्त्र्येण, यतः शक्तिमात्रस्य पारतन्त्र्यं

त्वयाऽभ्युपगम्यते, अतस्तस्या अपि नियामिका अन्या तस्याप्यन्येति अनवस्था।

स्वरूपशक्तिरेव स्वनियमनं स्वयमेव करोतीति चेत्सिद्धं तस्या अपारतन्त्र्यम्। तस्माद्दुस्तर्कं विहाय, तस्याः स्वरूपघटकत्वेन स्वरूपत्वमपराधीनत्वमेव वाच्यं पण्डितमानिभिरित्यभिप्रायः। ब्रह्मसंहितोक्तं-''तद्वशंवदे'' तिपदमैश्वर्य्यभावोपासनानुसारीति ज्ञेयं, नतु स्वरूपसिद्धान्तानुसारि। तत्तद्भावात्मकभक्तभावपोषायैव तत्तद्दम्पत्योस्तयोर्लीलामात्रम्। वस्तुतस्तु समप्राधान्यसिद्धान्ते तस्यास्तद्वशंवदन्तं तस्य च तस्या वशंवदत्वं न विरुद्ध्यते-परस्परात्मरूपत्वात्। प्रोक्तवशंवदत्वं तु तस्याः स्वरूपशक्तित्वाभ्युपगमानुरोधेनैश्वर्य्यलीलायामेव। इह तु ''कल्लोलकौ वस्तुत एकरूपका''वित्यादिना तयोरुभयोर्मिथः सर्वांशतुल्यत्वेन परब्रह्मस्वरूपत्वाभ्युपगमान्नैकतरस्यापि गौणत्वम्।

द्वारस्थदीपवदिति-यथा द्वारस्थदीपो बाह्याभ्यन्तरं प्रकाशयति तथैवेयं स्वरूपशक्तिः स्वाधारस्वरूपं बाह्यं चिदचित्प्रपञ्चं च प्रकाशयति, अत इयं सर्वप्रकाशिनी, तां विना जगदान्ध्यापत्तिरत एव सा उपनिषत्सु ''तस्यभासा-सर्वमिदं विभाती''ति श्रुत्योक्तम्। स्वरूपस्य स्वस्वरूपानुभूतिहेतुभूतापीयमेव। अन्यथा तदसंभवः। तया विना ब्रह्मणो ज्ञातृत्वाद्यसिद्धया जगदान्ध्यापत्तिरिति ध्येयम्। ब्रह्मणो हरिवज्ज्ञेयतेति यथा व्यापकचिज्ज्योतिः स्वरूपस्य ब्रह्मणो हरिरधिदैवतं तथैवेयं श्रीराधिका समस्तशक्तीनामधिदैवतमित्यवगन्तव्यम्। ब्रह्मवैवर्तववाक्येन तस्याः परब्रह्मस्वरूपत्वं स्पष्टयति-''परब्रह्मस्वरूपा से'' त्यादिना। यथा हि गजपतिरश्वपतिरित्युक्ते सोऽपि किं गजोऽश्वोवा? तथैव शक्त्यधिष्ठात्रीयं राधिका किं शक्तिरितिप्रतिपक्षी पर्यनुयुज्यते। नापि स्त्र्याकृतिः शक्तित्वे नियामिका-अन्यथा मोहिनीरूपधरस्य विष्णोरपि स्त्र्याकृत्यविशेषात् शक्तित्वं सुवचमिति भावः।

''तद्वशंवदा-उसके अधीन है'' ब्रह्म संहिता का यह वाक्य उपस्थित करते हुए जो यह कहा जा रहा कि स्वरूप शक्ति ब्रह्म के अधीन है-इस विषय में हम पूछते हैं कि भगवान् की वह कौन सी शक्ति है जिससे वे स्वरूप शक्ति को वश में करते हैं? किसी अन्य शक्ति के बिना स्वरूपशक्ति को वश में करना सम्भव नहीं है। यदि आप कहें कि कोई अन्य ही स्वरूपशक्ति

उसकी नियामिका है-तब वह भी स्वरूप की अपेक्षा परतन्त्र होगी क्योंकि आप शक्तिमात्र को परतन्त्र मानते हैं-अतः उसकी भी अन्य कोई नियामिका शक्ति माननी पड़ेगी, उसकी पुनः कोई और नियामिका होगी-इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होगा।

अब आप यदि यह कहें कि स्वरूपशक्ति ही अपना नियमन स्वयं करती है तब उसकी अपरतन्त्रता अर्थात्-स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाती है। तब कुतर्कों को छोड़कर उस स्वरूपशक्ति को ही स्वरूप घटक होने से स्वरूप और स्वतन्त्र कहना चाहिए यह अभिप्राय है। ब्रह्मसंहिता में कहा गया ''तद्वशंवदा'' यह कथन परमैश्वर्यभाव की उपासना के अनुसार है न कि स्वरूपशक्ति के अनुसार। विभिन्न भाव वाले भक्तों के भाव के पोषण के लिए ही दम्पती की वे लीलाएँ हैं। वस्तुतः समप्राधान्य सिद्धान्त में (अर्थात् राधा-माधव-अथवा स्वरूपशक्ति एवं स्वरूप में) एक दूसरे का वशंवाद होना कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनों परस्परस्वरूप वाले हैं। उक्त ''तद्वशंवदत्व-ऐश्वर्यलीला में ही स्वरूपशक्ति के अनुरोध से कहा गया है, यहाँ तो ''कल्लोलकौ वस्तुतः एकरूपकौ'' (एक स्वरूप वाले तरङ्गों के समान) इत्यादि के द्वारा दोनों सर्वांश में एक-दूसरे के समान है-एक तो परब्रह्म स्वरूप मानने पर किसी अन्य का गौणत्व हो जाएगा।

वस्तुतः द्वार पर रखे गए दीपक के समान-जैसे द्वार पर रखा गया दीपक बाहर और अन्दर में प्रकाश करता है वैसे ही यह स्वरूपशक्ति अपने आधार स्वरूप एवं बाह्य चित् और अचित् के प्रपञ्च को प्रकाशित करती है-इसलिए यह सर्व प्रकाशिनी (सबको प्रकाशित करने वाली) है। उसके बिना जगत् अन्धा हो जायेगा-इसलिए उपनिषदों में कहा गया-''तस्य भासा सर्वमिदं विभाति- उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता।'' स्वरूप के स्वरूपानुभूति की यह कारण है। अन्यथा स्वरूप का अनुभव होना असम्भव है। उस स्वरूप शक्ति के बिना ब्रह्म का ज्ञातृत्व आदि सिद्ध नहीं होने से जगत् की भी अन्धता स्वीकार करनी पड़ेगी। ब्रह्म की हरि के समान ज्ञेयता है-जैसे व्यापक ज्योतिः स्वरूप ब्रह्म का हरि अधिदेवता है वैसे ही श्रीराधिका समस्त शक्तियों की अधिदेवता है ऐसा समझना चाहिए। ब्रह्मवैवर्तपुराण के वाक्य से उस श्रीराधिका का परब्रह्म स्वरूप स्पष्ट करते हैं-''परब्रह्मस्वरूपा

सा वह परब्रह्म स्वरूप है। जैसे-गजपति या अश्वपति कहने पर वह भी क्या गज या अश्व मात्र ही माना जाएगा, वैसे ही शक्तियों की अधिष्ठात्री यह श्रीराधिका क्या शक्तिमात्र ही मानी जाएगी यह प्रतिपक्षी से पूछना चाहिए। स्त्री की आकृति होना शक्ति की नियामिका नहीं है अन्यथा मोहिनी रूप धारी विष्णु को भी स्त्री आकृति विशेष होने पर शक्ति कहा जा सकता है।

कृष्णस्य रागाङ्गं राधिका, राधिकाया रागाङ्गं कृष्णो वेत्यत्र-विनिगमनाविरहान्न निर्णयः कर्त्तुं शक्यते--उभयोरेकस्वरूपत्वात्। उभयोरपि अन्योन्यातिरेकित्वात्। स्वरूपसामर्थ्यादिदृष्ट्या न कतरस्यापि गौणत्वमिति-भावः। किञ्च, स्वरूपशक्तेः स्वरूपविरहेण पृथक् स्थातुमशक्यत्वादेकमेव सशक्तिकस्वरूपं द्वैरूप्येण दम्पतिरूपेणावतिष्ठत्यत उभयोरपि सशक्तिकस्वरूपत्वं दृगिन्द्रियद्वयवत्, चणकस्य दलद्वयवत्, सितोपलायाः खण्डद्वयवद्वा, उभयोरेकैकस्य समस्तस्वरुपगुणशक्तिकत्वमित्यस्यैव पक्षस्य श्रौतस्य समीचीनतमत्वं युगलोपास्तावित्यवगन्तव्यं सुधीभिः। एतदर्थकानि श्रुतिपुराणादिप्रमाणानि प्रागेव दर्शितानि। नापि शक्तिशब्दप्रयोगमात्रेण तस्याः शक्तित्वं निर्णेतुं शक्यम्-अन्यथा उदाहृत-नृसिंहपुराणवाक्यप्रामाण्येन बलकेशवयोरपि शक्तित्वं कुतो नाङ्गीक्रियते? तयोरपि नृसिंहस्य शक्तित्वात्तयोरुपासनेऽपि शाक्तत्वदोषो दुर्वारः स्यात्। बलकेशवयोरपि ब्रह्मभावनयोपासने शाक्तत्वं दुर्वारमित्यर्थः। तयोरपि मुख्यत्वेनोपासने यद्यवैष्णवत्वमङ्गीक्रियते। तदा श्री राधिकाधिक्यमननेऽपि स्यान्नाम तत्। ननु बलकेशवयोर्नृसिंहेण स्वरूपाभेदोऽभ्युपेयते, तयोस्तच्छक्तित्वोक्ति-स्त्वौपचारिका मन्तव्या, अन्यथा स्वरूपावताराणां स्वरूपाभेदप्रतिपादकानि शास्त्रवचनानि बाध्येरन्।

स्वरूपावतारत्वादेव तयोर्मुख्यत्वेनोपासने नावैष्णवत्वमिति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपि श्रीराधाकृष्णयोः स्वरूपाभेदे किं बाधकमिति वक्तव्यं सुधीभिः। तस्याः शक्तित्वमेव बाधकमिति चेत्। रामकृष्णयोरपि शक्तित्वमुक्तप्रमाणबलेन सुवचम्। तस्मात्पौर्वापर्य्यविचारेण निर्णीतोऽर्थः शिष्टसम्मतो भवति। यत्रेयं शक्तिः प्रोक्ता तत्रापि शक्तिशब्दः स्वरूपवचन एवागन्तव्यः। स्वरूपघट-कत्वात्तदभिन्नत्वाच्च। ''राधाकृष्णस्य रागाङ्ग''मित्यादिवाक्यानां प्रवृत्तिस्तु शक्तिवादमाश्रित्यैव न तु तत्त्वतः। तस्य सत्प्रतिपक्षत्वमिति-''राधा कृष्णस्य

शक्तिः, तद्रागाङ्गत्वात्। शक्तिमात्रस्य न स्वरूपत्वं तन्नियम्यत्वात्। इति शक्तिवादिनोऽनुमानम्। तस्य सत्प्रतिपक्षः-

''राधा कृष्णस्य स्वरूपं, आत्मत्वात्, स्वरूपघटकत्वाच्च। या या आत्मता, स्वरूपघटकता च सा सा स्वरूपम्, अग्नेरौष्ण्यवत्, सितोपलाया माधुर्य्यवत्।'' इति।।

ब्रह्मवैवर्त्तवाक्यमत्र सहायकृदिति--उभयोःकतरः पुमान्, कतरा च स्त्री इत्यस्य यत्र वेदोऽपि निर्णयं कर्त्तुं न समर्थस्तत्रेतराणां तन्निर्णये कियन्नाम सामर्थ्यमित्याशयः। तदेवं यत्प्रतिज्ञातं ''शक्तित्वे नहि गौणत्व''मिति तत्साधितम्। आस्तां तावत्तस्या गौणत्ववार्त्ता, भगवतो भगवत्ताहेतुभूतत्वा-त्तस्याः शक्तित्वेऽपि स्वाभाविकमेवाधिक्यमित्यर्थः। तस्मात्स्वरूपापेक्षया तद्घटकशक्तेरप्राधान्यमिति वदन्तोऽत्र परास्ता ज्ञेयाः।

।। इति शक्तित्वस्वीकारेऽपि श्रीराधिकायाउत्कर्षनिरूपणयुक्तिः ।।४ ।।

कृष्ण का रागाङ्ग राधिका है अथवा राधिका का रागाङ्ग कृष्ण है-इसमें निर्धारण करने वाला कोई नहीं है इसलिए निर्णय नहीं हो सकता है क्योंकि दोनों एक ही स्वरूप वाले हैं-दोनों ही एक दूसरे से बढकर हैं। स्वरूप सामर्थ्य आदि की दृष्टि से किसी की भी गौणता-अप्रधानता नहीं है। और भी स्वरूपशक्ति स्वरूप के बिना पृथक् नहीं रह सकती-अतः एक ही शक्ति सहित स्वरूप दो रूप से-अर्थात्-दम्पती रूप से स्थित रहता है-दोनों का सशक्तिकस्वरूप नेत्रेन्द्रिय युगल के समान, दोनों में प्रत्येक समस्त स्वरूपगुण शक्तिवाला है-यह वैदिक पक्ष ही युगलोपासना में समझना चाहिए। इस अर्थ के समर्थक श्रुति एवं पुराण आदि के वचन पूर्व में ही दिखला दिए गए हैं। शक्ति शब्द के प्रयोग मात्र से उसका शक्तित्व निर्णीत नहीं हो जाता है अन्यथा नृसिंह पुराण के वाक्य के प्रमाण से बलराम और केशव को भी शक्ति क्यों नहीं स्वीकार किया जाता, क्योंकि वे भी नृसिंह की शक्ति वाले हैं तब उनकी उपासना में भी शाक्त होने के दोष से बचना कठिन है। अर्थात् बलराम और केशव की ब्रह्मभाव से की जाने वाली उपासना में भी शाक्तत्व दोष उपस्थित हो जाएगा। उन दोनों की भी मुख्य रूप से उपासना में भी यदि नृसिंह शक्तिमत्ता के आधार पर अवैष्णवता स्वीकार की जावे तब श्रीराधिका की आधिक्य भाव से की जाने वाली

उपासना में भी भले ही अवैष्णवता होवे। ननु बलराम और केशव में नृसिंह के साथ स्वरूप का अभेद स्वीकार किया जाता है उन्हें नृसिंह शक्तिवाला कहना केवल, लाक्षणिक (औपचारिक) है अन्यथा स्वरूपावतारों का स्वरूप के साथ अभेद प्रतिपादन करने वाले शास्त्र वचन बाधित हो जाएंगे।

यदि स्वरूपावतारों की मुख्य रूप से उपासना में अवैष्णवता नहीं है तब प्रकृत में भी श्रीराधा और कृष्ण में स्वरूप का अभेद है इसमें क्या बाधा है? ऐसा विद्वानों को कहना चाहिए। उसका (राधा का) शक्ति होना ही यदि इसमें बधा है तब इस प्रमाण से राम और कृष्ण को भी शक्ति कहा जा सकता है। इसलिए पौर्वापर्य के विचार से निर्णीत अर्थ ही शिष्ट सम्मत होता है। जहाँ इसे शक्ति कहा गया है वहाँ शक्ति शब्द स्वरूप का ही वाचक है-ऐसा मानना चाहिए। स्वरूप घटक होने तथा उससे अभिन्न होने के कारण। यदि यह कहा जावे कि ''राधाकृष्ण की रागाङ्ग है इत्यादि वाक्यों की प्रवृत्ति शक्तिवाद को लेकर के है न कि तत्त्वतः'' यह हेतु सत्प्रतिपक्ष वाला है सत्प्रतिपक्ष का स्वरूप इस प्रकार से है--

''राधाकृष्ण की शक्ति है, कृष्ण का रागाङ्ग होने के कारण। शक्तिमात्र स्वरूप नहीं है, उसके (शक्ति के) नियम्य होने के कारण-यह शाक्तवादियों का अनुमान है।

वैष्णव इस अनुमान को सिद्ध करने हेतु उस का सत्प्रतिपक्ष उपस्थित करते हैं (जिस हेतु का कोई सत्प्रतिपक्ष हेतु उपस्थित हो वह हेतु हेत्वाभास होने से सद् अनुमान नहीं करा सकता अर्थात् शाक्तवादियों का अनुमान सद् अनुमान नहीं है) सत्प्रतिपक्ष का स्वरूप इस प्रकार है--

''राधा कृष्ण का स्वरूप है, आत्मत्व के कारण और स्वरूप घटक होने के कारण। जो जो आत्मता है और स्वरूप घटकता है, वह-वह स्वरूप है अग्नि के स्वरूप ऊष्णता के समान अथवा शर्कराखण्ड के माधुर्य के समान।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण का वाक्य इसमें सहायक है। इन दोनों (राधा-कृष्ण) में कौन पुरुष है और कौन स्त्री-इसका निर्णय करने में वेद भी जब समर्थ नहीं है तब दूसरों के सामर्थ्य के विषय में कहना ही क्या यह आशय है।

जो इसमें पूर्व में प्रतिज्ञा की गई थी कि ''शक्ति होने पर गौणता नहीं होती है-वह सिद्ध कर दी गई। अतः उसकी गौणता-अप्रधानता की बात बन्द की जावे, भगवान् की भगवत्ता के हेतु होने के कारण उसके शक्ति होने में स्वाभाविक आधिक्य है। इस प्रकार स्वरूप की अपेक्षा उसकी घटक शक्ति को अप्रधान कहने वाले परास्त कर दिए गए हैं-ऐसा समझना चाहिए।

इति शक्तित्व स्वीकारेऽपि श्रीराधिकाया उत्कर्षनिरूपण युक्तिः।।४।।

अथ श्रीराधिकाधिक्यनिर्णययुक्तिः।।५।।

अथैक्याधिक्यवाक्यानां संग्रहः क्रियतेऽधुना।
राधया माधव इति, श्रुतिः प्रागेव दर्शिता।।
चक्रवर्त्तिपदं प्राप्ता वाक्यान्यनुगतानि ताम्।
महादेवी न शोभते परिवारैर्विना कृता।।
प्रदर्श्यन्ते न मन्यते यः स दण्ड्यो भवेद्ध्रुवम्।
दण्डोऽत्र भक्तिवैमुख्यान्न चाधिकतमो मतः।।

तत्राद्यं माहेश्वरी संहितायाम्--

सा तद्हृदिस्था स हि तद्हृदिस्थ इति।।

दहर उत्तरेभ्य इति न्यायात्।। उभौ परस्परात्मानावित्यर्थः।। ततश्चैक्यमेव व्यक्तम्।। यस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम् इति सम्मोहने तन्त्रे ज्योतिरेकमितीरितम्।।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां श्रीराधिकाधिक्यनिर्णययुक्तिः।।५।।

अब श्रीराधिका के आधिक्य प्रतिपादक वाक्यों का संग्रह करते हैं। ''राधया माधवो'' ''देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजन्ते जनेष्वा'' (राधा के साथ माधव और माधव के साथ राधिका सुशोभित हैं) यह श्रुति पूर्व में दिखला दी गई है। वह श्रुति चक्रवर्त्तिपद को प्राप्त हो गई है सभी वाक्य उसके अनुगत हैं। जैसे महादेवी परिवार के बिना सुशोभित नहीं होती है वैसे ही यह श्रुति भी अन्य वाक्यों के बिना सुशोभित नहीं होती है-इसीलिए उन वाक्यों का प्रदर्शन किया जा रहा है। यदि कोई इनको नहीं माने तब व दण्ड के योग्य है। यहाँ दण्ड है-भक्ति से विमुख कर देना अर्थात् युगलोपासना में अधिकार न होना। सर्वप्रथम राधा के बिना माधव और माधव के बिना राधा नहीं इसका समर्थन माहेश्वरी संहिता में इस प्रकार है--

''वह राधा उस माधव के हृदय में स्थित है तथा वह उसके हृदय में स्थित है।''

''उत्तरवर्त्तियों के लिए हृदय है-इस न्याय (दहर उत्तरेम्य इति न्यायात्) के अनुसार दोनों एक दूसरे की आत्मा है। इससे ऐक्य ही व्यक्त हुआ है।''

''राधा-माधव स्वरूप में एक ही ज्योति दो प्रकार से प्रकट हुई- सम्मोहन तन्त्र में राधा-माधव को एक ही ज्योति कहा गया है।''

श्रीब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे षष्ठेऽध्याये तद्वाक्यं-''त्वं मे प्राणाधिका राधे तव प्राणाधिकोऽप्यहम्। न किञ्चिदावयोर्भिन्नमेकावयवयोरिह।।तथा।।

न कुत्राप्यावयोर्भेदो राधे संसारबीजयोः।
यत्स्नेहदुग्धयोरैक्यं दाहिकानलयोरपि।
भूगन्धजलशैत्यानां नास्ति भेदस्तथावयोः।।
मया विना त्वं निर्जीवा ह्यदृश्योऽहं त्वया विना।
विना देहेन चात्मा क्व शरीरं विनात्मता।।''

तत्रैव गर्गवाक्यं--

वर्द्धते सा व्रजे राधा शुक्ले चन्द्रकला यथा।
श्रीकृष्णवपुषोऽर्द्धस्य सा हि मूर्त्तिमती सती।।
एकामूर्त्तिर्द्विधा भिन्ना भेदो वेदेऽनिरूपितः।।
इयं स्त्री स पुमान् किंवा स वा कान्ता पुमानियम्।
द्वे रूपे तेजसा तुल्ये रूपेण च गुणेन च।।
पराक्रमेण बुद्ध्या वा ज्ञानेन सम्पदादिना।
पुरतो गमनेनैव वर्णेन वयसा धिया।।
ध्यायते तामयं शश्वदियं तं स्मरते सदा।
सास्य प्राणैर्विरचिता तत्प्राणैर्मूर्त्तिमानयम्।।

श्रीब्रह्मवैवर्त्तपुराण के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड के छठे अध्याय में श्रीकृष्ण का वाक्यः--

''हे राधे! तुम मेरे प्राणों से भी बढकर हो मैं तुम्हारे प्राणों से बढकर हूँ। एक ही अवयव वाले हम दोनों में कुछ भी भेद नहीं है।'' और भी ''हे राधे! संसार के बीज रूप हम दोनों में कहीं भी कुछ भी भेद नहीं है। जैसे स्निग्धता और दूध में अभेद है, अग्नि और दाहकता में अभेद है, जैसे पृथ्वी और गन्ध में, जल और शीतलता में भेद नहीं है वैसे ही हम दोनों में भेद नहीं है।''

मेरे बिना तुम निर्जीव हो और मैं तुम्हारे बिना अदृश्य हूँ। देह के

बिना आत्मा कहाँ है और बिन शरीर के आत्मभाव कहाँ है।

वहीं पर गर्ग का वाक्य इस प्रकार है--

श्रीकृष्ण के शरीर के अर्द्ध की मूर्तिरूप धारण करती हुई वह राधा व्रज में शुक्ल पक्ष की चन्द्रकला के समान बढ रही है।

एक ही मूर्त्ति दो भागों में विभक्त है वेद में भेद का निरूपण नहीं किया गया है।

यह राधा स्त्री है वह कृष्ण पुरुष है अथवा वह कृष्ण कान्ता (स्त्री) है एवं वह राधा पुरुष है ऐसा भेद नहीं है। दोनों रूप (राधा-कृष्ण अथवा स्त्री-पुरुष) तेज, रूप, गुण, पराक्रम, बुद्धि, ज्ञान तथा सम्पद् पुरःगमना वर्ण, उम्र, और धी (धारणाशक्ति) से समान है। यह श्रीकृष्ण उस राधा का तथा राधा श्रीकृष्ण का निरन्तर सदा स्मरण करते हैं। राधा इस श्रीकृष्ण के तथा श्रीकृष्ण उस राधा के प्राणों से विरचित मूर्तिमान् हैं।

तत्रैव विवाहप्रसङ्गे श्रीकृष्णः--

''त्वं मे प्राणाधिका राधे प्रेयसी श्रेयसी परा।
यथा त्वं च तथाहं वै भेदो नास्त्यावयोः क्वचित्।।१।।
यथा हि दुग्धे धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि सन्ततः।।२।।
इति तस्याः तच्छक्तित्वोक्तेरैक्यमेवाभिप्रेतम्।।
''कृष्णं वदन्ति मां लोकास्त्वया विरहितं यदा।
श्रीकृष्णेति तदा प्राहुस्त्वयैव सहितं परम्।।३।।
त्वं च श्रीस्त्वं च सम्पत्तिस्त्वमाधारस्वरूपिणी।
सर्वशक्तिस्वरूपासि सर्वेषां च ममापि च।।४।।
त्वं स्त्री पुमानहं राधे नैव वेदेषु निर्णयः।
तदा तेजः स्वरूपोऽहं तेजोरूपासि त्वं यदा।।५।।
सशरीरस्तदाहंवै यदा त्वं सशरीरिणी।
त्वं च शक्तिस्वरूपा हि सर्वस्त्रीरूपधारिणी।।६।।
ममार्द्धांशस्वरूपा त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी।
शक्त्या बुद्ध्या च ज्ञानेन तुल्या वाचा च तेजसा।।७।।

आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ।।८।।
पूर्वान् सप्त परान् सप्त पुरुषान् पातयत्यधः।
कोटिजन्मार्जितं पुण्यं तस्य नश्यति निश्चितम्।।९।।
अज्ञानादावयोर्भेदं ये कुर्वन्ति नराधमाः।
पच्यन्ते नरके तावद्यावद्वै ब्रह्मणः शतम्।।१०।।

तत्रैव ब्रह्मवाक्यम्:--

श्रीकृष्णस्त्वमियं राधा त्वं वा राधा हरिस्त्वियं।
नहि वेदेषु वां भेदो दृष्टो वापि श्रुतोऽपि वा।।११।।

तां प्रति यथा--

सर्वा देव्य प्रकृत्यंशा जन्याः प्राकृतिका ध्रुवम्।
त्वं कृष्णार्द्धाङ्गसम्भूता तुल्या कृष्णेन सर्वतः।।१२।।
नित्योऽयं च यथा कृष्णस्त्वं च नित्या तथाम्बिके।
अस्यांशस्त्वं त्वदंशोऽयं भेदः केन निरूपित इति।।१३।।

श्रीबृहद्गौतमीये श्रीबलदेवं प्रति श्रीकृष्णवाक्यम्।।

''सत्त्वं तत्त्वं परत्वं च तत्त्वत्रयमहं किल।
त्रितत्त्वरूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा।।१४।।
प्रकृतेः पर एवाहं सापि मच्छक्तिरूपिणी।
सात्त्विकं रूपमास्थाय पूर्णोऽहं ब्रह्मचित्परः।।१५।।
ब्रह्मणा प्रार्थितः सम्यक् सम्भवामि युगे युगे।
तया सार्द्धं त्वया सार्द्धं नाशाय देवताद्रुहाम्।।१६।।

अस्यार्थः।। सत्त्वं कार्यत्वं, तत्त्वं कारणत्वं, ततोऽपि परत्वं चेति यत्तत्त्वत्रयं तदहमित्यर्थः।। सात्त्विकमिति सत्त्वं नाम श्रीभगवतः प्रादुर्भावाधिष्ठानम्।। तत्र भवमिति।। विशुद्धसत्त्वस्वरूपमित्यर्थः।। शेषं स्पष्टम्।। तथा--

देवस्याभेदरूपेण तप्तहेमसमप्रभाम्।
रक्तवस्त्रपरीधानां रत्नालंकारभूषिताम्।।
श्रीराधां वामभागे च पूजयेद्भक्तितत्पर इति।।
इति साम्यम्।।

वहीं विवाह प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण कहते हैं--हे राधे! तुम मेरे प्राणों से भी बढकर उत्कृष्ट प्रेयसी और कल्याणकारिणी हो। जैसे तुम हो वैसे ही मैं हूँ। हम दोनों में कहीं भी कोई भेद नहीं है।।१।।

मैं तुम में निरन्तर उसी प्रकार विद्यमान हूँ जैसे दूध में धवलता, अग्नि में दाहकता और पृथिवी में गन्ध है। इस प्रकार राधाकृष्ण की शक्ति कहे जाने पर भी एक ही अभिप्रेत है (द्वैत नहीं)।।२।।

श्रीराधा को श्रीकृष्ण की शक्ति कहने से दोनों की एकता ही अभिप्रेत है।

तुम्हारे बिना लोग मुझे कृष्ण कहते हैं और तुम्हारे सहित मुझे श्रीकृष्ण कहते हैं। तुम ही श्री हो तुम ही सम्पत्ति हो, तुम ही आधार स्व-रूपिणी हो। तुम सर्वशक्तिस्वरूपा हो, यह तुम्हारा रूप मेरे लिए और सबके लिए है। हे राधे! तुम स्त्री हो और मैं पुरुष हूँ इसका निर्णय अर्थात् भेद नहीं किया गया है। जब तुम तेजो रूप हो तब मैं तेजःस्वरूप हूँ।।३-५।।

तुम जब शरीरधारिणी बनती हो तब मैं भी शरीरधारी होता हूँ। समस्त स्त्रियों का रूप धारण करने वाली तुम शक्तिस्वरूपा हो।।६।।

तुम मूल प्रकृति हो, ईश्वरी हो, मेरा अर्द्धांश रूप हो। तुम शक्ति, बुद्धि, ज्ञान, वाणी और तेज से मेरे समान हो।।७।।

जो नराधम हम दोनों में भेद बुद्धि रखता है, जब तक सूर्य-चन्द्रमा हैं तब तक उसका वास कालसूत्र (कालकोठरी) में है।।८।।

वह अपने सात पीढी पूर्व के और सात पीढी तक आने वाले अपने वंश वालों का अधःपतन करता है। निश्चय ही उसके करोड़ों जन्मों का पुण्य फल नष्ट हो जाता है।।९।।

जो नराधम अज्ञान के कारण हम दोनों में भेद करते हैं सौ ब्रह्मा के काल (समय) तक नरक में पकाए जाते हैं।।१०।।

वहीं ब्रह्मा का वचन है--

तुम श्रीकृष्ण हो और यह राधा है अथवा तुम राधा हो और यह (राधा) हरि है, तुम दोनों का इस प्रकार का भेद वेदों में न तो देखा है न सुना है।।११।।

जैसे श्रीराधा के प्रति ब्रह्मा का वाक्य--

निश्चय ही तुम से भिन्न सभी देवियाँ प्रकृति की अंश की अंश हैं, जन्य हैं तथा प्राकृतिक हैं किन्तु तुम श्रीकृष्ण के अर्द्धाङ्ग स्वरूप हो और सब प्रकार से श्रीकृष्ण के समान हो।।१२।।

हे अम्बिके जैसे यह श्रीकृष्ण नित्य है वैसे ही तुम भी नित्य हो। इस श्रीकृष्ण का तुम अंश हो और यह तुम्हार अंश है तुम दोनों में भेद किसने निरूपित किया है? (अर्थात् भेद नहीं भेद निरूपण करने वाला मूढमति है)।।१३।।

श्रीबृहद्गौतमीय में बलदेव के प्रति श्रीकृष्ण का वाक्य--

मैं सत्त्व, तत्त्व और परत्वरूप से तत्त्वत्रय रूप हूँ, मेरी वल्लभा (प्रिया) राधिका भी त्रितत्त्व रूप वाली है। मैं प्रकृति से परे हूँ, मेरी शक्ति रूपा वह राधिका भी प्रकृति से परे है। मैं सात्त्विक रूप को धारण कर पूर्ण परब्रह्म चित् स्वरूप हूँ।।१४-१५।।

देवताओं से द्रोह करने वालों के विनाश के लिए ब्रह्मा के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर तुम्हारे (राधा के) और उस (प्रकृति) के साथ प्रत्येक युग में सम्यक् प्रकार से रूप धारण करता हूँ।।१६।।

सत्त्व का अर्थ है कार्य, तत्त्व का अर्थ है और इन दोनों से परे परत्व इस प्रकार जो तत्त्वत्रय है वह मैं हूँ (अर्थात् कार्य ब्रह्म, कारणब्रह्म और परब्रह्म मैं ही हूँ) सात्त्विक का अर्थ करते हुए लिखते हैं-सत्त्व का अर्थ है भगवान् के प्रादुर्भाव का अधिष्ठान और उसमें होने वाला सात्त्विक तात्पर्य है विशुद्ध सत्त्व स्वरूप। शेष स्पष्ट है। और भी--

भक्ति में तत्परायण रहने वाला देव श्रीकृष्ण के वामभाग में अभेद रूप से तपे हुए स्वर्ण की कान्ति वाली, लालवस्त्र वाली और रत्नालंकारों से विभूषित श्रीराधा की पूजा करे। यह साम्य है (अर्थात् राधाकृष्ण में साम्यभाव है)।

।। अथैक्याधिक्यवाक्यानां सङ्ग्रहः ।। ५ ।।

दर्शितः स्वरूपशक्तित्वाङ्गीकारेणापि श्रीराधायाः स्वाभाविकोत्कर्षः। अथेदानीं तच्छक्तित्वापवादभूतैक्याधिक्यप्रतिपादकानि वाक्यानि प्रदर्श्यन्त इति प्रतिजानीते-अथैक्याधिक्यवाक्यानामित्यादिना। (येत्वजातवादाश्रयणेन श्रुतिप्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्यापि प्रपञ्चस्य, किम्बहुना परमेश्वरतच्छक्ति-तज्ज्ञा-

पकवेदादि--दृष्टदृश्यदर्शनादिनिखिलद्वैतजातस्य शुद्धेऽद्वितीये निर्विशेषे निर्धर्मके त्रैकालिकात्यन्ताभावमभ्युपगम्य पुनश्च मृगमरीचिकादिदृष्टान्तैस्तस्मिन् बाधितानुवृत्तिन्यायेन जीवन्मुक्तावपि द्वैतप्रतीतिमुपपादयन्ति तेषां स्वोक्तिव्याहतिर्दुर्वारा, मे माता वन्ध्येति उक्तिवत्। अधिष्ठाने ब्रह्मणि अविद्या-तत्कार्य्यादीनां त्रैकालिकात्यन्ताभावमभ्युपगम्य पुनरविद्याया अनिर्वचनीयभावरूपत्वाभ्युपगमेऽपि स्वोक्तिव्याहतिरेव। असतोऽविद्यातत्कार्य्ययोः प्रतीतेरेवासंभवात्-अन्यथा खपुष्प-शशशृङ्गादीनामपि तेष्वपि कल्पितभावरूपत्वेन प्रतीतेः संभवो वाच्यः पण्डितमानिभिः। तेषामपि स्वरूपतोऽसत्त्वाविशेषात्।

स्वरूपेण असतः प्रतीतेरसंभव उक्तः पूर्वाचार्य्यैः श्रीकेशवकाश्मीरिचरणैः कौस्तुभप्रभायाम्। तथाहि-''ननु शुक्तौ रजतप्रतीतिवत्, रज्जौ सर्पप्रतीतिवच्च भेदप्रतीतेरपि दोषमात्रकारणमपेक्षितं, न विषयसद्भाव इति चेन्न। त्वन्मते दोषमात्रस्यापि तुच्छत्वसाम्येन ततः प्रतीतिरूपकार्य्योत्पत्तेरसंभवात्। कार्य्यस्य कारणसत्तापेक्षत्वनियमात्, स्वरूपेणासतः कार्य्योत्पत्त्युनुकूलशक्तिमत्त्वाभावात्। ब्रह्मेतरस्य त्रैकालिक-निषेधप्रतियोगित्वं वदन्तोऽत्र प्रष्टव्याः-श्रुत्यभिहितद्वितीयमात्राभावः कालत्रयेऽस्ति, न वा? नाद्यः स्वोक्तव्याघातात्। अन्त्ये द्वितीयस्य सत्त्वापत्तेः। न च नाभावो द्वितीयोऽद्वैतविरोधीति वाच्यम्। अभावत्वाधेयत्वाधारत्वादिभावैरविनाभूतेनातिशयेऽप्यद्वैतभङ्गात्। द्वितीयाभावस्य सत्त्वेऽद्वैतहानिः, मृषात्वे द्वैतस्य सत्यत्वापत्ति''रित्यादिना।)

यहाँ तक सिद्ध कर दिया गया है कि स्वरूपशक्ति के रूप में राधा को स्वीकार करने पर भी उसका स्वाभाविक उत्कर्ष है। अब राधा के शक्तित्व के अपवाद स्वरूप आधिक्य के प्रतिपादक वाक्य प्रदर्शित किए जाते हैं-इसकी प्रतिज्ञा करते हैं-''अथैक्याधिक्यवाक्यानाम्'' इत्यादि के द्वारा (जो विद्वान् अजातवाद के आश्रय से श्रुति एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध भी प्रपञ्च का, अधिक क्या कहें, परमेश्वर और उसकी शक्ति तथा उसके ज्ञापक वेदादि-द्रष्टा, दृश्य दर्शन आदि समस्त द्वैत का शुद्ध, अद्वितीय, निर्विशेष, निर्धर्मक ब्रह्म में त्रैकालिक अत्यन्ताभाव को स्वीकार करके पुनः मृग-मरीचिकादि दृष्टान्तों से उस ब्रह्म में बाधित अनुवृत्ति न्याय से जीवन्मुक्ति में भी द्वैत की प्रतीति सिद्ध करते हैं। उनकी अपनी ही उक्ति का खण्डन दुर्वार है (अर्थात् एक और तो वे अद्वैत सिद्धि के लिए ब्रह्म को निर्धर्मक स्वीकार

करके द्वैत प्रतीति को जो वास्तविक है उसे अवास्तविक सिद्ध करते हैं साथ ही जीवन्मुक्ति में द्वैत प्रतीति स्वीकार करते हैं-यह उनका वदतोव्याघात दोष है-वे अपने इस दोष से नहीं बच सकते।

उनकी यह उक्ति उसी प्रकार है जैसे कोई कहे कि मेरी मा वन्ध्या (बांझ) है। अधिष्ठान ब्रह्म में अविद्या एवं उसके कार्यों का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव स्वीकार करके पुनः अविद्या का अनिर्वचनीय भाव रूप में स्वीकार करना भी अपने ही वचन की हानि है। अविद्यमान (सत्ता रहित) अविद्या और उसके कार्यों की प्रतीति ही असंभव है-अन्यथा स्वयं को पण्डित मानने वालों को ख-पुष्प (आकाश-कुसुम) एवं शशशृङ्ग (खरगोश के सींग) आदि की भी उनमें कल्पित भाव रूप से प्रतीति सम्भव कहनी चाहिए-माननी चाहिए) क्योंकि उनकी भी स्वरूपतः असत्ता होने में कोई भेद नहीं है। (तात्पर्य है कि जब मायावादी-अद्वैत वेदान्ती निर्धर्मक ब्रह्म में स्वरूपतः असत् द्वैत की प्रतीति मृगमरीचिका के समान प्रतीति स्वीकार करते हैं तब आकाश पुष्प आदि की भी प्रतीति उनको स्वीकार करनी ही होगी क्योंकि दोनों की ही स्वरूपतः सत्ता नहीं हैं)।

जबकि पूर्वाचार्य श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यजी ने कौस्तुभप्रभा में स्वरूपतः असत् की प्रतीति को असम्भव कहा है) क्योंकि-सींपी में रजत की प्रतीति एवं रस्सी में सर्प की प्रतीति में दोष कारण है वैसे ही भेद की प्रतीति में भी दोष ही कारण है विषय की सत्ता कारण नहीं है-यदि ऐसा कहा जावे तो यह ठीक नहीं है। तुम्हारे (वेदान्ती के) मत में दोष मात्र के ही तुच्छ होने से उससे होने वाली प्रतीति रूप कार्य की उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि कार्य के लिए कारण की सत्ता अपेक्षित है। स्वरूपतः असत् कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल शक्तिमत्त्व का अभाव होने से ब्रह्म से भिन्न द्वैत त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है-इस प्रकार कहने वालों से पूछना चाहिए कि क्या श्रुति से कहे गए द्वितीय मात्र का अभाव तीनों कालों में अभाव नहीं? प्रथम (तीनों कालों में अभाव होना) ठीक नहीं है अपने ही कहे का निषेध करने के दोष के कारण। यदि अन्तिम विकल्प (तीनों कालों में अभाव नहीं है) को स्वीकार करते हैं तब द्वितीय (द्वैत) की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी (चाहे वह सत्ता किसी भी काल में स्वीकार की जावे)। तीनों कालों

में अभाव रूप में न रहने वाला द्वितीय अद्वैत का विरोधी है-यह भी नहीं कहना चाहिए अभावत्व, आधेयत्व, आधारत्व आदि भावों से अविनाभूतरूप से अतिशय होने पर अद्वैत भङ्ग हो जाता है। द्वितीयाभाव के होने पर अद्वैत की हानि है, मृषा (असत्) कहने पर द्वैत की सत्ता सिद्ध होती है)।

प्रकृतमनुसरामः।

तत्र सामान्यशास्त्राद्विशेषशास्त्रस्य बलीयस्त्वं तावत् सर्ववादिसम्मतम्। यथा ''एतेभ्यो विप्रेभ्य आसनं देयं, ब्रह्मनिष्ठायास्मै तु वरासन''मिति पित्रादिष्टः पुत्रस्तथैव करोति। तत्र यथा ''एतेभ्यो विप्रेभ्य''इति सामान्याज्ञापेक्षया ''ब्रह्म-निष्ठाय तु वरासन''मितिविशेषाज्ञाया बलीयस्त्वं, तत्स्वरूपगौरवस्फोरकत्वात् यथा वा व्याकरणशास्त्रे 'अकःसवर्णे०' इति सामान्यशास्त्रस्य ''अमि पूर्वः'' इति विशेषशास्त्रं बाधकं विशेषविषयकत्वेन तस्य पूर्वोक्तसामान्यशास्त्राद्बली-यस्त्वं तद्वत्।

अब प्रकृत का अनुसरण करते हैं। यह बात सभी वादियों को मान्य है कि सामान्य शास्त्र की तुलना में विशेष शास्त्र बलवान् होता है। जैसे ''इन विप्रों को आसन दो, ब्रह्मनिष्ठ इस विप्र को श्रेष्ठ आसन दो-इस प्रकार पिता के द्वारा आदिष्ट पुत्र वैसा ही करता है। जैसे यहाँ ''इन विप्रों को''-इस सामान्य आज्ञा की अपेक्षा ''ब्रह्मनिष्ठ को वरासन दो'' यह विशेष आज्ञा बलवती होती है। यह विशेष आज्ञा उस ब्रह्मनिष्ठ के स्वरूप गौरव को स्पष्ट करने वाली होती है अथवा जैसे व्याकरण शास्त्र में ''अकः सवर्णे दीर्घः (सवर्ण अच् परे होने पर अक् और सवर्ण अच् के स्थान पर दीर्घ एकादेश हो) इस सामान्य शास्त्र को ''अमि पूर्वः-अम् परे होने पर दीर्घ न होकर पूर्वरूप होता है) यह विशेष शास्त्र बाधित कर देता है विशेष विषयक होने के कारण अर्थात् विशेष शास्त्र सामान्य शास्त्र से बलवान् होता है।

ननु प्रकृते किमायातमेतेन शास्त्रबलाबलविचारेणेति चेत् सावधानतया शृणु। श्रीराधिकायाः श्रीकृष्णसाम्यप्रतिपादकवाक्यानां तत्स्वरू-पोत्कर्षोपस्थापकानां तस्याः स्वरूपशक्तित्वप्रतिपादकसामान्यस्वरूपोपस्था-पकवाक्येभ्यो बलीयस्त्वं बोध्यम्। प्राग्दर्शिता ''राधया माधव'' इति श्रुतिश्चक्र-वर्त्तिस्थानीया मन्तव्या। तत्परिवारभूतानि तदनुगानि वाक्यान्यत्र प्रदर्श्यन्ते। ननु तानि वाक्यानि तत्प्रशंसापराणि, न तु तत्स्वरूपप्रतिपादनपराणि, तस्याः

श्रीकृष्णविषयकनिरतिशयप्रेमवत्त्वात्। अन्यथा तस्यास्तच्छक्तित्वप्रतिपादक-पूर्वोदाहृतवाक्यानामयथार्थत्वप्रसङ्गात्। न ह्याश्रयाश्रयिरूपशक्तित्वस्वरूपत्वे एकाधिकरणनिष्ठे संभवतः। प्रेर्य्य-प्रेरकभावरूपत्वाच्च। तस्माच्छ्रीकृष्णसाम्योक्तिः प्रेमाधिष्ठातृत्वेन तस्यास्तत्साहित्येनोपास्त्यभिप्रायेण, शक्तिशक्तिमतोरभेद-विवक्षया। तस्यां श्रद्धोत्पादनायैवेति चेन्न। आकांक्षाभेदेन शक्तित्व-स्वरूपत्वोक्त्योरप्येकस्मिन्नधिकरणे नायुक्तत्वम्। एकस्यैव पितृत्वपुत्रत्ववत्। श्रीकृष्णस्य प्राधान्यविवक्षया बहिरङ्गैश्वर्य्यमिश्रभावात्मिकोपास्तौ तस्याः शक्तित्वोक्तेर्नानौचित्यम्। किन्तु प्रोक्तलक्षणयुगलोपास्तौ तस्याः शास्त्रोक्तमेव श्रीकृष्णस्वरूपत्वं वेदोपनिषत्-पुराणपञ्चरात्रादिषु बहुशः प्रमाणितं, गुणशक्त्यादिभिः सर्वथा श्रीकृष्णसाम्यं चानिवार्यत्वेनाभ्युपेयम्। नेयं तस्याः स्वरूपोत्कर्षोक्तिः प्रशंसामात्रेति मन्तव्यम्। बाधकप्रमाणाभावात्। शक्तित्वोक्तेस्तूक्तरीत्या समाधेयत्वात्। सामान्यशास्त्राद्विशेषशास्त्रस्य बली-यस्त्वस्य शास्त्रकाराणां सम्मतत्वाच्च। श्रीकृष्णसमानस्वरूपप्रतिपादकस्य विशेषशास्त्रत्वाच्च। तस्माद्यदि दुराग्रहग्रह-गृहीतत्वेन कश्चित्तस्यास्तत्साम्यं न मन्येत तर्ह्यसौ दण्डय इत्याह-''प्रदर्श्यन्ते न मन्येते'' त्यादिना। ननु किंरूपोऽत्र दण्ड इति चेदाह-''दण्डोऽत्र भक्तिवैमुख्या''दिति। युगलोपास्त्य-धिकारबहिर्भूतत्वमेवात्र दण्डस्वरूपं, नाधिकं तत इति भावः।

अब प्रकृत में विचार करते हैं कि विशेष शास्त्र से यहाँ क्या सिद्ध होता है। सावधानी पूर्वक श्रवण करें। श्रीराधिका और श्रीकृष्ण में समानता है, श्रीराधिका स्वरूपशक्ति है-इस प्रकार के सामान्य शास्त्र के वाक्यों की तुलना में उसके स्वरूप के उत्कर्ष को प्रतिपादित करने वाले विशेष शास्त्र वाले वाक्य बलवान् हैं-ऐसा समझना चाहिए। पहले प्रदर्शित की गई ''राधया माधवः'' (राधा से ही माधव, माधव है) यह श्रुति चक्रवर्त्ति स्थानीय है-अर्थात् विशेष श्रुति है, श्रेष्ठ है। उसके परिवार स्वरूप उसी का अनुगमन करने वाले वाक्य यहाँ लिखे जा रहे हैं। ननु वे वाक्य उसके प्रशंसा परक हैं न कि स्वरूप प्रतिपादक परक, क्योंकि श्रीराधा का श्रीकृष्ण विषयक निरतिशय प्रेम है। अन्यथा उसको शक्तिरूप में प्रतिपादन करने वाले वाक्य अयथार्थ (अवास्तविक) हो जाऐंगे। एक ही अधिकरण में आश्रया श्रयिभाव तथा शक्तित्व-स्वरूपत्व भाव सम्भव नहीं है प्रेर्य्य-प्रेरकभाव

रूप होने के कारण। इसलिए श्रीकृष्ण और श्रीराधा में साम्य कथन तीन कारण से है एक प्रेमाधिष्ठातृत्वरूप से, दूसरा श्रीराधा और श्रीकृष्ण के साहित्य से साथ-साथ उपास्य अभिप्राय से तथा शक्ति और शक्तिमान् में अभेद कहने की इच्छा से। उस राधा में श्रद्धा का उत्पादन करने के लिए साम्य कथन है-यदि ऐसा कहा जावे तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि आकांक्षा भेद से शक्तित्व और स्वरूपत्व को एक ही अधिकरण में कहना असंगत नहीं है जैसे एक ही व्यक्ति में पितृत्व भी रहता है और पुत्रत्व भी रहता है। श्रीकृष्ण की प्रधानता को कहने की इच्छा से बहिरङ्ग ऐश्वर्य मिश्रित भाव की उपासना में श्रीराधाजी के शक्तिरूप में उल्लेख में भी अनौचित्य नहीं है। किन्तु उक्त लक्षणों वाली उपासना में श्रीराधा का शास्त्रोक्त श्रीकृष्ण स्वरूप होना ही वेद, उपनिषद्, पुराण, पञ्चरात्र आदि में अनेक प्रकार से प्रमाणित है, गुण शक्ति आदि के द्वारा सर्वथा श्रीकृष्ण साम्य ही अनिवार्य रूप से स्वीकार करना चाहिए। श्रीराधा के स्वरूप के उत्कर्ष की उक्ति को प्रशंसा मात्र ही नहीं मानना चाहिए, बाधक प्रमाण के अभाव के कारण। शक्तिरूप में कहने का समाधान उक्त रीति से समाधेय है। शास्त्रकारों को सामान्य शास्त्र की अपेक्षा विशेष शास्त्र सम्मत है। दुराग्रहग्रस्त कोई श्रीराधा को कृष्ण के समान यदि नहीं माने तब वह दण्ड का पात्र है-''प्रदर्श्यन्ते न मन्येत'' इत्यादि के द्वारा यही कहा गया है। यह दण्ड किस प्रकार का होगा? तब कहा है ''दण्डोऽत्र भक्ति वैमुख्यात्'' यहाँ युगलोपासना से बहिर्भूत होना या कर देना ही दण्ड है, उससे अधिक और क्या होगा (तात्पर्य यह है कि जो राधा और कृष्ण में साम्य स्वीकार नहीं करता है उसका युगलोपासना में अधिकार नहीं है यही दण्ड है)।

''दहर उत्तरेभ्य इति न्याया''दिति-हृत्कमलवेश्म यथा परमात्मनिवासस्थानं, तत्रैव तदुपलब्धेः, तथा ''सा तद्हृदिस्था स हि तद्हृदिस्थः'' इत्युक्त्यापि उभयोरन्योन्यात्मत्वं सिद्ध्यती-त्यर्थः। परमात्मप्रकरणात्। अतएव ब्रह्माण्डे-''राधा कृष्णात्मिका नित्यं कृष्णो राधात्मको ध्रुव''-मित्युक्तमित्यर्थः। एतेनान्योऽन्यात्मत्वकथनेन तयोरेक्यमेव सुव्यक्तं भवति। ''यस्माज्ज्योतिरभूद्वेधे''ति-यतो हेतोरेकमेव ज्योतिः शब्दवाच्यं परं ब्रह्म राधाकृष्णेतिद्वैरूप्येण विराजते तत एवोभयोरेकवस्तुत्वं साम्यं चेति

भावः। दुग्धधावल्यवत्पावकौष्ण्यवत्-भूगन्धवत्-जलशैत्यवदभिन्नयो-स्तयोर्भेदाभेदकल्पनम् अनुचितमिति।

''दहर उत्तरेभ्य इति न्यायात्-इस न्यास से हृदयकमल वेश्म ही जिस प्रकार परमात्मा का निवास स्थान है, उसी में वह उपलब्ध होता है। और भी ''सा तद्हृदिस्था स हि तद् हृदिस्थः (वह राधा उस कृष्ण के हृदय में है तथा श्रीकृष्ण राधा के हृदय में स्थित है) इस उक्ति से भी दोनों एक दूसरे की आत्मा सिद्ध होते हैं, परमात्म प्रकरण के कारण। अतएव ब्रह्माण्डपुराण में कहा गया है-राधा नित्य कृष्ण रूपा है तथा कृष्ण निश्चय ही राधा स्वरूप है। इस प्रकार एक दूसरे का स्वरूप कहने से उन दोनों की एकता ही सिद्ध होती है। ''जिस कारण से ज्योति दो रूपों में विभक्त हो गई''-जिस हेतु से एक ही ज्योति शब्द वाच्य परब्रह्म राधा और कृष्ण-इस प्रकार दो रूपों में विराजती है-इसलिए दोनों की एक ही वस्तुरूपता एवं साम्य है। दुग्ध और धवलता, अग्नि और उष्णता, भूमि और गन्ध, जल और शीतलता जिस प्रकार अभिन्न हैं उसी प्रकार राधा और कृष्ण भी अभिन्न हैं उनकी भेदाभेद रूप में कल्पना अनुचित ही है।

ब्रह्मवैवर्त्त-वाक्यैः स्पष्टयति-''न किञ्चिदावयोर्भिन्नमेका-वयवयोरिहे''त्यादिभिः। 'एकावयवयो' रित्यस्य प्रमाणं च पुरुषार्थबोधिन्यां ''श्रीराधाकृष्णयोरेकमासनपद्म, एका बुद्धिरेकं मन एकं ज्ञानं एक आत्मा एकपदमेका कृतिरेकं ब्रह्मतया ऽऽसन'' मित्यादिनोक्तं तत्रैव द्रष्टव्यम्। ''देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्'' इत्यादिना च श्रीराधातापन्यामपि तयोर्वस्तुत एकरूपत्व मुक्तं ''स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातय''दित्यादि बृहदारण्यकेऽपि पुरुषविधपर-मात्मानो द्वैरूप्येणोभयसाम्यात्मकेनावस्थानमुच्यते। श्रीवेदव्यासैरपीयं श्रुतिर्ब्रह्मवैवर्त्तादिषु एवमेव व्याख्याता। ''मया विना त्वं निर्जीवे''ति-ज्ञातृत्वादिस्वरूपशक्तेरपि चेतनस्वरूपमेवोपजीव्यं, धर्मिनिरपेक्षधर्मोपलब्धे-रसंभवात्-तथापि दुग्ध-तद्धावल्ययोरिव तयोरभिन्नस्वरूपयोर्विश्लेषणं कर्त्तुं नैव शक्यते। सधर्मकस्यैव स्वरूपत्वात्। 'ह्यदृश्योऽहं त्वया विने'ति-स्वरूप-शक्तिप्रभावादेव ब्रह्मणः सधर्मकत्वं साक्षात्कारयोग्यत्वं च, न तन्निरपेक्षत्वेनेति भावः। ''विना देहेन आत्मा के''ति-यथा स्वरूपेणादृश्यस्यात्मनो देहं विना नोपलब्धिः। यथा चात्मानमृते न शरीरस्थितिः। स्वरूपोपलब्धये तयोरन्योन्य-

सापेक्षत्वात्। तथैव स्वरूपतद्घटकशक्त्योरपि स्वस्वोपलब्धय अन्योन्य-सापेक्षत्वेन तयोर्भिदामननमयुक्तमितिभावः। स्वस्वोपलब्धयेऽन्योन्योप-जीवित्वादेव। ''इयं स्त्री स पुमान् किंवे''त्यादि-अनयोक्त्या तयोर्मिथः सर्वप्रकारकभेदाभेदो निरस्तः। वक्ष्यते चात्रैव-''हरीयते सा स च राधि-कायत''इत्यादि। ''इति तस्य तच्छक्तित्वोक्तेरैक्यमेवाभिप्रेत''मिति-पृथिवीस्थानीयायाः श्रीराधिकायाः गन्धस्थानीयः श्रीकृष्ण इत्युक्त्या तस्यापि तच्छक्तित्वोक्तेरुभयोरैक्यमेवाभिप्रेतमिति। न ह्यत्र स्वरूपत्वशक्तित्वे आत्मत्व-शरीरत्वयोरिवान्योन्याभावरूपे, किं तर्हि स्वरूपस्यैव द्विधावस्थितत्वादुभयोरपि सशक्तिकस्वरूपत्वमिति सिद्धान्तः, न सा केवला शक्तिर्न च सः केवलं तदाधारस्वरूपम्। तथापि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीतिन्यायेन आनन्दस्यैव ब्रह्मणि सत्त्वचित्त्वापेक्षया मुख्यत्वात् आनन्दनीशक्तिप्राचुर्याभिप्रायेणैव तस्या आनन्दनीशक्तिप्रधानस्वरूपत्वोक्तिर्न विरुद्ध्यत इतिभावः। ''साऽस्य प्राणै''रिति-अनयोक्त्यापि तयोरन्योन्यात्मत्वं सिद्ध्यति। ''त्वं स्त्री पुमानहं राधे नैव वेदेषु निर्णय'' इति-आवयोर्नियतस्त्रीत्वपुरुषविषयकनिर्णये वेदोऽप्यसमर्थस्तत्र के नामापर इत्यर्थः। भेदका नरकभागिन इत्याह-आवयोर्भेदबुद्धिं चे''त्यादिना। ''विशुद्ध-सत्त्वस्वरूप''मिति-ह्लादिनीशक्ति-वृत्तिरूपं विशुद्धसत्त्वं, न तु प्राकृतसत्त्वमित्यर्थः। ''देवस्याभेदरूपेणे''ति-तयोः स्वल्पमपि स्वरूपभेदमकृत्वा पूजयेदित्यर्थः।। **इति तयोः साम्यप्रतिपाद-कवाक्यानि।**

यह ब्रह्मवैवर्त्त के वाक्यों से स्पष्ट करते हैं--

''अभिन्न अवयवों वाले हम दोनों में कोई भेद नहीं है। एकावयव होने का प्रमाण पुरुषार्थ बोधिनी में स्पष्ट किया गया है''-श्रीराधाकृष्ण का एक आसन पद्म है, एक ही बुद्धि है, एक मन है, एक ज्ञान है, एक आत्मा है, एक पद है, एक कृति है, ब्रह्मरुप रूप से इन दोनों को एक ही कहा है। ''उसने इस आत्मा को दो प्रकार से प्रकट किया'' इस कथन से बृहदारण्यक में भी पुरुषविध परमात्मा को दो रूपों में प्रतिपादित करके कहा गया है कि दोनों साम्य रूप से अवस्थित रहते हैं। श्रीवेदव्यासजी ने इस श्रुति की व्याख्या ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराण में इसी प्रकार की है। ''मेरे बिना तुम निर्जीव हो''-इति इस उक्ति से ज्ञातृत्व आदि स्वरूपशक्ति का भी चेतन स्वरूप ही

उपजीव्य हो-ऐसा कहा गया है क्योंकि धर्मी के बिना धर्म की उपलब्धि असम्भव है। तथापि दुग्ध और उसकी धवलता के समान उन दोनों के अभिन्न स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि सधर्मक ही स्वरूप होता है। ''तुम्हारे बिना मैं अदृश्य हूँ''-श्रीकृष्ण के इस कथन से सिद्ध होता है कि स्वरूपशक्ति के प्रभाव से ही ब्रह्मसधर्मक एवं साक्षात्कार के योग्य है उस स्वरूपशक्ति के बिना नहीं। ''बिना देह के आत्मा कहाँ है''-इस कथन का स्वारस्य है कि स्वरूप से अदृश्य आत्मा की उपलब्धि देह के बिना नहीं है। जैसे आत्मा के बिना शरीर की स्थिति नहीं है। स्वरूप की उपलब्धि के लिए दोनों अन्योन्य सापेक्ष होते हैं उसी प्रकार स्वरूप और उसकी घटकशक्ति की भी अपनी-अपनी उपलब्धि के लिए एक दूसरे की अपेक्षा रहती है-अतः दोनों में भेद मानना असंगत है। अपनी-अपनी उपलब्धि के लिए एक-दूसरे की उपजीव्यता है। ''यह स्त्री है वह पुरुष है-अथवा वह पुरुष और यह स्त्री है-इस उक्ति के द्वारा दोनों के सभी प्रकार के भेद निरस्त कर दिए गए हैं। यहीं आगे कहा जाएगा-वह राधा हरि बन जाती है तथा वह श्रीकृष्ण राधा बन जाते हैं।'' उस कृष्ण और उसकी शक्ति राधा में एकता अभिप्रेत है। पृथिवी स्थानीय श्रीराधिका में श्रीकृष्ण गन्ध स्थानीय हैं-इस उक्ति से श्रीकृष्ण भी उस राधिका की शक्ति है-ऐसा कहा गया है-इस प्रकार दोनों में ऐक्य अभिप्रेत है। स्वरूप और उसकी शक्ति आत्मा और शरीर के समान एक दूसरे की अभाव रूप नहीं है अपितु स्वरूप ही दो रूपों में अवस्थित है-इस प्रकार सशक्तिक ही स्वरूप होता है-यह सिद्धान्त है। न तो वह राधा केवल शक्ति है और न वह श्रीकृष्ण केवल उसके आधार स्वरूप हैं। तथापि ''कथन प्राधान्य लेकर होता है-इस न्याय से ब्रह्म में सत् और चित् की अपेक्षा आनन्द की ही प्रमुखता है-इसलिए आनन्दनी शक्ति के प्राचुर्य के अभिप्राय से उस राधा का स्वरूप आनन्दनी शक्ति प्रधान कहा गया है-जो विरुद्ध उक्ति नहीं है। ''वह राधा इस कृष्ण के प्राणों से तथा वह कृष्ण उस राधा के प्राणों से प्राणवान् है''-इस उक्ति से भी वे एक-दूसरे की आत्मा सिद्ध होते हैं। ''हे राधे! तुम स्त्री हो और मैं पुरुष हूँ-यह निर्णय वेद में भी नहीं किया गया है अर्थात् हम दोनों के भेद का निर्णय वेद भी नहीं कर सकता तब दूसरा कौन समर्थ है। भेद करने वाले

नरकभागी होते हैं-''आवयोर्भेदबुद्धिं च'' के द्वारा यही कहा गया है। ''विशुद्धं सत्वस्वरूपम्'' के द्वारा कहा गया है कि ''वह ह्लादिनी शक्ति वृत्ति रूप वाला विशुद्ध सत्त्व है, न कि प्राकृत सत्त्व रूप। ''देवस्याभेदरूपेण इति''-अर्थात् देवकी अभेद रूप से अर्थात् तनिकमात्र भी भेद किए बिना देव की पूजा करनी चाहिए। ये सभी वाक्य श्रीराधा और श्रीकृष्ण में साम्यप्रतिपादक वाक्य हैं।

अथाधिक्यम्।। श्रीकृष्णोपनिषदि वामाङ्ग-संस्थिता देवी राधा वृन्दावनेश्वरी।

सुन्दरी नागरी गौरी कृष्णहृद्भृङ्गमञ्जरीति।।

श्रीमाहेश्वरी संहितायाम्--

नित्यस्वरूपो भगवान्मुकुन्दः श्रीराधिकावल्लभ इत्युदारः।।

श्रीकृष्णदेवस्य हृदि स्थिता सा ह्यानन्दशक्तिर्जगतो हि पावनीति।।

उभयत्र हृद्भङ्गेति हृदिस्थितेत्यनेन तदेकजीवनत्वं तदुपास्यत्वं ध्येयत्वं परमात्मत्वं च दर्शितम्।। दहर उपलब्धेरिति न्यायाच्च।। तेनाधिक्यमेव सिद्ध्यति।।

अपि च-श्रीराधिकाया मंत्राणां श्रीमान् कृष्णो ऋषिर्यतः। सुष्ठु सेव्यत्वमायातं नातः परमपेक्ष्यते।। मन्त्रं महेश्वरात्प्राप्य साधयेत्स ऋषिः स्मृत इति गौतमीये तल्लक्षणात्।। तथा श्रीबृहद्गौतमीये श्रीराधा मन्त्रकथने--

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।

सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहनी परा।

वराभयकरा ध्येया सेविता सर्वदैवतैरिति।।

कृष्णमयीति जातो ब्रह्ममयो हरिरिति नवमस्कन्धवाक्यवत् स्वरूपे मयड्विधानम्।। वस्तुतस्तु कृष्णमयी कृष्णानुरक्तेत्यर्थः। स्त्रीमयो जाल्म इतिवत्।। यद्वाकृष्णमयी कृष्णस्य नियामिका।। ''कालो मायामये जीव'' इत्येकादशवाक्यटीकायां स्वामिभिस्तथा व्याख्यातत्वादिति।। सर्वलक्ष्मीमयीति तदैक्ये प्रलीनतायां वा।। दुग्धमयं जलमितिवत्।। व्याख्यातमिदं श्रीकृष्णसन्दर्भानुसारेण।। ''यान्ति तन्मयतां हि त'' इत्यस्य व्याख्यायां तथा दृष्टत्वात्।। परदेवतेति--

''परः शत्रौ परः श्रेष्ठे परोऽन्यस्मिन् परोऽन्विते। परं पश्चात्केवलयोः परः स्यात्पुरुषोत्तम'' इति कोशात्।। परस्य पुरुषोत्तमस्य देवतेव देवता परमाराध्येत्यर्थः।। तन्मन्त्राणां श्रीकृष्णर्षित्वादेव।। पुरुषोत्तमत्वं चास्य श्रीभगद्गीतासु--

''यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।'' इति।।
अहमस्मीत्यनेन निर्विशेषब्रह्मपरत्वव्यावर्त्तितमित्यन्यदेतत्।।

अब आधिक्य का वर्णन करते हैं--

कृष्णोपनिषद् में कहा है--

वृन्दावनेश्वरी, सुन्दरी, नागरी (चतुर), गौरी, वामाङ्ग में स्थित श्रीराधाकृष्ण के हृदयरूपी भँवरे के लिए मञ्जरी है।

श्रीमाहेश्वरी संहिता में--

भगवान् श्रीमुकुन्द नित्यस्वरूप, उदार और श्रीराधा के वल्लभ हैं। श्रीकृष्ण के हृदय में स्थित वह राधा आनन्दशक्ति है तथा जगत् को पवित्र करने वाली है। ''हृद्भृङ्ग'' और ''हृदिस्थिता'' (हृदय में स्थित) उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में वह राधा ही कृष्ण का एकमात्र जीवन है। वही (राधा) उपास्य है, वही ध्येय (ध्यान करके योग्य है वही परमात्म तत्त्व है-यह प्रतिपादित किया गया। और हृदय में उपलब्ध होने के न्याय से (जिसकी हृदय में प्राप्ति होगी वह उत्कृष्ट होगा) इस प्रकार राधा का आधिक्य भाव सिद्ध होता है।

और यह भी है कि श्रीराधा की उपासना के मन्त्रों का ऋषि भी श्रीकृष्ण है इससे भी राधा ही सुसेव्य है-यह ज्ञात होता है इससे पर अपेक्षित नहीं है-अथवा इससे अधिक क्या अपेक्षा की जा सकती है।

गौतमीय तन्त्र में ऋषि का अर्थ किया गया है कि जो महेश्वर से मन्त्र प्राप्त करके साधना करे वह ऋषि है। तथा बृहद्गौतमीयतन्त्र में श्रीराधामन्त्र के कथन में--

श्रीराधिका देवी कृष्णमयी पर देवता कही गई है। वह समस्त लक्ष्मियों से युक्त है, सर्वकान्ति है परम सम्मोहिनी है। वह वर और अभय हस्तमुद्रा वाली है सभी देवों से संसेवित है वही ध्यान करने योग्य है।

नवम स्कन्ध के ''जातो ब्रह्ममयो हरिः-हरि ब्रह्ममय हो गए-इस वाक्य के समान स्वरूप अर्थ में मयट् प्रत्यय मानने पर-कृष्णमयी का अर्थ कृष्ण स्वरूपा करना चाहिए। जैसे लम्पट स्त्रीमय कहा जाता है। अथवा कृष्णमयी का अर्थ कृष्ण की नियामिका अर्थ किया जाना चाहिए।''

''कालो मायामयो जीवः''-इस एकादशवें स्कन्ध के वाक्य की टीका में स्वामीजी ने इसी प्रकार व्याख्या की है। ''सर्वलक्ष्मीमयी'' कहने का तात्पर्य है सबके ऐक्य भाव होने पर अथवा भेदों का लय होने पर वह श्रीराधिका ही अवस्थित रहती हैं। यथा-दुग्धमय जल अर्थात् दूध और जल के मिश्रण में जैसे दूध और जल भिन्न नहीं रहता है। श्रीकृष्ण के सन्दर्भ के अनुसार यह व्याख्यान हुआ। ''यान्ति तन्मयतां हि ते'' (वे सब तन्मय हो जाते हैं) इसकी व्याख्या में इसी प्रकार देखा गया है।

परदेवता-पद की व्याख्या करते हैं-कोश में पर शब्द शत्रु, श्रेष्ठ, अन्य, अन्वित, पश्चात्, केवल और पुरुषोत्तम अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे ''अच्परो हल्-के अनेक अर्थ हैं (यथा-अच् से परे हल् अच् परक हल् आदि)''

श्लोक में प्रयुक्त ''परदेवता'' का अर्थ हुआ पर अर्थात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की देवता के समान देवता अर्थात् परम आराध्या तात्पर्य हुआ श्रीकृष्ण की परम आराध्या श्रीराधा है। क्योंकि श्रीराधा के मन्त्रों के ऋषि साधक श्रीकृष्ण है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम कहा है-

क्योंकि मैं क्षर ब्रह्म से अतीत हूँ तथा अक्षर ब्रह्म से भी उत्तम हूँ इसीलिए लोक एवं वेद में पुरुषोत्तम के रूप में प्रसिद्ध हूँ।

श्लोक में ''अहमस्मि'' (मैं हूँ) इसके द्वारा निर्विशेष ब्रह्म परक अर्थ को छोड़कर अन्य ही अर्थ है (अर्थात् मैं हूँ कहने का तात्पर्य है कि मैं निर्विशेष ब्रह्म नहीं हूँ अपितु सविशेष ब्रह्म हूँ)

तथा श्रीब्रह्मवैवर्त्ते त्रैमासिकव्रतप्रसङ्गे श्रीकृष्णं ध्यात्वा--

''ध्यायेत्तथा राधिकां च ध्यानं माध्यंदिनीयके।
ब्रह्मादिभिश्च सेव्येन श्रीकृष्णेनैव सेविताम्।
सर्वेशेन स्तूयमानां सर्वबीजां भजाम्यह''मिति।।

तत्रैवान्यत्र श्रीकृष्णवाक्यम्--

''रा-शब्दं कुर्वतो राधे ददामि भक्तिमुत्तमाम्।
धा-शब्दं कुर्वतः पश्चाद्यामि श्रवणलोभतः'' इति।।

तथाहि श्रीकृष्णयामले वशिन्यादिशक्तिवर्गं प्रति श्रीराधावाक्यम्--

''शृणुध्वं शक्तयः सर्वाः सत्यं पथ्यं हितं च वः।
न मत्तोऽस्त्यधिका काचित्प्रकृतिः पुरुषोऽपि वा।।
अहमेव परं ब्रह्म पुरुषः श्यामविग्रहः।
अहं सा परमाशक्तिः श्रीमत्-त्रिपुरसुन्दरी।।
अहं तत्परमं ब्रह्म सूक्ष्मं ज्योतिर्निरञ्जनम्।
अहमानन्दरूपोऽस्मि कृष्णोऽसौ रसविग्रहः।।
प्रेमस्वरूपा सा देवी श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी।
विना प्रेम रसो नास्ति न चानन्दो रसं विना।।
प्रेमानन्दो रसश्चापि ह्येक एव न संशयः।
शक्तिहीनस्य नानन्दो न च प्रेम रसोऽपि वा।।
अहं सा परमा शक्तिः श्रीकृष्णहृदयस्थिता।
सख्यो नाहं पराधीना स्वतन्त्रा सर्वदास्म्यहम्।।
श्रीकृष्णाकर्षिणी-शक्ति र्न मां कर्षितुमर्हति।
सदा प्रधानरूपेण परं ब्रह्माहमव्ययम्।।
वृन्दावनेऽस्मिंस्तिष्ठामि नित्यानन्दस्वरूपिणी।
कृष्णो न शक्तिरहितः कर्त्तुं शक्नोति किञ्चन।।
अतः तच्छक्तिरूपाहं राधिका सर्वथाधिका।
यदि मत्तोऽधिकः कृष्णो भवतीभिर्हि मन्यते।
तदा किं मां वशीकर्त्तुमेष एवं महाञ्छ्रम'' इत्यादि।।

श्रीब्रह्मवैवर्त्तपुराण में त्रैमासिक व्रत प्रसङ्ग में कहा है कि श्रीकृष्ण का ध्यान करके--माध्यन्दिनी शाखा में कहे अनुसार श्रीराधिका का ध्यान करना चाहिए। ब्रह्मा आदि से सेव्य श्रीकृष्ण के द्वारा सेवित, सर्वेश से स्तूयमान, सर्वबीजरूपा श्रीराधिका का मैं भजन करता हूँ।

उसी में अन्य स्थान पर श्रीकृष्ण का वचन है--

हे राधे! ''रा'' शब्द का उच्चारण करने वाले को मैं उत्तम भक्ति प्रदान करता हूँ। ''धा'' शब्द का उच्चारण करते ही ''राधा'' शब्द को सुनने

के लोभ से उसके पीछे चलता हूँ।

इसी प्रकार कृष्णयामल में वशिनी आदि शक्ति वर्ग के प्रति श्रीराधा का वाक्य-

''सभी शक्तियाँ सुने-तुम्हारे लिए सत्य, पथ्य और हितकर वचन यह है कि मेरे से बढकर न तो कोई प्रकृति है और प कोई पुरुष है।''

मैं ही श्याम शरीर वाला परब्रह्म पुरुष हूँ और मैं ही श्रीसम्पन्न त्रिपुर सुन्दरी परमशक्ति हूँ। मैं ही सूक्ष्म, परं ज्योतिः निरञ्जन परमब्रह्म हूँ। यह रसविग्रह आनन्दस्वरूप कृष्ण भी मैं ही हूँ। श्रीसम्पन्न वह त्रिपुरसुन्दरी देवी (जो मैं ही हूँ) प्रेम स्वरूपा है। प्रेम के बिना रस नहीं है और आनन्द रस के बिना नहीं है।

प्रेमानन्द और रस एक ही है इसमें संशय नहीं है। शक्तियों से हीन को न आनन्द है, न प्रेम है और न रस है। श्रीकृष्ण के हृदय में स्थित वह परमाशक्ति मैं ही हूं। हे सखियों! मैं पराधीन नहीं हूँ। मैं सर्वदा स्वतन्त्र हूँ। श्रीकृष्ण का आकर्षण करने वाली मैं ही शक्ति हूँ। कोई मेरा आकर्षण नहीं कर सकता (अथवा श्रीकृष्ण का आकर्षण करने वाली कोई शक्ति मेरा आकर्षण नहीं कर सकती) मैं सदा प्रधान रूप से अव्यय परब्रह्म हूँ। इस वृन्दावन में नित्य आनन्दस्वरूपिणी मैं अवस्थित रहती हूँ। शक्ति रहित कृष्ण कुछ भी नहीं कर सकता। अतः उसकी शक्ति रूपा मैं राधिका उससे (श्रीकृष्ण से) अधिक उत्कर्ष वाली हूँ। यदि आप कृष्ण को मेरे से अधिक मानती हो तो बताओ क्या वह मुझे वश में करने में महान् समर्थ है। इत्यादि।

अथ श्रीराधिकाधिक्यज्ञापकप्रमाणानि प्रदर्श्यन्त इति। ननूभयोरुक्तवाक्यप्रामाण्येन साम्यमभ्युपगम्य कथं पुनस्तस्या आधिक्यं प्रदर्श्यते? तथात्वे उक्तसाम्यवाक्यविरोधो दुष्परिहार्य्य इति चेन्न। सामान्य-शास्त्रस्य विशेषशास्त्रे संकोचः सर्ववादिसम्मत इत्युक्तमेव। शक्तित्वेऽपि तस्या भगवतो भगवत्ताहेतुभूतायाः स्वाभाविकोत्कर्ष आधिक्यं च प्रागेवोक्तम्। गुणतन्त्रं ह्याधिक्यं गुणास्तु तद्धेतुका इति भावः। इदानीं स्वशब्देनैव कतिपयशास्त्र-वाक्यानि तस्या आधिक्यं प्रतिपादयन्ति तान्यत्र प्रदर्श्यन्त इत्यभिप्रायः।

'कृष्णहृद्भृङ्गमञ्जरी'ति-सर्वात्मनोऽखिलेश्वरस्य श्रीकृष्णस्यापि या हृद्भङ्गस्य रमणस्थानीयमञ्जरीभूता तस्यास्तच्चित्ताकर्षकत्वेनाव-

श्यमाधिक्यमायातीत्यर्थः। अन्यथा तादृशोक्तेरनुपपत्तिरितिभावः। तथैवोक्तं स्कान्दे श्रीभागवतमाहात्म्ये-''आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ। आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभि''रिति। तथैव श्रीकृष्णयामले-''तया सह विहारो यः कृष्णस्यपरमात्मनः। स एवोपनिषद्भिस्तु 'नित्यानन्द'इतीर्य्यत इत्युक्त्या तस्य श्रीमति निकुञ्जेऽनौपचारिकात्मारामत्वेन तस्यास्तदात्मत्वमर्थादुक्तं भवति। स्वात्मा हि सर्वस्मादन्यस्मात्प्रेष्ठ इति लोकवेदयोः प्रसिद्धमेव। ''कृष्णहृद्भङ्गमञ्जरी'' 'हृदिस्थिता'इत्यादिपदानां भावार्थं दर्शयति-उभयत्र तदेकजीवनत्वं, तदुपास्यत्वं, ध्येयत्वं, परमात्मत्वं च दर्शितमिति। एतेन तदेकजीवनत्वादिना तस्या आधिक्यमेव सिद्ध्यति उताप्राधान्यमिति विचार्य्यं सुधीभिरित्यर्थः। अपि च श्रीराधिकामन्त्राणां श्रीकृष्णर्षित्वाद्विनिगमकादपि प्रमाणान्तरनिरपेक्षं तस्या आधिक्यं सिद्ध्यतीत्याह-श्रीराधिकाया मन्त्राणामित्यादिना। अनेनैव ज्ञापकप्रमाणेन तस्याः श्रीकृष्णाराध्यत्वमपि सुव्यक्तं भवति। तत्तद्देवतामन्त्रं महेश्वरात्प्राप्य तं साधयति स ऋषिरिति गौतमीये तल्लक्षणादपि श्रीकृष्णस्य श्रीराधिकाऽऽराधकत्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः।

''कृष्णमयी''त्यत्र स्वरूपे मयट्कृष्णस्वरूपेत्यर्थः। ''सर्वलक्ष्मीमयी''ति-एतस्या अंशभूताः सर्वा लक्ष्म्योंऽशिन्यामस्यां प्रलीयन्ते, अनया सह स्वरूपैक्यं प्राप्ताः सत्यस्तिष्ठन्तीति वा सर्वलक्ष्मीमयी। स्वशब्देनैव तस्याः श्रीकृष्णाराध्यत्वं ब्रह्मवैवर्त्तवाक्यं ब्रूत इत्याह-''ब्रह्मादिभिश्च सेव्येन श्रीकृष्णेनैव'' सेवितां सर्वेशेन, स्तूयमाना'' मित्यादिना। ''ध्यानं माध्यन्दिनीयक''इति-माध्यन्दिनीशाखोक्तपुरुषविधब्राह्मणोपबृंहकपुराणवाक्यानुरोधेनेत्यर्थः। श्रीराधानाम्नि श्रीकृष्णस्यातिप्रीत्याप्युक्तसिद्धान्तो दृढीभवति इत्याह।

''रा शब्दं कुर्वतो राधे''इत्यादिना। श्रीकृष्णयामलोक्तश्रीराधवाक्येनापि उक्तसिद्धान्तं पुष्णाति-''शृणुध्वं शक्तयः सर्वा''इत्यादिना। ''शक्तिहीनस्य नानन्द''इति-स्वरूपशक्तिं मामृते कुतः कृष्णत्वं, कुतो वा आनन्दस्वरूपत्वं, कुतो वा रसस्वरूपत्वं, कुतो वा सर्वेश्वरत्वं? सर्वथाऽसम्भवमित्यर्थः। तस्मादहमेवासौ श्रीकृष्णः श्यामसुन्दरो रसानन्दविग्रहः। अतः सर्वकारणकारणरूपाहं परमस्वतन्त्रा। यस्माच्छ्रीकृष्णस्य विग्रहमनबुद्धिचित्तात्मेच्छासंकल्पादिसर्वमहमेव, तस्मान्नाहं पराधीनेति

जानीथेत्यर्थः।

किञ्च, यच्च श्रीकृष्णस्य असमोर्द्धस्वसौन्दर्य्यमाधुर्य्यादिभिर्हठात्सर्वचित्ताकर्षणसामर्थ्यं तदपि ममैव। अनेनैव हेतुना तस्य सर्वाकर्षणशक्तिर्माम् आक्रष्टुं? न क्षमेति भावः। अतः सिद्धान्तमिमं जानीथेत्याह-''कृष्णो न शक्तिरहितः कर्त्तुं शक्नोति किंचन। अतस्तच्छक्तिरूपाहं राधिका सर्वथाधिके''ति। न च स्वरूपापेक्षया शक्तेराधिक्यवर्णनेन शाक्तत्वं दुर्वारं स्यादिति वाच्यम्। सर्वशक्त्यधिष्ठातृरूपायाः, सशक्तिकस्वरूपार्द्धाङ्गभूतायाः रसे स्वाधीनपतिकायाः, भगवतो भगवत्ताहेतुभूतायाः स्वाभाविकाधिक्यमनने न शाक्तत्वमित्यसकृदुक्तमेव। न सा केवलं शक्तिमात्रा, किन्तर्हि सशक्तिकस्वरूपार्द्धाङ्गभूतेत्यपि तत्र तत्रोक्तमेव, तत्कथं सशक्तिकस्वरूपार्द्धाङ्गस्याधिक्यमनने शाक्तत्वमिति प्रतिवादिभिरेकाग्रमनसा विमृश्यम्। ''यदि मत्तोऽधिकः कृष्ण'' इति-यदि भवतीभिर्मदुक्तमेतत्सत्यं पथ्यं वचोऽवगणय्य कृष्णएव मत्तोऽधिको मन्यते तर्हि मामाराधयितुं भवतीनामेष महान् श्रमो विफल एव।

अब राधिका के आधिक्य के ज्ञापक प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त वाक्यों के प्रमाणों से समानता को स्वीकार करके पुनः राधा का आधिक्य कैसे प्रदर्शित किया जा रहा है? ऐसा होने पर कहे गए साम्य के विरोध का परिहार करना कठिन होगा-यदि ऐसा कोई कहे तो वह ठीक नहीं है। विशेष शास्त्र उपस्थित होने पर सामान्य शास्त्र का संकोच हो जाता है यह बात सभी वादियों को मान्य है। राधा के शक्ति होने पर भी भगवान् की भगवत्ता की कारणस्वरूपा होने से उसका स्वाभाविक उत्कर्ष और आधिक्य पहले ही कहा गया है। आधिक्य गुणों के अधीन है और गुण भगवत्ता के हेतु हैं। स्वशब्द से ही कतिपय शास्त्र वाक्य उसके आधिक्य का प्रतिपादन करते हैं-उनको यहाँ प्रस्तुत करते हैं-यह अभिप्राय है।

''कृष्ण के हृदय रूपी भ्रमर के लिए मञ्जरी है''-अर्थात् सर्वात्मा अखिलेश्वर श्रीकृष्ण के हृदयरूपी भृङ्ग के लिए जो राधा रमण स्थानीय मञ्जरी रूपा है। श्रीराधा के इस चित्ताकर्षक रूप से उसका (श्रीराधा का) आधिक्य ही सिद्ध होता है, अन्यथा इस प्रकार की उक्ति असङ्गत हो जाएगी। स्कन्दपुराण के श्रीभागवत माहात्म्य में कहा गया है-राधिका उस कृष्ण की आत्मा है उसी के साथ रमण करने के कारण रहस्य वेत्ताओं ने

वचनमुपस्थापयति-'अचिन्त्याः खलु ये भावा' इति। नैकस्मिन् परब्रह्मस्वरूपे भेदाभेदमननं शास्त्रीयमित्याशयः सैषा स्वरूपघटका चिच्छक्तिः स्वरूपाद्भेदा-भेदादिना दुरुपपादा अचिन्त्यत्वादेवेत्यर्थः। ननु द्वैरुप्येणावस्थितस्य कथं न भेदाभेदौ? इति चेत्कल्लोलकवद्वस्त्वैक्यादित्याह इन्द्रियैक्यादिति। यथा नेत्रयोः श्रोत्रयोर्बाह्वोर्द्वैरूप्येप्येकता, इन्द्रियैक्यात्, वामदक्षिणभेदेऽपि न न्यूनताधिकता, तथात्रापि उदाहृतशास्त्रबलाद्वस्त्वैक्यमिति निर्णय इति। तस्याः स्वरूप-शक्त्यङ्गीकारेऽपि न तस्माद्गौणत्वं मन्तव्यमित्याह-शक्तित्वे नहि गौणत्वमिति। एतदेव तयोरभिन्नत्वं प्रपञ्चयिष्यत इति प्रतिजानीते-एतदेवेति।

।। इति श्रीराधाभक्तिमंजूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां श्रीराधिकासद्भावयुक्तिः ।।३।।

यह संमत क्यों नहीं है। इसके लिए महाभारत का वचन उपस्थित करते हैं--''अचिन्त्याः खलु ये भावाः''-

एक परब्रह्म स्वरूप में भेदाभेद मानना शास्त्रीय नहीं है यह आशय है। इस स्वरूप घटक चित् शक्ति का निरूपण स्वरूप से भेदाभेद आदि के प्रतिपादन से नहीं हो सकता अचिन्त्य होने के कारण। प्रश्न होता है कि दो रूपों में स्थित का भेदाभेद क्यों नहीं है? इसका उत्तर है जैसे कल्लोल-अर्थात् लहरों में उठने वाली लहरों में भेदाभेद नहीं होता है इसी के लिए मूल में ''इन्द्रियैक्यात्तथात्रापि वस्त्वैक्यमिति निर्णयः।।'' अर्थात् इन्द्रियों के ऐक्य के आधार पर वस्तु की एकता है। जैसे नेत्रों, कानों, भुजाओं के दो-दो होने पर भी वस्तु एक ही होती है दो नहीं। वामनेत्र या दक्षिण नेत्र के भेद से न न्यूनता होती है और न अधिकता वैसे ही यहाँ पर भी उद्धृत शास्त्र वचनों से वस्तु की एकता है-यह निर्णय है। श्रीराधिका को स्वरूप शक्ति मानने पर भी उसकी गौणता नहीं माननी चाहिए-इसीलिए मूल में कहा है-''शक्तित्वे नहि गौणत्वमिति।''

इस प्रकार राधा-माधव में अभिन्नता का निरूपण करेंगे-इसी की प्रतिज्ञा करते हैं--''एतदेव विवरिष्यते''-इति।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां श्रीराधिकासद्भाव-युक्तिः।।३।।

।। अथ श्रीराधिकायाः शक्तित्वस्वीकारेऽपि तदुत्कर्षनिरूपणयुक्तिः।।४ ।।

ननु भोः शक्तिरेवास्य प्रोक्ता सर्वत्र राधिका।।
शक्ति-शक्तिमतोरैक्यादैक्यं स्यात्स्यान्नचान्यथा।।
क्व शक्तितास्या इति चेत्तत्र मानानि श्रूयताम्।
तथाहि प्रथमस्कन्धे वस्तु यत्पारमार्थिकम्।
अस्तीत्युक्तं समासेन तच्च ज्ञेयं सशक्तिकम्।।

यथा--

वेद्यं वास्तवमत्रेत्यस्य टीकायां वस्तुनोंऽशो जीवः।।
वस्तुनः शक्तिर्मायेति वास्तवमुभयम्।। अयं भावः।।
तस्य स्वाभाविकीशक्तिरास्ते परमवस्तुनः।
सशक्त्येव हि वस्तु स्याद्विना शक्तिं न वस्तुता।।
ज्योत्स्नावच्चन्द्रवह्न्योश्च प्रभावच्चन्द्रसूर्ययोः।।
तत्रचन्द्रवह्न्योर्ज्योत्स्नावद्यथा पाद्मोत्तरखण्डे।।
बृहच्छरीरोऽप्यविमानरूपो युवाकुमारत्वमियाय कृष्णः।
रेमे श्रियाऽसौ जगतो जनन्या स्वज्योत्स्नया चन्द्र इवामृतांशुः।।

अथ श्रीराधिकायाः शक्तित्वस्वीकारेऽपि तदुत्कर्षनिरूपणयुक्तिः।।४।।

अरे! सर्वत्र इस श्रीकृष्ण की शक्ति ही कहा है राधिका को।। शक्ति और शक्तिमान् में ऐक्य होने के कारण ही इनकी एकता हो सकती है अन्य प्रकार से नहीं।। इस राधा की शक्ति रूपता कहाँ कही गई है यदि यह प्रश्न हो तो उसमें प्रमाण सुनो। प्रथम स्कन्ध में जो ''वस्तु यत्पारमार्थिकमस्ति'' (जो पारमार्थिक वस्तु है) ऐसा संक्षेप में कहा गया है-उसे शक्ति युक्त ही समझना चाहिए। जैसे-वास्तव अर्थात् परमार्थरूप वस्तु वेद्य (जानने योग्य) है। इसकी टीका में कहा है-कि वास्तव शब्द का अर्थ वस्तु का अंश जीव है। वस्तु की शक्ति माया है। वस्तु का कार्य जगत् है, अतः वास्तव का अर्थ शक्ति और जीव दोनों हैं। भाव यह है कि परम वस्तु की स्वाभाविकी शक्ति है। वस्तु सशक्ति ही होती है-बिना शक्ति के वस्तु की वस्तुता नहीं होती है

जैसे ज्योत्स्ना से युक्त ही चन्द्र और वह्नि चन्द्र और वह्नि होते हैं तथा प्रभा से युक्त ही चन्द्र और सूर्य चन्द्र और सूर्य होते हैं। जैसे पद्मपुराण के उत्तर-खण्ड में शक्ति को चन्द्र और वह्नि की ज्योत्स्ना के समान ही कहा गया है- प्रमाणों से अमाप्य विशालकाय युवा कृष्ण कुमार भाव को प्राप्त हो गया और उसने अमृतांशु चन्द्रमा जिस प्रकार अपनी ज्योत्स्ना से रमण करना है वैसे ही जगत् की जननी लक्ष्मी से रमण किया।''

श्रीविष्णुपुराणे च--

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्।। इति।।
अथाग्निसूर्ययोः प्रभावद्यथा पाद्मोत्तरखण्डे।।
तस्य वक्षसि सा देवी प्रभाग्नेरिव तिष्ठति।।

तत्रैव प्रणवव्याख्याने--

श्रीश्च तत्पक्षपतित्वादकारेणैव चोच्यते।
भास्करस्य प्रभा यद्वत्तस्य नित्यानपायिनी।।

कारिका-शिवदत्वादिना सा च व्यासेनैव प्रकाशिता।

परमानन्ददानं च तापत्रयविनाशनम्।
यया स्यात्सैव चिच्छक्तिरन्तरङ्गा स्वरूपगा।।
तापत्रयं तु मायाया जडायाः कार्यमुच्यते।
बहिरङ्गा च सा माया स्वस्वरूपाद्विदूरगा।।
तस्याः शक्तेरचिन्त्यत्वमनन्तत्वं च सूचितम्।
स्वाभाविकत्वमन्योन्यविरुद्धत्वं च तद्यथा।।

तत्र प्रथमद्वयं यथा श्रीतृतीये--

आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिरिति।
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये।। इति च।।

अचिन्त्यत्वं स्वाभाविकत्वं च यथा श्रीविष्णुपुराणे मैत्रेयः--

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः।
कथं सर्गादिकर्त्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपपद्यते।।

श्रीपराशरः--

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।

यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ।।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ।
तत्प्रतिच्छविरूपा या मायाख्या सा गुणात्मिका ।।
यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा तारतम्येन वर्त्तत इति ।।

विष्णुपुराण में कहा गया है--जैसे एक स्थान पर रखी हुई अग्नि की ज्वाला विस्तार वाली होती है वैसे ही परब्रह्म की शक्ति भी विस्तार वाली होती है उसी से यह समस्त जगत् फैला है।''

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में शक्ति को अग्नि और सूर्य की प्रभा के समान वर्णित किया है।

उस (श्रीकृष्ण) के वक्षस्थल पर वह देवी उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार अग्नि की कान्ति अग्नि के साथ रहती है। वहीं प्रणव की व्याख्या में-

जैसे भास्कर की नित्य विद्यमान रहने वाली प्रभा उसमें समवाय सम्बन्ध से रहती है उसी प्रकार उस परमात्मा में नित्य सम्बन्ध से रहने वाली श्रीशक्ति प्रणव में अकार के द्वारा कही जाती है। अर्थात् प्रणव शब्द में भी श्री का वाचक अकार है।

कारिका-व्यास ने ही उस शक्ति को परमसुख प्रदान करने वाली कहा है तथा वह तापत्रय की विनाशक है। वही शक्ति अन्तरङ्ग स्वरूप वाली चित् शक्ति होती है। जड़ माया का कार्य तापत्रय होता है। वह जड़ माया बहिरङ्ग होती है तथा अपने स्वरूप से बहुत दूर होती है।''

उस शक्ति का अचिन्त्यत्व और अनन्तत्व सूचित किया गया है। उसका स्वाभाविकत्व और विरुद्धत्व भी कहा गया है।

श्रीतृतीय में प्रथम दो स्वरूपों के विषय में कहा गया है-आत्मेश्वर अतर्क्य एवं सहस्रशक्ति स्वरूप है'' मैं स्वच्छन्दशक्ति कपिल को प्राप्त करता हूँ!

विष्णुपुराण में मैत्रेय ने शक्ति के अचिन्त्यत्व और स्वाभाविक रूप में प्रश्न किया है-

निर्गुण, अप्रमेय, शुद्ध, अमलात्मा ब्रह्म का सर्गादि का कर्तृत्व कैसे संगत होता है? इसका उत्तर श्रीपाराशर ने निम्नानुसार दिया है-

हे तपः श्रेष्ठ! जिस प्रकार पावक (अग्नि) में उष्णता विद्यमान रहती

है उसी प्रकार सर्ग आदि की रचना के लिए ब्रह्म से भी भावों के लिए अचिन्त्यज्ञान गोचर भावशक्तियाँ विद्यमान रहती है। उन शक्तियों की प्रतिच्छाया रूप माया गुणात्मिका (त्रिगुणात्मिका) होती है। जिससे क्षेत्रज्ञ की शक्ति तारतम्यरूप से विद्यमान रहती है।

अत्र श्रीस्वामिटीका--लोके सर्वेषां भावनां मणिमन्त्रौषधादीनां शक्तय अचिन्त्यज्ञानगोचराः। अचिन्त्यं तर्कासहं यज्ज्ञानं कार्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणकं तस्य गोचराः सन्तीति।। यद्वा।। अचिन्त्या भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः केवलमर्थापत्तिज्ञान-गोचराः।। यत एवमतो ब्रह्मणः श्रीविष्णोरपि तास्तथाविधाः सर्गाद्याः सर्गादिहेतुभूता भावशक्तयः स्वभावसिद्धा शक्तयः सन्त्येव।। पावकस्य दाहकत्वादिशक्तिवत्।। श्रुतिश्च।। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविक ज्ञानबलक्रिया चेति।। अत्राद्वैतवादिनस्त्वेवं वादधते।। यदि ज्ञेयं सत्यं स्यात्तदा तस्य ज्ञातृत्वमपि तथा स्यात्।। त्रिसर्गस्याज्ञान-कल्पितत्वादज्ञानस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयत्वादज्ञानिनो जीवस्य तेनाज्ञानेनैव पृथक् प्रतीतत्वात्सत्यत्वं नास्त्येव।। ततो ज्ञातृत्वमपि तत्र नास्येव।। तथा शक्त्यन्तरमपि।।

इस पर श्रीस्वामी की टीका लोक में सभी भावों की मणि-मन्त्र-औषध आदि शक्तियाँ अचिनत्यज्ञान गोचर होती है। अचिन्त्य का अर्थ है जिसे तर्क सहन न कर सके।

उस अचिन्त्य ज्ञान (कार्य का अन्यथा अनुपपत्ति प्रमाणक) के गोचर होना। अथवा अचिन्त्या का अर्थ है भिन्न और अभिन्न रूप विकल्पों से जिसका चिन्तन नहीं किया जा सके जो केवल अर्थापत्ति ज्ञान का विषय बनें।

अतः इस ब्रह्म अर्थात् विष्णु की भी उस प्रकार की अर्थात् सर्ग आदि की हेतुभूत स्वभाव सिद्ध भावशक्तियाँ है ही अग्नि की दाहक आदि शक्तियों के समान) और इस विषय में श्रुति का प्रमाण भी है-

उस परमात्मा का न तो कोई कार्य है और न कोई करण (साधन) है न कोई उसके समान है और न कोई उससे अधिक है उसकी पराशक्ति

विविध प्रकार की सुनी जाती है वह ज्ञान-बल और क्रिया रूप स्वभाव वाली है।

इस विषय में अद्वैतवादी इस प्रकार समाधान करते हैं। यदि ज्ञेय सत्य होगा तब उसका ज्ञाता भी सत्य होगा। त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) अज्ञान से कल्पित होने से तथा अज्ञान सत्त्व-असत्व से अनिर्वचनीय होने के कारण (वेदान्ती अज्ञान को न तो सत् कहते हैं न असत् कहते हैं न उभयात्मक न अनुभयात्मक कहते हैं अपितु अनिर्वचनीय मानते हैं) अज्ञानी जीव की उस अज्ञान से पृथक् प्रतीति होने के कारण, सत्यता नहीं है। इस कारण उसमें ज्ञातृत्व भी नहीं है। वैसे ही शक्त्यन्तर भी नहीं हैं।

वैष्णवास्तु तदभ्युपगमवादेनैवं वदन्ति ।। तर्हि मिथ्यैवेदं जीवानां भातीत्यपि ज्ञानं प्रसज्येत तस्याव्यभिचारित्वात् ।। येन च ज्ञानेन तस्य मृषात्वं निरूच्यते तस्य तु सत्यत्वमेव स्यात् ।। किञ्च विश्वकार्यान्यथानुपपत्त्या यथा परमकारणरूपं तदभ्युपगम्यते तथा तच्छक्तिरपि स्वाभाविक्येवाभ्युपगन्तव्या ।। कार्य्यविशेषोत्पत्तौ किञ्चित्करत्वेनैव कारणतया वस्तुविशेषाङ्गीकारात् ।। किञ्चित्करत्वमेव स्वाभाविकत्वम् ।। तदेवमज्ञानातिरिक्तस्वाभाविकज्ञानेन स्वगतविशेषत्वे प्राप्ते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेत्यादिना या प्रतिपादिता सा स्वरूपशक्तिरित्यर्थः ।। यद्येवं योजना ।। सर्वेषां भावानां पावकस्योष्णतादिवदचिन्त्यज्ञानगोचराः शक्तयः सन्त्येव ।। ब्रह्मणः पुनस्ताः स्वरूपभूताः स्वरूपादभिन्नाः शक्तयः ।। परास्यशक्तिरिति-श्रुतेः ।। अतो मणिमन्त्रादिभिरग्न्योष्ण्यवन्न केनचिद्विहन्तुं शक्यन्ते ।। अत एव नित्यनिरङ्कुशमैश्वर्य्यम् ।। तथा च श्रुतिः ।। अयमस्य सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिरित्यादि ।। यत एवमतो ब्रह्मणो हेतोः सर्गाद्या भवन्तीति ।। तस्याश्चिद्विलासरूपाया एव प्रतिच्छविराभासस्तद्रूपा या मायाख्या शक्तिः ।। चिद्विलासशक्तिविहितानां वैकुण्ठवर्त्तिनामेव सादृश्यस्य प्रपञ्चे वृत्तेः ।। यतो गुणात्मिका त्रिगुणमयी ।। त्रिविधभेदोत्पादनादिति ।।

वैष्णव शक्त्यन्तर को स्वीकार करने के वाद से इस प्रकार समाधान देते हैं। उनका कहना है कि भले ही जीवों का ज्ञान मिथ्या ही होता है-यह ज्ञान प्रसृत हो अर्थात् वेदान्ती भले ही यह स्वीकार करें कि जीवों की प्रतीति

मिथ्या होती है। इस पर वैष्णव कहते हैं कि जिस ज्ञान के द्वारा-जीवों की प्रतीति रूप ज्ञान को मिथ्या कह रहे हो वह ज्ञान तो सत्य ही होगा और यह भी कि विश्व कार्य की अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती, इस कारण जैसे विश्वरूपी कार्य के लिए परमकारण, उस ब्रह्म को स्वीकार करते हैं वैसे ही उसकी शक्ति भी स्वाभाविकी है-ऐसा स्वीकार करना चाहिए। कार्य विशेष की उत्पत्ति में कुछ करने में समर्थ वस्तु विशेष को ही कारण रूप में स्वीकार किया जाता है। कुछ करने का सामर्थ्य ही स्वाभाविकत्व है। इस प्रकार अज्ञान के अतिरिक्त स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया रूप में प्रतिपादित स्वरूप शक्ति ही शक्ति है-ऐसा समझना चाहिए। इसी समझ में द्वारा यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार अग्नि में उष्णता शक्ति है वैसे ही सभी भावों के लिए अचिन्त्यज्ञान गोचर अनन्त शक्तियाँ हैं। ब्रह्म की वे शक्तियाँ उसके स्वरूप से अभिन्न स्वरूपरूपा हैं। श्रुति का वचन है-परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता मणि या मन्त्रादि से नष्ट नहीं की जा सकती वैसे ही ब्रह्म की स्वरूप शक्ति भी किसी से नष्ट नहीं की जा सकती है। अतएव इसे (ब्रह्म को) नित्य निरङ्कुश ऐश्वर्य रूप माना गया है। श्रुति का वचन है-यह ब्रह्म इस समस्त जगत् का वशी (अर्थात् जगत् वश में होता है ब्रह्म वशी है) ईशान (शासक) और अधिपति है क्योंकि इसी ब्रह्म रूप हेतु से सर्ग आदि (उत्पत्ति, स्थिति और विनाश) होते हैं। उस चिद् विलास रूप स्वरूपशक्ति की प्रतिच्छवि या आभास रूप माया शक्ति है। चिद् विलास रूपा शक्ति से विहित वैकुण्ठ में विद्यमान वस्तुओं के सादृश्य ही प्रपञ्च (जगत्) में विद्यमान रहता है। क्योंकि माया त्रिगुणमयी गुणात्मिका होती है तीन प्रकार के भेदों के उत्पादन के कारण।

अन्योन्यविरुद्धत्वं च चतुर्थे।। यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् इति।। शक्तिसाधारण्यापेक्षयेदम्।। सा च शक्तिद्वयी प्रोक्ता सप्तमे प्रथमेऽपि च।। क्रमेण यथा।। चिदचिच्छक्तियुक्तायेति।। मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनीति।। श्रीदशमे च।। स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं भगवन्तमीमहीति।। तेजः पदेन चिच्छक्ति-रिति टीकाकृतां मतम्।। एत एव निगद्येते तस्यशक्ती परावरे।। यथा श्रीविष्णुपुराणे--

याऽतीतगोचरा वाचां मनसां चाविशेषणा।
ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्या वन्दे तामीश्वरीं पराम्।।१।।
सर्वभूतेषु सर्वात्मन् या शक्तिरपरा तव।
गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर इति।।२।।

अनयोरर्थः।। मनसां वाचां चातीतोऽतिक्रान्तो गोचरो विषयो यया सा।। अवाङ्मनसगम्येत्यर्थः।। यतो जातिगुणादिविशेषणहीना परब्रह्मरूपत्वात्।। किन्तु ज्ञानी जीवः ज्ञानं बुद्धि।। तदुभयमपि परिच्छेद्यं बाह्यघटादिवत्प्रकाश्यं यस्याः।। तस्याः सर्वभासकत्वात्।। यद्वा।। ज्ञानिनां केवलज्ञाननिष्ठानां ज्ञानं परिच्छेद्यं तत्तर्कवितर्कण-सामर्थ्याभावात् सङ्कोचनीयं कुण्ठतायोग्यं भवति यया सा विशुद्धभक्तिमतां चित्तेनैवावगम्यत्वात्।। ईश्वरीम्।। ईश्वरस्य तव स्वरूपभूतां।। नित्यत्वादिना भेदाभावात्।। यद्वा।। तत्तद्वैचित्र्यापादनमहासामर्थ्यवतीम्।। परां चिद्विलासरूपाम्।। सा च शक्तिः प्रकृतिरित्यपि ख्याता।। मूलप्रकृतिरीश्वरीति ब्रह्मवैवर्त्ते।। तत्र प्रकृतिशब्दः स्वभाववचनः।। नियतिरपि च।।

शक्ति के चतुर्थ स्वरूप अन्योन्य विरुद्धत्व पर विचार करते हैं।

जिसमें विरुद्ध गति वाली विद्या आदि विविध शक्तियाँ आनुपूर्व्य रूप से निरन्तर गिरती रहती है-वह अन्योन्य विरुद्ध स्वरूप वाली शक्ति है। शक्ति के साधारण्य की अपेक्षा से यह कहा गया है। प्रथम एवं सप्तम स्कन्ध में शक्ति दो प्रकार की कही है। क्रमशः जैसे-चित् और अचित् शक्ति से युक्त। माया का परित्याग करके साधक चित् शक्ति से कैवल्य में अर्थात् आत्मा में स्थित हो जाता है। भागवत के दशम स्कन्ध में--''अपने तेज से माया के गुण प्रवाह को नित्य निवृत्त करने वाले भगवान् को प्राप्त करें।'' टीकाकार का मत है कि यहाँ तेज का अर्थ चित् शक्ति है। उस ब्रह्म की परा और अपरा-ये दो शक्तियाँ कही गई है। जैसे श्रीविष्णुपुराण में--

''परा शक्ति मन और वाणी के अगोचर विषयों को अपना विषय बनाती है तथा जो विशेषणों (जाति-गुण आदि) से रहित है। जिसके द्वारा ज्ञानी और उनकी बुद्धि प्रकाश्य होती है जो ईश्वरी होती है मैं उसकी वन्दना करता हूँ।।१।।''

हे सर्वात्मन्! सुरेश्वर! गुणाश्रया जो आपकी अपरा शक्ति सभी भूतों में विद्यमान रहती है उस शाश्वत को नमस्कार।।२।।

इन दोनों कारिकाओं का अर्थ है-मन और वाणी से अतिकान्त विषय जिसका है। जो स्वयं वाणी और मन से अगम्य है। परब्रह्म रूप होने के कारण वह जाति-गुण आदि विशेषणों से हीन है। ज्ञानी-जीव, ज्ञान-बुद्धि। बाह्य घट के समान ये दोनों जिसके द्वारा प्रकाश्य हैं। वह परा शक्ति सभी की प्रकाशक है। अथवा-केवल ज्ञाननिष्ठ ज्ञानियों का ज्ञान जिसको समझने में सीमित या कुण्ठित हो जाता है क्योंकि वह विशुद्ध भक्तों के चित्त से जानी जाती है।

ईश्वरी।। वह तुझ ईश्वर की स्वरूपरूपा है। नित्य होने के कारण भेद का अभाव रहता है। अथवा ईश्वरी का अर्थ-विभिन्न प्रकार के वैचित्र्य को सम्पन्न करने वाले महान् सामर्थ्य वाली। परा का अर्थ है चिद्विलास रूपा। उस शक्ति प्रकृति भी कहा है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में-मूल प्रकृति ईश्वरी है (समस्त सामर्थ्य से युक्त है)।। वहाँ प्रकृति शब्द स्वभाव वाची है। उसे नियति भी कह सकते हैं।

ब्रह्मसंहितायाम्--

नियतिः सा रमादेवी तत्प्रिया तद्वशंवदेति।।
तत्र नियतिर्नाम पराधीनत्वेन निखिलनियमनम्।।
तदेवं सा रमा यस्यामवस्थायां नियतिस्तत्र देवी।।
गोविन्दवदीश्वरीत्यर्थः।। अपरा मायाख्या जडरूपेति।।
अथ वृत्तिभेदेन चिन्मायाशक्त्योर्वैविध्यमुच्यते।।

यथा श्रीदशमे--

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्ज्जया।।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या माययाभिनिषेवितमिति।।
अत्रशक्तिपदेनान्याऽचिच्छक्त्याख्या समीरिता।।
यतो हेतोः श्र्यादयस्तु चिन्मायाशक्तिवृत्तयः।।
ज्ञेयास्तासां पुराणादौ श्रूयते यद् द्विरूपता।।

अत्रश्रुतिः--न तस्य कार्य्यमित्याद्या।। अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपा इति च।। तदेवं स्थिते--

तयोः स्वरूपभूता या सा सेव्या भगवत्परैः ।।

भगवानिव, तस्य स्याद्भगवत्तादि यन्मयी ।।

तदुक्तं श्रीकृष्णसन्दर्भे--यत्कृता हि भगवतो भगवत्तेति ।। तथैव भक्तिसन्दर्भे ।। वदन्ति तत्तत्त्वविद इत्यस्य व्याख्यायाम् ।। यथा ।। शक्तिवर्गलक्षणतद्धर्मातिरिक्तं केवलं ज्ञानं ब्रह्मेति ।। अन्तर्यामित्वमय-मायाशक्तिप्रचुरं चिच्छक्त्यंशविशिष्टं परमात्मेति ।। परिपूर्णसर्वाति-शायिशक्तिविशिष्टं भगवानिति शब्द्यत इत्यर्थः ।। या तु द्वितीया मायाख्या सा त्याज्या तैः प्रपञ्चवत् ।। एकस्यैव स्वरूपस्य सच्चिदानन्दरूपतः ।।

भिद्यते त्रिविधा सा तु शक्तिरेका स्वरूपगा ।।

ब्रह्मसंहिता में-वह रमा देवी नियति है उसकी प्रिया उसके वशंवद है (अधीन होकर बोलने वाली)

यहाँ नियति का अर्थ है जो पराधीन करते हुए सबका नियमन करे। इस अवस्था में रमा देवी नियति के रूप में गोविन्द के समान ईश्वरी है। अपरा शक्ति जड़रूप माया है।

अब वृत्ति भेद से चिद्शक्ति और मायाशक्ति की विविधता कही जा रही है। यथा-श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में-

चित्शक्ति श्री, पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा तथा विद्या के रूप में तथा मायाशक्ति अविद्या के रूप में अभिनिविष्ट है विराजमान है।।

यहाँ शक्ति पद से अन्तिम अचित् शक्ति को कहा गया है। क्योंकि श्री आदि चिन्माया शक्ति की वृत्तियाँ हैं। पुराण आदि में उन श्री आदि की द्विरूपता सुनी गई है। इसमें श्रुति का प्रमाण है-

''उसका कार्य नहीं है-ऐसी प्रथम श्रुति है। ''समान रूपवाली बहुत सी प्रजाओं को उत्पन्न करने वाली लाल, शुक्ल और काली एक मूलप्रकृति है।''

इस प्रकार विवेचन होने पर-

उन दोनों (चित् और अचित् शक्ति) की स्वरूप रूपा जो शक्ति है, भगवत्परायण भक्तों को उसकी भगवान् के समान सेवा करनी चाहिए। भगवान् की भगवत्ता भी उसी के कारण है।

जैसा कि श्रीकृष्णसन्दर्भ में कहा है-''भगवान् की भगवत्ता जिसके द्वारा की गई है।'' इसी प्रकार भक्ति सन्दर्भ में तत्त्वविद्लोग जिसके विषय में कहते हैं-की व्याख्या में जैसे--

''शक्ति वर्ग (श्री, पुष्टि, कान्ति, कीर्ति आदि) के लक्षण एवं उसके धर्मों के अतिरिक्त केवल ज्ञान रूप ब्रह्म है। अन्तर्यामित्वरूप मायाशक्ति प्रचुर चित् शक्ति के अंश से विशिष्ट परमात्मा होता है। परिपूर्ण सर्वातिशायी शक्ति से विशिष्ट को भगवान् कहा जाता है। साधकों को प्रपञ्च के समान माया नामक द्वितीय शक्ति का त्याग करना चाहिए।''

''सच्चिदानन्दरूप से एक ही स्वरूप में विद्यमान रहने वाले ब्रह्म के लिए एक स्वरूप शक्ति ही तीन प्रकार से भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होती है।''

यथा श्रीविष्णुपुराणे--

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ ।।
ह्लादतापकरीमिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ।।इति ।।

अस्यार्थः ।। ह्लादिनी आह्लादकरी ।। सन्धिनी सत्ता ।। संविद्विद्याशक्तिः ।। या च एका मुख्या ।। अव्यभिचारिणी च ।। स्वरूप-भूतेति यावत् ।। सा च सर्वसंस्थितौ सर्वस्य सम्यक् स्थितिर्यस्मात्तस्मिन् सर्वाधिष्ठानभूते त्वय्येव ।। न तु जीवेषु ।। तेषु च या माया त्रिगुणात्मिका सा त्वयि नास्ति ।। तामेवाह ।। ह्लादतापकरीमिश्रेति ।। ह्लादकरी मनः प्रसादोत्था सात्त्विकी तापकरी विषयवियोगादिषु तापजनिका तामसी।। तदुभयमिश्रा विषयजन्या राजसी ।। तत्र हेतुर्गुणवर्जिते ।। सत्त्वादिगुण-रहिते ।। तदुक्तं सर्वज्ञसूक्तौ--

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः ।।
स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकर इति ।।

तत्रैवं सति घटानां घटत्वमिव सर्वेषां सतां वस्तूनां प्रतीते-र्निमित्तमिति क्वचित्सत्तारूपेणाम्नातोऽप्यसौ सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यत्र सद्रूपत्वेन व्यपदिश्यमानो यया सत्तां ददाति धारयति च सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्तिकरी सन्धिनी ।। तथा च संविद्रूपोऽपि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित् ।। तथा च ह्लादरूपोऽपि भगवान् यया संविदु-त्कर्षरूपया तं ह्लादं संवेत्ति संवेदयति ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनीति

ज्ञेयम् ।। तथा चोत्तरोत्तरोत्कर्षेण सन्धिनी संविल्ह्लादिनीति क्रमो ज्ञेयः ।।

जैसे-विष्णु पुराण में--

समस्त के अधिष्ठान रूप, गुण रहित तुझ में ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् रूप शक्ति रहती है। तुझ में ह्लादकरी, तापकरी और मिश्ररूपा माया नहीं रहती है।

इसका अर्थ है-ह्लादिनी अर्थात् आह्लादकारिणी। सन्धिनी अर्थात् सत्ता। संवित् अर्थात् विद्याशक्ति। (अर्थात् एक ही शक्ति सच्चिदानन्द ब्रह्म में सत्-चित् और आनन्द शक्ति के रूप में अर्थात् तीन रूपों में विराजमान रहती है)'' वही शक्ति एक और मुख्य है। अव्यभिचरित रूप में अर्थात् नित्यरूप में रहती है क्योंकि वह स्वरूप भूता शक्ति है। वह शक्ति सब के अधिष्ठान रूप (अर्थात् सबकी सत्ता जिसके द्वारा है) तुझ में रहती है न कि जीवों में। जीवों में तो त्रिगुणात्मिका माया रहती है वह तुझ में नहीं है। उसी माया को कहते हैं-ह्लाद-तापकरी मिश्रा-माया ह्लादकरी माया मन की प्रसन्न अवस्था में होती है और सात्त्विक होती है। विषयों के वियोग में ताप देने वाली तापकरी माया तामसी है। आह्लाद और ताप से निर्मित विषयोपभोग से जन्य माया राजसी होती है। ब्रह्म में त्रिविध माया व्याप्त नहीं होती है क्योंकि वह सत्त्वादि त्रिविध गुणों से रहित है।

यह बात सर्वज्ञ सूक्त में कही गई है-सच्चिदानन्द ईश्वर ह्लादिनी संवित् से अछूता रहता है तथा समस्त क्लेश समूह का आकर जीव अपनी अविद्या से ढ़का रहता है।

इस प्रकार जैसे घटों में घटत्व विद्यमान रहता है (अर्थात् नाना प्रकार के घटों (घड़ों) में घटत्व समान रूप से विद्यमान रहता है) उसी प्रकार सभी सत् वस्तुओं में प्रतीति के निमित्त रूप में विद्यमान कहीं सत्ता रूप से कहा गया भी यह ब्रह्म (ईश्वर) ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्-अर्थात् हे सोम्य यह परतत्त्व यद् रूप में ही सबसे पहले विद्यमान था'' इस प्रकार सद् रूप में कहा जाता हुआ जिससे जीवों को सत्ता प्रदान करता है और धारण करता है वह सर्वदेश काल और द्रव्यों में व्याप्ति करने वाली सन्धिनी शक्ति है तथा संविद् रूप होता हुआ भी जिससे सम्यक् प्रकार से समझता है और अन्य जीवों को ज्ञान करवाता है वह संवित् शक्ति है तथा ह्लाद रूप होने वाला यह

भगवान् जिसके द्वारा संवित् के उत्कर्ष रूप से उस आह्लाद को अनुभव करता है और अन्यों को (जीवों को) आह्लाद का अनुभव करवाता है जिससे ह्लादित होता है जीवों को ह्लादित करवाता है वह शक्ति ह्लादिनी है। इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कर्ष के क्रम से सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी शक्तियों का यह क्रम समझना चाहिए।

श्रीपञ्चरात्रे--ह्लादिनीवृत्तिरूपाया गुह्यविद्येति सा स्मृता।। यथा च वैष्णवे महालक्ष्मीस्तवे--

गुह्यविद्या महाविद्या यज्ञविद्या च शोभने।।
आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनीति।।
गुह्यविद्या भक्तिरिति टीकाकारैः प्रदर्शितम्।
राजविद्या राजगुह्यमिति गीतादिसंमतेः।। ततश्च-
स्वरूपभूता या शक्तिर्विष्णोर्वामाङ्गवर्त्तिनी।
स्याच्चेत्तदा महालक्ष्मीसंज्ञया प्रोच्यते हि सा।।

यथा च श्रीद्वादशे--

अनपायिनी भगवती श्रीःसाक्षादात्मनो हरेः।।इति।।

हयग्रीवपञ्चरात्रे च--

परमात्मा हरिर्देवस्तच्छक्तिः श्रीरिहोदिता।।
श्रीः पराप्रकृतिः प्रोक्ता केशवः पुरुषः परः।।
न विष्णुना विना देवी न हरिः पद्मजां विनेति।।

श्रीविष्णुपुराणे--

नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथा श्रीस्तत्सहायिनी।।
देवत्वे देवदेहा सा मानुषत्वे च मानुषी।
हरेर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम्।।

बृहन्नारदीये--

यथा हरिर्जगद्व्यापी तस्य शक्तिस्तथा मुने।
दाहशक्तिर्यथाङ्गारे स्वाश्रयं व्याप्य तिष्ठति।।
अतो विष्णुपुराणादौ मायातीता हि सा स्मृता।।यथा-
कलाकाष्ठानिमेषादिकालसूत्रस्य गोचरे।

यस्य शक्तिर्न शुद्धस्य स प्रसीदतु नो हरिरिति ।।

श्रीपञ्चरात्र में-ह्लादिनी वृत्ति रूपा जो शक्ति है वही गुह्यविद्या मानी गई है।

जैसे वैष्णव महालक्ष्मीस्तव में--

हे देवि! हे शोभने! जो गुह्यविद्या, महाविद्या, यज्ञविद्या और आत्मविद्या है वह तुम हो और तुम मुक्ति रूपी फल देने वाली हो।''

टीकाकारों ने गुह्यविद्या को भक्ति कहा है। गीता की संमति में भी राजविद्या राजगुह्य है। और भी--

स्वरूप भूता जो शक्ति विष्णु के वामाङ्ग में जब विराजती है तो उसे ''महालक्ष्मी'' कहते हैं।

जैसे भागवत के द्वादश स्कन्ध में-साक्षात् आत्मरूप हरि के अनपायिनी (कभी भी नष्ट न होने वाली) ऐश्वर्य सम्पन्न शक्ति श्रीलक्ष्मी है।

और हयग्रीवपाञ्चरात्र में--

''परमात्म स्वरूप श्रीहरि की शक्ति को ही यहाँ श्री कहा है'' श्रीपरा शक्ति है और केशव परम पुरुष है। न तो देवी (श्रीलक्ष्मी) विष्णु के बिना रहती है और न हरि पद्मजा-लक्ष्मी के बिना रहते हैं।

श्रीविष्णुपुराण में--

जगन्माता विष्णु की अनपायिनी शक्ति श्री (लक्ष्मी) नित्य है। जिस प्रकार विष्णु सर्वगत-सर्वव्यापक है उसी प्रकार उनकी सहायक श्री भी सर्वव्यापक है।।

यह श्री-लक्ष्मी अपने देह को हरि की देह के अनुरूप धारण करती है। हरि के देव देह धारण करने पर देवदेह एवं मनुष्य देह धारण करने पर मनुष्य देह धारण करती है।

बृहन्नारदीय में--

हे मुने! जैसे हरि जगद्व्यापी है वैसे ही उसकी शक्ति भी जगद्व्यापी है। जैसे दाहशक्ति अपने आश्रय को व्याप्त करके स्थित रहती है वैसे ही यह शक्ति भी अपने आश्रय को व्याप्त करके स्थित रहती है। इसीलिए विष्णु पुराण आदि में उसे मायातीत कहा है। जैसे--

कला, काष्ठा, निमेष (कालगणना के सूक्ष्म भेद) आदि काल सूत्र

के गोचर होने पर जिस शुद्ध परमेश्वर की शक्ति भिन्न रूप से प्रतीत नहीं होती है वह हरि प्रसन्न हो।''

व्याख्या ।। कलाकाष्ठानिमेषादिकाल एव सूत्रवत्सूत्रं जगच्चेष्टा-नियामकत्वात् ।। तस्य गोचरे विषये यस्य शक्तिर्महाक्ष्मीर्न वर्त्तते ।। स्वरूपाभिन्नत्वात् ।। नित्यैव सा कालाधीना न भवतीत्यर्थः ।। अतएव स्वरूपाभिन्नत्वादेव शुद्धस्येत्युक्तमिति ।। ननु यदि लक्ष्मीस्तत्स्वरूपा-भिन्ना कथं तर्हि लक्ष्म्याः पतिरित्युच्यते तत्राह ।। प्रोच्यते परमेशो यो यः शुद्धोऽप्युपचारत इति ।। परा चासौ मा लक्ष्मीस्तस्या ईशः पतिरिति केवलोऽप्युपचारतो भेदविवक्षया प्रोच्यते ।। द्वितीयो यच्छब्द प्रसिद्धा-विति ।। अभेदेऽपि भेदवद्वृत्तिरुपचारः ।।

एवमादिभिरन्यैश्च वाक्यैः शक्तिर्हि साधिता ।
सा कथं राधिका तस्य समा वापि ततोऽधिका ।।
अपि चाधिक्यमनने शाक्तत्वमतिदुस्तरम् ।।

श्लोक की व्याख्या-

जगत् का नियामक कला-काष्ठा-निमेष आदि काल ही सूत्र के समान सूत्र है। उस सूत्र के गोचर होने पर जिसकी शक्ति महालक्ष्मी पृथक् नहीं रहती है स्वरूप से अभिन्न होने के कारण। महालक्ष्मी नित्य है अतः काल के अधीन नहीं होती है। इसीलिए स्वरूप से अभिन्न होने के कारण ही परमात्मा का विशेषण शुद्ध दिया गया है। प्रश्न होता है कि यदि लक्ष्मी स्वरूप से अभिन्न है तब परमात्मा को लक्ष्मी का पति क्यों कहा जाता है। इसका उत्तर देते हैं जो शुद्ध परमेश है उसे उपचारतः अर्थात् गौण रूप से लक्ष्मी का पति कहा जाता है वस्तुतः लक्ष्मी परमेश्वर के स्वरूप से अभिन्न ही है-परमेश की व्युत्पत्ति करते हैं- परा चासौ मा लक्ष्मीस्तस्या ईशः पतिः-जो परालक्ष्मी है उसका ईश। श्लोक में द्वितीय यत् शब्द प्रसिद्धि अर्थ में है। अभेद में भेद के समान वृत्ति-व्यवहार ही उपचार कहा जाता है।

इस प्रकार इन और अन्य वाक्यों से शक्ति सिद्ध की गई है। वह राधिका उस कृष्ण के समान है या उससे बढकर है। आधिक्य मानने पर शाक्तत्व अति दुस्तर है।

तदुक्तं भक्तिरत्नाकरे--

राधा कृष्णस्य रागाङ्गं सा तत्साध्येति यो वदेत्।
स शाक्तः खलु तस्यैव शाक्तसंज्ञापि नामतः।।

रागाङ्गमुक्तं वराहतन्त्रे--

प्रेमरागमया गोप्यस्तत्र रागांगसंज्ञकाः।।
प्रेमानन्दमया गोपास्तत्र सन्ति लयाङ्गका इति।।
अत्रोच्यते समाधानं सावधानं निशामय।
नहि शक्तिपदेनात्र तस्या न्यूनत्वमुच्यते।।
प्रत्युतोत्कर्षपरता वाक्यानां प्रतिभाति हि।
यत्र तत्राधिकत्वेन ज्ञेया, नेयं समाऽसमा।।
या निस्तत्त्वा कार्यगम्या सेयं नैवावगम्यते।
अनपायिनी भगवती श्रीःसाक्षादात्मनो हरेः।।
इति मूर्त्तिमती साक्षात्पदा द्वारस्थदीपवत्।
यत्र शक्तिरियं प्रोक्ता तत्राप्यानन्दरूपिणी।।
ब्रह्मणो हरिवज्ज्ञेया शक्तीनामधिदैवतम्।।

जैसे कि भक्तिरत्नाकर में कहा है--

राधा कृष्ण का रागाङ्ग है वह राधा कृष्ण के द्वारा साध्य है-ऐसा कहे वह शाक्त है नाम से उसी की शाक्त संज्ञा है।

वराहतन्त्र में राधा को रागाङ्ग कहा है- (रास में) प्रेम रागमय गोपीयाँ रागाङ्ग संज्ञक है। तथा प्रेमानन्दमय गोप लयाङ्गक हैं। इस विषय में समाधान दिया जा रहा है उसे सावधानी पूर्वक सुनो, यहाँ शक्तिपद के प्रयोग से उस राधा की न्यूनता नहीं कही गई है प्रत्युत वाक्यों की उत्कर्षता प्रतीत होती है। जिन वाक्यों की उत्कर्षता प्रतीत होती है। जिन वाक्यों में आधिक्य कहा गया है उसका अर्थ है न वह समान है और न वह असमान है।

जो निश्तत्त्व हो वह कार्य से गम्य होता है- इस प्रकार भी इसकी प्रतीति नहीं होती है क्योंकि वह अनपायिनी भगवती लक्ष्मी स्वयं हरि का साक्षात् स्वरूप है। द्वारस्थ दीप के समान यह साक्षात् मूर्तिमती है और जहाँ इसे शक्ति भी कहा है वहाँ पर भी यह ब्रह्म की आनन्दस्वरूपिणी हरि के समान शक्तियों की अधिदेवता है।

चतुर्द्धा परावरयोरभेदं दर्शयति कार्यकारणत्वेन, चित्साम्येन, अधिष्ठानाधिष्ठेयत्वेन, अहं ग्रहेण चेति। चतुर्षु प्रकारेषु यथास्वं मन्तव्यम्। चतुर्णामपि तेषां शास्त्रोक्तत्वादितिभावः। ''तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः,'' ''तत्त्वमसि,'' ''साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी,'' ''अहं ब्रह्मास्मि''इत्यादिशास्त्रम्। उक्तसतीवाक्याभिप्रायं श्रीराघवेन्द्रसरस्वती-पादवचसा विशदयति-''यत्राराध्या''मित्यादिना। प्रकारान्तरेण तद्वाक्यार्थं स्पष्टयति-''अपर्णा लीलावतारो यस्या''इतीयं विभूतियोगकृता विपर्य्यसोक्तिर्ज्ञेया, ''वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मी''तिवदभेदविवक्षया। परव्यूहविलासविभूतीनां श्रीवैष्णवमतेऽभेदस्वीकारादुक्तसतीवाक्येन प्रकृतसिद्धान्तस्य न विरोधः। विभूतिर्द्विप्रकारा। स्वरूपात्मिका स्वांशादिरूपा च। तत्र स्वरूपात्मिकायास्तस्याः स्वरूपेणाभेदो ह्युपपन्नः। स्वांशादिरूपायास्तु तेन सह भेदाभेद इति विवेकः।

मत्स्यपुराण में दुर्गा की विभूति के रूप में राधा को कहा गया है। यह कैसे? श्रीभागवत में कहे गए सती के वाक्य से समाधान करते हैं-जो मथुरा में देवकी, पाताल में परमेश्वरी, चित्रकूट में सीता, वन्ध्य में विन्ध्यवासिनी, द्वारिका में रुक्मिणी और वृन्दावन में वही राधा। ''अयमत्राशयः''-यह कहकर मूल में समाधान दिया है (अर्थ मूल के हिन्दी अनुवाद में देखना चाहिए) उत्कृष्ट का अवर के साथ अभेद कहना यह परमात्मा के साथ अपना अभेद मानकर देवेन्द्र-वामदेव आदि के समान सङ्गत होता है। वेदान्तसूत्र न्याय के समाधान कहते हैं। कार्यकारण भाव से (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) चित् साम्य से (तत्त्वमसि) अधिष्ठानाधिष्ठेय भाव से (सर्वं समाप्नोषि तेतोऽसि सर्वम्) अहंग्रह भाव से (सोऽहम्)। इन चारों प्रकारों में अपने अनुसार मन्तव्य समझना चाहिए। चारों ही वाक्य शास्त्रोक्त है। आरम्भण शब्दादि से अनन्यता है। ''तत्त्वमसि, साक्षाद् ब्रह्म गोपालपुरी'', ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्यादि शास्त्र अभेद के प्रतिपादक हैं।

''मथुरा में देवी..'' सती के इस वाक्य का विस्तार श्रीराघवेन्द्र सरस्वती के वचन से करते हैं-''यत्राराध्यां विदग्धां..'' (वृषभानुकी आत्मजा श्रीराधा को अपने हृदय में विराजमान करके श्रीकृष्ण ने परम आनन्द प्राप्त किया)। प्रकारान्तर से उस वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करते हैं-श्रीराधा का ही लीलावतार अपर्णा (श्रीपार्वती) है-ऐसा मत्स्यपुराण में कहा है। विभूतियों

के अनुसार इस विपर्य्यास उक्ति को वैसे ही समझना चाहिए जैसे अभेद दृष्टि से कहा गया है कि ''मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ।'' वैष्णव मत में पर व्यूह की विलास विभूतियों का पर के साथ अभेद माना गया है। इसलिए सती के जो मथुरा की देवीकी.. वही वृन्दावन में राधा इस वाक्य से प्रकृत सिद्धान्त का विरोध नहीं होता है। विभूतियाँ दो प्रकार की होती हैं- स्वरूपात्मिका और स्वांशादिरूपा। स्वरूपात्मिका विभूतियों का स्वरूप से अभेद संगत होता है। स्वांशादिरूप विभूतियों का स्वांश से अभेद होता है।

ननु- कथमाडंबरो भूयान् क्रियते पाद्मसंज्ञके ।
राधिकायाः पूर्वजन्म चन्द्रकान्तिरिति श्रुतम् ।।
एकादश्याः प्रभावेण संप्राप्ता श्रीहरिं पतिम् ।।

तस्या मनोरथो यथा--

''सतीष्वन्यासु नारीषु जगन्मोहनरूपधृक् ।
मय्येवातिप्रीतिमांश्च नृत्यंतां भगवान् मया ।।
इत्थं मनोरथं तस्या गोपो नन्दव्रजेऽभवत् ।।
वृषभानुरिति ख्यातो गोपो नन्दव्रजेऽभवत् ।।
तस्य कन्या वरारोहा राधा नाम्न्यभवत्पुरा ।
या चन्द्रकान्तिरित्यासीदित्येतत्कथितं मया ।।

तथा- सा नृत्यमानाद्भुतगोपरूपिणी कृष्णेन जन्मान्तरभाववांछया ।।
राधामहाप्रेमजवाकुलेन्द्रिया निन्येऽन्यलोकं कथया कृतार्थताम् ।।''

अत्रोच्यते सा विभूतिस्तयाहमिति स्वीकृता ।
श्रीमदुज्ज्वलटीकायां दर्शितं जीवस्वामिभिः ।।

तथाहि--''यथा राधा प्रिया विष्णोःकुंडं तस्यास्तथा प्रियम् ।।'' इत्यादि ।। तत्रान्यत्र च वाक्यशतैस्तस्याः सर्वाधिक्ये स्वरूपभूतत्वे च सति तामधिकृत्य यदितिहासान्तरं तद्विभूतिरूपायास्तत्रैक्यावाप्त्य-पेक्षया ।। यथा तत्रैव कस्यचिदृषे ऋतधामशर्म्मणः श्रीनारायणप्राप्ति-रुक्ता तद्वत् ।। यद्वा-विभूतिरूपतया स्वैकाश्रितायास्तस्याः साधनसाध्य-रूपं यत्किंचित्तत्सर्वमतिकृपया श्रीराधया देव्या स्वीयत्वेनैव मतमिति देवर्षिणापि तदभेदेनैव तथैव वर्णितमिति ज्ञेयम् ।। अस्यां च जाति-कृतापकर्षः श्रीनारदस्य दासीसुतजन्मवद्गन्धर्वेषु जन्मवच्च समाधेयः ।।

आचारापकर्षश्च श्रीगरुडादेः पक्षिसाधारण्येन सर्प्पभक्षणादिवत्समाधेयः ।। एवमभेदोक्तिरपि ''संस्तुन्वतोऽब्धिपतितान् श्रमणानृषींश्चे'' त्येकादशात् ।। अस्यास्तादृशी सिद्धिश्च रागानुगाख्यसाधनावेशादिति सा रसामृतसिन्धौ तथोदाहृतत्वात् ।। तथाहि ''इत्थं मनोरथं बाला कुर्वती नृत्य उत्सुका'' इत्यादिसर्वमनवद्यम् ।। वस्तुतस्तु-यो नन्दव्रजे श्रीवृषभानुनामा गोपो भवति ब्रह्मापि सोऽभवत् ।। या च नित्यं तस्यैव कन्या वरारोहा श्रीराधानाम्नी भवति, चन्द्रकान्तिरपि साऽभवत् ।। तेन तया च सह अभेदं प्रापेत्यर्थः ।। प्रकटलीलायामिति शेषः ।। श्री वैष्णवतोषणीव्याख्यानुसारेण द्रोणधराधिन्यायोऽत्रानुसन्धेयः ।। अन्यथोपासनाशास्त्रं पूर्वोक्तं तद्वाक्यजातं च सर्वमपि निरर्थकं स्यादिति दिक् ।।

प्रश्न-

पद्मपुराण में यह महान् आडम्बर कैसे किया गया है कि राधिका का पूर्व जन्म चन्द्रकान्ति के रूप में सुना गया है तथा उसने एकादशी के प्रभाव से श्रीहरि को पति के रूप में प्राप्त किया।

उसका मनोरथ इस प्रकार था--

अन्य नारियों के रहते जगत् को मोहित करने वाले रूप को धारण करने वाला भगवान् मेरे में ही अतिशय प्रीतिमान् होकर मेरे साथ नृत्य करे। पितामह (ब्रह्मा) ने उसके इस मनोरथ का अनुमोदन करके स्वयं नन्द व्रजभूमि में वृषभानु नाम के गोप के रूप में प्रकट हुए उनके राधा नाम की श्रेष्ठ कन्या हुई, वही पूर्व में चन्द्रकान्ति नाम से थी-यह मैंने कहा।

तथा-जन्मान्तर भाव की इच्छा से अद्भुत गोपी रूप धारण करने वाली वह राधा महाप्रेम के वेग से व्याकुलेन्द्रिय वाली होते हुए नृत्य करती हुई, उसने कथा से अन्य लोक में सार्थकता को प्रकट कर दिया।

वह (चन्द्रकान्ति) विभूति है उसके साथ मैं (राधा) स्वीकृत हूँ। यह बात उज्ज्वल टीका में जीव गोस्वामी ने प्रदर्शित की है। जैसे कि कहा है-विष्णु को जिस प्रकार राधा प्रिया है वैसे ही उसका कुण्ड (राधा कुण्ड) भी प्रिय है। इत्यादि। सात्वत् संहिता एवं पद्मपुराण आदि में तथा अन्यत्र सैंकड़ों वाक्यों से उसका (राधा का) स्वरूपाधिक्य एवं स्वरूप स्वरूपा

होना सिद्ध होने पर उसको आधार बनाकर जो इतिहासान्तर कहा गया है वह उसकी विभूति की एकरूपता सिद्ध करने के लिए है। जैसे कि वहीं ऋषि ऋतधाम शर्मा की श्रीनारायण की प्राप्ति कही गई है वैसे ही यहाँ समझना चाहिए।

अथवा विभूतिरूपा एवं आश्रित उस चन्द्रकान्ति को श्रीराधा ने साध्य साधन के रूप में अपनी कृपा से स्वीकार किया है-ऐसा समझना चाहिए क्योंकि देवर्षि नारद ने भी उसका अभेद रूप में ही वर्णन किया है। इस विषय में जैसे नारदजी का दासीपुत्र के रूप में एवं गन्धर्वों में जन्म हुआ है-वह नारद का जाति अपकर्ष है वैसे ही श्रीराधा का अन्य विभूतियों के रूप में प्रकट होना जाति अपकर्ष है। आचार की अपकर्षता का समाधान गरुड़ आदि का पक्षी के रूप में सर्पभक्षण आदि के समान करना चाहिए। इसी प्रकार अभेद कथन भी है-संसार सागर में पड़े हुए स्तुति करते हुए श्रमण और ऋषियों को.. एकादश स्कन्ध में ऐसा कहा गया है। रसामृतसिन्धु में जैसे कहा गया है-इस चन्द्रकान्ति की इस प्रकार की सिद्धि ''राग'' नामक साधन से ही हो सकती है। इसलिए-वह बाला चन्द्रकान्ति इस प्रकार (श्रीकृष्ण के साथ नृत्य का) मनोरथ करती हुई नृत्य में उत्सुक हुई-यह सब विवेचन संगत है। वस्तुतः तो नन्द व्रज में श्रीवृषभानु नाम का गोप होता है ब्रह्मा भी वही था। जो नित्य उसकी ही श्रेष्ठ कन्या श्रीराधा नाम वाली प्रकट होती है चन्द्रकान्ति भी वही थी। इससे ज्ञात होता है कि उसके साथ वह अभेद को प्राप्त हो गई। यह अर्थ है। प्रकट लीला में यह शेष है-तात्पर्य है कि प्रकट लीला में श्रीकृष्णस्वरूपा स्वरूपशक्ति राधा ही प्रकट होती है। श्रीवैष्णवतोषिणी की व्याख्या के अनुसार यहाँ द्रोणधराधिन्याय का अनुसन्धान करना चाहिए। अन्यथा उपासना शास्त्र तथा पूर्वोक्त यह वाक्य समुदाय सब निरर्थक हो जाएगा।

पुनरपि पाद्मोक्तचन्द्रकान्तीतिहासावष्टंभेन श्रीराधिकाया उक्तस्वरूपगुणत्वमाक्षिप्य परिहरति-''कथमाडंबरो भूया''निति। तत्समाधानप्रकारमाह-'अत्रोच्यते सा विभूतिस्तयाहमिति स्वीकृते'त्यादिना। भक्तानुग्रहवैवश्येन परस्यापि तत्प्रकारकस्वीकरणं घटत इति भावः। एतादृशेतिहासानां नित्यस्वरूपसिद्धान्ताविरोधेन सङ्गतिं दर्शयति-''तत्रान्यत्र च वाक्यशतैस्त-

स्याः सर्वाधिक्ये स्वरूपभूतत्वे च सुसिद्धे, तामधिकृत्य यदितिहासान्तरं तद् विभूतिरूपायास्तत्रैक्यावाप्त्यपेक्षये''ति श्रीजीवगोस्वामिवाक्येन। समाधानान्तरमाह-'यद्वे' त्यादिना। कल्पभेदेनेतिहासभेदो घटत इति प्रकृतेऽपि द्रोणधरान्यायानुसन्धानान्न कोऽपि विरोधइत्याह-''वस्तुत''स्त्वित्यादीना। इदमत्र तथ्यम्-ब्रह्मापि कस्मिंश्चित्कल्पे श्रीवृषभानुनामा गोपोऽभूत्। तस्य ब्रह्मणो वृषभानोश्चन्द्रकान्तिरपि राधानाम्नैव कन्याऽभवत्। नित्यराधया च सहाभेदं प्राप। यथा श्रीकृष्णस्य श्रीयशोदानन्दौ नित्यावेव मातापितरौ, तद्भावाभिनिवेशेन कस्मिंश्चित् कल्पे धराद्रोणावपि यशोदानन्दाभेदप्रकटलीलायां प्रापतुर्नैतावता यशोदानन्दयोर्नित्य-श्रीकृष्णपितृत्वप्रतिपादकवाक्यानां विरोधः। तयोर्नित्यत्वात्तदन्ययोस्तत्सायुज्यंगतयोस्तद्विभूतित्वात्। न चेदित्थं नित्यानित्ययोरविरोधोऽङ्गीक्रियते तर्हि तन्नित्यत्वासमोर्द्धपारम्यप्रतिपादकम् उपासनाशास्त्रं पूर्वोक्तं तत्तद्वाक्यजातं च सर्वमपि निरर्थकं स्यादिति ध्येयमित्याह-''अन्यथे''त्यादिना।

पुनः पद्मपुराण में चन्द्रकान्ति के इतिहास से श्रीराधा के उक्त स्वरूप में गौण होने का आक्षेप करके उसका परिहार करते हुए लिखा है-''कथमाढम्बरो भूयान्'' (इस इतिहास में कहा गया है कि चन्द्रकान्ति ही ब्रह्मा के अनुग्रह से वृषभानुसुता राधा के रूप में प्रकट हुई)। उसके समाधान का प्रकार कहते हैं-वह चन्द्रकान्ति है उस विभूति से मैं (राधा) स्वीकृत हुई। भाव यह है कि भक्तों पर किए जाने वाले अनुग्रह के पराधीन होकर परस्वरूप राधा-कृष्ण आदि भी इस प्रकार अन्य अवर रूपों में प्रकट होना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के इतिहासों का नित्य स्वरूप सिद्धान्त से अविरोध कैसे हो-इसकी सङ्गति दिखलाते हैं-''यथा राधा प्रियाविष्णोः कुण्डं तस्यास्तथाप्रियम्'' (विष्णु को जिस प्रकार राधा प्रिय है उसी प्रकार राधाजी का कुण्ड भी प्रिय है) जीव गोस्वामी के इस वाक्य से तथा इसी प्रकार के अन्य सैंकड़ों वाक्यों से श्रीराधा के सर्वाधिक्य एवं स्वरूपभूत होना सिद्ध होने पर, उस राधा के विषय में जो अन्य इतिहास उपलब्ध होता है वह उस विभूति रूपा के साथ उसका ऐक्य प्रतिपादित करके की अपेक्षा से ही है। अन्य समाधान भी देते हैं ''यद्वा..'' अथवा कल्पभेद से इतिहास में भेद घटित होता है-उसी प्रकार प्रकृत में भी द्रोणधराधिन्याय के अनुसन्धान

से कोई विरोध नहीं है-वस्तुतस्तु.. कहकर यही बात कही गई है (जो नन्द के व्रज में वृषभानु गोप है वह ब्रह्मा भी हुआ। जो नित्य उसकी कन्या श्रीराधा नाम की है वही चन्द्रकान्ति भी थी। तात्पर्य है कि वृषभानु और ब्रह्मा में अभेद है, राधा और चन्द्रकान्ति में अभेद है)।

यहाँ तथ्य यह है कि ब्रह्मा भी किसी कल्प में वृषभानु गोप हुआ। उस ब्रह्मा वृषभानु के चन्द्रकान्ति भी राधा नाम की कन्या हुई। इनका (चन्द्रकान्ति और वृषभानुसुता राधा का) नित्य राधा से अभेद प्राप्त हुआ। जैसे श्रीकृष्ण के श्रीयशोदा और नन्द नित्य ही माता-पिता हैं, उसी भाव के अभिनिवेश से किसी कल्प में प्रकटलीला में यशोदा और नन्द भले ही अभेद को प्राप्त करें किन्तु इससे यशोदा और नन्द का नित्य श्रीकृष्ण के माता-पिता होने के प्रतिपादक वाक्यों का विरोध नहीं होता है। वे तो नित्य हैं उनसे भिन्न (अनित्य यशोदा-नन्द) किन्तु उनसे सायुज्य प्राप्त उनकी विभूति होने से विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार यदि नित्य और अनित्य का अविरोध स्वीकार नहीं किया जाएगा तब उनके नित्य असमोर्द्ध और परम सिद्ध करने वाले पूर्वोक्त सभी वाक्य निरर्थक हो जाऐंगे। यही बात मूल में ''अन्यथोपासना-शास्त्रं..'' इत्यादि के द्वारा कही गई है।

वस्तुतस्त्वित्थमेवोक्तं मूलरामायणे स्फुटम् ।।

''कन्यासीद्विप्रवर्य्यस्य नाम्ना वेदवती सती ।
अकामां चकमे तां तु रावणः सुतलं गतः ।।
शप्त्वा तं सैव संजाता तद्वधाय निमेः कुले ।
सीरध्वजस्य सीराग्राद्यज्ञभूमाविति श्रुतम् ।।
सीतानाम्नी प्रणीता सा राघवाय महात्मने ।
सैवोक्ता रामचन्द्रस्य ज्योत्स्नावदनपायिनी ।।
प्रभावाद्भास्करस्येति पाद्मादौ नित्ययोगिनी ।
राघवत्वेऽभवत्सीता मात्स्योक्तं प्राक्प्रदर्शितम् ।।
तदेवं प्रकटा लीला नित्यं योगवियोगभाक् ।
तदर्थं साधकांशेन मिलितोक्त्या न दुष्यति ।।
नित्ययोगस्तथा राधा चन्द्रकान्तिरितीरिता ।
अन्यथा 'राधया देवो', 'राधामाधवरूपकम् ।।'

ज्योतिरेकमितीत्यादिवाक्यजातं विरुद्ध्यत ।।इतिसंक्षेपः''

वस्तुतः तो मूल रामायण में भी स्पष्ट कहा है--

''विप्रवर्य की वेदवती नाम की कन्या थी। सुतल (भुवनों का एक भेद) पर गए हुए रावण ने काम रहित उस कन्या की कामना की। उस कन्या ने उसको शाप दिया और उसके वध के लिए निमि के कुल में सीरध्वज (जनक) के सीर के अग्रभाग (हल के अग्रभाग) से यज्ञभूमि में प्रकट हुई ऐसा सुना जाता है। वह सीता नाम की कन्या महात्मा राघव को प्रदान की गई। वह सूर्य की प्रभा एवं चन्द्रमा की चाँदनी के समान रामचन्द्र से अभिन्न कही गई। रामचन्द्र के साथ नित्य योगिनी वही उनके राघव रूप में आने पर सीता हुई-ऐसा पद्मपुराण एवं मत्स्यपुराण आदि में कहा गया है। इस प्रकार नित्ययोग को वियुक्त करने वाली प्रकट लीला हुई। उसके लिए ही (प्रकट लीला को कहने के लिए ही) साधक अंश के साथ मिलित उक्तियाँ दूषित नहीं होती हैं। वैसे ही नित्ययोग वाली राधा भी चन्द्रकान्ति कही गई है। अन्यथा ''राधया देवो (माधव राधा से युक्त है) ''राधामाधवरूपकम् ज्योतिरेकम्-(एक ही ज्योति राधामाधव रूप है)-ये वाक्य परस्पर विरुद्ध हो जायेंगे-इति संक्षेपः।

नित्यस्वरूपायाः श्रीसीताया, भास्करस्य-प्रभावाच्छ्रीरामस्य नित्यानपायिन्या अपि तादृशमितिहासान्तरं मूलरामायणे स्फुटं लभ्यत इति तदुदाहरति-कन्यासीदित्यादिना। सा हि सीता पूर्वस्मिन् जन्मनि कस्यचिद्विप्रवर्य्यस्य वेदवतीनाम्नी कन्याऽऽसीत्। तामकामां रावणश्चकमे। तदा तं शप्त्वा सैव सीरध्वजस्य सीराग्राद्यज्ञभूमौ सीतेति नाम्ना प्रकटाऽभूदिति। तत्रैवंविधेतिहासानां तन्नित्यत्वानपायित्वप्रतिपादकशास्त्रेणाविरोधप्रकारं दर्शयति-''तदेवं प्रकटा लीले''त्यादिना। निगमयति-प्रकटलीलायां नित्यानपायिस्वरूपस्य साधकांशेन मिलितोक्त्या न तन्नित्यत्वानपायित्वप्रतिपादकशास्त्रं दुष्यतीति। यतः प्रकटलीलागतसाधकांशो नित्यं योगवियोगभाङ् न तस्य नित्यानपायित्वमित्यर्थः। अन्यथा-''राधया माधवो देवो०'' ''आत्मा तु राधिका तस्य०'' ''यथा हि क्षीरे-धावल्यं०'' ''एकामूर्त्तिर्द्विधाभिन्ना,'' ''यस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा०'' ''सैव सा स सैवास्ति,'' ''परब्रह्मस्वरूपा सा परमानन्ददायिनी''इत्यादितन्नित्ययोगतदभेदप्रतिपादकशास्त्रविरोधो दुर्वार

इतिसंक्षेप इत्याह।

भास्कर की प्रभा के समान श्रीराम से नित्य अनपायिनी नित्य स्वरूपा श्रीसीताजी का भी मूलरामायण में स्पष्ट रूप से अन्य प्रकार का इतिहास मिलता है-उसे उद्धृत करते हैं-वह सीता पूर्व जन्म में किसी श्रेष्ठ विप्र की वेदवती नाम की कन्या थी। कामना रहित उस कन्या को रावण ने चाहा। तब उस रावण को शाप देकर वह कन्या सीरध्वज राजा की यज्ञभूमि में सीर के (हल की फाल के) अग्रभाग से सीता के नाम से प्रकट हुई। अनित्यत्व सिद्ध करने वाले इन इतिहासों का नित्य और अनिपायित्व सिद्ध करने वाले शास्त्र के वचनों से अविरोध के प्रकार को दिखलाते हैं-''तदेवं प्रकटालीला..'' प्रकटलीला में अनित्यत्व दिखता है तथा नित्यलीला में नित्यत्व दिखता है। निगमन करते हुए कहते हैं कि प्रकटलीला में नित्य और अनपायित्वस्वरूप का साधकांश से मिलित उक्ति से उसके नित्य और अनपायित्व रूप को प्रतिपादित करने वाला शास्त्र दूषित नहीं होता है। क्योंकि प्रकट लीलागत साधकांश नित्यत्व योग और वियोग वाला होता है न कि नित्य और अनपायित्व अर्थ वाला। अन्यथा ''राधा से माधव देव'' ''राधा उस कृष्ण की आत्मा है'' ''जैसे दुग्ध में धवलता है'' ''एक ही मूर्ति दो प्रकार से विभक्त है'' ''जिस कारण एक ही ज्योति दो रूपों में प्रकट हुई'' ''वह राधा श्रीकृष्ण है, श्रीकृष्ण राधा है'' ''परब्रह्मस्वरूपा वह राधा परमानन्ददायिनी है'' इत्यादि द्वारा राधा और श्रीकृष्ण के नित्ययोग एवं अभेद प्रतिपादक शास्त्र के विरोध से बचा नहीं जा सकता है।

किमेतदुच्यते चित्रमपूर्वमिति चेच्छृणु ।।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म सनकादिप्रकोपनम् ।
जातं भगवदिच्छातस्तादृगत्रापि कारणम् ।।
तयोर्विभूती विजयो जयश्चापि द्विजोत्तमौ ।।
परस्परस्य शापेन प्रापितावधमां तनुम् ।
शापोद्धारोऽभिलषितो हरिणा न प्रसादितः ।।
तयोर्हिताय नो ताभ्यामनुभूतोऽयमाशयः ।
कुंठितो मानसो भावः कामितस्य विघाततः ।।
नित्यपार्षदसायुज्ये लब्धेऽपि स तथा स्थितः ।

शापव्याजेन विप्राणां प्रभुणैव निराकृतः ।।
तावपेक्ष्यैव शापोऽयमपापौ नित्यपार्षदौ ।
जन्मभिर्मन्युयोगेन गतौ तावेव शोधितौ ।।
जन्मभिरिति बहुत्वं कपिंजलन्यायेन त्रित्वपर्यवसायि ।।
इदमित्थं वामनादौ पाद्मादौ च तथा श्रुतम् ।।
गायत्री चन्द्रकान्तिश्च भक्तिभावेन राधिकाम् ।
प्राप्यापि हि तदैश्वर्य्यं न लेभाते हि तत्सुखम् ।।
तस्यास्तस्याश्च तोषाय लीलेयं भक्तिपोषका ।
अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः ।।
इति न्यायानुसन्धानादविरोधोऽवधार्यते ।
अन्यथा भगवद्गीताविरोधः स यथोच्यते ।
'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम' ।।
अथवाऽसुरमोहाय लीलेयं भक्तिगोपनी ।
द्विजशापादिस्वीकारो यथा श्रीद्वारकादिषु ।।
गोलोके राधिका-दाम्नोस्तथेदमपि बुध्यताम् ।
अपि चेदं न जानन्ति सखायो नित्यधामगाः ।।
पुंभावकृष्णसख्यत्वरूपभावान्तरावृतेः ।
यदि पार्षदयोर्भुव्यागतयोर्धाम्नि संस्थितिः ।।
स्वीकृता नित्यलीलायां किमत्र नहि सा भवेत् ।
यथाऽक्रूरस्य यमुनाह्रदे स्व-सेव्यदर्शनम् ।।
सुनन्द-नन्दप्रमुखैर्विष्णुपार्षदैरिति ।।
अत्र प्रमुखशब्देन तयो(र्जयविजययो) रपिग्रहणम् ।।

तत्रैव प्रह्लादनारदवसुप्रमुखैरित्यपि ।। वसु भीष्मः ।। तदानीं तस्य प्रकटं विद्यमानत्वादप्रकृटस्थितिरपि दर्शिता ।। तथा चादिवाराहे-

''नित्याः सर्वे परे धाम्नि ये चान्ये च दिवौकसः ।।''

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां श्रीराधिकाधिक्यनिर्णय-युक्तिः ।।५।।

यह अपूर्व और विचित्र बात क्या कही जा रही है यदि ऐसा है तो आप सुने--

भगवान् की इच्छा से सनकादि के कोप से वैकुण्ठवासी जय और विजय का जन्म हुआ-वैसे ही यहाँ भी भगवान् की इच्छा ही कारण है।

राधा-माधव की विभूति स्वरूप द्विज श्रेष्ठ विजय और जय परस्पर के शाप से अधम शरीर को प्राप्त हो गए। उन दोनों ने शाप से उद्धार चाहा किन्तु हरि ने इसका अनुमोदन नहीं किया। यह उनके हित के लिए ही किया गया, किन्तु उन्होंने इसका अनुभव नहीं किया-यह आशय है। इच्छित कार्य (शापोद्धार) में प्राप्तविघ्न से उनका मानस भाव कुण्ठित हो गया। नित्य पार्षद सायुज्य प्राप्त होने पर भी वह शाप वैसा ही रहा। विप्रों के शाप के बहाने से प्रभु ने उसे (शापोद्धार) को निराकृत कर दिया। शाप की अपेक्षा से पाप रहित नित्य पार्षदों ने बहुत से जन्म लेकर उस शाप को शोधित किया। कपिञ्जल न्याय (तीन बार आवृत्ति) से बहुत जन्मों से तात्पर्य तीन जन्म प्राप्त करना है। इस प्रकार वामन और पद्मपुराण आदि में सुना है। गायत्री और चन्द्रकान्ति भक्ति भाव से राधिका को प्राप्त करके भी उस ऐश्वर्य और सुख को वे प्राप्त नहीं करती हैं। उनके सन्तोष के लिए ही भक्ति का पोषण करने वाली यह लीला होती है। भक्तों पर अनुग्रह के लिए ही यह मानुष देह धारण की जाती है-इस न्याय से देखने पर इन सब में अविरोध ही ज्ञात होता है-अन्यथा यह भगवद्गीता का विरोध होगा-गीता में कहा गया है-

जहाँ जाकर पुनरागमन नहीं होता है वही मेरा परमधाम है। अथवा भक्ति को छुपाने वाली (या भक्ति की रसिका) यह लीला असुरों को मोहित करने के लिए है। जैसे द्वारिका आदि में द्विजशाप आदि को स्वीकार करना अथवा गोलोक में राधा और श्रीदामा का परस्पर शाप है वैसे ही इसे भी समझना चाहिए। नित्यधाम में जाने वाले सखा इसको नहीं जानते हैं। पुरुष रूप में प्रकट होने वाले कृष्ण के सखा रूप में आने वाले जैसे नित्यलीला में परमधाम में रहते हैं वैसे ही पार्षद जय और विजय भी भूमि पर आने पर नित्यधाम में भी रहते हैं। जैसे अक्रूरजी को यमुना तट पर अपने सेव्य श्रीकृष्ण के दर्शन करते हैं वैसे ही सुनन्द-नन्द प्रमुख विष्णु के पार्षद भी दर्शन करते हैं। यहाँ प्रमुख शब्द से जय और विजय का भी ग्रहण होता है। वहाँ प्रमुख शब्द से प्रह्लाद-नारद-वसु आदि का भी ग्रहण है। वसु अर्थात्

भीष्म। तब उस विष्णु की प्रकट होने से अप्रकट स्थिति भी बतलाई गई है।

जैसे आदिवराह में--

नित्य रहने वाले सब नित्य धाम में रहते हैं अन्य देवता भी नित्य रहते हैं।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जुषायां श्रीराधिकाधिक्यनिर्णययुक्तिः।।५।।

पुनरपि प्रकारान्तरेण समाधत्ते-''वैकुंठवासिनोर्जन्मे''त्यादिना। जयविजययोर्नित्यपार्षदयोर्विभूती तन्नामानावेव द्विजौत्तमौ प्राप्ततत्सायुज्यौ भगवदिच्छाप्रेरितसनकादिशापेन मृत्युलोके पातितौ। त्रिभिर्जन्मभिः संशुद्धौ सन्तौ पुनस्तत्सायुज्यं प्राप्तवन्तौ। अपापयोर्नित्यपार्षदयोस्तु वैकुंठ एव नित्यस्थितिरिति वामनादौ श्रूयते। श्रीसनकादीनां शापात्प्रागेव किल तौ परस्परं शप्त्वा स्वाधोगतेर्बीजमुप्तवन्तावास्ताम्। तावुद्दिश्यैवायं भगवदिच्छा-प्रेरितसनकादीनां शापस्तयोरेव च मृत्युलोके जन्म, नतु नित्ययोरित्यादि-पौराणिकेतिहासप्रामाण्येन प्रकृतेऽपि नित्यानित्यविषयकविरोधः परिहार्य इत्याह। पुनश्च गायत्री-चन्द्रकान्त्योः पाद्मोक्तेतिहासोदाहरणेन स्वोक्तं द्रढयति-''गायत्रीचन्द्रकान्ति''श्चेत्यादिना। ''प्राप्याप्यैश्वर्य्यं न लेभाते हि तत्सुख'' मिति-तल्लोकप्राप्त्यापि अंशिन्यः परब्रह्मस्वरूपायाः श्रीराधिकायाः प्रेमानन्दं न प्रापतुरित्यर्थः। फलितार्थमाह-''अनुग्रहाये''ति। भक्तानुग्रहैकहेतुका प्रकटलीला। अनुग्रहफलं च विशुद्धप्रेमावाप्तिः। न चेदुक्तप्रकारेण विरोध-परिहारः क्रियते तर्हि ''यद्गत्वा न निवर्त्तन्त''इति श्रीगीतावाक्यविरोधो दुष्परिहार्य इत्याह-''अन्यथा भगवद्गीते''त्यादिना। प्रकारान्तरेण सामञ्जस्यं ब्रूते-''अथवाऽसुरमोहाये''त्यादिना।

असुरव्यामोहनं हि विष्णोः शास्त्रे प्रसिद्धम्। ननु किमिदं व्यामोहनमिति चेदाह-'लीलेयं भक्तिगोपिनी'ति। श्रेयउपेक्षकानां प्रेयोमात्रे परमपुरुषार्थमन्यानां श्रीविष्णुभक्त्यधिकारबहिर्भूतानामासुरप्रकृत्तिवतां व्यामोहनायेत्यर्थः उक्तं च पुराणे-''द्वाविमौ पुरुषौ लोके दैवश्चासुरएवच। विष्णुभक्तिपरो देव आसुरस्तद्विपर्य्ययः''।।इति।। श्रीद्वारकायां वसतः श्रीकृष्णस्य यथा द्विजशापादिस्वीकारोऽसुरव्यामोहप्रयोजनकस्तथैव गोलोकधाम्न्यपि श्रीदाम-राधिकयोः परस्परशापोऽवगन्तव्यः। किन्तु तद्रहस्यं श्रीदामादि-भिस्तत्रत्यश्रीकृष्णसखिभिरपि न ज्ञातम्। तेषां सख्यभावस्य पुंभावकलितत्वात्तेन

हेतुना अन्तरङ्ग-श्रीराधिकालीलायामनधिकारात्। यदि नित्यलीलाया-मुक्तपार्षदयोर्नित्यसंस्थितिः स्वीकृता, तर्ह्यवतारकालेऽपि श्रीनिकुञ्जे तस्या नियतस्थितिः किमिति नो स्वीक्रियत इति प्रतिवादिनमनुयुङ्क्ते।-''यदिपार्ष-दयो''रित्यादिना। जयविजययोः शापभोगकालेऽपि वैकुंठे नित्यस्थितेः प्रमाण-मुपस्थापयति-''यथाऽक्रूरस्य यमुनाह्रदइत्यादि। तत्रत्येनैव वसुशब्देन भीष्मग्रहणमित्याह-प्रह्लादनारदवसुप्रमुखै'रित्यादिना। आदि वाराहवाक्येनोक्त-सिद्धान्तं द्रढयति-''नित्याः सर्वे परे धाम्नि'' इत्यादिना ''अत्र दिवौकस'' इत्यस्य नित्यवैकुंठपार्षदमात्रेऽर्थसंकोचः। तस्मात् ''कृताकृतप्रसङ्गी नित्य'' इति शाब्दिकपरिभाषान्यायेनापि नित्यानित्ययोर्नित्यस्य बलीयस्त्वाद्नित्येन तद्विरोधोऽयुक्त इतिफलितम्। **इति श्रीराधिकाधिक्यनिर्णययुक्तिः।।५।।**

पुनः प्रकारान्तर से समाधान करते हैं-''वैकुण्ठवासिनोर्जन्म'' इत्यादि के द्वारा प्रतिपादित करते हैं कि भगवान् की ही विभूति रूप नित्य पार्षद जय और विजय भगवान् से नित्य सायुज्य प्राप्त हैं किन्तु भगवान् की इच्छा से प्ररित सनकादि के शाप से मृत्युलोक में पतित हुए। तीन जन्मों से शुद्ध प्राप्त करके पुनः सायुज्य को प्राप्त हुए। वामन आदि पुराणों में कहा गया है कि पाप रहित नित्य पार्षदों की वैकुण्ठ में ही स्थिति होती है। श्रीसनकादि के शाप से पहले ही उन दोनों ने परस्पर शाप देकर अपनी अधोगति के बीज को बो दिया था। उनको उद्देश्य करके ही भगवदिच्छा से सनकादि का शाप हुआ, उन दोनों का मृत्युलोक में जन्म हुआ न कि नित्य का जन्म हुआ, ऐसा आदि पौराणिक इतिहास के प्रामाण्य से ज्ञात होता है-इसी प्रकार प्रकृत विषय में भी नित्य और अनित्य के विरोध का परिहार करना चाहिए।

पुनः पद्मपुराण में कहे गए इतिहास के अनुसार अपने मत को दृढ करते हैं-''गायत्री और चन्द्रकान्ति ने भक्तिभाव से श्रीराधिका को प्राप्त कर लिया लेकिन उसके ऐश्वर्य और उसके सुख को प्राप्त नहीं किया। श्रीराधिका के लोक को प्राप्त करके भी परब्रह्मस्वरूपा श्रीराधा के प्रेमानन्द को उन्होंने प्राप्त नहीं किया। इसका फलितार्थ यह है कि भक्तों पर अनुग्रह के लिए ही प्रकट लीला होती है और अनुग्रह का फल है विशुद्ध प्रेम की प्राप्ति। यदि इस प्रकार विरोध का परिहार नहीं किया जाएगा तब ''यद्गत्वा न निवर्तन्ते'' (जिस धाम में जाने पर कोई लौटता नहीं है) गीता के इस वाक्य का विरोध

भी अपरिहार्य रहेगा। प्रकारान्तर से सामञ्जस्य कहते हैं-भक्ति की रक्षा करने वाली यह लीला असुरों को व्यामोहित करने के लिए होती है। श्रेय की उपेक्षा करके प्रेयमात्र को ही परम पुरुषार्थ मानने वाले, श्रीविष्णु की भक्ति के अधिकार से बहिर्भूत आसुरी प्रवृत्ति वालों को व्यामोहित करने के लिए ही भगवान् की यह लीला होती है। पुराण में कहा गया है-इस लोक में देव और असुर ये दो पुरुष होते हैं-देव तो विष्णु भक्ति परायण होता है तथा असुर उससे विपरीत होता है। श्रीद्वारका में बसते हुए श्रीकृष्ण का द्विज शाप स्वीकार करना असुरों को व्यामोहित करने के लिए है वैसे ही गोलोकधाम में श्रीदामा और राधिका के परस्पर शाप को समझना चाहिए। किन्तु इसका रहस्य श्रीदामा आदि श्रीकृष्ण के सखाओं को भी ज्ञात नहीं हुआ क्योंकि वे सख्यभाव वाले पुंभाव से भरे हुए थे इस कारण श्रीराधा की अन्तरङ्ग लीलाओं में उनका अधिकार नहीं था। प्रतिवादी को अपरुद्ध किया जा रहा है-यदि नित्य लीला में जय और विजय पार्षदों की नित्य स्थिति स्वीकृत है तब अवतार काल में भी उनकी नित्य स्थिति क्यों नहीं स्वीकार की जावे-मूल में यही बात ''यदि पार्षदयोर्मुख्यागतयोर..'' इत्यादि के द्वारा कही गई है। जैसे अक्रूरजी को यमुना तट पर अपने सेव्य श्रीकृष्ण के दर्शन हुए हैं वैसे ही वैसे ही सुनन्द-नन्द, जय और विजय इन प्रमुख पार्षदों को भी अवतार लीला में श्रीकृष्ण के दर्शन हुए हैं। इसी प्रकार प्रह्लाद, नारद-वसु (भीष्म) आदि प्रमुखों को भी श्रीकृष्ण के दर्शन हुए हैं। आदि वराह के वाक्य से अपने उक्त सिद्धान्त को दृढ करते हैं--

परधाम में पार्षद आदि भी सभी नित्य हैं। ''कृताकृतप्रसङ्गीनित्यः'' (विधि करने पर भी उपस्थित रहे तथा विधि न करने पर भी जो उपस्थित हो वह नित्य है) शाब्दिकों की इस परिभाषा के न्याय से भी नित्य और अनित्य में नित्य ही बलवान् होता है इसलिए नित्य का अनित्य के साथ विरोध युक्ति संगत नहीं है-यह अर्थ फलित हुआ। इस प्रसङ्ग में यह अर्थ आया कि जिन पार्षदों की नित्य स्थिति परधाम गोलोक में हैं वे नित्य हैं क्योंकि वे नित्य लीला में भी रहते हैं तथा अनित्य लीला में भी रहते हैं-इसमें कोई विरोध नहीं है।

इति श्रीराधिकाधिक्यनिर्णययुक्तिः।।५।।

।। अथ श्रीराधानामनिरुक्तियुक्तिः ।।६ ।।

ननु सर्वप्रमाणानां महाराजशिरोमणौ ।
श्रीमद्भागवते राधा नामापि न क्वच्छ्रुतम् ।।
भारते हरिवंशे च तथा विष्णुपुराणके ।।
सत्त्यमेषामभिप्रायमिममत्रानुमीमहे ।। यथा--

त्रिविधाः खलु शब्दा हि प्रेक्षावद्भिः प्रकीर्त्तिताः । केचित्सुहृत्सम्मिताश्च केचिदीश्वरसम्मिताः । केचित्प्रियासम्मिताश्च त्रिवृद्भागवतं विदुरिति श्रीहरिलीलायां श्रीबोपदेवाः । तत्र--

सुहृदश्चेतिहासाद्या, वेदा ईश्वरसम्मिताः ।
मतं मधुरवाक्काव्यं वनितासम्मितं बुधैः ।।
सर्वत्रातिरहस्यस्य परोक्षकथनं हितम् ।। तथाहि-
परोक्षवादो वेदोऽयं परोक्षं श्रीहरेः प्रियम् ।
एतच्चतुर्हुतं चातुर्होतेत्याहुः परोक्षतः ।।
रहस्यातिरहस्यं तद्राधानाम कथं वदेत् ।
''परोक्षप्रिया ह वै देवा'' इत्यादिश्रुतेः ।।

यत्रान्यथास्थितोऽर्थः संगोपयितुमन्यथाकृत्वोच्यते स परोक्षवादः ।। दृश्यते चान्यत्रापि रहस्योपदेशेऽर्थान्तरसमाच्छन्नोक्तिः ।। यथा महाभारते जतुगृहं गच्छतः पाण्डवान् प्रति विदुरस्य ।। यथा वा षष्ठे हर्य्यश्वान्प्रति श्रीनारदस्य ।। यथा चोद्धवसन्देशे श्रीदशमे-''भवतीनां वियोग'' इत्यादिषु रहस्याया नित्यावस्थितेः संगोप्यैव श्रीगोपीः प्रति श्रीभगवत इति ।।

प्रश्न है कि सभी प्रमाणों में शिरोमणि श्रीमद्भागवत में राधा का नाम कहीं भी नहीं सुना गया है। महाभारत, श्रीहरिवंश एवं विष्णुपुराण में भी राधा का नाम नहीं है। यह बात सत्य है। हम इन सभी के अभिप्राय का अनुमान इस प्रकार करते हैं-जैसे--

बुद्धिमानों ने तीन प्रकार के शब्द कहे हैं। कुछ शब्द सुहृत्सम्मित, कुछ ईश्वर सम्मित और कुछ प्रिया सम्मित कहे गए हैं। श्रीबोपदेव ने श्रीहरिलीला में भागवत को तीनों प्रकार का माना है। इन शब्दों में इतिहास

आदि सुहृत् सम्मित हैं, वेद ईश्वर सम्मित हैं तथा मधुर वाणी वाले काव्य वनिता सम्मित है ऐसा विद्वानों का मत है। अत्यन्त रहस्य का सर्वत्र परोक्ष कथन ही हितकर होता है। तथा यह वेद परोक्षवाद है, परोक्षवाद हरि को प्रिय है। यह चतुर्हुत है-इसी को परोक्षवाद से चातुर्होता कहा है। राधा का नाम रहस्यों का अति रहस्य है-अतः उसे प्रत्यक्षतः कैसे कहें? श्रुति का वचन है कि ''परोक्षप्रिया हि वै दैवाः'' (देवता परोक्षप्रिय हैं) अर्थात् देवताओं का परोक्षवाद प्रिय है।

परोक्षवाद का अर्थ है जहाँ कोई अर्थ अन्यथारूप से स्थित है, उसे छिपाने के लिए अन्यरूप से परिवर्तन करके कहना।

अन्य स्थान पर भी रहस्य उपदेश के लिए यह छिपाकर कहना देखा जाता है। जैसे महाभारत में लाक्षागृह में जाते हुए पाण्डवों के प्रति विदुर की उक्ति। जैसे भागवत के षष्ठ अध्याय में हर्यश्वों के प्रति श्रीनारद की उक्ति। और जैसे उद्धव सन्देश में (दशम स्कन्ध में)-भवतीनां वियोग (आप सब का वियोग) रहस्यरूपा नित्य स्थिति को छिपाकर श्रीगोपियों के प्रति भगवान् की उक्ति।

।। अथ श्रीराधानामनिरूक्तियुक्तिः ।।६।।

इत्थं श्रीराधिकायाः श्रीकृष्णस्वरूपत्वं तदभिन्नत्वं च शास्त्रप्रमाणोपन्यासपूर्वकं साधयित्वा आक्षेपान्तरमुत्थापयति- नन्विति। ननु श्रीराधिकाया नामापि सर्वप्रमाणशिरोमणौ श्रीमद्भागवते, हरिवंश-महाभारत-विष्णुपुराणादिषु च सर्वशिष्टैः प्रमाणत्वेन गृहीतेषु न क्वचिच्छ्रूयते, किं पुनस्तस्याः प्रोक्तस्वरूपत्वम्। प्रमाणभूतागमेष्वनुल्लिखितत्वेन भवतामियं श्रीराधिका स्वमत्युत्प्रेक्षितेति प्रतिभातीति चेत्तत्रोत्तरमाह-''सत्य''मित्यादि। अवश्यवक्तव्यस्याप्यर्थस्य स्पष्टानुल्लेखनमभिप्रायविशेषेण सम्भवति। तथा ह्युक्तं श्रीबोपदेवैः श्रीहरिलीलामृते यत्प्रेक्षावद्भिः शब्दाः खलु सुहृत्संमिता ईश्वरसम्मिताः प्रियासम्मिताश्चेति त्रिविधा मताः तत्रेतिहासाः सुहृत्सम्मिताः। वेदा ईश्वरसम्मिताः। मधुरवाक्काव्यं तु बुधैर्वनितासम्मितं मतम्। श्रीमद्भागवतं हि त्रिविधशब्दात्मकम्। वनिता संमितत्वादेव तत्स्वभावानुसारेण सर्वत्रातिरहस्यपरोक्षकथनमेव हितं रसावहं च मनुते मधुरवाक्काव्यमित्यभिप्राय इति। वनितोत्सवरूपशीलस्य श्रीकृष्णस्य अतुल्यातिशयैश्वर्य्यमाधुर्य्यवतोऽतिरहस्यभूतायास्तस्याः कविता-वनितापि

स्वस्वभावमनुल्लंघ्यैवोल्लेखनं कर्त्तुमर्हति परोक्षतयैव। तस्माद्रहस्यातिरहस्यं श्रीराधानाम श्रीमद्भागवतं कथं वदेदिति नामानुक्तौ महापुराणस्याशय इत्यर्थः। 'परोक्षप्रिया ह वै देवाः प्रत्यक्षद्विष'इति श्रुतेस्तथा ''परोक्षवादो वेदो हि परोक्षं श्रीहरेः प्रिय''मित्यादि श्रीभागवतोक्तेरपि श्रीहरेः परोक्षप्रियत्वमवगम्यते। ननु कोऽयं परोक्षवाद इति जिज्ञासायां तत्स्वरूपं व्याचष्टे-''यत्र''त्यादिना। परोक्ष-वादस्य कतिपयोदाहरणान्युपस्थापयति-यथेत्यादिना।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां श्रीराधानाम निरूक्तियुक्तिः।।

इस प्रकार श्रीराधा को श्रीकृष्णस्वरूपा एवं उससे अभिन्न शास्त्र प्रमाण उपन्यास पूर्वक सिद्ध करके अन्य आक्षेप उठा रहे हैं-''नन्विति'' आक्षेप यह है कि जब श्रीराधा का नाम सर्व प्रमाण शिरोमणि श्रीमद्भागवत-पुराण, हरिवंशपुराण, महाभारत एवं श्रीविष्णुपुराण आदि ग्रन्थों (जो शिष्टों के द्वारा प्रमाणित कोटि में स्वीकृत हैं) में नहीं सुना जाता है तब उसको श्रीकृष्ण स्वरूप या अभिन्न सिद्ध करने का औचित्य क्या है? प्रमाण स्वरूप आगम ग्रन्थों में भी श्रीराधा का कोई उल्लेख नहीं है अतः आपकी यह श्रीराधा आपके द्वारा स्वयं उत्प्रेक्षित है-ऐसा प्रतीत होता है-यदि इस प्रकार कोई कहे तब इसका उत्तर दिया जाता है-''सत्यमित्यादि'' के द्वारा। अवश्य रूप से कहने योग्य अर्थ का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख न करना अभिप्राय विशेष से सम्भव है। जैसा कि श्रीहरिलीलामृत ग्रन्थ में बोपदेव ने कहा कि विद्वानों ने शब्दों को तीन भागों में विभक्त किया है-सुहृत्संमित, ईश्वर सम्मित एवं प्रियासम्मित। इनमें इतिहास ग्रन्थ सुहृत्सम्मित शब्द हैं। वेद ईश्वर सम्मित है तथा मधुरवाणी में निबद्ध काव्य कान्ता सम्मित हैं। श्रीमद्भागवत त्रिविध शब्दात्मक है अर्थात् भागवत पुराण-इतिहास आदि समान सुहृत्सम्मित भी है (सुहृत्सम्मित शब्दों के द्वारा हित और अहित की बात कह दी जाती है-हित का इच्छुक वैसा करें तथा अहित का इच्छुक वैसा न करें-यह करने वाले पर छोड़ दी जाती है)। यह पुराण ईश्वर सम्मित शब्द भी है (ईश्वरसम्मित का तात्पर्य जो कहा गया है वह अवश्य ही करने योग्य है न करने पर दण्ड विधान है)। यह पुराण वनिता सम्मित शब्द भी है। वनिता सम्मित होने के करण उसके स्वभाव के अनुसार अति रहस्य को

चतुर्द्धा परावरयोरभेदं दर्शयति कार्यकारणत्वेन, चित्साम्येन, अधिष्ठानाधिष्ठेयत्वेन, अहं ग्रहेण चेति। चतुर्षु प्रकारेषु यथास्वं मन्तव्यम्। चतुर्णामपि तेषां शास्त्रोक्तत्वादितिभावः। ''तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः,'' ''तत्त्वमसि,'' ''साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी,'' ''अहं ब्रह्मास्मि''इत्यादिशास्त्रम्। उक्तसतीवाक्याभिप्रायं श्रीराघवेन्द्रसरस्वती-पादवचसा विशदयति-''यत्राराध्या''मित्यादिना। प्रकारान्तरेण तद्वाक्यार्थं स्पष्टयति-''अपर्णा लीलावतारो यस्या''इतीयं विभूतियोगकृता विपर्य्यसोक्तिर्ज्ञेया, ''वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मी''तिवदभेदविवक्षया। परव्यूहविलासविभूतीनां श्रीवैष्णवमतेऽभेदस्वीकारादुक्तसतीवाक्येन प्रकृतसिद्धान्तस्य न विरोधः। विभूतिर्द्विप्रकारा। स्वरूपात्मिका स्वांशादिरूपा च। तत्र स्वरूपात्मिकायास्तस्याः स्वरूपेणाभेदो ह्युपपन्नः। स्वांशादिरूपायास्तु तेन सह भेदाभेद इति विवेकः।

मत्स्यपुराण में दुर्गा की विभूति के रूप में राधा को कहा गया है। यह कैसे? श्रीभागवत में कहे गए सती के वाक्य से समाधान करते हैं-जो मथुरा में देवकी, पाताल में परमेश्वरी, चित्रकूट में सीता, वन्ध्य में विन्द्यवासिनी, द्वारिका में रुक्मिणी और वृन्दावन में वही राधा। ''अयमत्राशयः''-यह कहकर मूल में समाधान दिया है (अर्थ मूल के हिन्दी अनुवाद में देखना चाहिए) उत्कृष्ट का अवर के साथ अभेद कहना यह परमात्मा के साथ अपना अभेद मानकर देवेन्द्र-वामदेव आदि के समान सङ्गत होता है। वेदान्तसूत्र न्याय के समाधान कहते हैं। कार्यकारण भाव से (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) चित् साम्य से (तत्त्वमसि) अधिष्ठानाधिष्ठेय भाव से (सर्वं समाप्नोषि तेतोऽसि सर्वम्) अहंग्रह भाव से (सोऽहम्)। इन चारों प्रकारों में अपने अनुसार मन्तव्य समझना चाहिए। चारों ही वाक्य शास्त्रोक्त है। आरम्भण शब्दादि से अनन्यता है। ''तत्त्वमसि, साक्षाद् ब्रह्म गोपालपुरी'', ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्यादि शास्त्र अभेद के प्रतिपादक हैं।

''मथुरा में देवी..'' सती के इस वाक्य का विस्तार श्रीराघवेन्द्र सरस्वती के वचन से करते हैं-''यत्राराध्यां विदग्धां..'' (वृषभानुकी आत्मजा श्रीराधा को अपने हृदय में विराजमान करके श्रीकृष्ण ने परम आनन्द प्राप्त किया)। प्रकारान्तर से उस वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करते हैं-श्रीराधा का ही लीलावतार अपर्णा (श्रीपार्वती) है-ऐसा मत्स्यपुराण में कहा है। विभूतियों

के अनुसार इस विपर्य्यास उक्ति को वैसे ही समझना चाहिए जैसे अभेद दृष्टि से कहा गया है कि ''मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ।'' वैष्णव मत में पर व्यूह की विलास विभूतियों का पर के साथ अभेद माना गया है। इसलिए सती के जो मथुरा की देवीकी.. वही वृन्दावन में राधा इस वाक्य से प्रकृत सिद्धान्त का विरोध नहीं होता है। विभूतियाँ दो प्रकार की होती हैं- स्वरूपात्मिका और स्वांशादिरूपा। स्वरूपात्मिका विभूतियों का स्वरूप से अभेद संगत होता है। स्वांशादिरूप विभूतियों का स्वांश से अभेद होता है।

ननु- कथमाडंबरो भूयान् क्रियते पाद्मसंज्ञके ।
राधिकायाः पूर्वजन्म चन्द्रकान्तिरिति श्रुतम् ।।
एकादश्याः प्रभावेण संप्राप्ता श्रीहरिं पतिम् ।।

तस्या मनोरथो यथा--

''सतीष्वन्यासु नारीषु जगन्मोहनरूपधृक् ।
मय्येवातिप्रीतिमांश्च नृत्यंतां भगवान् मया ।।
इत्थं मनोरथं तस्या गोपो नन्दव्रजेऽभवत् ।।
वृषभानुरिति ख्यातो गोपो नन्दव्रजेऽभवत् ।।
तस्य कन्या वरारोहा राधा नाम्न्यभवत्पुरा ।
या चन्द्रकान्तिरित्यासीदित्येतत्कथितं मया ।।

तथा- सा नृत्यमानाद्भुतगोपरूपिणी कृष्णेन जन्मान्तरभाववांछया ।।
राधामहाप्रेमजवाकुलेन्द्रिया निन्येऽन्यलोकं कथया कृतार्थताम् ।।''

अत्रोच्यते सा विभूतिस्तयाहमिति स्वीकृता ।
श्रीमदुज्ज्वलटीकायां दर्शितं जीवस्वामिभिः ।।
तथाहि--''यथा राधा प्रिया विष्णोःकुंडं तस्यास्तथा प्रियम् ।।''

इत्यादि ।। तत्रान्यत्र च वाक्यशतैस्तस्याः सर्वाधिक्ये स्वरूपभूतत्वे च सति तामधिकृत्य यदितिहासान्तरं तद्विभूतिरूपायास्तत्रैक्यावाप्त्यपेक्षया ।। यथा तत्रैव कस्यचिदृषे ऋतधामशर्म्मणः श्रीनारायणप्राप्तिरुक्ता तद्वत् ।। यद्वा-विभूतिरूपतया स्वैकाश्रितायास्तस्याः साधनसाध्यरूपं यत्किंचित्तत्सर्वमतिकृपया श्रीराधया देव्या स्वीयत्वेनैव मतमिति देवर्षिणापि तदभेदेनैव तथैव वर्णितमिति ज्ञेयम् ।। अस्यां च जातिकृतापकर्षः श्रीनारदस्य दासीसुतजन्मवद्गन्धर्वेषु जन्मवच्च समाधेयः ।।

आचारापकर्षश्च श्रीगरुडादेः पक्षिसाधारण्येन सर्प्पभक्षणादिवत्समाधेयः ।। एवमभेदोक्तिरपि ''संस्तुन्वतोऽब्धिपतितान् श्रमणानृषींश्चे'' त्येकादशात् ।। अस्यास्तादृशी सिद्धिश्च रागानुगाख्यसाधनावेशादिति सा रसामृतसिन्धौ तथोदाहृतत्वात् ।। तथाहि ''इत्थं मनोरथं बाला कुर्वती नृत्य उत्सुका'' इत्यादिसर्वमनवद्यम् ।। वस्तुतस्तु-यो नन्दव्रजे श्रीवृषभानुनामा गोपो भवति ब्रह्मापि सोऽभवत् ।। या च नित्यं तस्यैव कन्या वरारोहा श्रीराधानाम्नी भवति, चन्द्रकान्तिरपि साऽभवत् ।। तेन तया च सह अभेदं प्रापेत्यर्थः ।। प्रकटलीलायामिति शेषः ।। श्री वैष्णवतोषणीव्याख्यानुसारेण द्रोणधराधिन्यायोऽत्रानुसन्धेयः ।। अन्यथोपासनाशास्त्रं पूर्वोक्ततत्तद्वाक्यजातं च सर्वमपि निरर्थकं स्यादिति दिक् ।।

प्रश्न-

पद्मपुराण में यह महान् आडम्बर कैसे किया गया है कि राधिका का पूर्व जन्म चन्द्रकान्ति के रूप में सुना गया है तथा उसने एकादशी के प्रभाव से श्रीहरि को पति के रूप में प्राप्त किया।

उसका मनोरथ इस प्रकार था--

अन्य नारियों के रहते जगत् को मोहित करने वाले रूप को धारण करने वाला भगवान् मेरे में ही अतिशय प्रीतिमान् होकर मेरे साथ नृत्य करे। पितामह (ब्रह्मा) ने उसके इस मनोरथ का अनुमोदन करके स्वयं नन्द व्रजभूमि में वृषभानु नाम के गोप के रूप में प्रकट हुए उनके राधा नाम की श्रेष्ठ कन्या हुई, वही पूर्व में चन्द्रकान्ति नाम से थी-यह मैंने कहा।

तथा-जन्मान्तर भाव की इच्छा से अद्भुत गोपी रूप धारण करने वाली वह राधा महाप्रेम के वेग से व्याकुलेन्द्रिय वाली होते हुए नृत्य करती हुई, उसने कथा से अन्य लोक में सार्थकता को प्रकट कर दिया।

वह (चन्द्रकान्ति) विभूति है उसके साथ मैं (राधा) स्वीकृत हूँ। यह बात उज्ज्वल टीका में जीव गोस्वामी ने प्रदर्शित की है। जैसे कि कहा है-विष्णु को जिस प्रकार राधा प्रिया है वैसे ही उसका कुण्ड (राधा कुण्ड) भी प्रिय है। इत्यादि। सात्वत् संहिता एवं पद्मपुराण आदि में तथा अन्यत्र सैंकड़ों वाक्यों से उसका (राधा का) स्वरूपाधिक्य एवं स्वरूप स्वरूपा

होना सिद्ध होने पर उसको आधार बनाकर जो इतिहासान्तर कहा गया है वह उसकी विभूति की एकरूपता सिद्ध करने के लिए है। जैसे कि वहीं ऋषि ऋतधाम शर्मा की श्रीनारायण की प्राप्ति कही गई है वैसे ही यहाँ समझना चाहिए।

अथवा विभूतिरूपा एवं आश्रित उस चन्द्रकान्ति को श्रीराधा ने साध्य साधन के रूप में अपनी कृपा से स्वीकार किया है-ऐसा समझना चाहिए क्योंकि देवर्षि नारद ने भी उसका अभेद रूप में ही वर्णन किया है। इस विषय में जैसे नारदजी का दासीपुत्र के रूप में एवं गन्धर्वों में जन्म हुआ है-वह नारद का जाति अपकर्ष है वैसे ही श्रीराधा का अन्य विभूतियों के रूप में प्रकट होना जाति अपकर्ष है। आचार की अपकर्षता का समाधान गरुड़ आदि का पक्षी के रूप में सर्पभक्षण आदि के समान करना चाहिए। इसी प्रकार अभेद कथन भी है-संसार सागर में पड़े हुए स्तुति करते हुए श्रमण और ऋषियों को.. एकादश स्कन्ध में ऐसा कहा गया है। रसामृतसिन्धु में जैसे कहा गया है-इस चन्द्रकान्ति की इस प्रकार की सिद्धि ''राग'' नामक साधन से ही हो सकती है। इसलिए-वह बाला चन्द्रकान्ति इस प्रकार (श्रीकृष्ण के साथ नृत्य का) मनोरथ करती हुई नृत्य में उत्सुक हुई-यह सब विवेचन संगत है। वस्तुतः तो नन्द व्रज में श्रीवृषभानु नाम का गोप होता है ब्रह्मा भी वही था। जो नित्य उसकी ही श्रेष्ठ कन्या श्रीराधा नाम वाली प्रकट होती है चन्द्रकान्ति भी वही थी। इससे ज्ञात होता है कि उसके साथ वह अभेद को प्राप्त हो गई। यह अर्थ है। प्रकट लीला में यह शेष है-तात्पर्य है कि प्रकट लीला में श्रीकृष्णस्वरूपा स्वरूपशक्ति राधा ही प्रकट होती है। श्रीवैष्णवतोषिणी की व्याख्या के अनुसार यहाँ द्रोणधराधिन्याय का अनुसन्धान करना चाहिए। अन्यथा उपासना शास्त्र तथा पूर्वोक्त यह वाक्य समुदाय सब निरर्थक हो जाएगा।

पुनरपि पाद्मोक्तचन्द्रकान्तीतिहासावष्टंभेन श्रीराधिकाया उक्तस्वरूपगुणत्वमाक्षिप्य परिहरति-''कथमाडंबरो भूया''निति। तत्समाधानप्रकारमाह-'अत्रोच्यते सा विभूतिस्तयाहमिति स्वीकृते'त्यादिना। भक्तानुग्रहवैवश्येन परस्यापि तत्प्रकारकस्वीकरणं घटत इति भावः। एतादृशेतिहासानां नित्यस्वरूपसिद्धान्ताविरोधेन सङ्गतिं दर्शयति-''तत्रान्यत्र च वाक्यशतैस्त-

स्याः सर्वाधिक्ये स्वरूपभूतत्वे च सुसिद्धे, तामधिकृत्य यदितिहासान्तरं तद् विभूतिरूपायास्तत्रैक्यावाप्त्यपेक्षये''ति श्रीजीवगोस्वामिवाक्येन। समाधानान्तरमाह-'यद्वे' त्यादिना। कल्पभेदेनेतिहासभेदो घटत इति प्रकृतेऽपि द्रोणधरान्यायानुसन्धानान्न कोऽपि विरोधइत्याह-''वस्तुत''स्त्वित्यादीना। इदमत्र तथ्यम्-ब्रह्मापि कस्मिंश्चित्कल्पे श्रीवृषभानुनामा गोपोऽभूत्। तस्य ब्रह्मणो वृषभानोश्चन्द्रकान्तिरपि राधानाम्नैव कन्याऽभवत्। नित्यराधया च सहाभेदं प्राप। यथा श्रीकृष्णस्य श्रीयशोदानन्दौ नित्यावेव मातापितरौ, तद्भावाभिनिवेशेन कस्मिंश्चित् कल्पे धराद्रोणावपि यशोदानन्दाभेदप्रकटलीलायां प्रापतुर्नैतावता यशोदानन्दयोर्नित्य-श्रीकृष्णपितृत्वप्रतिपादकवाक्यानां विरोधः। तयोर्नित्यत्वात्तदन्ययोस्तत्सायुज्यंगतयोस्तद्विभूतित्वात्। न चेदित्थं नित्यानित्ययोरविरोधोऽङ्गीक्रियते तर्हि तन्नित्यत्वासमोर्द्धपारम्यप्रतिपादकम् उपासनाशास्त्रं पूर्वोक्तं तत्तद्वाक्यजातं च सर्वमपि निरर्थकं स्यादिति ध्येयमित्याह-''अन्यथे''त्यादिना।

पुनः पद्मपुराण में चन्द्रकान्ति के इतिहास से श्रीराधा के उक्त स्वरूप में गौण होने का आक्षेप करके उसका परिहार करते हुए लिखा है-''कथमाढम्बरो भूयान्'' (इस इतिहास में कहा गया है कि चन्द्रकान्ति ही ब्रह्मा के अनुग्रह से वृषभानुसुता राधा के रूप में प्रकट हुई)। उसके समाधान का प्रकार कहते हैं-वह चन्द्रकान्ति है उस विभूति से मैं (राधा) स्वीकृत हुई। भाव यह है कि भक्तों पर किए जाने वाले अनुग्रह के पराधीन होकर परस्वरूप राधा-कृष्ण आदि भी इस प्रकार अन्य अवर रूपों में प्रकट होना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के इतिहासों का नित्य स्वरूप सिद्धान्त से अविरोध कैसे हो-इसकी सङ्गति दिखलाते हैं-''यथा राधा प्रियाविष्णोः कुण्डं तस्यास्तथाप्रियम्'' (विष्णु को जिस प्रकार राधा प्रिय है उसी प्रकार राधाजी का कुण्ड भी प्रिय है) जीव गोस्वामी के इस वाक्य से तथा इसी प्रकार के अन्य सैंकड़ों वाक्यों से श्रीराधा के सर्वाधिक्य एवं स्वरूपभूत होना सिद्ध होने पर, उस राधा के विषय में जो अन्य इतिहास उपलब्ध होता है वह उस विभूति रूपा के साथ उसका ऐक्य प्रतिपादित करके की अपेक्षा से ही है। अन्य समाधान भी देते हैं ''यद्वा..'' अथवा कल्पभेद से इतिहास में भेद घटित होता है-उसी प्रकार प्रकृत में भी द्रोणधराधिन्याय के अनुसन्धान

से कोई विरोध नहीं है-वस्तुतस्तु.. कहकर यही बात कही गई है (जो नन्द के व्रज में वृषभानु गोप है वह ब्रह्मा भी हुआ। जो नित्य उसकी कन्या श्रीराधा नाम की है वही चन्द्रकान्ति भी थी। तात्पर्य है कि वृषभानु और ब्रह्मा में अभेद है, राधा और चन्द्रकान्ति में अभेद है)।

यहाँ तथ्य यह है कि ब्रह्मा भी किसी कल्प में वृषभानु गोप हुआ। उस ब्रह्मा वृषभानु के चन्द्रकान्ति भी राधा नाम की कन्या हुई। इनका (चन्द्रकान्ति और वृषभानुसुता राधा का) नित्य राधा से अभेद प्राप्त हुआ। जैसे श्रीकृष्ण के श्रीयशोदा और नन्द नित्य ही माता-पिता हैं, उसी भाव के अभिनिवेश से किसी कल्प में प्रकटलीला में यशोदा और नन्द भले ही अभेद को प्राप्त करें किन्तु इससे यशोदा और नन्द का नित्य श्रीकृष्ण के माता-पिता होने के प्रतिपादक वाक्यों का विरोध नहीं होता है। वे तो नित्य हैं उनसे भिन्न (अनित्य यशोदा-नन्द) किन्तु उनसे सायुज्य प्राप्त उनकी विभूति होने से विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार यदि नित्य और अनित्य का अविरोध स्वीकार नहीं किया जाएगा तब उनके नित्य असमोर्द्ध और परम सिद्ध करने वाले पूर्वोक्त सभी वाक्य निरर्थक हो जाएंगे। यही बात मूल में ''अन्यथोपासना-शास्त्रं..'' इत्यादि के द्वारा कही गई है।

वस्तुतस्त्वित्थमेवोक्तं मूलरामायणे स्फुटम् ।।

''कन्यासीद्विप्रवर्य्यस्य नाम्ना वेदवती सती ।
अकामां चकमे तां तु रावणः सुतलं गतः ।।
शप्त्वा तं सैव संजाता तद्वधाय निमेः कुले ।
सीरध्वजस्य सीराग्राद्यज्ञभूमाविति श्रुतम् ।।
सीतानाम्नी प्रणीता सा राघवाय महात्मने ।
सैवोक्ता रामचन्द्रस्य ज्योत्स्नावदनपायिनी ।।
प्रभावाद्भास्करस्येति पाद्मादौ नित्ययोगिनी ।
राघवत्वेऽभवत्सीता मात्स्योक्तं प्राक्प्रदर्शितम् ।।
तदेवं प्रकटा लीला नित्यं योगवियोगभाक् ।
तदर्थं साधकांशेन मिलितोक्त्या न दुष्यति ।।
नित्ययोगस्तथा राधा चन्द्रकान्तिरितीरिता ।
अन्यथा 'राधया देवो', 'राधामाधवरूपकम् ।।'

ज्योतिरेकमितीत्यादिवाक्यजातं विरुद्ध्यत ।।इतिसंक्षेपः''

वस्तुतः तो मूल रामायण में भी स्पष्ट कहा है--

''विप्रवर्य की वेदवती नाम की कन्या थी। सुतल (भुवनों का एक भेद) पर गए हुए रावण ने काम रहित उस कन्या की कामना की। उस कन्या ने उसको शाप दिया और उसके वध के लिए निमि के कुल में सीरध्वज (जनक) के सीर के अग्रभाग (हल के अग्रभाग) से यज्ञभूमि में प्रकट हुई ऐसा सुना जाता है। वह सीता नाम की कन्या महात्मा राघव को प्रदान की गई। वह सूर्य की प्रभा एवं चन्द्रमा की चाँदनी के समान रामचन्द्र से अभिन्न कही गई। रामचन्द्र के साथ नित्य योगिनी वही उनके राघव रूप में आने पर सीता हुई-ऐसा पद्मपुराण एवं मत्स्यपुराण आदि में कहा गया है। इस प्रकार नित्ययोग को वियुक्त करने वाली प्रकट लीला हुई। उसके लिए ही (प्रकट लीला को कहने के लिए ही) साधक अंश के साथ मिलित उक्तियाँ दूषित नहीं होती हैं। वैसे ही नित्ययोग वाली राधा भी चन्द्रकान्ति कही गई है। अन्यथा ''राधया देवो (माधव राधा से युक्त है) ''राधामाधवरूपकम् ज्योतिरेकम्-(एक ही ज्योति राधामाधव रूप है)-ये वाक्य परस्पर विरुद्ध हो जायेंगे-इति संक्षेपः।

नित्यस्वरूपायाः श्रीसीताया, भास्करस्य-प्रभावाच्छ्रीरामस्य नित्यानपायिन्या अपि तादृशमितिहासान्तरं मूलरामायणे स्फुटं लभ्यत इति तदुदाहरति-कन्यासीदित्यादिना। सा हि सीता पूर्वस्मिन् जन्मनि कस्यचिद्विप्रवर्य्यस्य वेदवतीनाम्नी कन्याऽऽसीत्। तामकामां रावणश्चकमे। तदा तं शप्त्वा सैव सीरध्वजस्य सीराग्राद्यज्ञभूमौ सीतेति नाम्ना प्रकटाऽभूदिति। तत्रैवंविधेतिहासानां तन्नित्यत्वानपायित्वप्रतिपादकशास्त्रेणाविरोधप्रकारं दर्शयति- ''तदेवं प्रकटा लीले''त्यादिना। निगमयति-प्रकटलीलायां नित्यानपायिस्वरूपस्य साधकांशेन मिलितोक्त्या न तन्नित्यत्वानपायित्वप्रतिपादकशास्त्रं दुष्यतीति। यतः प्रकटलीलागतसाधकांशो नित्यं योगवियोगभाङ् न तस्य नित्यानपायित्वमित्यर्थः। अन्यथा-''राधया माधवो देवो०'' ''आत्मा तु राधिका तस्य०'' ''यथा हि क्षीरे-धावल्यं०'' ''एकामूर्त्तिर्द्विधाभिन्ना,'' ''यस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा०'' ''सैव सा स सैवास्ति,'' ''परब्रह्मस्वरूपा सा परमानन्ददायिनी''इत्यादितन्नित्ययोगतदभेदप्रतिपादकशास्त्रविरोधो दुर्वार

इतिसंक्षेप इत्याह।

भास्कर की प्रभा के समान श्रीराम से नित्य अनपायिनी नित्य स्वरूपा श्रीसीताजी का भी मूलरामायण में स्पष्ट रूप से अन्य प्रकार का इतिहास मिलता है-उसे उद्धृत करते हैं-वह सीता पूर्व जन्म में किसी श्रेष्ठ विप्र की वेदवती नाम की कन्या थी। कामना रहित उस कन्या को रावण ने चाहा। तब उस रावण को शाप देकर वह कन्या सीरध्वज राजा की यज्ञभूमि में सीर के (हल की फाल के) अग्रभाग से सीता के नाम से प्रकट हुई। अनित्यत्व सिद्ध करने वाले इन इतिहासों का नित्य और अनिपायित्व सिद्ध करने वाले शास्त्र के वचनों से अविरोध के प्रकार को दिखलाते हैं-''तदेवं प्रकटालीला..'' प्रकटलीला में अनित्यत्व दिखता है तथा नित्यलीला में नित्यत्व दिखता है। निगमन करते हुए कहते हैं कि प्रकटलीला में नित्य और अनपायित्वस्वरूप का साधकांश से मिलित उक्ति से उसके नित्य और अनपायित्व रूप को प्रतिपादित करने वाला शास्त्र दूषित नहीं होता है। क्योंकि प्रकट लीलागत साधकांश नित्यत्व योग और वियोग वाला होता है न कि नित्य और अनपायित्व अर्थ वाला। अन्यथा ''राधा से माधव देव'' ''राधा उस कृष्ण की आत्मा है'' ''जैसे दुग्ध में धवलता है'' ''एक ही मूर्ति दो प्रकार से विभक्त है'' ''जिस कारण एक ही ज्योति दो रूपों में प्रकट हुई'' ''वह राधा श्रीकृष्ण है, श्रीकृष्ण राधा है'' ''परब्रह्मस्वरूपा वह राधा परमानन्ददायिनी है'' इत्यादि द्वारा राधा और श्रीकृष्ण के नित्ययोग एवं अभेद प्रतिपादक शास्त्र के विरोध से बचा नहीं जा सकता है।

किमेतदुच्यते चित्रमपूर्वमिति चेच्छृणु ।।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म सनकादिप्रकोपनम् ।
जातं भगवदिच्छातस्तादृगत्रापि कारणम् ।।
तयोर्विभूती विजयो जयश्चापि द्विजोत्तमौ ।।
परस्परस्य शापेन प्रापितावधमां तनुम् ।
शापोद्धारोऽभिलषितो हरिणा न प्रसादितः ।।
तयोर्हिताय नो ताभ्यामनुभूतोऽयमाशयः ।
कुंठितो मानसो भावः कामितस्य विघाततः ।।
नित्यपार्षदसायुज्ये लब्धेऽपि स तथा स्थितः ।

शापव्याजेन विप्राणां प्रभुणैव निराकृतः ।।
तावपेक्ष्यैव शापोऽयमपापौ नित्यपार्षदौ ।
जन्मभिर्मन्युयोगेन गतौ तावेव शोधितौ ।।
जन्मभिरिति बहुत्वं कपिंजलन्यायेन त्रित्वपर्यवसायि ।।
इदमित्थं वामनादौ पाद्मादौ च तथा श्रुतम् ।।
गायत्री चन्द्रकान्तिश्च भक्तिभावेन राधिकाम् ।
प्राप्यापि हि तदैश्वर्य्यं न लेभाते हि तत्सुखम् ।।
तस्यास्तस्याश्च तोषाय लीलेयं भक्तिपोषका ।
अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः ।।
इति न्यायानुसन्धानादविरोधोऽवधार्यते ।
अन्यथा भगवद्गीताविरोधः स यथोच्यते ।
'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम' ।।
अथवाऽसुरमोहाय लीलेयं भक्तिगोपनी ।
द्विजशापादिस्वीकारो यथा श्रीद्वारकादिषु ।।
गोलोके राधिका-दाम्नोस्तथेदमपि बुध्यताम् ।
अपि चेदं न जानन्ति सखायो नित्यधामगाः ।।
पुंभावकृष्णसख्यत्वरूपभावान्तरावृतेः ।
यदि पार्षदयोर्भुव्यागतयोर्धाम्नि संस्थितिः ।।
स्वीकृता नित्यलीलायां किमत्र नहि सा भवेत् ।
यथाऽक्रूरस्य यमुनाह्रदे स्व-सेव्यदर्शनम् ।।
सुनन्द-नन्दप्रमुखैर्विष्णुपार्षदैरिति ।।
अत्र प्रमुखशब्देन तयो(र्जयविजययो) रपिग्रहणम् ।।

तत्रैव प्रह्लादनारदवसुप्रमुखैरित्यपि ।। वसु भीष्मः ।। तदानीं तस्य प्रकटं विद्यमानत्वादप्रकृटस्थितिरपि दर्शिता ।। तथा चादिवाराहे-

''नित्याः सर्वे परे धाम्नि ये चान्ये च दिवौकसः ।।''

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां श्रीराधिकाधिक्यनिर्णय-युक्तिः ।।५।।

यह अपूर्व और विचित्र बात क्या कही जा रही है यदि ऐसा है तो आप सुने--

भगवान् की इच्छा से सनकादि के कोप से वैकुण्ठवासी जय और विजय का जन्म हुआ-वैसे ही यहाँ भी भगवान् की इच्छा ही कारण है।

राधा-माधव की विभूति स्वरूप द्विज श्रेष्ठ विजय और जय परस्पर के शाप से अधम शरीर को प्राप्त हो गए। उन दोनों ने शाप से उद्धार चाहा किन्तु हरि ने इसका अनुमोदन नहीं किया। यह उनके हित के लिए ही किया गया, किन्तु उन्होंने इसका अनुभव नहीं किया-यह आशय है। इच्छित कार्य (शापोद्धार) में प्राप्तविघ्न से उनका मानस भाव कुण्ठित हो गया। नित्य पार्षद सायुज्य प्राप्त होने पर भी वह शाप वैसा ही रहा। विप्रों के शाप के बहाने से प्रभु ने उसे (शापोद्धार) को निराकृत कर दिया। शाप की अपेक्षा से पाप रहित नित्य पार्षदों ने बहुत से जन्म लेकर उस शाप को शोधित किया। कपिञ्जल न्याय (तीन बार आवृत्ति) से बहुत जन्मों से तात्पर्य तीन जन्म प्राप्त करना है। इस प्रकार वामन और पद्मपुराण आदि में सुना है। गायत्री और चन्द्रकान्ति भक्ति भाव से राधिका को प्राप्त करके भी उस ऐश्वर्य और सुख को वे प्राप्त नहीं करती हैं। उनके सन्तोष के लिए ही भक्ति का पोषण करने वाली यह लीला होती है। भक्तों पर अनुग्रह के लिए ही यह मानुष देह धारण की जाती है-इस न्याय से देखने पर इन सब में अविरोध ही ज्ञात होता है-अन्यथा यह भगवद्गीता का विरोध होगा-गीता में कहा गया है-

जहाँ जाकर पुनरागमन नहीं होता है वही मेरा परमधाम है। अथवा भक्ति को छुपाने वाली (या भक्ति की रसिका) यह लीला असुरों को मोहित करने के लिए है। जैसे द्वारिका आदि में द्विजशाप आदि को स्वीकार करना अथवा गोलोक में राधा और श्रीदामा का परस्पर शाप है वैसे ही इसे भी समझना चाहिए। नित्यधाम में जाने वाले सखा इसको नहीं जानते हैं। पुरुष रूप में प्रकट होने वाले कृष्ण के सखा रूप में आने वाले जैसे नित्यलीला में परमधाम में रहते हैं वैसे ही पार्षद जय और विजय भी भूमि पर आने पर नित्यधाम में भी रहते हैं। जैसे अक्रूरजी को यमुना तट पर अपने सेव्य श्रीकृष्ण के दर्शन करते हैं वैसे ही सुनन्द-नन्द प्रमुख विष्णु के पार्षद भी दर्शन करते हैं। यहाँ प्रमुख शब्द से जय और विजय का भी ग्रहण होता है। वहाँ प्रमुख शब्द से प्रह्लाद-नारद-वसु आदि का भी ग्रहण है। वसु अर्थात्

भीष्म। तब उस विष्णु की प्रकट होने से अप्रकट स्थिति भी बतलाई गई है।

जैसे आदिवराह में--

नित्य रहने वाले सब नित्य धाम में रहते हैं अन्य देवता भी नित्य रहते हैं।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जुषायां श्रीराधिकाधिक्यनिर्णययुक्तिः।।५।।

पुनरपि प्रकारान्तरेण समाधत्ते-''वैकुंठवासिनोर्जन्मे''त्यादिना। जयविजययोर्नित्यपार्षदयोर्विभूती तन्नामानावेव द्विजौत्तमौ प्राप्ततत्सायुज्यौ भगवदिच्छाप्रेरितसनकादिशापेन मृत्युलोके पातितौ। त्रिभिर्जन्मभिः संशुद्धौ सन्तौ पुनस्तत्सायुज्यं प्राप्तवन्तौ। अपापयोर्नित्यपार्षदयोस्तु वैकुंठ एव नित्यस्थितिरिति वामनादौ श्रूयते। श्रीसनकादीनां शापात्प्रागेव किल तौ परस्परं शप्त्वा स्वाधोगतेर्बीजमुप्तवन्तावास्ताम्। तावुद्दिश्यैवायं भगवदिच्छा-प्रेरितसनकादीनां शापस्तयोरेव च मृत्युलोके जन्म, नतु नित्ययोरित्यादि-पौराणिकेतिहासप्रामाण्येन प्रकृतेऽपि नित्यानित्यविषयकविरोधः परिहार्य इत्याह। पुनश्च गायत्री-चन्द्रकान्त्योः पाद्मोक्तेतिहासोदाहरणेन स्वोक्तं द्रढयति-''गायत्रीचन्द्रकान्ति''श्चेत्यादिना। ''प्राप्याप्यैश्वर्य्यं न लेभाते हि तत्सुख'' मिति-तल्लोकप्राप्त्यापि अंशिन्यः परब्रह्मस्वरूपायाः श्रीराधिकायाः प्रेमानन्दं न प्रापतुरित्यर्थः। फलितार्थमाह-''अनुग्रहाये''ति। भक्तानुग्रहैकहेतुका प्रकटलीला। अनुग्रहफलं च विशुद्धप्रेमावाप्तिः। न चेदुक्तप्रकारेण विरोध-परिहारः क्रियते तर्हि ''यद्गत्वा न निवर्त्तन्त''इति श्रीगीतावाक्यविरोधो दुष्परिहार्य इत्याह-''अन्यथा भगवद्गीते''त्यादिना। प्रकारान्तरेण सामञ्जस्यं ब्रूते-''अथवाऽसुरमोहाये''त्यादिना।

असुरव्यामोहनं हि विष्णोः शास्त्रे प्रसिद्धम्। ननु किमिदं व्यामोहनमिति चेदाह-'लीलेयं भक्तिगोपिनी'ति। श्रेयउपेक्षकानां प्रेयोमात्रे परमपुरुषार्थमन्यानां श्रीविष्णुभक्त्यधिकारबहिर्भूतानामासुरप्रकृत्तिवतां व्यामोहनायेत्यर्थः उक्तं च पुराणे-''द्वाविमौ पुरुषौ लोके दैवश्चासुरएवच। विष्णुभक्तिपरो देव आसुरस्तद्विपर्य्ययः''।।इति।। श्रीद्वारकायां वसतः श्रीकृष्णस्य यथा द्विजशापादिस्वीकारोऽसुरव्यामोहप्रयोजनकस्तथैव गोलोकधाम्न्यपि श्रीदाम-राधिकयोः परस्परशापोऽवगन्तव्यः। किन्तु तद्रहस्यं श्रीदामादि-भिस्तत्रत्यश्रीकृष्णसखिभिरपि न ज्ञातम्। तेषां सख्यभावस्य पुंभावकलितत्वात्तेन

हेतुना अन्तरङ्ग-श्रीराधिकालीलायामनधिकारात्। यदि नित्यलीलाया-मुक्तपार्षदयोर्नित्यसंस्थितिः स्वीकृता, तर्ह्यवतारकालेऽपि श्रीनिकुञ्जे तस्या नियतस्थितिः किमिति नो स्वीक्रियत इति प्रतिवादिनमनुयुङ्क्ते।-''यदिपार्ष-दयो''रित्यादिना। जयविजययोः शापभोगकालेऽपि वैकुंठे नित्यस्थितेः प्रमाण-मुपस्थापयति-''यथाऽक्रूरस्य यमुनाह्रदइत्यादि। तत्रत्येनैव वसुशब्देन भीष्मग्रहणमित्याह-प्रह्लादनारदवसुप्रमुखै'रित्यादिना। आदि वाराहवाक्येनोक्त-सिद्धान्तं द्रढयति-''नित्याः सर्वे परे धाम्नि'' इत्यादिना ''अत्र दिवौकस'' इत्यस्य नित्यवैकुंठपार्षदमात्रेऽर्थसंकोचः। तस्मात् ''कृताकृतप्रसङ्गी नित्य'' इति शाब्दिकपरिभाषान्यायेनापि नित्यानित्ययोर्नित्यस्य बलीयस्त्वाद्नित्येन तद्विरोधोऽयुक्त इतिफलितम्। **इति श्रीराधिकाधिक्यनिर्णययुक्तिः।।५।।**

पुनः प्रकारान्तर से समाधान करते हैं-''वैकुण्ठवासिनोर्जन्म'' इत्यादि के द्वारा प्रतिपादित करते हैं कि भगवान् की ही विभूति रूप नित्य पार्षद जय और विजय भगवान् से नित्य सायुज्य प्राप्त हैं किन्तु भगवान् की इच्छा से प्ररित सनकादि के शाप से मृत्युलोक में पतित हुए। तीन जन्मों से शुद्ध प्राप्त करके पुनः सायुज्य को प्राप्त हुए। वामन आदि पुराणों में कहा गया है कि पाप रहित नित्य पार्षदों की वैकुण्ठ में ही स्थिति होती है। श्रीसनकादि के शाप से पहले ही उन दोनों ने परस्पर शाप देकर अपनी अधोगति के बीज को बो दिया था। उनको उद्देश्य करके ही भगवदिच्छा से सनकादि का शाप हुआ, उन दोनों का मृत्युलोक में जन्म हुआ न कि नित्य का जन्म हुआ, ऐसा आदि पौराणिक इतिहास के प्रामाण्य से ज्ञात होता है-इसी प्रकार प्रकृत विषय में भी नित्य और अनित्य के विरोध का परिहार करना चाहिए।

पुनः पद्मपुराण में कहे गए इतिहास के अनुसार अपने मत को दृढ करते हैं-''गायत्री और चन्द्रकान्ति ने भक्तिभाव से श्रीराधिका को प्राप्त कर लिया लेकिन उसके ऐश्वर्य और उसके सुख को प्राप्त नहीं किया। श्रीराधिका के लोक को प्राप्त करके भी परब्रह्मस्वरूपा श्रीराधा के प्रेमानन्द को उन्होंने प्राप्त नहीं किया। इसका फलितार्थ यह है कि भक्तों पर अनुग्रह के लिए ही प्रकट लीला होती है और अनुग्रह का फल है विशुद्ध प्रेम की प्राप्ति। यदि इस प्रकार विरोध का परिहार नहीं किया जाएगा तब ''यद्गत्वा न निवर्तन्ते'' (जिस धाम में जाने पर कोई लौटता नहीं है) गीता के इस वाक्य का विरोध

भी अपरिहार्य रहेगा। प्रकारान्तर से सामञ्जस्य कहते हैं-भक्ति की रक्षा करने वाली यह लीला असुरों को व्यामोहित करने के लिए होती है। श्रेय की उपेक्षा करके प्रेयमात्र को ही परम पुरुषार्थ मानने वाले, श्रीविष्णु की भक्ति के अधिकार से बहिर्भूत आसुरी प्रवृत्ति वालों को व्यामोहित करने के लिए ही भगवान् की यह लीला होती है। पुराण में कहा गया है-इस लोक में देव और असुर ये दो पुरुष होते हैं-देव तो विष्णु भक्ति परायण होता है तथा असुर उससे विपरीत होता है। श्रीद्वारका में बसते हुए श्रीकृष्ण का द्विज शाप स्वीकार करना असुरों को व्यामोहित करने के लिए है वैसे ही गोलोकधाम में श्रीदामा और राधिका के परस्पर शाप को समझना चाहिए। किन्तु इसका रहस्य श्रीदामा आदि श्रीकृष्ण के सखाओं को भी ज्ञात नहीं हुआ क्योंकि वे सख्यभाव वाले पुंभाव से भरे हुए थे इस कारण श्रीराधा की अन्तरङ्ग लीलाओं में उनका अधिकार नहीं था। प्रतिवादी को अपरुद्ध किया जा रहा है-यदि नित्य लीला में जय और विजय पार्षदों की नित्य स्थिति स्वीकृत है तब अवतार काल में भी उनकी नित्य स्थिति क्यों नहीं स्वीकार की जावे-मूल में यही बात ''यदि पार्षदयोर्मुख्यागतयोर..'' इत्यादि के द्वारा कही गई है। जैसे अक्रूरजी को यमुना तट पर अपने सेव्य श्रीकृष्ण के दर्शन हुए हैं वैसे ही वैसे ही सुनन्द-नन्द, जय और विजय इन प्रमुख पार्षदों को भी अवतार लीला में श्रीकृष्ण के दर्शन हुए हैं। इसी प्रकार प्रह्लाद, नारद-वसु (भीष्म) आदि प्रमुखों को भी श्रीकृष्ण के दर्शन हुए हैं। आदि वराह के वाक्य से अपने उक्त सिद्धान्त को दृढ करते हैं--

परधाम में पार्षद आदि भी सभी नित्य हैं। ''कृताकृतप्रसङ्गीनित्यः'' (विधि करने पर भी उपस्थित रहे तथा विधि न करने पर भी जो उपस्थित हो वह नित्य है) शाब्दिकों की इस परिभाषा के न्याय से भी नित्य और अनित्य में नित्य ही बलवान् होता है इसलिए नित्य का अनित्य के साथ विरोध युक्ति संगत नहीं है-यह अर्थ फलित हुआ। इस प्रसङ्ग में यह अर्थ आया कि जिन पार्षदों की नित्य स्थिति परधाम गोलोक में हैं वे नित्य हैं क्योंकि वे नित्य लीला में भी रहते हैं तथा अनित्य लीला में भी रहते हैं-इसमें कोई विरोध नहीं है।

इति श्रीराधिकाधिक्यनिर्णययुक्तिः।।५।।

।। अथ श्रीराधानामनिरुक्तियुक्तिः ।।६ ।।

ननु सर्वप्रमाणानां महाराजशिरोमणौ ।
श्रीमद्भागवते राधा नामापि न क्वच्छ्रुतम् ।।
भारते हरिवंशे च तथा विष्णुपुराणके ।।
सत्यमेषामभिप्रायमिममत्रानुमीमहे ।। यथा--

त्रिविधाः खलु शब्दा हि प्रेक्षावद्भिः प्रकीर्त्तिताः । केचित्सुहृत्सम्मिताश्च केचिदीश्वरसम्मिताः । केचित्प्रियासम्मिताश्च त्रिवृद्भागवतं विदुरिति श्रीहरिलीलायां श्रीबोपदेवाः । तत्र--

सुहृदश्चेतिहासाद्या, वेदा ईश्वरसम्मिताः ।
मतं मधुरवाक्काव्यं वनितासम्मितं बुधैः ।।
सर्वत्रातिरहस्यस्य परोक्षकथनं हितम् ।। तथाहि-
परोक्षवादो वेदोऽयं परोक्षं श्रीहरेः प्रियम् ।
एतच्चतुर्हुतं चातुर्होतेत्याहुः परोक्षतः ।।
रहस्यातिरहस्यं तद्राधानाम कथं वदेत् ।
''परोक्षप्रिया ह वै देवा'' इत्यादिश्रुतेः ।।

यत्रान्यथास्थितोऽर्थः संगोपयितुमन्यथाकृत्वोच्यते स परोक्षवादः ।। दृश्यते चान्यत्रापि रहस्योपदेशेऽर्थान्तरसमाच्छन्नोक्तिः ।। यथा महाभारते जतुगृहं गच्छतः पाण्डवान् प्रति विदुरस्य ।। यथा वा षष्ठे हर्य्यश्वान्प्रति श्रीनारदस्य ।। यथा चोद्धवसन्देशे श्रीदशमे-''भवतीनां वियोग'' इत्यादिषु रहस्याया नित्यावस्थितेः संगोप्यैव श्रीगोपीः प्रति श्रीभगवत इति ।।

प्रश्न है कि सभी प्रमाणों में शिरोमणि श्रीमद्भागवत में राधा का नाम कहीं भी नहीं सुना गया है। महाभारत, श्रीहरिवंश एवं विष्णुपुराण में भी राधा का नाम नहीं है। यह बात सत्य है। हम इन सभी के अभिप्राय का अनुमान इस प्रकार करते हैं-जैसे--

बुद्धिमानों ने तीन प्रकार के शब्द कहे हैं। कुछ शब्द सुहृत्सम्मित, कुछ ईश्वर सम्मित और कुछ प्रिया सम्मित कहे गए हैं। श्रीबोपदेव ने श्रीहरिलीला में भागवत को तीनों प्रकार का माना है। इन शब्दों में इतिहास

आदि सुहृत् सम्मित हैं, वेद ईश्वर सम्मित हैं तथा मधुर वाणी वाले काव्य वनिता सम्मित है ऐसा विद्वानों का मत है। अत्यन्त रहस्य का सर्वत्र परोक्ष कथन ही हितकर होता है। तथा यह वेद परोक्षवाद है, परोक्षवाद हरि को प्रिय है। यह चतुर्हुत है-इसी को परोक्षवाद से चातुर्होता कहा है। राधा का नाम रहस्यों का अति रहस्य है-अतः उसे प्रत्यक्षतः कैसे कहें? श्रुति का वचन है कि ''परोक्षप्रिया हि वै दैवाः'' (देवता परोक्षप्रिय हैं) अर्थात् देवताओं का परोक्षवाद प्रिय है।

परोक्षवाद का अर्थ है जहाँ कोई अर्थ अन्यथारूप से स्थित है, उसे छिपाने के लिए अन्यरूप से परिवर्तन करके कहना।

अन्य स्थान पर भी रहस्य उपदेश के लिए यह छिपाकर कहना देखा जाता है। जैसे महाभारत में लाक्षागृह में जाते हुए पाण्डवों के प्रति विदुर की उक्ति। जैसे भागवत के षष्ठ अध्याय में हर्यश्वों के प्रति श्रीनारद की उक्ति। और जैसे उद्धव सन्देश में (दशम स्कन्ध में)-भवतीनां वियोग (आप सब का वियोग) रहस्यरूपा नित्य स्थिति को छिपाकर श्रीगोपियों के प्रति भगवान् की उक्ति।

।। अथ श्रीराधानामनिरूक्तियुक्तिः ।।६।।

इत्थं श्रीराधिकायाः श्रीकृष्णस्वरूपत्वं तदभिन्नत्वं च शास्त्रप्रमाणोपन्यासपूर्वकं साधयित्वा आक्षेपान्तरमुत्थापयति- नन्विति। ननु श्रीराधिकाया नामापि सर्वप्रमाणशिरोमणौ श्रीमद्भागवते, हरिवंश-महाभारत-विष्णुपुराणादिषु च सर्वशिष्टैः प्रमाणत्वेन गृहीतेषु न क्वचिच्छ्रूयते, किं पुनस्तस्याः प्रोक्तस्वरूपत्वम्। प्रमाणभूतागमेष्वनुल्लिखितत्वेन भवतामियं श्रीराधिका स्वमत्युत्प्रेक्षितेति प्रतिभातीति चेत्तत्रोत्तरमाह-''सत्य''मित्यादि। अवश्यवक्तव्यस्याप्यर्थस्य स्पष्टानुल्लेखनमभिप्रायविशेषेण सम्भवति। तथा ह्युक्तं श्रीबोपदेवैः श्रीहरिलीलामृते यत्प्रेक्षावद्भिः शब्दाः खलु सुहृत्संमिता ईश्वरसम्मिताः प्रियासम्मिताश्चेति त्रिविधा मताः तत्रेतिहासाः सुहृत्सम्मिताः। वेदा ईश्वरसम्मिताः। मधुरवाक्काव्यं तु बुधैर्वनितासम्मितं मतम्। श्रीमद्भागवतं हि त्रिविधशब्दात्मकम्। वनिता संमितत्वादेव तत्स्वभावानुसारेण सर्वत्रातिरहस्यपरोक्षकथनमेव हितं रसावहं च मनुते मधुरवाक्काव्यमित्यभिप्राय इति। वनितोत्सवरूपशीलस्य श्रीकृष्णस्य अतुल्यातिशयैश्वर्य्यमाधुर्य्यवतोऽतिरहस्यभूतायास्तस्याः कविता-वनितापि

स्वस्वभावमनुल्लंघ्यैवोल्लेखनं कर्त्तुमर्हति परोक्षतयैव। तस्माद्रहस्यातिरहस्यं श्रीराधानाम श्रीमद्भागवतं कथं वदेदिति नामानुक्तौ महापुराणस्याशय इत्यर्थः। 'परोक्षप्रिया ह वै देवाः प्रत्यक्षद्विष'इति श्रुतेस्तथा ''परोक्षवादो वेदो हि परोक्षं श्रीहरेः प्रिय''मित्यादि श्रीभागवतोक्तेरपि श्रीहरेः परोक्षप्रियत्वमवगम्यते। ननु कोऽयं परोक्षवाद इति जिज्ञासायां तत्स्वरूपं व्याचष्टे-''यत्र''त्यादिना। परोक्ष-वादस्य कतिपयोदाहरणान्युपस्थापयति-यथेत्यादिना।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां श्रीराधानाम निरूक्तियुक्तिः।।

इस प्रकार श्रीराधा को श्रीकृष्णस्वरूपा एवं उससे अभिन्न शास्त्र प्रमाण उपन्यास पूर्वक सिद्ध करके अन्य आक्षेप उठा रहे हैं-''नन्विति'' आक्षेप यह है कि जब श्रीराधा का नाम सर्व प्रमाण शिरोमणि श्रीमद्भागवत-पुराण, हरिवंशपुराण, महाभारत एवं श्रीविष्णुपुराण आदि ग्रन्थों (जो शिष्टों के द्वारा प्रमाणित कोटि में स्वीकृत हैं) में नहीं सुना जाता है तब उसको श्रीकृष्ण स्वरूप या अभिन्न सिद्ध करने का औचित्य क्या है? प्रमाण स्वरूप आगम ग्रन्थों में भी श्रीराधा का कोई उल्लेख नहीं है अतः आपकी यह श्रीराधा आपके द्वारा स्वयं उत्प्रेक्षित है-ऐसा प्रतीत होता है-यदि इस प्रकार कोई कहे तब इसका उत्तर दिया जाता है-''सत्यमित्यादि'' के द्वारा। अवश्य रूप से कहने योग्य अर्थ का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख न करना अभिप्राय विशेष से सम्भव है। जैसा कि श्रीहरिलीलामृत ग्रन्थ में बोपदेव ने कहा कि विद्वानों ने शब्दों को तीन भागों में विभक्त किया है-सुहृत्संमित, ईश्वर सम्मित एवं प्रियासम्मित। इनमें इतिहास ग्रन्थ सुहृत्सम्मित शब्द हैं। वेद ईश्वर सम्मित है तथा मधुरवाणी में निबद्ध काव्य कान्ता सम्मित हैं। श्रीमद्भागवत त्रिविध शब्दात्मक है अर्थात् भागवत पुराण-इतिहास आदि समान सुहृत्सम्मित भी है (सुहृत्सम्मित शब्दों के द्वारा हित और अहित की बात कह दी जाती है-हित का इच्छुक वैसा करें तथा अहित का इच्छुक वैसा न करें-यह करने वाले पर छोड़ दी जाती है)। यह पुराण ईश्वर सम्मित शब्द भी है (ईश्वरसम्मित का तात्पर्य जो कहा गया है वह अवश्य ही करने योग्य है न करने पर दण्ड विधान है)। यह पुराण वनिता सम्मित शब्द भी है। वनिता सम्मित होने के करण उसके स्वभाव के अनुसार अति रहस्य को

सर्वत्र परोक्ष रूप में कहना ही हितकर और रस का वहन करने वाला माना जाता है-जैसे काव्य अपने मन्तव्य को अभिधा से प्रकट न करके रस व्यञ्जिका व्यंजना से प्रकट करते हैं-यह अभिप्राय है। अतुल्य एवं अतिशय ऐश्वर्य तथा माधुर्य गुणवाले तथा वनिताओं के लिए उत्सव रूप शील वाले श्रीकृष्ण की अतिशय रहस्यस्वरूपा राधा का तथा तत्सम्बन्धी कविता वनिता का उल्लेख परोक्ष रूप से ही किया जा सकता है इसी में उसके स्वभाव का उल्लंघन भी नहीं है। इस कारण श्रीराधा का नाम रहस्यों में अतिशय रहस्य है अतः श्रीमद्भागवत उसका नाम कैसे कहे? श्रीराधा नाम का उल्लेख न करने में महापुराण का यही आशय है। श्रुति का वचन है ''देवता परोक्षता के प्रेमी है, प्रत्यक्ष से द्वेष करने वाले हैं'' तथा ''वेद परोक्षवाद है तथा श्रीहरि को भी परोक्षवाद ही प्रिय है'' भागवत की इस उक्ति से भी श्रीहरि की परोक्ष प्रियता सिद्ध होती है। यह परोक्ष वाद क्या है? इस जिज्ञासा के होने पर उसका स्वरूप कहते हैं-''यत्रेत्यादिनाः..''। परोक्षवाद के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं-''यथा-इत्यादिना..''।

अपि च श्रीअष्टमे--

''नैतत्परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथंचन।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृत''मित्यदित्यै
भगवता प्रोक्तत्वाच्छ्रोतृभक्तितः ।।
अवश्यकथनीयेऽपि संगोप्य कथनं हितम्।
सौहृदाच्च पुराणं हि रहस्यं न प्रकाशयेत्।।
प्रसंगेनैव कथयेत्काव्यं मधुरजिह्वया।
रसरूपं हि यद्वस्तु, कंठोक्त्या न रसायते।।
यथाहुः-स्वस्वशब्दैरुपादानं भावस्य च रसस्य च।
क्लिष्टप्रकल्पनीयत्वमनुभावविभावयोः ।।
प्रक्रान्तरसवैरित्वं तेषां व्यक्तिविपर्य्ययः।
अनौचिती च सर्वत्र रसे दोषाः स्युरीदृशाः।।
आत्मत्वाद्रसरूपैव राधिकेति मुनिर्जगौ।
प्रोक्ता श्रीरघुनाथेन मुक्ताचरितसंज्ञके।। यथा-
''सच्चिदानन्दरूपेयं शृंगाररसविग्रहा।

सखीप्रणयसद्गन्धवरोद्वर्त्तनसुप्रभा ।।
कारुण्यामृतवीचीभिस्तारुण्यामृतधारया ।
लावण्यामृतवन्याभिः स्नापिता ग्लापितेन्दिरा ।।
ह्री-पट्टवस्त्रगुप्ताङ्गी सौन्दर्य्यघुसृणांचिता ।
श्यामलोज्ज्वलकस्तूरी विचित्रितकलेवरा ।।
कंपाश्रुपुलकस्तंभस्वेदगद्गदरक्तता ।
उन्मादो जाड्यमित्येतैरत्नैर्नवभिरुत्तमैः ।।
क्लृप्तालंकृतिसंश्लिष्टा गुणालीपुष्पमालिनी ।
धीराधीरात्वसद्वासपटवासैः परिष्कृता ।।
प्रच्छन्नमानधम्मिल्ला सौभाग्यतिलकोज्ज्वला ।
कृष्णनामयशः श्राविवतंसौल्लासिकर्णिका ।।
रागताम्बूलरक्तोष्ठी प्रेमकौटिल्यकज्जला ।
प्रणयक्रोधसच्चोलीबन्धगुप्तीकृतस्तनी ।।
नर्म्मभाषितनिष्यन्दस्मितकर्पूरवासिता ।
सौरभान्तर्गृहे गर्वपर्य्यंकोपरिलीलया ।।
निविष्टा प्रेमवैचित्यविचलत्तरलांचिता ।
मध्यतात्मसखीस्कन्धलीलान्यस्तकरांबुजा ।।
श्यामा श्यामस्मरामोदमधुलीपरिवेषिका ।।'' इति ।।

अष्टम स्कन्ध में भी-भगवान् अदिति से कह रहे हैं-तुम से पूछे जाने पर भी यह रहस्य तुम्हें किसी अन्य को नहीं कहना चाहिए। हे देवी! देवताओं के लिए भी गुह्य (रहस्य) यदि गुह्य रहे तब उससे सब सिद्ध हो जाता है। श्रोताओं की भक्ति के कारण भगवान् के द्वारा प्रोक्त अर्थ भी गोपनीय है।

अवश्य कहने योग्य को भी सम्यक प्रकार से छिपाकर के कहना हितकर है। सुहृद होने पर भी पुराण उस रहस्य को प्रकाशित न करे। प्रसङ्ग उपस्थित होने पर भी मधुर वाणी से काव्य का कथन किया जाना चाहिए। जो रसरूप वस्तु होती है वह स्पष्ट कथन से रसरूप नहीं हो पाती है। जैसे कहा गया है-''रस और भाव अपने शब्द से (रस या शृङ्गार आदि शब्दों के द्वारा, या भाव या रति आदि शब्दों के द्वारा) कथन करना दोष है।

अनुभाव और विभाव की कष्ट कल्पना भी दोष है। प्रकान्त रस के विरोधी रस का वर्णन करना, व्यक्तियों का विपरीत वर्णन करना, औचित्य का पालन न करना-रस में इस प्रकार के दोष होते हैं।

राधा आत्मा होने के कारण रस रूपा है-ऐसा मुनि ने कहा है। श्रीरघुनाथ ने मुक्ता चरित में भी उसे रसरूपा कहा है। जैसे-''सच्चिदानन्दरूपा यह शृङ्गार रसविग्रह है, सखियों के प्रणयरूपी सद्गन्धरूपी उत्कृष्ट उबटन से सुष्ठु कान्ति वाली है। कारुण्य रूपी अमृत की तरङ्गों से, तारुण्य की अमृतधारा से, लावण्य रूपी अमृत बिन्दुओं से स्नान की हुई हर्षित वह इन्दिरा है। उसने लज्जारूपी वस्त्र से अपने अङ्गों को गोपित कर रखा है। सौन्दर्य के अनुलेपन से विभूषित है। श्यामल उज्ज्वलरस रूपा कस्तूरी से शरीर को चित्रित कर रखा है। कम्प, अश्रु, पुलक, स्तम्भ, स्वेद, रक्तता, उन्माद और जाड्य से आठ सात्त्विक भाव रूप नवीन रत्नों से उसने अपना अलंकरण किया हुआ है (अर्थात् ये भाव ही उसके अलंकार हैं) गुणों की पंक्ति ही उसकी पुष्पमाला है। धीरा धीरत्व ही उसका वस्त्र है। प्रच्छन्न मान ही उसका धम्मिल्ल (केशपाश) है। सौभाग्य ही उस का उज्ज्वल तिलक है। श्रीकृष्ण नाम यश को सुनने की उत्सुकता ही उसका कर्णाभूषण है। प्रियतम विषयक उत्कट अनुराग रूपी ताम्बूल से उसका ओष्ठ रक्त है। प्रेम की कुटिलता ही उनका कज्जल है। प्रणय क्रोध रूपी सुन्दर चोली के बन्ध से उसने अपने स्तनों को संरक्षित कर रखा है। नर्म्म भाषित निष्पन्द रूपी स्मित ही उसकी कर्पूर की गन्ध है। स्वाभाविक दिव्यविग्रह की सौरभ ही उसका अन्तःपुर है। गर्व ही पलंग है, उस पर लीला पूर्वक वह बैठी हुई है, प्रेम की विचित्रता ही इसकी तरलता है। मध्यता रूपी अपनी अन्तरङ्ग सखी के कंधे पर उसने अपना हस्तकमल रख रखा है। ऐसी यह श्यामा (श्रीराधा) श्याम स्मर के आमोद रूपी आम्रवृक्ष को चारों ओर से घेर कर उपस्थित है अतः सदा स्मरणीय है। सखियों के नामों का उल्लेख न करने में भी यही कारण है। (अर्थात् रहस्य ही कारण है)।

ननु अतिरहस्यभूतरस-रूपस्य वस्तुनोऽपि कंठोक्त्या नामप्रकाशने को दोष इति चेद्रसभङ्ग एव दोष इत्याह-''रसरूपं हि यद्वस्त्वित्यादिना। प्रसङ्गप्राप्तरसाभिव्यक्तिदोषानाह-''स्वस्वशब्दै''रिति। चित्तविक्रियात्मकस्य

अन्तःस्थितगूढभावस्य, प्रेमापर-पर्य्यायस्य रसस्य च स्वस्वशब्दैरुल्लेखनं, विभावानुभावादीनां कष्टप्रकल्पनीयत्वं, प्रक्रान्तरसभङ्गकरत्वं, तेषां (रसानां) (विभावादीनां वा) अभिव्यक्तौ विपर्य्ययः, अनौचित्यं चेत्येवमादयो रसाभिव्यञ्जने दोषाःस्युरित्यर्थः। ननु स्युर्नामैते रसाभिव्यक्तिदोषाः, प्रकृते किमनेन रसाभिव्यक्तिदोषोद्घाटनेनेतिचेदाह-''आत्मत्वाद्रसरूपैवेति'' ''रेमे तया चात्मरत''इत्यादिना श्रीशुकमुनीन्द्रेण तस्यास्तदात्मत्वोक्तेः, ''रसो वै सः'' इतिश्रुतेः परमात्मनो रसस्वरूपत्वेन च सा श्रीराधा साक्षाद्रसस्वरूपैवेत्यतः ''अनया राधितो नून''मित्यादिपरोक्षतयैवोट्टङ्किता, अन्यथा रसभङ्गो दुर्वार इत्याशयः। अपि च अधिकारिवैरल्यादनधिकारिबाहुल्यात् परीक्षित्सभायां रहस्यातिरहस्यभूतायास्तस्यास्तद्रूपत्वं स्फुटं नोक्तमित्यर्थः। रसिकमहानुभावैस्तु सा तद्रूपेणैव वर्णितेत्याह-''प्रोक्ता श्रीरघुनाथेने''त्यादिना। ''मुक्ताचरित'' सन्दर्भस्थं तदेव तस्याः साक्षाद्रसरूपत्वं पठति-''सच्चिदानन्दरूपेय''मित्यादि। तत्र तावत् सच्चिदानन्दरूपेयमिति तस्याः श्रीकृष्णस्वरूपत्वं सिद्धान्तितम्। ''राधां कृष्णस्वरूपां वै कृष्णं राधास्वरूपिण'' मिति श्रीमहावाण्यां श्रीमदाचार्य्यचरणैरपि तत्तथैवोक्तम्। एतत्सिद्धान्तप्रमाण-भूतशास्त्रवाक्यानि तु प्रागेव दर्शितानि। परमात्मत्वात्परमात्मनश्च तद्धेतुकानन्द-रूपत्वादस्या अपि तद्वदेव निरतिशयप्रियतास्पदत्वं बोध्यम्। द्वयोरप्येकरूपत्वादेकस्यैव परब्रह्मणो द्विरूपत्वाच्च। (''एकस्वरूप सदा द्वैनाम''इति तत्रैव) तथा चेयं ''साक्षाच्छृङ्गाररसविग्रहा।'' अनयोक्त्या श्रीकृष्णस्यापि साक्षात्तद्र-सरूपत्वमर्थादेवोक्तं भवति, दम्पतिरूपत्वाच्छृङ्गारस्य। अथ तस्या मूर्त्ति-मच्छृङ्गाररसविग्रहत्वोचिततत्तद्गुणानेव षोडशशृङ्गारत्वेनोत्प्रेक्ष्यन्ते-''सखी-प्रणयसद्गन्धे''त्यादिना। तत्र सखीवृन्दविषयकः स्नेह एवास्याः सुगन्धिवरोद्व-र्त्तनं, स्ववृत्तिकारुण्य-नवयौवन-लावण्यामृतधाराभिरेवास्याः स्नानं स्वाभाविक लज्जाशीलतैवास्याः परिधानीयम्, असमोर्द्धस्वाभाविकसौन्दर्यमेवास्या अनुलेपनं, श्यामलोज्ज्वलरस एवास्याः कस्तूरीचित्रणं, कंपाश्रुपुलकादयोऽष्टसात्त्विकभावा एवास्या अमूल्यरत्नाभरणानि, श्रीकृष्णवशीकारसिद्धमन्त्ररूपत-त्तद्गुणावल्येवास्याः पुष्पहारः, धीराधीरात्वरूपवरसुगन्ध एवास्या उत्तरीयम्, अन्तर्निगूढमान एवास्या धम्मिल्लः, प्रेष्ठश्यामपूर्णप्रेमैकास्पदत्वरूपसौभाग्यमेवा-स्यास्तिलकः, श्रीकृष्णनामयशः श्रवणौत्सुक्यमेवास्याः कर्णावतंसः, प्रेष्ठ-

विषयकासाधारणानुराग एवास्यास्ताम्बूलरक्तोष्ठता, प्रेमकौटिल्यमेवास्या लोचनकज्जलं, प्रणयकोप एवास्या अनुपमचोलीबन्धः, नर्मभाषितेषन्निष्य-न्दमानस्मितमेवास्याः कर्पूरवासः, स्वाभाविक-दिव्यविग्रहसौरभ एवास्या अन्तःपुरं, गर्व एव पर्य्यङ्कस्तदुपरि लीलानिविष्टं, प्रेमवैचित्यमेवास्यास्तारल्यं, मध्यता एवास्या निजान्तरङ्गसखी, तां लीलया कराम्बुजेनाश्रितां, सेयं श्यामा श्यामस्मरामोदमधूल्याः परिवेषिका सदा स्मरणीयेत्यर्थः। आस्तां तावच्छ्रीम-द्भागवतादिषु, राधानामस्पष्टोक्तेर्वार्ता, तत्-सखीनामपि नामानुक्तौ तदेवातिरह-स्यत्वं कारणमित्यभिप्रायेण तासामपि शृङ्गाररसरूपत्वं श्रीगोविन्दलीलामृता-दुद्धृत्य पठति-''मिथ''इति। मिथः स्नेहरूपाभ्यङ्गेन, श्रीराधाविषयकाकृत्रिम-सख्यरूपोद्वर्त्तनेन, तारुण्यामृतस्नातेन, लावण्यरूपवसनेन, मिथः सौहार्दरूप-तिलकेन, सौन्दर्य्यरूपानुलेपेन, अष्टसात्त्विकभावरूपवर्णकैश्चित्रिताङ्गेन, किलकिंचित-विब्वोकाद्युन्मादौत्सुक्यादिनानाभावरूपालङ्कारैः सुष्ठ्वलं-कृतमूर्त्तयस्ताः श्रीसख्यो लक्ष्म्यादिभिरपि वन्दनीयचरणा इत्यर्थः। अपि च परमास्वाद्य वस्तुनः साक्षान्नाम न ग्राह्यमित्येवं नागराणां व्यवहारोऽप्यत्र प्रमाणमित्याह-तत्साक्षादिति। न केवलं नागराणां व्यवहारः, अपि चैष न्यायो वेदेनाप्युनुस्मृत इत्याह-''प्रोवाचेत्यादिना।

ननु-अतिशयरहस्य-भूतरसरूप वस्तु का भी साक्षात् शब्दों के द्वारा प्रकाशन करने में क्या दोष है? यदि यह प्रश्न हो तब उत्तर है कि साक्षात् शब्द (अभिधा) से कहने में रसभङ्ग दोष होता है-इसीलिए कहा गया है-''रसरूपं हि यद्वस्त्वित्यादिना'' प्रसङ्ग प्राप्त रस दोष कहते हैं-''स्वस्वशब्दैरिति'' चित्त के विक्रियात्मक अन्तःस्थित गूढ भाव को तथा प्रेम जिसका दूसरा नाम है ऐसे रस का अपने-अपने शब्दों से उल्लेख करना दोष है (स्थायी भावों का तथा शृङ्गार आदि रसों का अपने नाम से उल्लेख करना काव्य में दोष है)। विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों की प्रतीति जहाँ कष्ट से अर्थात् बुद्धि व्यायाम से हो वह भी दोष है। प्रस्तुत रस का किसी कारण से भङ्ग होना दोष है। रस के प्रतिकूल विभाव आदि की अभिव्यक्ति दोष है प्रकृति का विपर्यय भी दोष है (पात्रों के प्रसिद्ध प्रकृति-स्वभाव के विरुद्ध वर्णन दोष है)। सभी प्रकार का अनौचित्य रसभङ्ग का कारण है। प्रतिवादी प्रश्न करता है कि रस में भले ही ये दोष हों, प्रकृत विषय

में इन रस दोषों के उद्घाटन से क्या लाभ? इसीलिए कहते हैं--

''आत्मरूप होने के कारण वह रस रूपा ही है (अर्थात् राधा श्रीकृष्ण की आत्मा है अतः रस रूपा है अतः जैसे रस का ''रस'' शब्द से या शृङ्गार आदि शब्द से उल्लेख करना दोष है वैसे ही श्रीराधा का नाम से उल्लेख करना भी दोष है)। श्रीशुकदेव मुनि ने ''रेमे तया चात्मरतः'' इत्यादि श्लोक के द्वारा श्रीराधा को श्रीकृष्ण की आत्मा ही कहा है। ''रसौ वै सः'' (वह परमात्मा रस ही है) इस श्रुति के वचन से परमात्मा रसरूप सिद्ध होता है और वह श्रीराधा साक्षात् रसरूपा ही है। इसीलिए ''अनया राधितो नूनं'' (भागवत के इस श्लोक में) श्रीराधा का उल्लेख परोक्ष रूप से ही हुआ है अन्यथा अर्थात् साक्षात् नाम उल्लेख होने पर रसभङ्ग दोष को नहीं रोका जा सकता था-यह आशय है। और यह भी समाधान है कि परीक्षित् की सभा में इस रहस्य के अधिकारी विरल थे तथा अनधिकारी अधिक थे इसलिए भी शुकदेव मुनि ने अतिरहस्यरूपा श्रीराधा का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया। रसिक महानुभावों ने तो उसका उसी रूप में (रहस्यरूप में) उल्लेख किया है इसी को इङ्गित करते हुए कहा है-प्रोक्ता श्रीरघुनाथेन इत्यादिका। मुक्ताचरित के सन्दर्भ में श्रीराधा को श्रीकृष्ण की साक्षात् आत्मा कहा है अर्थात् उसे साक्षात् रसरूप कहा है-

''सच्चिदानन्दरूपेयं शृङ्गाररसविग्रहा'' श्रीराधा को सच्चिदानन्द कहने का तात्पर्य उसे कृष्णस्वरूपा कहा है। श्रीमहावाणीजी में श्रीमद्आचार्यचरण ने भी कहा है-श्रीराधाकृष्णस्वरूपा है और राधा कृष्णस्वरूपिणी है। इस सिद्धान्त के प्रमाणस्वरूप शास्त्र वाक्य पूर्व में ही प्रदर्शित कर दिए गए हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा है, परमात्मा आनन्दस्वरूप है तथा यह श्रीराधा भी परमात्मरूप होने के कारण आनन्दस्वरूपा है इसलिए सर्वाधिक प्रिय है-ऐसा समझना चाहिए। दोनों एकरूप है तथा एक परब्रह्म के दो रूप हैं। (एक स्वरूप के दो नाम हैं-यह वहीं श्रीमहावाणीजी में कहा है।) यह श्रीराधा साक्षात् शृङ्गार रसरूपा है इस उक्ति से श्रीकृष्ण भी साक्षात् रसरूप ही सिद्ध होते हैं क्योंकि शृङ्गार दम्पतिरूप होता है (प्रिया-प्रियतम में ही शृङ्गार रहता है)। श्रीराधा के मूर्त्तिमत् शृङ्गार होने के कारण-उस शृङ्गार विग्रह के लिए उचित उस राधा के गुणों को ही सोलह शृङ्गार के रूप में उत्प्रेक्षित करते

हुए-''सखीप्रणयसद्गन्धः'' आदि श्लोक में कहा गया है। उनमें सखीसमूह विषयक श्रीराधा का स्नेह ही सुगन्धित श्रेष्ठ उबटन है, अपनी करुणा एवं नवयौवन के लावण्यामृत रूपी जलधारा से ही इसका स्नान हैं, स्वाभाविक लज्जा और शील ही इसका परिधान है, अतुल्य स्वाभाविक सौन्दर्य ही इसका अनुलेपन है, श्यामल उज्ज्वल रस ही इसका कस्तूरी चित्रण है, कम्पन अश्रु रोमाञ्च आदि आठ सात्त्विक भाव ही इसके अमूल्य रत्नाभूषण हैं, श्रीकृष्ण को वश में करने के सिद्ध मन्त्र रूप गुण ही इसके पुष्पहार हैं, धीरा-अधीरा रूप श्रेष्ठ सुगन्ध ही इसका उत्तरीय है, अन्तर्निगूढमान ही इसका केशपाश हैं, प्रियतम श्याम का पूर्णप्रेम का आस्पदरूप सौभाग्य ही इसका तिलक है, श्रीकृष्ण नाम के यश को सुनने की उत्सुकता ही इसका कर्णाभूषण है, प्रियतम विषयक असाधारण अनुराग ही इसकी ताम्बूल की होठों की लालिमा है, प्रेम का कौटिल्य ही इसकी आँखों का कज्जल है, प्रणय का कोप ही इसका चोलीबन्ध है, नर्म्म भाषण से निष्यन्दमान मन्द स्मित ही इसका कर्पूरवास है, स्वाभाविक दिव्य विग्रह की सौरभ ही इसका अन्तःपुर है, गर्व ही पलङ्ग है, उसी पर लीला निवेश है, प्रेम की विचित्रता ही तरलता है, मध्यता ही इसकी अपनी अन्तरङ्ग सखी है, उस सखी के कन्धे पर अपने हस्तकमल को रखे हुए यह श्यामा-श्यामरूपी स्मर को दीप्त करने वाले आम्रवृक्ष को घेरे हुए है-ऐसी यह राधा सदा स्मरणीय है।

श्रीमद्भागवत आदि में श्रीराधा के नाम का स्पष्ट उल्लेख होने की बात तो छोड़ो उसकी सखियों का भी नाम उल्लिखित नहीं है, इसका भी कारण अतिरहस्य ही है-इसी अभिप्राय से उनका भी शृङ्गार रसरूप से वर्णन ''श्रीगोविन्दलीलामृत'' में किया गया है-उसका ही उल्लेख ''मिथः स्नेहाभ्यंग-रम्याः सख्योद्वर्त्तनसुप्रभाः'' आदि श्लोकों में किया गया है। श्रीराधाजी की सखियाँ परस्पर स्नेहरूप अभ्यङ्ग से, श्रीराधा विषयक स्वाभाविक सख्यभाव रूपी उबटन से, तारुण्य रूपी अमृत स्नान से, लावण्यरूप वस्त्र से, परस्पर सौहार्द रूप तिलक से, सौन्दर्यरूप अनुलेपन से, आठ सात्त्विक भाव रूप नानाविध चित्रकारी से अलंकृत शरीर से, किलकिञ्चित-विब्बोक-उन्माद-औत्सुक्य आदि अलंकारों से अलंकृत वे लक्ष्मी आदि के द्वारा भी पूजनीया हैं।

और भी बात यह है कि परम आस्वाद्य वस्तु का साक्षात् रूप से नाम नहीं लेना चाहिए ऐसा नागरिकों का व्यवहार भी इसमें प्रमाण है। यह केवल नागरिकों का व्यवहार ही नहीं है अपितु इस न्याय का वेद ने भी अनुसरण किया है-जैसे कहा है-''प्रोवाचावचनेनैवेत्यादिवेदोक्तन्यायतः''-

इदमेव सखीनां हि नामानुक्तौ च कारणम्।
ता अपि यथा श्रीगोविन्दलीलामृते--
''मिथःस्नेहाभ्यंगरम्याः सख्योद्वर्त्तनसुप्रभाः।
तारुण्यामृतसुस्नाता लावण्यवसनोज्ज्वलाः।।
मिथः सौहार्दतिलकाः सौन्दर्य्यस्थासकाङ्किताः।
अष्टाभिश्चित्रिताङ्गाश्च स्तम्भाद्यैर्भाववर्णकैः।।
किलकिंचितविब्वोकाद्युन्मादोत्सुकतादिभिः।
नानाभावैरलंकारैः सुष्ठ्वलंकृतमूर्त्तयः।।''इति।।
तत्साक्षान्नाम न ग्राह्यं परमास्वाद्यवस्तुनः।
इति नागरलोकानां व्यवहारोऽपि दृश्यते।।
प्रोवाचावचनेनैवत्यादिवेदोक्तन्यायतः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।।
तस्या नाम कथं ब्रूयुः किंवा वैवश्यभीतितः।
उक्तं हि ब्रह्मवैवर्त्ते मूर्च्छा षाण्मासिकी भवेत्।।
श्रुतेऽपि राधिकानाम्नि मुनीन्द्रस्योदिते नु किम्।
अतः क्वचित्पराशक्तिः क्वचिदात्मा क्वचिद्रमा।।
क्वचिन्माया चितिः क्वापि क्वापि भक्तिः क्वचित्प्रिया।
इत्यादिनामभिर्योक्ता सा राधेत्यवधार्यताम्।।
अतस्तस्याः समुत्कर्षो नाम्ना येनेह लभ्यते।
तेनैव शुकदेवाद्याः समुन्मादेन तां जगुः।।
परा चिच्छक्तिगान्धर्वाम्नाता वेदेषु गोपिका।
ह्लादिनी वैष्णवे तन्त्रे महालक्ष्मीरिति क्वचित्।।
श्रीमद्भागवते सर्वप्रकारैरियमीरिता।।
किन्तु-श्रीमुनीन्द्रमते राधा श्रीकृष्णात्मेतिनिश्चिता।
आत्मारामेति बहुशस्तत्र तत्र यदभ्यसत्।।

जीवात्मारामता तस्य दृष्टान्तत्वे न सम्मता।
निदर्शयामास यतः पुरुषः शक्तिभिर्यथा।।
नामानुक्तावेतदेव कारणं परमं मतम्।
अप्रतर्क्यमनिर्द्देश्यमात्मानं श्रुतयो जगुः।।
अतएव-देहदेहिविभागस्याभावादीश्वरवस्तुनः।
श्रीकृष्णचन्द्रमुद्दिश्य सा सा लीला प्रकाशिता।।
अपि च-परं रहस्यं यद्वस्तु तद्गंग्यैव प्रकाश्यते।
श्रीमद्वैष्णवतोषण्यामूहितं जीवस्वामिभिः।।

श्रीगोविन्दलीलामृत में उनका वर्णन इस प्रकार से -शृङ्गार रस रूपता से है।

''वे सखियाँ श्रीराधिका विषयक अकृत्रिम सख्य रूप उबटन वाली हैं, तारुण्य अमृत से स्नाता हैं, लावण्यरूप वस्त्र से विभूषित हैं। उन्होंने परस्पर सौहार्दरूपी तिलक धारण किया हुआ है। सौन्दर्यरूपी अनुलेपन किया हुआ है। अष्ट सात्त्विक भाव रूप वर्णों से वे चित्रित हैं। किलकिञ्चित, विब्वोक, उन्माद आदि भाव रूपी अलंकारों से उनके शरीर अलंकृत हैं।

इस प्रकार परम अस्वाद्य वस्तु का नाम साक्षात् रूप से नहीं लेना चाहिए-ऐसा नागरिकों का व्यवहार भी देखा जाता है। ''प्रोवाचावचनेनैव'' (साक्षात् शब्द के बिना ही कह दिया) इस वेदोक्त न्याय से भी यह व्यवहार अनुमोदित होता है। उस तत्त्व को प्राप्त किए बिना मन और वाणी जिससे लौट आते हैं।'' उसका नाम कैसे कहें? अथवा विवशता के भय से भी उसका नाम नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में कहा गया है कि-श्रीराधिका के नाम के उच्चारण की तो बात ही छोड़ो उसके नाम सुनने मात्र से ही मुनि को छह माह की मूर्च्छा हो जावे। (अतः राधिका का नाम नहीं लिया गया)।

अतः कहीं पर पराशक्ति, कहीं पर आत्मा, कहीं पर रमा, कहीं माया, कहीं चिति, कहीं भक्ति, कहीं प्रिया-इत्यादि नामों से जिसे कहा गया है उसे ''राधा'' ही समझो। इसलिए यहाँ जिस नाम से उसका उत्कर्ष उपलब्ध होता है श्रीशुकदेव आदि ने उसका पराशक्ति, कहीं चित्शक्ति, कहीं गान्धर्वा कहा है। वैष्णवों में उसे गोपिका अथवा ह्लादिनी कहा है, कहीं

तन्त्र में उसे महालक्ष्मी कहा है। श्रीमद्भागवत में उसे सभी प्रकारों से (पराशक्ति, चित्शक्ति, गोपी आदि से) कहा गया है। किन्तु शुकदेव मुनि ने श्रीराधा को श्रीकृष्ण की आत्मा स्वीकृत किया है (निश्चित किया है) उन्होंने स्थान-स्थान पर आत्माराम (श्रीकृष्ण के लिए) शब्द का बहुशः उल्लेख किया है। दृष्टान्त में श्रीकृष्ण की जीवात्मरामता स्वीकृत नहीं है। (आत्माराम-आत्मा-राधा में रमण करने वाला) न कि जीव में रमण करने वाला।) इसीलिए रास के प्रकरण में कहा है-जैसे पुरुष शक्तियों के साथ-(वैसे ही कृष्ण अन्य गोपियों के साथ है न कि जीव स्वरूपा गोपियों में रमता है-वस्तुतः तो वह अपनी आत्मा राधा में रमण करता है-अतः आत्माराम है।

श्रीराधा के नाम का उच्चारण न करने में यही परम कारण है क्योंकि श्रुतियों ने भी आत्मा को तर्कातीत और अनिर्देश्य कहा है। ईश्वर रूप वस्तु में देह और देही का विभाग नहीं होता है-इसीलिए श्रीकृष्णचन्द्र को उद्देश्य करके सभी लीलाओं का प्रकाशन हुआ है।

और भी जीव गोस्वामी ने वैष्णवतोषिणी में कहा है कि जो परम रहस्य वस्तु होती है उसका प्रकाशन प्रकारान्तर से होता है।

तथाहि श्रीदशमे रेम इत्यस्य व्याख्यायां-कामप्यादाय भगवानन्तर्हित इति व्यक्तीभविष्यदपि पूर्वं यन्मुनीन्द्रः स्वयं स्फुटं नोक्तवान् तस्यायमभिप्रायः-सत्स्वपि(नानातत्परिकरेषु) नाना भगवदाविर्भावेषु मम स्वयं भगवति श्रीकृष्णाख्य एवाग्रहविशेष इति। तथा सत्स्वपि नानातत्परिकरेषु श्रीव्रजवासिष्वेव। तथा सत्स्वपि तेषु श्रीव्रजदेवीषु ततोप्यधिकतरः स इत रहस्यं सर्वेऽपि ज्ञातवन्त एव। किन्तु तास्वपि सतीषु श्रीभगवतः स्वरूपशक्तौ श्रीराधिकाया-मेवाधिकतमः स इति न ज्ञातवन्तः। तदेतच्च तत्तदुत्कर्षतारतम्यादेव मदाग्रहो ज्ञायते। अस्याः परमरहस्यायास्तदेतत्तु साक्षाद् ज्ञापयितुं संकुचति मच्चित्तं, ज्ञानखलताभिया विज्ञापयितुमपीच्छति। तस्मादस्याः सखीनां वचनात्तत्राप्रतीतौ च प्रतिपक्षाणामेव वचनाद् व्यंजनयैव वृत्त्या तत्सौभाग्योत्कर्षव्यंजनाय यथावसरं मध्ये मध्ये प्रकटितमप्यसन्तोषा-दावेशेन स्वयमपि प्रकटयिष्यामस्तर्हि नाम तु साक्षान्न वक्ष्याम इति। किं वक्तव्यमेतस्याः पुनरन्यासामपि नेति।। किञ्च व्यंजनावृत्तिरेव

नानारसप्रकाशिनी न तु मुख्या।। सा च यदि प्रसङ्गेऽवधारिते विशेष-व्यंजनार्थमभ्युदयते तदातीव चमत्कारिणी स्यादिति।। तदेतदभिप्रेत्य किं ते कृतमित्यादि चतुर्भिः श्लोकैः सखीद्वारा ज्ञापयित्वाप्यपरितुष्य-न्नावेशात्स्वयमाह, रेम इत्यादिनेति''।।

जैसे दशम स्कन्ध के ''रेमे तया चात्मरतआत्मारामोऽप्यखण्डितः'' (१०-३०-३५) इस श्लोक की व्याख्या में कहा है कि किसी गोपी को लेकर भगवान् अन्तर्हित हुए-यह आगे व्यक्त होगी तब भी श्रीशुकदेव मुनि ने पूर्व में इसे स्पष्टरूप से नहीं कहा-इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि भगवान् के नाना आविर्भाव है किन्तु मेरा विशेष आग्रह भगवान् कृष्ण में ही है। श्रीकृष्ण के भी व्रजवासियों में नाना परिकर है उनमें भी व्रजदेवियाँ भी है इन सब में भी वह श्रीकृष्ण ही सर्वोत्कृष्ट है इस रहस्य को सभी जानते हैं किन्तु उन व्रज परिकरों एवं व्रजाङ्गनाओं के रहते हुए भी वे भगवान् श्रीकृष्ण स्वरूपशक्ति श्रीराधिका में ही अधिकतम रूप से रमण करते हैं-उसी के साथ अविनाभाव से रहते हैं-यह बात किसी को ज्ञात नहीं है। इसी कारण उसके उत्कर्ष के तारतम्य के कारण ही मेरा आग्रह उसे ज्ञापित करने में है, किन्तु परमरहस्य रूपा उस राधिका के साक्षात् ज्ञापन में मेरा मन संकुचित होता है तथा ज्ञान भी खलता के भय से विज्ञापित भी करना चाहता हैं। इस कारण इसकी सखियों के वचन से तथा वहाँ अप्रतीत होने पर प्रतिपक्ष के वचनों से व्यञ्जना वृत्ति से उसके (श्रीराधा के) सौभाग्य के उत्कर्ष के व्यञ्जन के लिए यथावसर बीच-बीच में प्रकट किया हुआ भी भाव सन्तोषप्रद नहीं है अतः स्वयं ही (श्रीशुकदेव) प्रकट करेंगे। पर नाम का उच्चारण साक्षात् नहीं किया जाएगा। इस राधा और उसकी सखियों के महत्त्व के विषय में क्या कहना। और क्या-व्यञ्जना वृत्ति ही नानाविध रसों का प्रकाशन करने वाली है अभिधा नहीं। वह व्यञ्जना यदि प्रसङ्ग के निश्चित होने पर विशेष अर्थ को व्यञ्जित करने के लिए ग्रहण की जाती है तब और भी चमत्कारिणी होती है। इसी को अभिप्रेत करके ''किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाघ्रि..'' (१०-३०-१० तक) इत्यादि चार श्लोकों से सखी द्वारा ज्ञापित करवाकर भी असन्तुष्ट होते हुए आवेश पूर्वक स्वयं श्रीशुकदेव मुनि ने कहा ''रेमे तया चात्मरतः..''

तस्माच्छ्रीमद्भागवतादिषु श्रीकृष्णस्यात्मरूपायास्तस्या नामानुक्तौ नाश्चर्यं मन्तव्यमित्याह-''तस्या नामे''ति। श्रीमुनीन्द्रेण तन्नामानुल्लेखने-ऽयमप्यपरो हेतुरित्याह-''किंवा वैवश्यभीतितः''इत्यादिना। तस्मात्परोक्षतयै-वेदमुल्लेखनं मन्तव्यं यदनया राधितो नूनमित्यादिकम्। परमरसस्वरूपायास्तस्याः शब्दान्तरेण शास्त्रे यत्र तत्रोल्लेख उपलभ्यत एवेत्याह-''अतः क्वचित्पराशक्ति''रित्यादिना। अतः, रमा-पराशक्ति-माया-चिति-प्रिया-भक्त्यात्मादिशब्दैर्योक्ता आगमेषु सा राधैवेत्यवधार्य्यतामित्यर्थः।

किञ्च, ''आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्मारामतया विप्र प्रोच्यते गूढवेदिभिः।।''
--स्कंद पु. भा. मा.

''आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमत्मास्ति राधिका।'' स्कं.पु.भा.मा. ''रेमे तया चात्मरत ह्यात्मारामोऽप्यखण्डितः''-श्री.भा.रा.पं. ''आत्मना-रमया रेमे''-(ब्र.सं.) इत्यादिना तस्यास्तदात्मत्वोद्घोषणाच्छ्रीमुनीन्द्रादयोऽप्या-त्मशब्देनैव तस्या निरतिशयसमुत्कर्षद्योतकेन तां तादृशसमुन्मादेन जगुश्चेत् किमत्रानुचितमिति भावः। परोक्षवादमवलम्ब्य पराचिच्छक्तिगान्धर्वादिनाम-भिरूपनिषत्सु, ह्लादिनीति विष्णुपुराणे, महालक्ष्मीरिति च पुराणान्तरेषु तत्र तत्र या व्यपदिष्टा सेयं राधैवेत्यवधार्य्यताम्-न नामैकान्तत इयमनुल्लिखितेति भावः। ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,'' ''नामानि सर्वाणि यमाविशन्ती''ति श्रुतेः।

अंश-कलाऽऽवेश-विभूति-विलास-प्रकाश-स्वयंरूपादिभिस्तत्त-द्भगवद्रूपानुरूपेयं श्रीराधैव तत्तन्नाम-व्यपदेशं, तत्र तत्र रूपलीलाभेदेन, भजते, भगवद्वदेवेति अवगन्तव्यम्। यथा चेदं श्रीराधिकायाः श्रीकृष्णात्मरूपत्वं नार्थवादः, अपि तु यथार्थवाद एव, तथा प्रागेवावोचाम। ननु श्रीशुकमुनीन्द्रमते श्रीराधिका श्रीकृष्णस्यात्मेत्यत्र किं विनिगमकमिति चेदात्मारामेत्यस्याभ्यास एवात्र विनिगमकोऽन्यथा तस्यास्तदात्मत्वविरहे, आत्मातिरिक्तरूपायां तस्यां रमणेऽपि कथं तस्यात्मारामत्वं यथार्थवादो भवति? आत्मारामत्वं तु श्रीकृष्णस्य सिद्धान्तवादो, नत्वर्थवादः।

तस्मात्तदात्मारामत्वान्यथानुपपत्त्या सा तस्यात्मैत्यभ्युपगन्तव्या। ननु गोप्यन्तरास्वपि तस्य रासे रमणं श्रूयते, ताः सर्वाअपि तस्यात्मभूता

एवेति किमिति नाभ्युपेयते? यस्यां यस्यां श्रीकृष्णरमणं तस्यास्तस्यास्त-दात्मरूपत्वम्, आत्मारामत्वान्यथानुपपत्तेः, श्रीराधिकायास्तदात्मवत्, इत्यनुमानादिति चेन्न। तस्या अग्रेर्दाहशक्तिवत्तदभिन्नस्वरूपत्वेन नान्यसाधारण-त्वं वाच्यम्। श्रीराधिकेतरगोपीनां न श्रीकृष्णात्मरूपत्वं तासां तत्स्वरूपार्द्धाङ्गत्वा-भावात्, जीवात्मत्वावच्छिन्नतच्चेतनप्रकृत्यंशरूपत्वाच्च। ननु तास्वपि रमणाव-गमात्कथं तस्यात्मारामत्वमखण्डितमिति चेच्छ्रूयताम्-तासां तदनुग्राह्यत्वेन तावत्संख्याकप्रकाशान्तरेणैव तासु रमणं, ननु राधाकान्तस्वरूपेण स्वयंरूपेणेति नात्मारामत्वव्याघात इति ज्ञेयम्। यथार्थात्मारामत्वं तु तस्य श्रीमति निकुञ्ज एव। तदन्यत्र त्वौपचारिकं, भक्तवासनानुसारित्वादिति संक्षेपः। ''प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरम''दित्युक्तेस्ताभिः सह रमणे तस्यास्वरसत्वेन तदनुग्रहैकहेतुत्वेन च न तस्यात्मारामत्वहानिः। तस्मादनौपचारिकात्मारामत्वं सर्वान्तरतमश्रीमन्निकुञ्जगतमौपचारिकं तत्तु प्रकाशान्तरेण बहिरङ्गैश्वर्य्यलीला-स्वेवेति राद्धान्तः।

इस कारण श्रीमद्भागवत आदि में श्रीकृष्ण की आत्मस्वरूप श्रीराधा के नाम का उल्लेख न करने में आश्चर्य नहीं होना चाहिए ''तस्यानाम'' इत्यादि के द्वारा यही बात कही गई है, श्रीशुकदेव मुनि ने श्रीराधा का नाम नहीं उल्लिखित किया-इसका एक कारण विवशता भी है ''किंवा वैवश्य भीतितः (ब्रह्मवैवर्त्त में कहा है कि श्रीराधा का नाम का श्रवण करने मात्र से ही श्रीशुकदेव मुनि को छह मास की मूर्च्छा हो जाती थी-इस कारण से भी उन्होंने नामोल्लेख नहीं किया)।'' इस कारण ''अनया राधितो नूनं'' इत्यादि के द्वारा परोक्ष रूप में ही श्रीराधा के नाम का उल्लेख मानना चाहिए। परम रसरूपा श्रीराधा का उल्लेख शास्त्र यत्र-तत्र शब्दान्तर (अन्य शब्दों) से उपलब्ध होता है। जैसे कहीं पराशक्ति, कहीं चित् शक्ति, कहीं प्रिया इत्यादि के द्वारा। अतः रमा-पराशक्ति-माया-चिति-प्रिया-भक्ति आदि शब्दों से जो भी आगमों में कहा गया है उसे ''श्रीराधा'' ही समझना चाहिए।

किञ्च-उस श्रीकृष्ण की आत्मा राधिका है उसमें रमण करने के कारण ही उसे ''आत्माराम'' कहा जाता है-गूढ तत्त्व वेत्ताओं के द्वारा यह स्कन्दपुराण में कहा गया है।

यहीं अन्य श्लोक में कहा है-आत्माराम श्रीकृष्ण की निश्चय ही

आत्मा राधिका है। श्री भा. रा. पं. में कहा गया है-अखण्डित वह उस श्रीराधिका के साथ रमा-अतः आत्मरतः होने के कारण उसे आत्माराम कहा गया। इन सभी वचनों के द्वारा श्रीराधा को श्रीकृष्ण की आत्मा कहा गया है-अतः श्रीशुकदेव मुनि ने भी उसके उत्कर्ष को द्योतित करने के लिए ही उसे परोक्ष रूप में कहा है-इसमें कोई अनुचित नहीं है। परोक्षवाद का अवलम्बन लेकर ही उपनिषदों में उसे चित्शक्ति और गान्धर्वा-आदि नामों से कहा है, विष्णुपुराण में उसे ''ह्लादिनी'' कहा है, अन्य पुराणों में उसे ''महालक्ष्मी'' कहा है-उसे श्रीराधा ही समझना चाहिए-एकान्ततः श्रीराधा का कहीं उल्लेख नहीं हुआ-ऐसा नहीं मानना चाहिए। श्रुतियों का वचन है-''एक ही तत्त्व को विप्र अनेक प्रकार से कहते हैं'' ''सारे नाम जिसमें आकर समाहित हो जाते हैं''-यह श्रुति वचन है।

भगवान् के समान रूप और लीला भेद से भगवान् रूप और लीला के समान यह श्रीराधा ही कहीं अंश-कला-आवेश-विभूति-विलास-प्रकाश-स्वयंरूप आदि नामों से कही गई है-ऐसा समझना चाहिए। श्रीराधिका का यह श्रीकृष्णात्मरूप अर्थवाद नहीं है अपितु यथार्थवाद है-ऐसा हमने पहले ही कह दिया है। यदि यह प्रश्न हो कि श्रीमुनीन्द्र के मत में श्रीराधिका श्रीकृष्ण की आत्मा है-इसमें निर्धारक तत्त्व क्या है? तब हमारा उत्तर है कि श्रीकृष्ण को बार-बार आत्माराम कहना ही निर्णायक (एक पक्ष में निर्णय करने वाला विनिगमक) है। यदि ऐसा नहीं होता तब उसकी आत्मा के विरह में अथवा श्रीराधा के आत्मा से अतिरिक्त तत्त्व होने पर उसमें रमण करने पर भी श्रीकृष्ण को आत्माराम कैसे कह सकते थे। श्रीकृष्ण को आत्माराम कहना तथा श्रीराधा को उनकी आत्मा कहना यह सिद्धान्तवाद है-अर्थवाद नहीं।

इसलिए ''आत्माराम'' की अन्य प्रकार से संगति न होने के कारण वह श्रीराधा उस कृष्ण की आत्मा है यह समझना चाहिए।

पूर्व पक्षी प्रश्न करता है कि ''रास में श्रीकृष्ण का अन्य गोपिकाओं में भी रमण करना सुना जाता है, तब क्या उन सभी गोपियों को उसकी आत्मारूप में स्वीकार नहीं किया ता सकता।'' जिन-जिन में श्रीकृष्ण का रमण हो उस-उस को उसकी आत्मा मानना चाहिए, आत्माराम होने की

अन्य रूप से संगति न होने के कारण, श्रीराधिका को आत्मरूप मानने के समान-इस प्रकार के अनुमान के आधार पर-पर यह अनुमान एवं इसके आधार पर अन्य गोपियों को कृष्ण की आत्मा स्वीकार करना संगत नहीं है। क्योंकि श्रीराधा अग्नि और उसकी दाहक शक्ति के समान श्रीकृष्ण से अभिन्न रूप है अन्य गोपियों के समान साधारण नहीं। श्रीराधिका से भिन्न गोपियाँ श्रीकृष्ण की आत्मा नहीं है, वे उस श्रीकृष्ण के स्वरूप का अर्द्धाङ्ग नहीं है गोपियाँ जीवात्मा से अवच्छिन्न चेतन प्रकृति का अंश हैं।

ननु उन गोपियों में भी रमण करने पर उसका आत्मारामत्व कैसे अखण्डित रहता है-यदि ऐसा है तो सुनो-उन गोपियों में श्रीकृष्ण का अनुग्रह है, उनकी पात्रता के अनुपात में प्रकाशान्तर से उनमें रमण होता है न कि राधाकान्त स्वरूप से अथवा स्वयं के रूप से अतः उसके आत्माराम होने में कोई बाधा नहीं है ऐसा समझना चाहिए। श्रीकृष्ण का यथार्थ आत्माराम होना तो श्रीराधा के साथ निकुञ्ज में है, अन्यत्र तो औपाधिक है, भक्तों की वासना के अनुसार। ''दया पूर्वक हंसकर आत्माराम श्रीकृष्ण ने गोपियों का रमण करवाया'' १०-२९-४२। इस उक्ति के द्वारा उन गोपियों के साथ रमण में श्रीकृष्ण का स्वरस नहीं है अपितु उन पर अनुग्रह करना ही हेतु है, इसलिए आत्मारामत्व की हानि नहीं है। इस प्रकार अनौपचारिक आत्मारामत्व सर्वान्तरात्म रूप से श्रीराधा के साथ में निकुञ्ज में रमण करना है। औपचारिक आत्मारामत्व तो प्रकाशान्तर रूप से बहिरङ्ग ऐश्वर्य वाली लीलाओं में है-यही सिद्धान्त है।

पञ्चश्लोकीमिमां पश्चाद्व्याख्यास्यामः ।। अत्युपयुक्तमिदानीं नाम निर्वचनवाक्यमुदाह्रियते ।।यथा-

अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रह इति ।।

अस्यार्थः--नूनं वितर्के निश्चये वा ।। हरिर्दुःखहर्त्ता ।। भगवान् श्रीनारायणः ।। ईश्वरो भक्तेष्टप्रदानसमर्थः ।। अनयैवाराधितः पूजितः ।। नत्वस्माभिरिति भावः ।। राधयति आराधयतीति राधेति नामकरणमपि दर्शितम्।। तत्र हेतु र्यदित्यादि ।। गोविन्दो गोकुलयुवराजः ।। नोऽस्मान् विहाय प्रीतः सन् स्वयमेव यामेनां रहोऽनयदिति ।। यद्वा ।। यो हरिरीश्वरो

भगवानिति प्रसिद्धः श्रीभागवतादिषु, सर्वस्य वशी सर्वस्येशान इत्यादिश्रुतिशिरोभिरपि गीतः, स चानया राधितो वशीकृतः सन् गोविन्दो भवति नान्यथा।। वृन्दावने तु गोविन्द इति पुराणान्तरात्।। तदुक्तं श्रीब्रह्मयामले--

भुजद्वययुतः कृष्णो न कदाचिच्चतुर्भुजः।
वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति।
गोप्येकया युतस्तत्र परिक्रीडति नित्यदेति।।

इयमेव दैवीवागित्युच्यते।। यल्लीलायामपि प्रयुक्ता सिद्धान्तमेव प्रकाशयति।। अथवा-अनया सह आराधितो गोविन्दो हरिः सर्वदुःखहर्त्ता।। भगवान् सकलैश्वर्य्यमाधुर्य्यप्रकाशकः।। ईश्वरः सर्वविधानसमर्थः।। नान्यथा।। एतत्प्रसादोपनतमेवैतस्यैश्वर्य्यादिकमिति भावः।। यद्वा-अनया सह यातया भगवान् हरी राधितः।। राधामाख्यातवान्।। राधामाचष्टे राधयतीति वा राधितः।। राधीति धातोः क्त इडागमे सिद्धम्।। यद्वा-राधाम् इतः राधितः।। द्वितीया श्रितातीतगतात्यस्तप्राप्तापन्नैरित्यनेन समासः।। यद्यपि श्रितादिष्वितशब्दो नास्ति तथापि द्वितीयेति योगविभागात्समासः।। ततः शकन्ध्वादिषु पररूपमित्यनेन पररूपमिति सिद्धम्।। ईश्वरः स्वतन्त्रः।। कुतः।। यन्नो विहाय यां रहोऽनयदिति।। अतोऽस्यां प्रीत इति शेषः।। अथवा-यत् यतोऽनया राधितः वशीकृतस्तत एव भगवान्।। भागधेयवान्।। अस्या वशवर्त्तितैवास्य भाग्यफलमित्यर्थः।। तत एव हरिः।। मनोहरः।। अर्थादस्माकम्।। ननु तस्याः प्रियसखीनां भवतीनां कथमयं मनोहर इति चेत्तत्राहुः।। ईश्वरः परमाराध्यः।। न तु कान्त इत्यर्थः।। ''रसं मे राधायां भजति किल भावं व्रजमणा''विति श्रीसुधानिधेः।। रसं सख्यरसम्।। भावं चाराध्यबुद्धिमिति विवेकः।।

इन पाँच श्लोकों की व्याख्या आगे करेंगे। अब नाम के निर्वचन के लिए अत्यन्त उपयुक्त वाक्य उद्धृत करते हैं। जैसे--

अनया राधितो नूनं.. भाग १०-३०-२८)

हमें छोड़कर प्रसन्न होता हुआ गोविन्द जिसे एकान्त में ले गए इसी से निश्चित ही भगवान्, ईश्वर, हरि आराधित हुए हैं।

इस श्लोक का अर्थ करते हैं। नूनं पद विकर्त या निश्चय अर्थ में है। हरि का अर्थ दुःख हर्त्ता है (हरति दुःखानि-इति हरिः) भगवान् श्रीनारायण। ईश्वर-भक्तों को अभीष्ट प्रदान करने में समर्थ। इसी (गोपी) से हरि आराधित पूजित हुए हैं। न कि हम लोगों से। यह भाव है। ''राधयति आराधयतीति राधा'' इस प्रकार नामकरण भी दिखला दिया गया है। इसमें हेतु देते हैं-यदित्यादि'' गोविन्द-गोकुल युवराज। नः - हम लोगों को छोड़कर प्रसन्न होता हुआ स्वयं जिसे एकान्त में ले गया। अथवा-जो भागवत आदि में हरि, ईश्वर और भगवान्-इस रूप में प्रसिद्ध है, श्रुतियों के द्वारा जिसे सबका ईशान-वश में करने वाला कहा गया है, वह इसके द्वारा आराधित अर्थात् वश में होता हुआ ''गोविन्द'' होता है-अन्य प्रकार से नहीं (राधा के वशीभूत हरि ही गोविन्द कहा जाता है) अन्य पुराण में कहा है ''वृन्दावने तु गोविन्दः'' (वह ईश्वर वृन्दावन में गोविन्द है) ब्रह्मयामल में कहा गया है-

श्रीकृष्ण दो भुजाओं वाला है न कि चतुर्भुज। वृन्दावन को छोड़कर वह कहीं भी नहीं जाता है। वह नित्य वहाँ (वृन्दावन में) एक गोपी से संयुक्त होकर क्रीड़ा करता है। इसी गोपी को दैवीवाक् भी कहते हैं। (गोविन्दः गो-गोपी अर्थात् दैवीवाक् गो-तया विन्दते इति गोविन्दः (गो का अर्थ वाक् है) जो लीला में प्रयुक्त होने पर भी सिद्धान्त को ही प्रकाशित करती है।

अथवा-इसके सहित आराधित गोविन्द हरि समस्त दुःखों का हर्त्ता है। भगवान् का अर्थ है समस्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य के प्रकाशक। ईश्वर का अर्थ है समस्त विधान में समर्थ। श्रीराधा के सहित आराधित ही हरि दुःख हर्त्ता, सर्वसमर्थ एवं सकल ऐश्वर्य के प्रकाशक है अन्य प्रकार से नहीं। इस राधा के प्रसादन से ही हरि ऐश्वर्य आदि का प्रकाशक है अथवा इस राधा के साथ गई हुई गोपी के द्वारा भगवान् हरि ने राधा को प्रणय के लिए निवेदन किया। इस प्रकार ''राधितः'' का अर्थ हुआ-जो राधा को कहता है। अथवा राधयतिति-जो आराधित करे-इस अर्थ में ''राधि'' धातु से ''क्त'' प्रत्यय और इडागम करने पर ''राधित'' शब्द बनता है। अथवा ''राधाम् इतः'' राधा को प्राप्त-''द्वितीया श्रितातीपतिततगतात्यस्त प्राप्तापन्नैः'' इस सूत्र से समास हुआ। यद्यपि श्रित आदि में ''इत'' शब्द नहीं है किन्तु ''द्वितीया'' इस योग विभाग से समास हो सकता है। तदनन्तर ''शकन्ध्वादिषु

पररूपं वाच्यम्'' से पर रूप होता है। ईश्वर का अर्थ है स्वतन्त्र। यह कैसे? क्योंकि वह श्रीकृष्ण हमें छोड़कर जिसे एकान्त में ले गए-उसी के कारण वह ईश्वर है। इसलिए इस राधा में प्रीतिमान् है। अथवा इस राधा के द्वारा राधित-अर्थात् वश में किया हुआ है-इसी कारण वह भगवान् अर्थात् भाग्यवान् है, इस राधा के वशीभूत होने पर ही इसका भाग्यफल है यह अर्थ हैं। इसी कारण वह हरि मनोहर है, अर्थात् हमारे मन को हरने वाला है। प्रश्न है कि उस राधा की प्रिय सखियों अर्थात् आपका यह मनोहर (मन को हरण करने वाला) कैसे है तब कहते हैं-''ईश्वरः परमाराध्यः'' वह ईश्वर है अर्थात् श्रीकृष्ण परम आराध्य है न कि गोपियों का कान्त-पति है। (गोपियाँ श्रीकृष्ण की आराधना राधाकान्त रूप में या राधा के सहचर रूप में करती हैं उसे अपना पति मानकर नहीं) यही रहस्य राधारससुधानिधि के पद्य संख्या १४६ में इस प्रकार कहा गया है-श्रीकृष्ण कहते हैं जो साधक श्रीराधा में सख्यरस का तथा मुझ में भाव (आराध्य बुद्धि) का सेवन करता है वह असाधारण है। यहाँ रस का अर्थ सख्यरस है तथा भाव का अर्थ आराध्यबुद्धि है। (राधाकान्त श्रीकृष्ण में गोपियों या साधकों की आराध्य बुद्धि रहती है)।

तदेतत्सर्वमाकलय्योक्तं तत्रैव ।। यथा--

या वा राधयति प्रियं व्रजमणिं प्रौढानुरागोत्सवैः
संसिद्ध्यन्ति यदाश्रयेण हि परं गोविंदसख्योत्सुकाः ।।
यत्सिद्धिः परमा यदेकरसवत्याराधनात्तेन सा
श्रीराधाश्रुतिमौलिशेखरलता नाम्नी मम प्रीयताम् ।।

अस्यार्थः--या वै प्रियं व्रजमणिं व्रजयुवराजं प्रौढानुरागोत्सवै-राराधयति वशीकरोति सा राधा ।। तत्रानुरागलक्षणं श्रीमदुज्ज्वले--

सदानुभूतमपि यः कुर्वन्नवनवं प्रियम् ।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्य्यते ।।
स च मांजिष्ठः प्रौढः ।। सोऽपि तत्रैव--
अहार्य्योऽनन्यसापेक्षो यः कान्त्या वर्द्धते सदा ।
भवेन्मांजिष्ठरागोऽयं राधामाधवयोर्यथेति ।।
एवं चैतद्व्रजसंबंधि श्रीराधानामनिर्वचनमेकम् ।।

अथ गोविन्दसख्योत्सुकाः गोप्यः यदाश्रयेणैव परं केवलं संसिद्ध्यन्ति।। अन्यथा दाम्पत्योदयात् सख्यस्थगनं।। ''आधाय मूर्द्धनि यदापुरुदारगोप्य'' इत्यादिना तत्रैवोक्तेः।। ततश्च गोविन्दसख्योत्सुका आराधयति संसाधयति सा राधेति द्वितीयम्।। अथ यदेकरसवती यस्यामेवैकस्यां रसो रागः शुद्धा प्रीतिर्विद्यते यस्याः सा यदेकरसवती।। सा परमा।। ततस्ततोऽप्युत्कृष्टतमा सिद्धिः।। यत् यत इति।। ततश्च स्वदास्योन्मुखान् सख्योन्मुखांश्च साधकान् राधयति स्वयमेव साधयति सा राधेति तृतीयम्।। 'स्वरासमधु रोत्सवे किमुप्रवेशयेत्स्वामिनी'ति तत्रैवोक्तेः।। अथ तेन श्रीकृष्णेन व्रजयुवराजेनाराधनादपि श्रीराधेति चतुर्थम्।।

''राध्यते सा भगवता तेन राधेति गीयत'' इति श्रीब्रह्मवैवर्त्तात्।। अतः श्रुतिमौलेरुपनिषदेकवेद्यस्य श्रीहरेःशिरोभूषणनाम्नी मम प्रीयताम्।। अत्रोत्तरोत्तरोत्कर्षोऽपि साधकानुग्रहाय द्योतितः।। एष्वाद्यं निर्वचनद्वयं व्रजसंबन्धि।। तृतीयं निकुंजसंबंधि।। तुरीयमुभयानुगतमिति विवेकः।।

।। इति श्रीराधा भ. मं. नामनिरूक्तियुक्तिः।।६।।

इन सबका आकलन करके वही सुधानिधि के ९७ वें पद्य में कहा है-जो (श्रीराधा) प्रौढ अनुराग के उत्सवों से प्रियतम व्रजमणि श्रीकृष्ण को प्रसन्न करती हैं, जिस (राधा) का आश्रय पाकर गोविन्द के सख्यभाव में उत्सुक साधक परम सिद्धि को प्राप्त करते हैं। उस अकेली राधा में ही श्रीकृष्ण की प्रीति विद्यमान है अतः वह एकरसवती है वह परम है, इस कारण उस (श्रीकृष्ण) से भी उत्कृष्टतम सिद्धि है, जो श्रुति शिरोमणि उपनिषद् प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण के लिए शिरोभूषण नाम वाली है वह श्रीराधा मुझ पर प्रसन्न हों।

इसका अर्थ है--जो प्रिय व्रजमणि-व्रजयुवराज को प्रौढ अनुराग के उत्सवों से-आराधयति-वश में करती है-वह राधा है। ''या, या व्रजमणिं प्रोढानुरागोत्सवैराराधयति वशी करोति सा साराधा'' अनुराग का लक्षण-उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में इस प्रकार है-सदा अनुभूत को भी नवीन से नवीन प्रिय करता हुआ जो राग नवीन से नवीन होता रहता है वह अनुराग

कहा जाता है। उसमें भी मांजिष्ठ राग को प्रौढ अनुराग कहा जाता है। उसका स्वरूप भी उसी ग्रन्थ में इस प्रकार है-जो राग कृत्रिम न हो तथा जिसे किसी अन्य की अपेक्षा न हो एवं सदा कान्ति से बढता रहता है उसे मांजिष्ठ राग कहते हैं-जैसे राधा और माधव का राग है।

इस प्रकार व्रज सम्बन्धी श्रीराधा नाम का एक प्रकार से निर्वचन हुआ। राधारस सुधानिधि के श्लोक (या वा आराधचति ९७) की द्वितीय पंक्ति की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि गोविन्द के सखी भाव में उत्कण्ठित गोपियाँ जिस राधा के आश्रय से अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करती हैं। अन्यथा दाम्पत्य भाव के उदय से सख्यभाव स्थगित हो जाएगा। राधारस सुधानिधि में ही अन्य श्लोक-४ के द्वारा कहा गया है कि-

श्रीराधा की चरण रेणु को अपने मस्तक पर धारण करके उदार गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रिय गुणों के सहित वाञ्छित पद को प्राप्त किया।

इस प्रकार राधा के नाम का द्वितीय निर्वचन यह हुआ कि- ''गोविन्दसख्योत्सुका आराधयति संसाधयति सा राधेति द्वितीयम्'' गोविन्द के साथ सख्य भाव के लिए उत्सुक आराधना करती है-अतः उसका नाम राधा है। या वा राधयति-इस पद्य में आए हुए ''यदेकरसवती'' का अर्थ करते हैं-जिस एक (राधा) में रस-राग अर्थात् शुद्ध प्रीति विद्यमान है कृष्ण की वह ''यदेकरसवती है।'' अथवा जिस राधा की एकमात्र श्रीकृष्ण में शुद्ध प्रीति है। इस कारण उससे भी उत्कृष्टतम सिद्धि है। यत्- का अर्थ। यतः- जिस कारण से है।

अब राधा शब्द का तृतीय निर्वचन करते हैं-वह उत्कृष्टतम सिद्धि है अतः अपने प्रति दास्य भाव से और सख्य भाव से उन्मुख होने वाले साधकों को ''राधयति-अर्थात् स्वयं सिद्ध करती है-अतः वह राधा है। वहीं कहा गया है कि क्या स्वामिनी राधा अपने रास के मधुरोत्सव में मुझे प्रवेश देगी?।

चतुर्थ निर्वचन यह है-''ते न श्रीकृष्णेन व्रजयुवराजेनाराधनादपि श्रीराधा-इति'' (श्रीराधारस सुधानिधि के श्लोक ९७ के आधार पर) व्रजयुवराज उस श्रीकृष्ण के द्वारा आराधन से वह राधा है।

श्रीब्रह्मवैवर्त्तपुराण में भी कहा है-''राध्यते सा भगवता तेन राधेति

गीयते'' उस भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा वह आराधना की जाती है अतः उसे राधा कहते हैं। अतः श्रुति शिरोमणि उपनिषदों से एकमात्र वेद्य श्रीहरि के शिरोभूषण नाम वाली वह राधा मेरे लिए प्रसन्न हों। यहाँ साधकों पर अनुग्रह करने के लिए उत्तरोत्तर उत्कर्ष द्योतित किया गया है।

इन चार निर्वचनों में प्रथम दो निर्वचन (या वै प्रियं व्रजमणिं व्रजयुवराजं प्रौढानुरागोत्सवैराराधयति वशीकरोति सा राधा, एवं ''गोविन्द-सख्योत्सुका आराधयति संसाधयति सा राधा)'' व्रज सम्बन्धी निर्वचन है। ''स्वदास्योन्मुखान् सख्योन्मुखांश्च साधकान् राधयति स्वयमेव साधयति सा राधा-यह तृतीय निर्वचन निकुञ्ज सम्बन्धी है। तथा ''तेन श्रीकृष्णेन व्रजयुवराजेनाराधनादपि श्रीराधा-यह चतुर्थ निर्वचन व्रज एवं निकुञ्ज दोनों से सम्बद्ध है। (इनके हिन्दी अनुवाद-ऊपर दिए गए हैं।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां राधानामनिरूक्तियुक्तिः।।६।।

ननु तस्या अपि जीवत्वसाधारण्यमेवाभ्युपेयम्, ''अवमानं च दौरात्म्या''दित्यादिना रासे तत्त्यागावगमादिति चेन्मैवं वाच्यम्। तस्याः श्रीकृष्णस्वरूपत्वबोधकतदात्मत्वबोधकवाक्यबाधप्रसङ्गात्। आत्मा हि अहेयानुपादेयो भवति स्वस्वरूपत्वात्। तस्माद्रासे तत्त्यागोक्तेरभिप्रायविशेष-स्योपरिष्टाद्वक्ष्यमाणत्वाच्च। यद्यत्स्वरूपघटकं तत्तत्स्वरूपं, सिताया माधुर्य्यवत्। तस्माद्युक्तमुक्तं ''श्रीमुनीन्द्रमते राधा श्रीकृष्णात्मेति निश्चिते''ति। तस्य (श्रीकृष्णस्य) जीवात्मन्यारामता आत्मारामता इति तु न संभवति, तस्य तत्स्वरूपविरहादेव। स्वस्वरूपे आरामतैवात्मारामतेत्यर्थस्य शास्त्रशिष्टाचार-सम्मतत्वात्। अन्यथा स्वरूपेतरजीवात्मनि यस्मिन् कस्मिन्नपि रमणे आत्मारामत्वस्यातिप्रसङ्गात् इत्याशयेनाह-''जीवात्मारामता तस्ये''त्यादि। रासे श्रीराधिकेतरगोपीनां तु ''पुरुषः शक्तिभिर्यथे''ति शक्तिपदेन परामृष्टत्वाच्चेति हेत्वन्तरं दर्शयन्नाह-''निदर्शयामासे''ति। श्रुत्युक्तं परमात्मनोऽप्रतर्क्यत्वा-निर्द्देश्यत्वादिविशेषणजातं तु तस्याचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेनैवेति हंसवंशाचार्य्याणां राद्धान्तः। न तु तस्य पराभिमतनिर्धर्मकत्वाभिप्रायेण। निर्धर्मकवस्तुनः सर्वप्रमाणविषयताविरहेण खपुष्पायमाणत्वात्। अतएव न शब्दाविषयत्वरूपम-निर्द्देश्यत्वं, ''सत्यं ज्ञानं, आनन्दः, साक्षी, चेता, सर्वज्ञः सर्ववि''दित्यादिनां ब्रह्मस्वरूपोपपादकवाक्यानां निरवकाशत्व-अब्रह्मपरत्वप्रसङ्गात्। तव मते

निर्धमकब्रह्मेतरस्य सर्वस्य मिथ्यात्व-त्रैकालिकात्यन्ताभाववत्त्वेन तस्मिन्स-त्यादिपदानां अन्वितत्वकल्पने ''असत्ये'' सत्त्वशब्दप्रयोगवन्महानर्थविपर्य्यासः स्यात् 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति नियमात् सद्रूपे वस्तुन्येव सत्यादिपदाना-मन्वयस्य न्याय्यत्वाच्च। तस्मात्त्वद्रीत्या सत्त्यादिपदानां निरवकाशत्वमेवाव-शिष्यत इति ज्ञेयं किंच सर्वसंबंधगन्धशून्ये न लक्षणा प्रसरावसरः। नाप्यतन्नि-रसनमात्रमेव ब्रह्मवेदनम्। ''तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यःपन्था विद्यतेऽ-यनाय'', ''प्रतिबोधविदितं मतम्'', ''येनाहुर्मनो मतं तदेव ब्रह्मत्वंविद्धि,'' ''यस्यामतं तस्य मत''मित्यादिश्रुतीनां साकल्येन ब्रह्मज्ञानाविषयं तत्स्वरूप-शक्तीनामानंत्यात् यद्वा अवेदविदो ज्ञानाविषयत्वमित्यर्थत्वान्नितरां ज्ञानाविषयत्वस्याश्रौतत्वात्। ''यो वेदनिहितं गुहायाम्''इत्यादिश्रुतयस्तस्य ज्ञानविषयत्वमामनन्ति। केवलं अतन्निरसन्मात्रे तत्स्वरूपविषयकाज्ञानस्य तादवस्थ्या''त्सर्वं-प्रपञ्चविलक्षणं यत्किञ्चिदित्येतावन्मात्रज्ञानेनातत्स्वरूप-विषयकमूलाज्ञानस्यानुच्छेदेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। ननु ''येनेदं सर्वं विजानाति तज्ज्ञान-स्वरूपं ब्रह्मेति''चेदवाच्यत्वानिर्द्देश्यत्वप्रतिज्ञाभङ्ग। तस्यज्ञानशब्द-वाच्यत्वस्य त्वयैवाभ्युपगमात्। वस्तुमात्रस्य सधर्मकत्वात्। निर्धकस्य सर्वप्रमाणबहिर्भूतत्वेन खपुष्पवदवस्तुत्वाच्चेति दिक्। प्रकृतमनसरामः।

''अवमानं च दौरात्म्यात्'' (दौरात्म्य भाव से अपमान) इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि श्रीराधा का त्याग हुआ है-इससे उसका जीवत्व साधारण्य ही सिद्ध होता है आत्मत्व नहीं-ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि इससे वह श्रीकृष्ण का स्वरूप है। या वह तदात्म स्वरूप है-इन वाक्यों का बाध उपस्थित हो जाएगा। जबकि स्वस्वरूप होने से अहेय और अनुपादेय (अपने से भिन्न वस्तु ही उपादेय होता है) है। रास में उसके त्याग की उक्ति का विशेष अभिप्राय है ऐसा आगे प्रतिपादित करेंगे। जो-जो स्वरूप घटक होता है वह-वह स्वरूप होता है, जैसे सिता-शर्करा खण्ड का माधुर्य। इसलिए मुनीन्द्र के मत में ठीक ही कहा गया है-''श्रीराधा कृष्ण की आत्मा है। श्रीकृष्ण के आत्माराम होने के कारण जीवात्मा में रमण सम्भव नहीं है क्योंकि जीवात्मा उसका स्वरूप नहीं है। अपने स्वरूप में रमना ही ''आत्माराम'' होना है, आत्माराम का यही अर्थ शास्त्र सम्मत तथा शिष्टजन सम्मत है। अन्यथा अपने स्वरूप से भिन्न जिस किसी

जीवात्मा में रमण करने से आत्माराम शब्द का अति प्रसङ्ग (अति व्याप्ति) हो जाएगा और वह दोष होगा-इसी आशय से ''जीवात्मारामता तस्य दृष्टान्तत्वे न सम्मता'' (दृष्टान्त में उसकी जीवात्मा में आत्मरामता सम्मत नहीं है) रास में श्रीराधा से भिन्न गोपियों का उल्लेख ''पुरुषः शक्तिभिर्यथा'' के द्वारा शक्ति पद से किया गया है-यह भी नामोल्लेख न करने में एक कारण है। परमात्मा को श्रुतियाँ अप्रतर्क्य एवं अनिर्देश्य कहती हैं-इस श्रुति का अर्थ हंसवंश के आचार्यों (निम्बार्काचार्यों) ने यह किया है कि परमात्मा अचिन्त्य और अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं। निम्बार्काचार्यों ने परमात्मा को वेदान्तियों के समान निर्धर्मक नहीं माना है क्योंकि निर्धर्मक वस्तु सभी प्रकार के प्रमाणों का विषय नहीं बनने के कारण आकाश कुसुम के समान अलीक होगी। यहाँ अनिर्देश्य का अर्थ शब्द का विषय न बनना नहीं है-क्योंकि ऐसा होता तब ''सत्यं ज्ञानम्-आनन्दः साक्षी, चेता, सर्वज्ञ, सर्वविद् (परमात्मा सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप है, वह साक्षी, चेता, सर्वज्ञ है) इन ब्रह्म स्वरूप के प्रतिपादक वाक्यों का अवकाश ही नहीं रहता। तथा ब्रह्म के स्थान पर अब्रह्म का प्रतिपादन होगा। तुम्हारे मत में निर्धर्मक ब्रह्म से भिन्न सब मिथ्या है त्रैकालिक अत्यन्ताभाव होने के कारण यदि सत्यं ज्ञानं आनन्द आदि पदों की अन्वय की कल्पना इस असत्य रूप मिथ्या में की जाने पर (क्योंकि आपके मत में निर्धर्मक ब्रह्म तो शब्द का विषय है नहीं) ''असत्य'' में सत्य शब्द के प्रयोग से अर्थ विपर्यय हो जाएगा जबकि यत्परः शब्दः स शब्दार्थः (जिसके लिए शब्द का प्रयोग होता है वही उस शब्द का अर्थ होता है) इस नियम के अनुसार सद्रूप वस्तु में ही सत्य आदि पदों के अन्वय न्याय सङ्गत है। इस कारण तुम्हारे मत में सत्य आदि पदों को अवकाश नहीं मिलेगा ऐसा समझना चाहिए। और यह बात भी है कि सभी प्रकार के सम्बन्धों की गन्ध से शून्य में लक्षणा शक्ति को भी अवसर प्राप्त नहीं होता क्योंकि लक्षणा सम्बन्ध में ही प्रवृत्त होती है। ब्रह्म से भिन्न का खण्डन कर देना मात्र ही ब्रह्म ज्ञान नहीं है।

''उसे ही जानकर मृत्यु के परे जाता है, जाने का अन्य मार्ग नहीं है'' ''ब्रह्म ज्ञान प्रतिबोध से विदित है'' ''जिसके द्वारा मन का मत कहा गया है उसे ही ब्रह्मत्व समझो'' ''अमत ही जिस का मत है'' ब्रह्म की अनन्त

शक्तियों के कारण ही इन सभी श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म को ज्ञान (सामान्य बोध) का अविषय माना गया है। यदि वेद को जानने वाले इन श्रुतियों का यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्म ज्ञान का विषय कभी नहीं बनता है तब यह मत श्रुति प्रतिपादित नहीं है।

''यो वेद निहितं गुहायां'' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को ज्ञान का विषय बतलाती हैं।

केवल ब्रह्म से भिन्न के निरसन (निराकरण) मात्र में तत् स्वरूप विषयक अज्ञान का तादवस्थ्य के कारण सभी प्रकार के प्रपञ्च से विलक्षण यत्किञ्चिन्मात्र इतने से ज्ञान से तत् स्वरूप (ब्रह्म) विषयक मूल अज्ञान का उच्छेद नहीं होगा (तात्पर्य यह है कि वेदान्ती ब्रह्म को निर्धर्मक मानकर उससे भिन्न समस्त प्रपञ्च का निषेध करते रहते हैं तथा उस निषेध से केवल इतना ही ज्ञान होता है कि वह ब्रह्म इस प्रपञ्च से विलक्षण-यत्किञ्चित् स्वरूप वाला है-इससे ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है तथा विध्यात्मक ज्ञान के बिना उसके वास्तविक स्वरूप का भी ज्ञान नहीं हो सकता है) यदि जिससे इस सबको जानता है वह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है-ऐसा कहते हैं तब ब्रह्मवाच्य से निर्देशित नहीं है-आपकी इस प्रतिज्ञा का भङ्ग होता है। क्योंकि ब्रह्म ज्ञान शब्द से वाच्य है-यह आपने ही स्वीकार किया है। वस्तुमात्र सधर्मक है। निर्धर्मक वस्तु सभी प्रमाणों से बहिर्भूत होने के कारण आकाश-कुसुम के समान अवस्तु होगी। अब प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं।

ननु कथमुच्यते सर्वशास्त्रविपरीतं श्रीराधा श्रीकृष्णस्यात्मेति। नहि सम्भवति सर्वात्मनः सर्वान्तर्यामिनस्तस्यापि कश्चिदन्य एवात्मेति?-इत्याशङ्कायामाह-''देहदेहिविभागाभावादित्यादिना। ''तदेवं तस्य सच्चिदानन्दविग्रहत्वे सिद्धे, विग्रह एवात्मा तथाऽऽत्मैव विग्रह इति सिद्ध''मित्यादि श्रीकृष्णस्वरूपनिरूपणप्रसङ्गे प्रागुक्तं स्मारयति। नहीश्वरस्वरूपे देहदेहिविभागोऽभ्युपेयते-

किमात्मिकेयं व्यक्तिः,'' ''अकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्'' इत्यादि श्रुतिभ्य इत्यर्थः। श्रीकृष्णस्यात्मेत्यस्य ''आत्मा सा सः कलेवर'' इति वक्ष्यमाणन्यायेन रसे तस्यास्तदात्मत्वं, नतु स्वरूपदृष्ट्येति ज्ञेयम्। अतः

परमरहस्यरूपायाः साक्षाद्रसरूपायाः श्रीकृष्णात्मरूपायास्तस्याः साक्षान्नाम-प्रकाशनमन्तरेणैव भङ्ग्यैव तत्संसूचयित्वा श्रीकृष्णचन्द्रमुद्दिश्य सा सा रहस्य-लीला प्रकाशितेति नात्र किमप्यनुचितमिति भावः। वैष्णवतोषणीकारमतेनापि स्वोक्तं पुष्णाति-''तथाही''त्यादिना। रसप्रकाशने मुख्यापेक्षया व्यञ्जनावृत्तेरेव चमत्कारविशेषाधायकत्वात्तामाश्रित्यैव श्रीमुनीन्द्रस्य ''रमे तये''त्याद्या आवे-शोक्तिः। ''अनया राधितो नून''मित्येवं सखीमुखेन योल्लिखिता तया सह रेमे। ननु स्वस्मिन् परमासक्तास्ताः सर्वा एव विहाय तस्यामेव सः किमिति रेमे इति चेदाह श्रीमुनीन्द्रः-अखण्डितात्मरत आत्मारामः सः। रसस्वरूपस्य तस्य सैव साक्षाद्रसात्मा। आत्मरतस्यान्यत्रास्वरसतया स्वात्मन्येव रतत्वमुचित-मन्यथाऽऽत्मरतत्वस्यौपचारिकत्वमयुक्तत्वं, रसस्वरूपहानिं मन्वानः रेमे इत्यर्थः। अखण्डितपदेन तस्य अकामवश्यत्वं दर्शितमितिचेत्तथात्वे तया सह रमणमप्यनुचितमित्याशङ्क्य समाधत्ते-तस्यास्तदात्मत्वान्नात्माराम-त्वहानिरित्यर्थः। तस्माच्छ्रीमद्भागवते श्रीराधानामापि न क्वचिच्छ्रुतमित्येष आक्षेपोऽविचारविलसितः, ''अनया राधितो नूनमित्यनेनैव परोक्षतया तन्नाम्नः संसूचितत्वादिति भावः। एतत्पद्यस्य प्रकृतयुगलसहचरीभावानुसारिव्याख्यानं दर्शयति-''अस्यार्थ''इत्यादि। श्रीराधकान्तत्वेनैवास्माकं गोविन्दः प्रेष्ठः, न तु स्वकान्तत्वेन। तत्र हेतुरपि राधायामस्माकं परमसख्यमेव। तत्प्रभावेण तत्सुखैकसुखित्वात्तदीयं सर्वस्वमस्माकमेव संजातम्। नह्यस्माकं तत्सुखैक-सुखिनीनां तदिच्छारूपाणां तत्सुखात्पृथक् स्वसुखं नाम किंचनास्ति। किञ्च, राधाकान्तत्वादेव कान्तेऽप्यस्माकं भावः परमाराध्यबुद्धिरिति श्रीराधा-सुधानिधिपद्येन सहचरीभावरहस्यं प्रकटयन्नाह-''रसं मे राधाया''मित्यादि। ''तद्भावोत्सवत''इत्याद्यत्रैवान्यत्र। राधाशब्दार्थं संग्रह्य व्रजनिकुञ्जभेदेन विवक्षुस्तत्रत्यमेव पद्यमवतारयति-''या वे''ति। व्याख्याननिष्कर्षमाह-''एष्वाद्यं निर्वचनद्वयं व्रजसंबन्धि, तृतीयं निकुञ्जसंबन्धि, चतुर्थमुभयानुगत-मितिविवेक''इति।। अत्र पं.श्रीदुलारेप्रसादशास्त्रिणां श्रीभगवन्नामचन्द्रिकाख्य-निबन्धाद्राधानामनिर्वचनं संगृह्यते-सौकर्य्येण तदर्थप्रतिपत्तये-

राधयति वशीकरोति कृष्णमितिराधा।।१।।

राध्यते आराध्यते भक्तजनैरिति राधा।।२।।

राध्यते आराध्यते श्रीकृष्णेनेति राधा।।३।।

राधयति साधयति सर्वं कार्य्यं स्वभक्तानामिति राधा।।४।।

राधयति आराधयति कृष्णमिति राधा।।५।।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां श्रीराधानामनिरुक्तियुक्तिः।।६।।

पूर्वपक्षी आशंका करता है-श्रीराधा श्रीकृष्ण की आत्मा है'' यह सभी शास्त्रों से विपरीत बात आप कैसे कहते हैं? क्योंकि जो सर्वात्मा सर्व अन्तर्यामी हो तब भी आत्मा कोई अन्य हो यह सम्भव नहीं है। इस आशंका पर कहते हैं-देहदेहिविभागाभावात्-ईश्वर वस्तु में देह और देही का विभाजन नहीं होता है। इस प्रकार उस परमात्मा के सच्चिदानन्दविग्रहस्वरूप होने पर विग्रह (सच्चिदानन्दविग्रह) ही आत्मा है, तथा आत्मा (सच्चिदानन्द) ही विग्रह है-ऐसा हमने श्रीकृष्ण के स्वरूप निरूपण के प्रसङ्ग में पहले कह दिया था। ईश्वर के स्वरूप में देह और देही का विभाजन स्वीकार नहीं किया जाता है। भगवान् की अभिव्यक्ति किसी रूप में होती है? जिस रूप में भगवान् होते हैं उसी रूप में अभिव्यक्ति होती है। श्रुति का वचन है-वह आत्मा अशरीर, अक्षत, स्नायु रहित, शुद्ध और पाप रहित है। श्रीराधा कृष्ण की आत्मा है-वह आत्मा है और वह श्रीकृष्ण कलेवर है-इस न्याय के अनुसार रस में वह श्रीराधा उस कृष्ण की आत्मा है अर्थात् रसरूप श्रीकृष्ण की आत्मा श्रीराधा है न कि स्वरूप दृष्टि से वह आत्मा है-यह समझना चाहिए।

अतः परमरहस्यरूपा, साक्षाद्रसरूपा श्रीकृष्ण की आत्मस्वरूपा उस राधा का भागवत आदि में साक्षात् नामोल्लेख किए बिना ही प्रकारान्तर से ही उसको सूचित करके श्रीकृष्णचन्द्र को उद्देश्य करके विभिन्न लीलाएँ प्रकाशित की गई हैं-इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है।

अपने कथन का समर्थन वैष्णवतोषणीकार के मत से करते हैं-''तथा ही त्यादिना''

रस के प्रकाशन में मुख्यवृत्ति अभिधा की अपेक्षा व्यञ्जनावृत्ति ही चमत्कार विशेष की आधायक होती है अतः उसी का आश्रय लेकर मुनीन्द्र की ''रेमे तया'' इत्यादि आवेशोक्ति है। ''अनया राधितो नूनम्'' (निश्चय ही इस राधा से वह श्रीकृष्ण आराधित हुए है-इत्यादि के द्वारा सखियों के मुख

से जिसका (श्रीराधा का) उल्लेख किया है-उसके साथ रमण किया। प्रश्न होता है कि श्रीकृष्ण में परम आसक्त उन समस्त सखियों का परित्याग करके उस राधा में ही वह कैसै रमे? इसका उत्तर मुनीन्द्र ने कहा कि वह श्रीकृष्ण अखण्डित आत्मरत है वह आत्माराम है तथा रसरूप श्रीकृष्ण की साक्षात् आत्मा वह श्रीराधा ही है, आत्माराम पद का अन्य प्रकार से स्वारस्य भी ज्ञात नहीं होता है-अपनी आत्मा श्रीराधा में रत होना ही उचित है। अन्यथा आत्मरत्व भी औपचारिक होगा, असंगत होगा, रसस्वरूप की हानि को मानते हुए ''रमण किया'' ऐसा अर्थ है। अखण्डित पद के द्वारा यदि उसका काम के वश में न होना कहा गया है तब ऐसा होने पर उस श्रीराधा के साथ रमण करना भी अनुचित है, यह आशंका करके समाधान करते हैं-श्रीराधा श्रीकृष्णस्वरूपा ही है अतः इस स्थिति में आत्मारामत्व की हानि नहीं है। इसलिए श्रीमद्भागवत में श्रीराधा नाम कहीं भी नहीं सुना गया है-यह आक्षेप भी बिना विचारे कहा गया है क्योंकि ''अनया राधितो नूनम्'' इसके द्वारा परोक्ष रूप से उसका नाम सूचित किया गया है, इस पद्य का प्रकृत विषय के अनुकूल युगल सहचरी भाव के अनुसार व्याख्या प्रकट कर रहे हैं-''अस्यार्थ'' इत्यादि के द्वारा (मूल में इसे स्पष्ट किया गया है)।

श्रीराधाकान्त के रूप में ही हम गोपियों (उपासकों) को गोविन्द प्रियतम है न कि स्वकान्त रूप में। इसमें कारण है राधा में हमारा परम सख्य भाव। राधा में हमारे सख्य भाव के प्रभाव से उसके सुख में ही एकमात्र सुखी होने से उसका सर्वस्व ही हमारा सर्वस्व हो गया। उसके सुख में सुखी रहने वाली उसकी इच्छा रूप वाली हम लोगों का उसके सुख से भिन्न अपना कोई सुख नहीं है। तथा राधाकान्त रूप से कान्त (श्रीकृष्ण) में हमारा भाव अर्थात् परम आराध्य बुद्धि है-यह बात श्रीराधासुधानिधि के पद्य से सहचरी भाव के रहस्य को प्रकट करते हुए कहते हैं-''रसं मे राधायाम्'' (इसका अर्थ मूल में दे दिया है)। राधा शब्दार्थ का संग्रह करके व्रजभाव तथा निकुञ्ज भाव के भेद से कहने के इच्छुक ग्रन्थकार वहीं का (श्रीराधा रससुधानिधि का) पद्य अवतरित करते हैं-

''या वेति'' (इसका अर्थ भी मूल के साथ दे दिया है)। इन निर्वचनों में आद्य दो निर्वचन व्रज सम्बन्धी हैं, तृतीय निर्वचन निकुञ्ज

सम्बन्धी है तथा चतुर्थ निर्वचन दोनों से सम्बद्ध है (मूल में चारों निर्वचन दिए हैं) अब यहाँ पं. श्रीदुलारेप्रसादजी शास्त्री द्वारा लिखित ग्रन्थ-भगवन्नाम चन्द्रिका में दि गए राधा नाम के निर्वचनों का संग्रह देते हैं-(जिससे सरलता से उनका अर्थ बोध हो सके)--

१. राधयति वशीकरोति कृष्णमिति राधा-जो कृष्ण को वश में करती है वह राधा है।

२. राध्यते आराध्यते भक्तजनैरिति राधा-जो भक्तों के द्वारा आराधित की जाती है वह राधा।

३. राध्यते आराध्यते श्रीकृष्णेनेति राधा-जो कृष्ण के द्वारा आराधित की जाती है वह राधा।

४. राधयति साधयति सर्वं कार्यं स्वभक्तानामिति राधा-जो भक्तों के सभी कार्यों को साधती है सिद्ध करती है वह राधा।

५. राधयति आराधयति कृष्णमिति राधा-जो कृष्ण की आराधना करती है वह राधा।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां श्रीराधानामनिरूक्तियुक्तिः।।६।।

।। अथ श्रीराधायाः श्रीभागवतप्रतिपाद्यत्वयुक्तिः ।।७।।

ननु श्रीमन्मुनीन्द्राद्याः श्रीकृष्णोत्कर्षतत्पराः ।
कुत्रापि राधिकाधिक्यं नोचुः किं तत्र कारणम् ।।
शृणु राधासमुत्कर्षे महतामयमाशयः ।।
सर्वेश्वत्वे कृष्णस्य साधिते राधिकाधिका ।।
तादृशादपि श्रीकृष्णादित्युन्मादेन तं जगुः ।
रेमे तयेत्यादिपद्ये आत्मा सा, सः कलेवरम् ।।
सिद्धमाधिक्यमेतस्या रहस्यान्न प्रकाशितम् ।
किं वा शाखाविधुन्यायाद्वसिष्ठारुन्धतीदिशा ।।
राधायामेव तात्पर्य्यं तत्प्रियत्वाद्धरावपि ।
तदानुकूल्यलाभाय तत्प्रियं बहुधा जगुः ।।
शब्दतात्पर्य्यविज्ञाने लिङ्गं षड्विधमिष्यते ।
अपौरुषेयशब्दानामित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ।। तदुक्तम्-
उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णय इति ।।

प्रश्न है कि श्रीकृष्ण के उत्कर्ष का वर्णन करने में तत्पर रहने वाले श्रीमुनीन्द्र आदि ने श्रीराधा के आधिक्य का उल्लेख नहीं किया है-इसमें क्या कारण है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि सुनो। राधा का उत्कर्ष होने में महान् लोगों का आशय यह है कि श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर प्रतिपादित करने पर राधिका ही सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि वह सर्वेश्वर कृष्ण से अधिक है ऐसा मुनीन्द्रों ने उन्माद से (व्यञ्जनावृत्ति से) कहा है-''रेमे तया'' इत्यादि पद्य में यही बात कही है। श्रीकृष्ण कलेवर (शरीर) है राधा आत्मा है, इसी से उसका आधिक्य सिद्ध हो जाता है, रहस्य के कारण प्रकाशित (अभिधावृत्ति से) नहीं किया या इसको यह समझें कि जैसे द्वितीय चन्द्रमा का दर्शन कराना होता है पर जिसको चन्द्रमा स्पष्ट नहीं दिख रहा होता है उस व्यक्ति को बतलाने वाला वृक्ष के शाखा को देखने के लिए कहता है-चन्द्रमा को नहीं, जब शाखा दिखती है तब उसी दिशा में चन्द्रमा दिख जाता है। वक्ता चन्द्रमा को नहीं कहता पर शाखा के माध्यम से चन्द्रमा का दर्शन करा देता है वैसे

ही मुनीन्द्रों ने श्रीकृष्ण का आधिक्य का वर्णन करते हुए उसकी आत्मा श्रीराधा का भी आधिक्य प्रतिपादित कर दिया है। इसको वसिष्ठ-अरुन्धती न्याय से भी समझा जाता है। (सप्तर्षि मण्डल के पास अरुन्धती तारा भी है जो सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं पड़ता तब कहने वाला वसिष्ठ तारे को पहले दिखलाता है जब दर्शक का ध्यान वसिष्ठ तारे पर जाता है तब वह इसारे से तत्समीपवर्त्ती अरुन्धती तारे को दिखला देता है) मुनीन्द्रों का तात्पर्य राधाजी के आधिक्य प्रतिपादित करने में था, किन्तु राधा के प्रिय होने के कारण उनकी हरि में भी प्रीति थी, अतः राधाजी की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए उनके प्रिय श्रीकृष्ण का अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

ब्रह्मवादी अपौरुषेय शब्दों के तात्पर्य का निर्धारण करने के लिए छह प्रकार के हेतु कहते हैं-जैसे कहा गया है-

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति ये शब्दों के तात्पर्य निर्णय में निर्धारक होते हैं।

अथ श्रीराधायाः श्रीभागवतप्रतिपाद्यत्वयुक्तिः।।७।। (भा.भू.प्र.)

अथ यदुक्तमुद्देशग्रन्थे ''सर्वातिशायिमहिमवर्णनेनाथ सेव्यता''इति तदुपपादयितुमाक्षेपान्तरमुत्थापयति-''ननु श्रीमन्मुनीन्द्राद्या''इत्यादिना। ननु श्रीमन्मुनीन्द्राद्यास्तु श्रीकृष्णैकोत्कर्षवर्णनपरा दृश्यन्ते, नतु राधिकाधिक्यं कुत्रापि उक्तवन्तस्तस्माद्राधिकाधिक्यमिदं भवतां तद्विषयकभावातिशयकृतमिवाभाति इत्याशंक्याह-''शृण्वि''त्यादि। यद्धेतुकं सर्वेश्वरस्य सर्वेश्वरत्वं सा राधिका कथं तस्मान्नाधिकेति विचार्य्य सुधीभिः स्वमनसीत्याशयः। अतएव श्रीकृष्ण-स्यासमोर्द्धमहिमवर्णनेनैव तन्महिमहेतुभूतायास्तदात्मभूतायास्तस्यास्ततो-ऽप्युत्कर्षोऽर्थादेव सुसिद्ध इति विचार्य्यैव श्रीमुनीन्द्राः श्रीकृष्णमेव समुन्मादेन जगुः। उभयोः सच्चिदानन्दत्वे सर्वथातुल्यस्वरूपत्वेपि निकुञ्जगतशृङ्गाररस-स्वरूपविवक्षया तयोर्देहदेहिभावोऽभ्युपगन्तव्य इत्याह-''रेमे तयेत्यादिपद्ये आत्मा सा सः कलेवर''मित्यनेन। ननु ''देहदेहिविभागाभावादीश्वरवस्तुनः। श्रीकृष्णचन्द्रमुद्दिश्ये'त्यादिप्राक्कथनेन 'रेमे तयेत्यादिपद्ये आत्मा सा सः कलेवर'' मित्युक्तेः कथं न विरोध इति चेत्साक्षाद्रसस्वरूपस्य तस्य, कलेवरस्य आत्मेच्छानुवर्त्तित्वमिव, साक्षाद्रसस्वरूपायास्तस्या इच्छानुवर्त्तित्वेन कलेवरत्वं तस्याश्चात्मत्वमर्थादेव सिद्धमित्याह-''सिद्धमाधिक्यमेतस्या''इति। नह्ययं

श्रीराधाकृष्णयोर्देहदेहिभावः स्वरूपनिबन्धनः, किन्तर्हि अभेदेऽपि भेदविवक्षया रसस्वरूपापेक्ष इत्यर्थः। ''स्वाधीनपतिकात्वेन रसे प्राधान्यमीरित''मित्युक्तत्वात्। किन्त्वेतद्रहस्यमैश्वर्य्यभाववतां सदसि न प्रकाशितमित्याह-''रहस्या'' दित्यादिना। यद्वा श्रीमुनीन्द्रकृत-श्रीकृष्णमहिमवर्णनस्यापि शाखाचन्द्रन्यायेन वसिष्ठारुन्धतीन्यायेन वा, परब्रह्मणः सविशेषत्वहेतुभूतायां श्रीराधिकायामेव तात्पर्य्यमवगन्तव्यं, तत्प्रियत्वाच्च हरावपीत्याह-''किं वे''त्यादिना। युगलसहचरीभावदृष्टया श्रीकृष्णाराधनस्यापि श्रीराधिकाराधने तात्पर्य्यमिति-भावः। यतः कृष्णोऽपि यत्र राधिकाऽऽराधकस्तत्र किमु वक्तव्यं सख्योऽपि राधिकाऽऽराधिका इति। अपौरुषेयशब्दतात्पर्य्यावगाहनाय षड्विधलिङ्गपरीक्षणस्योपयोगित्वात्तदेवात्राप्यवतारयति। न च पुराणानां पौरुषेयत्वं मन्तव्यम्। ''इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेद''मिति श्रुत्यैव तस्यापि महापुरुषनिःश्वसितत्वस्योक्तत्वात्। पौरुषेय-शब्दमिश्रत्वात्तस्यश्रुत्यनुकूलतयैव प्रामाण्यं शास्त्रकृद्भिर्व्यवस्थापितम्। किञ्चेतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेदितिवदता वेदाचार्य्येणापि अपौरुषेयशब्दतात्पर्य्यविज्ञानस्येतिहासपुराणज्ञानाधीनत्वमङ्गीकृतमित्याशयेन तेषामपौरुषेयत्वं मन्वान आह-''शब्दतात्पर्य्ये''ति। न्यायनिर्णीतार्थो हि शिष्टस्वीकृतिं लभत इति मत्त्वा तदेव तात्पर्य्यनिर्णयौपयिकं लिङ्गषट्कं निर्द्दिशति-''उपक्रमे''त्यादि।

ग्रन्थ आदि में उद्देश क्रम में ''सर्वातिशायि'' महिमा के वर्णन से श्रीराधा ही सेवनीय है-

यह जो कहा गया था-इसके उपपादन के लिए अन्य आक्षेप उठाते हुए कहते हैं-''ननु श्रीमुनीन्द्रद्याः'' आक्षेप है कि श्रीमुनीन्द्र आदि तो श्रीकृष्ण के उत्कर्ष वर्णन में तत्पर देखे जाते हैं, उन्होंने कहीं भी श्रीराधा के आधिक्य का वर्णन नहीं किया है अतः श्रीराधिका का आधिक्य आपके द्वारा ही किया हुआ प्रतीत होता है-इसका उत्तर ''शृणु'' कहकर देते हैं। इसका आशय है कि जिस श्रीराधा के कारण सर्वेश्वर श्रीकृष्ण सर्वेश्वर है वह राधिका उस से अधिक क्यों नहीं है-यह सुधियों को अपने मन में विचार करना चाहिए। श्रीकृष्ण की अतुलनीय महिमा के वर्णन से ही उसकी महिमा की कारणरूपा एवं उसकी आत्मस्वरूपा श्रीराधा का उत्कर्ष तो श्रीकृष्ण से अधिक अर्थतः ही सिद्ध हो जाता है-यह विचार करके ही मुनीन्द्र ने श्रीकृष्ण

की महिमा का ही उन्मत्त होकर गान किया है।

दोनों के सच्चिदानन्द तथा सर्वथा अतुल्यस्वरूप होने पर भी निकुञ्जगत शृङ्गार रस के स्वरूप की अपेक्षा से उन दोनों का देह-देहि-भाव भी स्वीकार करना चाहिए-इसीलिए कहा है-''उसके साथ रमण किया'' वह राधा आत्मा है वह श्रीकृष्ण कलेवर है। प्रश्न है कि पूर्व में कहा गया है कि ईश्वर वस्तु में देह और देह का विभाग नहीं होता है-यह बात श्रीकृष्ण को उद्देश्य करके ही कही गई है और अब राधा के साथ उसने रमण किया, राधा आत्मा है श्रीकृष्ण कलेवर (देह) है, तब पूर्वोक्त का विरोध कैसे नहीं होगा। तब इसका उत्तर देते हैं-वह साक्षात् रस रूप है, कलेवर का अर्थ यहाँ आत्मा की इच्छा का अनुवर्ती होना है, वह राधिका साक्षात् रसरूपा है, उसकी इच्छा का अनुवर्तित्व ही कलेवर होना है, यह बात अर्थ से ही सिद्ध है-इसीलिए कहा गया है कि इस विवेचन से श्रीराधा का आधिक्य सिद्ध हो जाता है।

यह श्रीराधाकृष्ण का देह-देहिभाव नहीं है न उनके स्वरूप का इस प्रकार का निबन्धन है-किन्तु अभेद में भी भेद की विवक्षा से रसस्वरूप की अपेक्षा से यह कहा गया है। श्रीराधा के स्वाधीन पतिका होने से रस में उनका प्राधान्य है ऐसा पहले कह चुके हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी ऐश्वर्यभाव वालों की सभा में इसे प्रकाशित नहीं किया-इसीलिए कहते हैं-''रहस्यान्न प्रकाशितम्'' (रहस्य के कारण प्रकाशित नहीं किया गया)।

अथवा श्रीमुनीन्द्र के द्वारा की गई श्रीकृष्ण की महिमा का भी तात्पर्य शाखाचन्द्र न्याय या वसिष्ठ अरुन्धती न्याय से परब्रह्म के सविशेष होने की कारण रूपा श्रीराधिका में ही समझना चाहिए। (तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश में उदितचन्द्र को दिखाने वाला पहले दर्शक को वृक्ष की शाखा पर चन्द्रमा देखने के लिए कहता है-जैसे ही दर्शक की दृष्टि शाखा पर टिकती है वैसे ही उसी दिशा में उदित चन्द्रमा भी दिख जाता है दिखलाने वाले का तात्पर्य आकाशचन्द्र में है न कि शाखाचन्द्र में उसी प्रकार व्यास मुनि भी श्रीराधा की ही महिमा का वर्णन करना चाहते हैं किन्तु वर्णन श्रीकृष्ण की महिमा का करते हैं, भक्तों के हृदय में जैसे ही श्रीकृष्ण की भक्ति स्फुट होती है वैसे ही उसकी भी आत्मस्वरूपा तथा निर्विशेष ब्रह्म के

सविशेष ब्रह्म कृष्ण बनने की हेतु रूपा श्रीराधा की भक्ति भी उदित हो जाती है। श्रीराधा का आधिक्य भी प्रकट हो जाता है)। राधा में तात्पर्य होने पर भी उसके प्रिय हरि में प्रियता है। युगल सहचरी भाव की दृष्टि से श्रीकृष्ण के आराधन का भी श्रीराधा के आराधन में ही तात्पर्य है। क्योंकि श्रीकृष्ण भी जहाँ राधिका के आराधक हैं वहाँ सखियों का तो कहना ही क्या वे तो राधिका की आराधिका हैं ही।

अपौरूषेय शब्दों के अर्थ बोध के लिए उपयोगी षड्विध लिङ्गों का भी यहाँ उल्लेख करते हैं (षड्विध लिङ्ग हैं-उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इनका विवेचन मूल के अनुवाद में देखें)।

''पुराणों को पौरुषेय नहीं मानना चाहिए'' ''इतिहास और पुराण वेदों में पाँचवाँ वेद है'' इस श्रुति वचन से पुराण भी महापुरुष निःश्वसित ही कहे गए हैं। पौरुषेय शब्दों से मिश्रित होने के कारण उनका भी श्रुति की अनुकूलता के कारण शास्त्रकारों ने प्रामाण्य स्थापित किया है। और भी वेदाचार्य मनु ने कहा है कि ''इतिहास और पुराण से वेद के ज्ञान का उपबृंहण करना चाहिए''-इस प्रकार अपौरुषेय शब्द के तात्पर्य का विज्ञान भी पुराण ज्ञान के अधीन स्वीकार किया गया है इसलिए उनको अपौरुषेय मानते हुए कहा है-''शब्द तात्पर्य्येति।''

न्याय निर्णीत अर्थ ही शिष्टजनों की स्वीकृति को प्राप्त करता है-उसी तात्पर्य निर्णय के उपयोगी षड्लिङ्गों का निर्देश करते हैं-''उपक्रमोपसंहार'' इत्यादि।

तत्रोपक्रमोपसंहारौ यथा-जन्माद्यस्येति ।। कस्मै येनेति च ।।

तत्रोपक्रमो यथा--

''जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।।
तेजोवारिमृदां यथाविनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।

अस्यार्थः--यतोऽन्वयात् ।। अन्वेति अनुगच्छति सदा निजपरमानन्दरूपायां तस्यां श्रीराधायामासक्तो भवतीत्यन्वयः श्री-

कृष्णः ।। तादृशात्तस्मात् ।। तथा इतरस्याश्च तस्या सदा द्वितीयायाः श्रीराधाया एव ।। यतो यस्य आद्यस्य आदिरसस्य ।। जन्म प्रादुर्भावः ।। या चैवादिरसविद्यायाः परमं निधानमित्यर्थः ।। अत एव तयोरत्यद्भुत-विलासमाधुरी धुरीणतामुद्दिशति ।। यः अर्थेषु तत्तद्विलासकलापेषु अभिज्ञो विदग्धः ।। या च स्वेन तथाविधेनात्मना राजते विलसतीति स्वराट् ।। अत एव सर्वतोऽप्याश्चर्य्यरूपयोस्तयोर्वर्णने मम तत्कृपैव सामग्रीत्याह ।। आदिकवये प्रथमं तल्लीलावर्णनमारभमाणाय मह्यं श्रीवेदव्यासाय ।। हृदा अन्तःकरणद्वारैव ।। ब्रह्म तल्लीलाप्रतिपादकं महापुराणं मम हृदि प्रकाशितवानित्यर्थः ।। एतच्च प्रथमस्य सप्तम एव व्यक्तम् ।। यद्यस्यां च सूरयः स्वतन्त्रज्ञाना शेषादयोऽपि मुह्यन्ति ।। स्वरूपसौन्दर्यगुणादि-भिरत्यद्भुता केयमिति निर्वक्तुमारब्धा निश्चेतुं न शक्नुवन्ति ।। एवंभूता सा यदि मयि कृपां नाकरिस्यत्तदा लब्धमाधव-तादृशकृपस्यापि मम ''तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः । वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्त्ताः समब्रुवन्''-इत्यादिना तस्या लीलावर्णनलेशोत्साह-सिद्धिरसौ नाभविष्यदेवेति भावः । तयोराश्चर्यरूपत्वमेव व्यनक्ति ।। तेजोवारिमृदामचेतनानामपि ।। यथा येन प्रकारेण ।। विनिमयः परस्परं स्वभावविपर्य्ययो भवति तथा यो विभ्राजत इति शेषः ।। वाक्यशेषं च भावाभिभूतत्वेन वक्तुं न शक्तवानिति गम्यते ।। तत्र तेजसश्चन्द्रादेस्तत्पद-नखकान्तितिरस्कारादिना वारिमृद्वन्निस्तेजस्त्वधर्मावाप्तिः ।। पाषाणादि-मृद्वच्च स्तंभप्राप्तिः ।। मृदश्च पाषाणादेस्त-त्कान्तिकंदलीछुरितत्वेन तेजोवदुज्ज्वलतावाप्तिः ।। वंशीवाद्यादिना वारिवच्च द्रवताप्राप्तिरपि ।। तदेतत्सर्वं तल्लीलावर्णने प्रसिद्धमेव ।। यत्र यस्यां च विद्यमानायां त्रिधा सर्गः श्रीभूलीलेतिशक्ति-त्रयीप्रादुर्भावो, द्वारका-मथुरा-वृन्दावनानीति स्थानत्रयगतशक्तिप्रादुर्भावो वा ।। तत्र लीलेति वृन्दाख्या सहचरीति तोषण्यां निर्णयः ।। ततश्च लीलापदेन श्रीराधेति भ्रमो न कार्यः ।। अयमपि शक्तित्वपरिहारे हेतुरिति ।। श्रीवृन्दावन एव वा रसव्यवहारेण सुहृदुदासीनप्रतिपक्षनायिकारूपत्रिभेदानां सर्वासामेव व्रजदेवीनां प्रादुर्भावो वा मृषा वृथैव ।। यस्या सौन्दर्य्यगुण-सम्पदा तास्ताः श्रीकृष्णेन किंचिदेव प्रयोजनमर्हतीत्यर्थः ।। तद्धीमहीति ।। यच्छब्दलब्धेन तच्छब्देनान्वयः ।।

परमशक्तिशक्तिमत्त्वेनातिशयित-महाभावरसेनान्योन्यमात्मत्वेन वा परस्परमभिन्नतां गतयोस्तयोरैक्येनैव विवक्षितत्वात्।। अत एव सामान्यतया परामर्शान्नपुंसकत्वमपि।। एवं चैक्यमननादेव तद्रूपेण सर्वत्र श्रीकृष्णमेव जगाविति भावः।।

इनमें से प्राकृत में उपक्रम-उपसंहार जैसे-जन्माद्यस्य। कस्मै येन विभासिता ये हैं। इनमें यथा उपक्रम--जन्माद्यस्य ....धीमहि।

''जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं-क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थों में अनुगत है और असत् पदार्थों से पृथक् है, जड़ नहीं, चेतन है, परतन्त्र नहीं, स्वयंप्रकाश है, जो ब्रह्मा हिरण्यगर्भ नहीं प्रत्युत उन्हें अपने संकल्प से ही जिसने उस वेद ज्ञान का दान किया है, जिसके सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियों में जल का, जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम होता है, वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमयी जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या होने पर भी अधिष्ठान सत्ता से सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयं प्रकाश ज्योति से सर्वदा और सर्वथा माया और मायाकार्य से पूर्णतः मुक्त रहने वाले परम सत्यरूप परमात्मा का हम ध्यान करते हैं।''

मूलकार इसका अर्थ करते हैं यहाँ यतोऽन्वयात् का अर्थ है-अन्वेति, जो सदा निज परमानन्द रूप राधा में आसक्त होता है-अर्थात् निज परमानन्द रूप राधा का अनुगमन करता है वह श्रीकृष्ण ही अन्वय है तथा इतर है श्रीकृष्ण से अभिन्न राधा, आद्य का अर्थ आदि रस-इस प्रकार अर्थ हुआ श्रीराधा का अनुगमन करने वाले श्रीकृष्ण और श्रीराधा की आदि रस विद्या की परम निधान है। अतः उन दोनों (श्रीराधा और श्रीकृष्ण) को ही अद्भुत विलास माधुरी के अग्रगामी के रूप में उद्देश्य किया गया है। श्रीकृष्ण तत्-तत् विलास समूह में अभिज्ञ-विदग्ध है, श्रीराधा स्वयं उस रूप में विलसित होती है, अतः वही स्वराट् है। सर्वाधिक आश्चर्य रूप में स्थित उन दोनों के वर्णन में उनकी या उस राधा की कृपा ही सामग्री है। उनकी कृपा सामग्री ने ही उनकी लीला का आरम्भ करने वाले मुझ वेदव्यास को अन्तःकरण द्वारा उनकी लीला के प्रतिपादक शुद्ध ब्रह्म का विस्तार किया है (अथवा मेरे हृदय में शुद्ध ब्रह्म का प्रकाश किया है) लीलारम्भ के समय

ही यह महापुराण एक साथ ही मेरे हृदय में प्रकाशित हो गया। यह बात प्रथम स्कन्ध के सप्तम श्लोक ''यानिवेदविदां श्रेष्ठे भगवान् बादरायणः। अन्ये च मुनयः सूत परावर विदो विदुः।।'' में व्यक्त हो गई है। जिसके विषय में स्वतन्त्र ज्ञान वाले शेष आदि भी यह निर्णय करने में समर्थ नहीं है कि स्वरूप, सौन्दर्य और गुण आदि से अद्भुत यह कौन लीला का निर्वचन करने लगी। ऐसी इस श्रीराधा ने यदि मुझ पर कृपा न की होती तब माधव की कृपा प्राप्त मेरी भी -तैस्तैः पदै....श्रीकृष्ण के पद चिह्नों से उनकी खोज करती हुई गोपिकाएँ उनके पद चिह्नों को वधू के पदचिह्नों से संयुक्त देखकर आर्त होकर बोली। इत्यादि श्लोकों के द्वारा उसकी लीला के वर्णन में लेशमात्र भी उत्साह की सिद्धि नहीं होती। यह भाव है। यह भाव उनके आश्चर्य रूप को ही व्यक्त करता है। तेज, जल और मिट्टी-इन अचेतनों होने वाले स्वभाव के विनिमय को धारण करता है-यह वाक्य शेष यहाँ है-इसको मैं भावाभिभूत होने के कारण कहने में समर्थ नहीं हो पाया हूँ-यह अर्थ यहाँ प्रतीत होता है। उनमें तेजो रूप चन्द्र आदि उसके पद नख की कान्ति के तिरस्कार से जल और मिट्टी के समान निस्तेज धर्म को प्राप्त हो जाते हैं, पाषाणादि मिट्टी के समान स्तम्भ बन जाते हैं। मिट्टी और पाषाणादि उसके कान्तिरूपी झण्डे से श्वचित होने से तेज के समान उज्ज्वलता को प्राप्त हो जाते हैं। वंशीवाद्य आदि के द्वारा जल के समान द्रवता की प्राप्ति भी ये सभी उनकी लीला वर्णन में प्रसिद्ध ही है। जहाँ जिस राधा के विद्यमान होते हुए तीन प्रकार की सृष्टि, श्री, भू और लीला शक्ति का द्वारका, मथुरा और वृन्दावन में प्रादुर्भाव होता है। वहाँ लीला शक्ति वृन्दा नामक सहचरी है ऐसा निर्णयतोषणी में है। इस कारण लीला शक्ति से श्रीराधा का भ्रम नहीं करना चाहिए। यह भी राधा को शक्ति न मानने में हेतु है। अथवा वृन्दावन में ही राधा का रसरूप में व्यवहार होने के कारण समस्त व्रजदेवियों का सुहृद, उदासीन और प्रतिपक्ष नायिकारूप में प्रादुर्भाव ही असत्य है। जिस राधा के सौन्दर्य गुण सम्पदा के कारण वे व्रज देवियाँ श्रीकृष्ण में किञ्चिद् मात्र ही प्रयोजन रखती हैं अथवा श्रीकृष्ण में उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता है। (कृष्णे न, अथवा कृष्णेन) उस श्रीराधा की उपासना करते हैं (तद्धीमहि) यत् शब्द से जिस श्रीराधा का ज्ञान होता है तत् शब्द से उसी अर्थ में अन्वय

होता है। अथवा परमशक्ति (श्रीराधा) और शक्तिमान् (श्रीकृष्ण) के अतिशय महाभाव रस के द्वारा ये दोनों एक-दूसरे की आत्मा होने के कारण (श्रीराधा कृष्ण की आत्मा, श्रीकृष्ण राधा की आत्मा) परस्पर अभिन्न हो गए हैं अतः उनकी ऐक्य रूप में कहने की इच्छा के कारण ही यत्-तत् से एक वचन से उल्लेख किया गया है अतएव सामान्य रूप से परामर्श होने के कारण नपुसक लिङ्ग (यत्-तत्) का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार दोनों में ऐक्य मानने के कारण ही तद्रूप से सर्वत्र श्रीकृष्ण का वर्णन किया गया है-यह भाव है।

तत्रादौ उपक्रमं विचारयति-''तत्रोपक्रमो यथे''ति। जन्माद्यस्येत्याद्य-पद्यस्य रसस्वरूपयुगलपरकार्थं विवृण्वन्नाह-''अस्यार्थ''इति। युगलोपास्तौ परब्रह्मणः सदा दम्पतिरूपेण विराजमानत्वादियं श्रीराधिका तस्य श्रीकृष्णस्य सदाद्वितीयेतिभावः। ''आद्यस्ये''ति-शृङ्गारापरपर्य्यायसम्प्रयोग-विषयकादिरसस्य प्रेम्ण इत्यर्थः। अत्रान्वयशब्देन श्रीकृष्णः। इतरशब्देन च श्रीराधिकाबोध्या। यतस्तादृशाद्युगलादाद्यस्य आदिरसस्य जन्म प्रादुर्भावो भवति। अत्रत्यविशेषणेषु 'अर्थेष्वभिज्ञ' इति विशेषणं श्रीकृष्णेन, स्वराडिति श्रीराधिकया, तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये इतिश्रीकृष्णेन, ''मुह्यन्ति यत्सूरय''इति श्रीराधिकया, ''तेजो वारि मृदां यथा विनिमय'' इत्युभयेन श्रीकृष्णेनैव वा, ''यत्र त्रिसर्गो मृषे''ति श्रीराधिकया, ''धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहक''मिति चोभयेन सम्बध्यते। ''सत्यं परं धीमही''ति नपुंसकैक-वचनस्य स्वोक्तव्याख्यानेनासङ्गतिं निवारयन्निगमयति-परमशक्तिशक्तिमत्त्वेन, अतिशयितमहाभावरसेन अन्योन्यमात्मत्वेन वा परस्परमभिन्नतां गतयोस्त-योर्भेदाभावमननादेव सामान्यलिङ्गप्रयोग इति। अत एवाभिरूपेणैव सर्वत्र श्रीराधात्मकश्रीकृष्णमेव श्रीमुनीन्द्रो जगाविति भावः।

सबसे पहले उपक्रम पर विचार करते हैं-''तत्रोपक्रमो यथेति।'' भागवत के आद्य श्लोक ''जन्माद्यस्य'' रसस्वरूप युगल परक अर्थ का विवरण करते हुए कहते हैं-(श्लोकार्थ मूल में देखें) अस्यार्थ इति) युगलोपासना में परब्रह्म सदा दम्पतिरूप में विराजमान होता है-अतः श्रीराधिका श्रीकृष्ण से सदा अद्वितीय है-अर्थात् अभिन्न है। इस पद्य में आए हुए ''आद्य'' का अर्थ है शृङ्गार जिसका दूसरा नाम है ऐसा आदिरस प्रेम है। यहाँ ''अन्वय''

शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण है। ''इतर'' शब्द से श्रीराधा अर्थ समझना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि श्रीकृष्ण एवं राधिका युगल से आदि रस (प्रेम) का आविर्भाव होता है। पद्य में आए हुए विशेषणों में से ''अर्थेष्वभिज्ञ'' यह विशेषण श्रीकृष्ण से सम्बद्ध है, स्वराट्-यह श्रीराधा से सम्बद्ध है, ''तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये'' यह श्रीकृष्ण का विशेषण है, ''मुह्यन्ति यत्सूरय'' यह राधिका से सम्बद्ध है, ''तेजोवारि मृदां यथा विनिमयो..'' यह दोनों से अथवा श्रीकृष्ण से तथा ''यत्र त्रिसर्गो मृषा'' यह विशेषण श्रीराधा से सम्बद्ध है, ''धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्'' यह दोनों से सम्बद्ध है, ''सत्यं परं धीमहि'' इसमें आए हुए नपुंसक लिङ्ग एकवचन की अपने व्याख्यान से असङ्गति का निवारण करते हुए-संगति करते हुए कहा है-परमशक्ति-शक्तिमत्वरूप से, अतिशयति महाभाव रस से अथवा एक-दूसरे की आत्मा होने के कारण परस्पर अभिन्नता को प्राप्त श्रीराधा-कृष्ण में अभेद मानने के कारण सामान्य लिङ्ग-नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग किया गया है इसलिए व्यास-मुनि ने सर्वत्र श्रीराधात्मक श्रीकृष्ण का ही अभिन्न रूप से गुणगान किया है।

तदुक्तं श्रीकृष्णयामले--

''गोपयित्वा ततो व्यासः पुराणादिषु केवलम्।
कृष्णलीलां निजगदे न राधासंश्रितां कथा''मिति।।

कथंभूतम्।। स्वेन धाम्ना स्वासाधारणप्रभावेण सदा निरस्तं लीलाप्रतिबन्धकानां कुहकं माया येन तत्।। तथा सत्त्यं तादृशत्वेन नित्यसिद्धम्।। यद्वा-परस्परं विलासादिभिरनवरतमानन्दसन्दोहप्रदाने कृतसत्त्यमिव जातं तत्र निश्चलमित्यर्थः।। एतेन नित्यविहारोऽभिप्रेतः।। अतएव परम्।। अन्यत्र कुत्राप्यदृष्टगुणलीलादिभिर्विश्वविस्मापकत्वा-त्सर्वतोप्युत्कृष्टम्।। अत्रैकोऽपि धर्मो भिन्नवाचकतया वाक्ययोर्निर्दिष्ट इत्युभयसादृश्यावगमात्प्रतिवस्तूपमा नामालंकारोऽयम्।। इयं च मुहु-रूपमितमिति मालाप्रतिवस्तूपमापि।। तेन तैस्तैर्धर्मैर्मिथो योग्यतया निबद्धत्वात् समनामालंकारोऽपि।। एतदलंकारेण माधुरीभिः समतामेव समवाप्तमिति सकलजीवजीवातूत्तमरसपीयूषधाराधराधरास्पदं कस्मै वा निजचरणकमलविलासं न रोचयतीति स्वतः संभवि वस्तु व्यज्यते।। एवं

सर्वत्रापि यथायोगमुन्नेयम्।। तदाहुः-

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्द्दिश्यते पृथक्।।
इयं मालापि दृश्यत इति च।। एवं च--
समं स्यादानुरूप्येण श्लाघायोग्यस्य वस्तुन इति।।

अतः सर्वतोऽपि सान्द्रानन्दचमत्कारकश्रीकृष्णप्रकाशे श्रीवृन्दा-वनेऽपि परमाद्भुतप्रकाशः श्रीराधया युगलित इति संक्षेपः।।

श्रीकृष्णयामल में यही भाव कहा गया है-श्रीव्यास ने राधा के आश्रित कथा को छिपाकर पुराण आदि में श्रीकृष्ण की लीला का ही वर्णन किया है।

किस प्रकार के कृष्ण की कथा की है-उसी के लिए कहते हैं-जिसने अपने असाधारण तेज से लीला की प्रतिबन्धक माया को निरस्त किया-इस रूप में जो सत्य अर्थात् नित्य सिद्ध है। अथवा परस्पर विलास आदि से निरन्तर आनन्द सन्दोह प्रदान करने में कृतसत्य के समान हुए तत्त्व में निश्चल। इससे राधामाधव का नित्य विहार अभिप्रेत है। इसीलिए पर है। अन्यत्र कहीं भी गुण और लीला का दर्शन नहीं है-अतः यह राधा-माधव तत्त्व विश्व को विस्मित करने के कारण सबसे ही उत्कृष्ट है। यहाँ एक ही धर्म को दो वाक्यों में भिन्न वाचक पदों से निर्दिष्ट किया है-दोनों में साम्य की प्रतीति होने से प्रतिवस्तूपमा नामक अलंकार है। यह बार-बार उपमित होने के कारण माला-प्रतिवस्तूपमा भी है। योग्यता अर्थात् औचित्य के आधार पर उन-उन धर्मों के निबन्धन के कारण सम नामक अलंकार भी है। माधुरियों से समता को प्राप्त सकल जीवों के जीवनाधार उत्तम रसामृत से अन्यों को निम्न स्थान प्राप्त करवा देने वाला वह राधामाधव तत्त्व, अथवा उनका अपने चरणकमल का वास किसको आनन्दित नहीं करता यह स्वतः संभविवस्तु उस समनामक अलंकार से व्यञ्जित होती है। इस प्रकार सभी स्थानों पर यथायोग्य कल्पित कर लेना चाहिए। प्रतिवस्तूपमा का लक्षण देते हैं--

दो वाक्यों में सादृश्य की प्रतीति होने पर भी एक ही धर्म को शब्दान्तरों से पृथक्-पृथक् शब्दों से कहा जाय तो प्रतिवस्तूपना नामक

अलंकार होता है। यह माला के रूप में होता है।

सम अलंकार का लक्षण देते हैं--

आनुरूप्य अर्थात् औचित्य के आधार पर श्लाघनीय वस्तु का निर्धारण करना सम अलंकार है।

अतः सब ओर वृन्दावन में भी घने और चमत्कारक श्रीकृष्ण के प्रकाश में श्रीराधा के द्वारा परम अद्भुत प्रकाश युगलित कर दिया गया-यह संक्षेप है।

शास्त्रारम्भेऽपि श्रीराधायाः स्पष्टनामाग्रहणे सात्मकश्रीकृष्णाख्य-परमसत्त्वशब्देनैवोभयोरुल्लेखने पूर्वोक्तहेतुतया परोक्षवाद एवायमिति श्रीकृष्णयामलोक्त्या प्रमाणयति-''गोपयित्वे''ति। अत्रैकैकं विशेषणमुभयपक्षेऽपि चरितार्थमितीदमेवोभयसाम्यज्ञापकं लिङ्गमित्याह-''अत्रैकोऽपी''ति। ''रसो वै सः, आनन्दो ब्रह्मे''तिश्रुत्या यद्रसानन्दस्वरूप-मुपन्यस्तं तदेवास्मिन् पद्ये महामुनिना परोक्षवादमनुसृत्य वर्णितमितिभावः। निष्कर्षमाह-श्रीवृन्दावने परमाद्भुतप्रकाशः श्रीराधया युगलित इति।

शास्त्र के आरम्भ में भी श्रीराधा का स्पष्ट नाम ग्रहण न करने में परोक्षवाद ही कारण है, श्रीराधात्मक श्रीकृष्ण नामक परम सत्त्व के उल्लेख में ही दोनों का उल्लेख हो जाता है। श्रीकृष्णयामल भी इस बात को प्रमाणित करता है-''गोपायित्वेति'' यहाँ प्रत्येक विशेषण दोनों में ही चरितार्थ हो जाता है-इन दोनों की समानता का ज्ञापक चिह्न है ''अत्रैकोऽपीति'' ''वह परब्रह्म रस ही है'' ''ब्रह्म आनन्द है या आनन्द ही ब्रह्म है-इस श्रुति के द्वारा जिसे रसानन्द स्वरूप कहा है मुनि ने परोक्षवाद का आश्रय लेकर इस पद्य में उसी के विषय में कहा है। निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि श्रीवृन्दावन में परम अद्भुत प्रकाश श्रीराधा से युगलित हो गया।

एवं च श्रीराधायाः शक्तित्वमपि मतान्तरमेवेति दर्शितम्।। युगलोपासना ह्युभयोः समप्राधान्य एव, नतु शक्तिशक्तिमत्त्वेन गुणप्रधानभावस्वीकार इत्यभिप्रेत्यैवाभिन्नविशेषणविशिष्टमेकमेव द्विधा प्रकाशमानं सर्वविलक्षणं वस्तु परसत्त्यादिशब्दैरस्य शास्त्रस्य प्रतिपाद्यम्।। एतदभिप्रायं श्रीनारदपंचरात्रेऽपि दृश्यते यथा--

''मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्गुणैः।

रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युत''इति ।।

पैंग्यश्रुतिरपि--एष स्त्र्येष पुरुष एषः प्रकृतिरेष आत्मैव ब्रह्मैष लोको योऽसौ हरिरादिरनादिरनन्तोऽतः परमः पराद्विश्वरूप इति ।। तस्माज्योतिरभूद्वेधा राधामाधवरूपकमिति संमोहनतन्त्राद्युक्तेश्चेति ज्ञेयम्।। शक्तित्वस्वीकारे च तस्याः प्राधान्ये शाक्तत्वमप्राधान्ये च युगलोपास्तिव्याकोप इत्युभयतो पाशारज्जुरिति ध्येयम् ।। तथैव कस्मै येन विभासितोऽयमित्युपसंहारेऽपि स्वयमुन्नेयम् ।। तत्रापि वाक्यशेषे सत्यं परं धीमहीत्युक्तेः ।। समानयोगक्षेमत्वादिति ।। तत्र तत्राचिंत्यशक्त्यैव पुनः पुनरचिन्त्यैश्वर्य्यकथनमभ्यासः ।। अचिन्त्यत्वमेवापूर्वत्वम् ।। न चैतावता शक्तिवादः ।। प्रतिपाद्यवस्तुनः समोत्कर्षपर्य्यवसायत्वात् ।। भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्येत्यादौ फलमपि ।। श्रीराधासख्य एव भक्तेः परात्वसिद्धिरिति दर्शयिष्यामः ।। अथ तादृशशक्तिविशिष्टस्यैव तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः ।। शिवदं तापत्रयोन्मूलनमित्याद्या उपपत्तयः ।। एवं सर्वत्रापि श्रीमद्भागवते श्रीराधाप्राधान्येन युगलोपास्तिरभिहितेति-तात्पर्य्यावधारणादवधार्य्यत इति दिक् ।। कारिका--

अतः श्रीपार्वतीमाह श्रीरुद्रो रुद्रयामले ।
सहस्रनामस्तोत्रे हि श्रीराधायाः स्फुटं यथा ।।
''श्रीभागवतहार्दज्ञा श्रीभागवतमानसा ।
श्रीभागवतनिष्ठा च श्रीभागवतभासिता ।।
श्रीभागवतसंविद्या श्रीभागवतभाविते''ति ।।
तथा पुराणे ब्रह्माण्डे श्रीकृष्णपरतोदिता ।
शुकवागमृताब्धीन्दुरिति तन्नामकीर्त्तनात् ।।
उभयोरेकरूपत्वादेकस्यातिरहस्यतः ।।
परेशभजनोन्मत्ता दृश्यन्ते श्रीशुकादयः ।।
अपि चैश्वर्य्यभावाभिभूतानां समितौ कथा ।
कथ्यते श्रीमुनीन्द्रेण ह्यतः संगोपिता भृशम् ।।
तज्ज्ञानखलताभीत्या प्रोक्ता श्लिष्टैः पदैरियम् ।
श्लिष्टैः पदैः प्रकाश्यं हि रहस्यमिति न्यायतः ।।
दुराग्रहान्न मन्येत यदि कश्चिन्न मन्यताम् ।

भण्यतां स्वमतं तत्तन्मतं राधिकाखिलम्।।

इस प्रकार श्रीराधा का शक्ति होना भी मतान्तर ही है-यह दिखला दिया गया।

युगलोपासना दोनों के सम प्राधान्य (दोनों समान भाव प्रधान) में होती है न कि शक्ति और शक्तिमान भाव को स्वीकार करने पर एक के गौण और अन्य के प्रधान होने में-इसी अभिप्राय से समान विशेषणों से विशिष्ट एक ही दो रूपों में प्रकाशमान सबसे विलक्षण वस्तु पर-सत्य आदि शब्दों से इस शास्त्र का प्रतिपाद्य है (कहने का तात्पर्य यह है कि भागवत शास्त्र का सार यह है कि एक ही तत्त्व रूप ज्योति जो राधा-माधव व इन दो रूपों में प्रकाशमान है वह सबसे विलक्षण है, अतः शास्त्र में दोनों के लिए समान विशेषणों का प्रयोग किया है यथा-पर-सत्य आदि का दोनों का युगलभाव है दोनों समान रूप से प्रधान है जबकि राधा को शक्ति और माधव को यदि शक्तिमान् मानें तब सम प्राधान्य भाव नहीं होगा, गौण प्राधान्य भाव होगा तब युगलोपासना भी नहीं हो सकती अतः भागवत युगलोपासना का ही प्रतिपादन करता है।)

यही अभिप्राय नारद पञ्चरात्र में भी देखा जाता है-जैसे--

जिस प्रकार समीपस्थ नील-पीत आदि उपाधियों के गुणों से मणि रूप भेद को प्राप्त होता है उसी प्रकार ध्यान भेद से अच्युत (श्रीकृष्ण) भी रूप भेद को प्राप्त होते हैं।

पैंग्य श्रुति भी कहती है--

यह (हरि) स्त्री है, यह पुरुष है, यह प्रकृति है, यह आत्मा है यह ब्रह्म है, यह लोक है-जो यह हरि इस रूप में आदि, अनादि और अनन्त रूप में कहा गया है-अतः पर से भी परम है, विश्वरूप है (यहाँ हरि को ही स्त्री-पुरुष कहकर आदि कह दिया है, उसे ही प्रकृति कहते हुए अनादि कहा है, हरि को ही आत्मा और ब्रह्म कहकर अनादि और अनन्त कहा है, उसे ही लोक कहते हुए विश्वरूप कह दिया-इस प्रकार हरि ही आदि, अनादि, अनन्त, विश्वातीत और विश्वरूप है यह कहा गया है) ज्योति ही राधामाधव रूप में दो प्रकार से अभिव्यक्त है-सम्मोहन तन्त्र की इस उक्ति से भी यह समझना चाहिए। श्रीराधा को शक्ति स्वीकार करने पर उनके प्रधान होने पर

शाक्तत्व का दोष होगा (साधक वैष्णव न होकर शाक्त कहा जाएगा) अप्रधान मानने पर युगलोपासना दोष होगा-इस प्रकार शक्ति मानने पर दोनों और पाश (बन्धन) वाली रज्जु हो जाएगी, अर्थात् शक्ति मानने में दोष ही दोष हैं। इसी प्रकार ''कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा, तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणो।। योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्रातायकारुण्यतस्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि।। भाग. १२-१३-१९

''जिसे कल्प के आदि में ब्रह्मा को, ब्रह्मा रूप से नारद को, नारद रूप से व्यास को, व्यासरूप से योगीन्द्र शुकदेव को, शुकदेव रूप से परीक्षित को इस अतुल्य भागवत को प्रकाशित किया उस परम सत्य तत्त्व की उपासना करते हैं।'' इस उपसंहार का भी तात्पर्य स्वयं ही संयोजित करना चाहिए (इसका तात्पर्य भी युगलोपासना में ही समझना चाहिए) क्योंकि यहाँ भी वाक्य शेष में ''सत्यं परं धीमहि''-यह कहा गया है। समान योग-क्षेम होने से (उपक्रम में परम सत्य युगलोपासना का योग है तथा उपसंहार में उसी उपासना का क्षेम-संरक्षण है)।

उपक्रम और उपसंहार के पश्चात् अर्थ निर्धारक अभ्यास के लिए कहते हैं कि भागवत में जहाँ-तहाँ अचिन्त्य आत्म शक्ति से पुनः पुनः अचिन्त्य ऐश्वर्य का कथन ही अभ्यास है। यहाँ अचिन्त्यत्व ही अपूर्वता (नवीनता) है (अपूर्वता भी अर्थ निर्धारक है) इससे शक्तिवाद नहीं समझना चाहिए। क्योंकि प्रतिपाद्य वस्तु का पर्यवसान समोत्कर्ष में है (समप्राधान्य में है)।

''भगवान् में परा भक्ति प्राप्त करके इन वाक्यों में फल कहा गया है। श्रीराधा में सख्य भाव ही भक्ति का परात्व (उत्कृष्टत्व) है-ऐसा आगे दिखलायेंगे। उस शक्ति विशिष्ट (राधा से युगलित) श्रीकृष्ण की स्थान-स्थान पर प्रशंसा करना ही अर्थवाद है।

तापत्रय का उन्मूलन रूप शिवत्व ही उपपत्तियाँ हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में श्रीराधा के प्राधान्य से युगलोपासना ही कही गई है-यह भागवत के तात्पर्य के अवधारण से अवधारित किया जाता है। इस विषय में कारिका-निम्नानुसार हैं--

श्रीरुद्रयामल में श्रीरुद्र ने श्रीपार्वतीजी से कहा कि सहस्रनाम स्तोत्र में श्रीराधा की स्पष्टता जिस भी प्रकार से ज्ञात करते हैं वे ही श्रीमद्भागवत के रहस्य के ज्ञाता हैं, वे ही भागवत मन वाले हैं, वे ही भागवत निष्ठा वाले हैं, वे ही भागवत से भासित हैं, वे ही भागवत को सम्यक् प्रकार से जानने वाले हैं, वे ही भागवत के भावित हैं।

श्रीब्रह्माण्डपुराण में श्रीकृष्ण को पर रूप में कहा गया है उसका कारण यह है कि श्रीशुकदेवजी की वाणी रूप अमृत सागर को उद्वेलित करने वाली इन्दुरूपी श्रीराधा अथवा सागर से प्रकट इन्दुरूपी श्रीराधा के नाम संकीर्तन के कारण ही श्रीकृष्ण पर हैं।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों एक ही स्वरूप हैं किन्तु एक के अति रहस्य रूप होने के कारण श्रीशुक आदि परेश श्रीकृष्ण के भजन में उन्मत्त हैं तथा ऐश्वर्य भाव से अभिभूत साधकों की सभा में श्रीकृष्ण की ही कथा कहते हैं क्योंकि श्रीराधा अति रहस्य रूपा हैं अतः संगोपित है (छुपाई गई है)। श्रीराधा का कथन तो अज्ञान और खलता (दुष्टता) के भय से श्लिष्ट (श्लेष युक्त) पदों से किया गया है क्योंकि रहस्य का प्रकाशन श्लिष्ट पदों से किया जाता है-यह न्याय है। अब कोई इस बात को अपने दुराग्रह के कारण नहीं मानता है तो न माने वे अपना मत कहते रहें किन्तु मेरे मत में तो श्रीराधा ही सर्वोत्कृष्ट हैं।

ननु शक्तिशक्तिमत्त्वेन गुणप्रधानभावेनापि तयोरुपासने युगलोपास्तिः स्यादेव, सर्वशिष्टसम्मतत्वात्तद्विरुद्धत्वेन किमनेन श्लिष्टार्थककल्पनेनेत्याशङ्क्य प्रकृतयुगलोपास्तिस्वरूपं निगमयन् एतच्छास्त्रप्रतिपाद्यं दर्शयति-'युगलोपासना ही'ति। समप्राधान्य एवेत्यनेन यत्र नोभयोःसमप्राधान्यं, यत्र च तयोर्गुणप्रधानभावस्तन्न युगलोपासनं, किन्तर्हि श्रीकृष्णोपासनं हि तत्, द्वयोरंगांगिभावात्मकत्वात्तस्येत्यर्थः। समप्राधान्यात्मकं युगलमेवास्य श्रीमद्भागवतशास्त्रस्य प्रतिपाद्यमिति हेतुनिर्द्देशपूर्वकमाह-''अभिन्नविशेषणे''त्यादिना। ननु परमसत्यस्याद्वितीयत्वात्तस्मिन् तस्याअन्तर्भूतत्वाच्च द्वैरूप्येण ध्यानमयुक्तमित्याशङ्क्य ध्यानभेदएवरूपभेदे प्रयोजक इत्यत्र प्रमाणत्वेन श्रीनारदपञ्चरात्रोक्तिमवतारयति-''मणिर्यथे''ति। स्फटिकमणिर्यथा सन्निहितनीलपीतपुष्पाद्युपाधिगुणै रूपभेदं भजते तद्वदज्ज्वलादिस्थायिभावरूपोपाधिवशात्

परमात्मापि रूपभेदमवाप्नोतीत्यर्थः। 'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहायेति श्रीभागवतोक्तेश्च। रसस्यैकत्वेऽपि भावरूपोपाधिवशादास्वादने रूपे च भेद इत्युपरिष्टाद्वक्ष्यते मूलकृतापि। एकस्यैव वस्तुनो दाम्पत्यभावावस्थितत्वे पैङ्गयश्रुतिं प्रमाणत्वेन पठति-''एषस्त्र्येषपुरुष''इति। ननु तथात्वे 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिश्रुतेर्विरोधो दुर्वारः स्यादिति चेन्न। एकधेत्यस्यैकेन ब्रह्मरूपत्वेनेत्यर्थस्याभ्युपगमात्। अन्यथा स्वरूपशक्तितद्धर्माणां प्रत्याख्याने निर्धर्मकवस्तुत्वादापत्तेरित्युक्तमेवेत्याशयः। यथा रासे एकस्यैव श्रीकृष्णस्यानेकः प्रकाशवत्त्वं तथैवैकस्यैव उज्ज्वलोदधिरसस्य दम्पतिरूपेणावस्थितिरितिभावः। 'आत्मैवेद०,' ''यस्माज्ज्योति''रित्यादीनि पूर्वोक्तश्रुत्यागमोक्तप्रमाणानि पुनरत्रानुसन्धेयानि। तस्याः शक्तित्वमननेऽप्राधान्यापत्तिर्युगलोपास्तिव्याकोपश्च। शक्तेः प्राधान्यमनने शाक्तत्वमित्युभयतः पाशारज्जुरित्याशयेनाह-''शक्तित्वे''इति। तस्मादेकमेव स्वरूपशक्तिमद्ब्रह्म दृगिन्द्रियवन्नेत्रद्वयरूपेण तुल्यसमस्तशक्तिगुणवत्तया समप्राधान्येन नित्यदम्पतिरूपेणानादित एव विराजत इत्येष युगलोपासना राद्धान्त इति भावः। शक्तित्वस्वीकारेऽपि स्वरूपघटकत्वाद्भगवतो भगवत्ताहेतुभूतत्वाच्च तस्य यथा न गौणत्वं तथोपपादितं प्रागेव। किन्तु प्रकृतरसस्वरूपयुगलोपास्तौ तस्याः शक्तित्वमनने प्राधान्यमनने च शाक्तत्वं दुर्वारं स्यादित्यस्यामुपासनायां तन्नाभ्युपगतमित्यर्थः। ''देहेनैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्,'' ''स्वयमेव नायिकारूपं विधाय.,'' ''इममेवात्मानं द्वेधा०,'' ''श्रीराधाकृष्णयोरेक आत्मा०,'' इत्यादिश्रुतिभिः पक्षस्यास्य समर्थितत्वादात्मशब्देन तस्याः परामृष्टत्वाच्च शक्तित्वपक्षो दूरेऽपास्त इति भावः। एतेन तस्याः स्वाभाविकशक्तित्वानङ्गीकारे कोऽयं दुराग्रह इत्याक्षेपोऽपि परास्त इति ज्ञेयम्। ऐश्वर्य्यप्रधानभावोचिततच्छक्तित्वं बहिरङ्गम् अन्तरङ्गरसस्वरूपेऽसिद्धम्-'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गकार्ये'इति शाब्दिकन्यायादपि। शक्तित्वप्रतिपादकसामान्यशास्त्रस्यात्मत्वप्रतिपादकविशेषशास्त्रे संकोचाच्च। उपक्रमोक्तन्यायेनैवोपसंहारोऽप्युन्नेयः समानयोगक्षेमादित्याह-''तथैवे''ति। तत्रापि वाक्यशेषे ''सत्यं परं धीमही''ति उपक्रमप्रतिपाद्यवस्तुनिर्द्देशसारूप्यात्। इत्थं उपक्रमोपसंहारविचारं समाप्य ''अभ्यासं'' दर्शयति-''अचिन्त्यत्वमेवे''ति। अचिन्त्यशक्तिहेतुकाचिन्त्यैश्वर्य्यकथने शक्तिवादो नाशंक्य इत्याह-''प्रतिपाद्यवस्तुन''इति। प्रतिपाद्यवस्त्वत्र ''अभिन्न-

विशेषणविशिष्टमेकमेव द्विधा प्रकाशमानं परसत्यादिशब्दाभिधेयं सर्वविलक्षणं वस्त्वस्यशास्त्रस्य प्रतिपाद्य''मित्युक्तत्वात्प्रोक्तस्वरूपं युगलम्। तस्य प्रतिपाद्य-वस्तुनो युगलस्य न्यूनाधिकभावरहितसमानोत्कर्षपर्य्यवसायित्वात् तत्कथने न शाक्तत्वाशङ्कावसर इत्यर्थः। फलादेशं दर्शयति ''भक्तिंपरा''मिति (रासपं.ध्या.)। का सा पराभक्तिरिति जिज्ञासायामाह-''श्रीराधासख्यएवे''ति। अर्थवादं निर्दिशति-''अथ तादृशे''ति। उपपत्तिं दर्शयति-''शिवद''मिति। शास्त्रतात्पर्य्यनिर्णयौपयिकषड्लिङ्गपरीक्षणेन यत्फलितं तदाह ''एवं सर्वत्रापि श्रीमद्भागवते श्रीराधाप्राधान्येन युगलोपास्तिरभिहिते''ति। अपि चैश्वर्य्यभावा-भिभूता एतद्रहस्यश्रवणानधिकारिण इति विचार्य्यैव सा श्रीमुनीन्द्रेण श्रोतृवृन्देभ्यो भृशं संगोपितापि स्वस्मिन् ज्ञानखलता-दोषप्रसक्तिनिवारणाय ''अनयाराधिते'' ति श्लिष्टपदैरेव प्रकाशिता शिष्टमार्गमनुसरन्नित्यर्थः। रुद्रयामले श्रीराधासहस्रनाम-स्तोत्रे श्रीरुद्रेणापि सा ''श्रीभागवतभासिता, श्रीभागवतभाविते''त्यादिनामभि-र्गीता, तस्याः श्रीभागवतप्रतिपाद्यत्वमनुस्मरन्। इत्थं शास्त्रसिद्धमप्यर्थं दुराग्रह-ग्रहगृहीतत्वेन ये नाभ्युपगच्छन्ति तेषाम्औधषं नास्तीत्याह-'दुराग्रहा'दित्यादिना।

प्रश्न होता है कि श्रीराधा श्रीकृष्ण को शक्ति और शक्तिमान् मानने से गुण-प्रधान भाव से भी उन दोनों की उपासना होने पर ''युगल उपासना'' तो सभी शिष्टजनों से सम्मत है तब उसके विरुद्ध इस प्रकार श्लिष्ट अर्थ की कल्पना करने से क्या प्रयोजन है। तब प्रकृत युगलोपासना के स्वरूप का निगमन करते हुए इस शास्त्र का प्रतिपाद्य अर्थ कहते हैं- ''युगलोपासना हीति।'' समप्राधान्य होने में ही युगलोपासना है। जहाँ दोनों की समान रूप से प्रधानता नहीं है तथा जहाँ दोनों में से एक गौण और दूसरा प्रधान हो वह युगलोपासना नहीं है। वह श्रीकृष्ण की उपासना ही होगी- दोनों में अङ्गादिभाव होने के कारण। श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य अर्थ समप्राधान्यात्मक युगलोपसना है-यह बात हेतु के निर्देशपूर्वक कहते हैं- ''अभिन्न विशेषण-इत्यादि। परम सत्य अद्वितीय है अतः उसमें श्रीराधा का भी अन्तर्भाव होने के कारण दो रूप से ध्यान युक्ति सङ्गत नहीं है-यह आशंका प्रस्तुत करके समाधान करते हैं कि रूप भेद ही ध्यान भेद का कारण है-तत्त्व में कोई भेद नहीं होता है-इसमें प्रमाण स्वरूप श्रीनारद पञ्चरात्र की उक्ति उद्धृत करते हैं-''मणिर्यथा'' जैसे-स्फटिक मणि अपने समीप में रखे

गए नील-पीत पुष्प आदि उपाधियों के गुणों से रूपभेद को प्राप्त हो जाती है वैसे ही उज्ज्वल आदि स्थायिभाव रूप उपाधियों के द्वारा परमात्मा भी रूप भेद को प्राप्त हो जाता है वस्तुतः नहीं। भागवत में उक्ति है कि जिस-जिस बुद्धि से आराधक उस उरुगाय विष्णु का विभावन (ध्यान) करते हैं सज्जनों पर अनुग्रह करने के लिए वह-उस-उस शरीर को धारण करता है।

मूलकार आगे कहेंगे कि रस के एक होने पर भी भावरूप उपाधि के भेद से रसास्वादन और रसरूप में भेद होता है। एक ही वस्तु के दाम्पत्य भाव से अवस्थित होने पर ''यह स्त्री है यह पुरुष है'' ऐसा कहा जाता है-इसमें पैङ्गय श्रुति प्रमाण है।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार भेद दृष्टि से देखने पर ''एकधैवानु-द्रष्टव्यम्'' (एक ही प्रकार से देखना चाहिए भेद रूप से नहीं) इस श्रुति का विरोध उपस्थित हो जाएगा, उसमें बचा नहीं जा सकेगा-तब कहते हैं यह भी उचित नहीं है। क्योंकि एक प्रकार से देखने का तात्पर्य सभी को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष-ब्रह्मरूप से देखना है। अन्यथा स्वरूपशक्ति और उसके धर्मों का निषेध कर देने पर श्रीराधामाधव तत्त्व भी निर्धर्मक वस्तु रूप सिद्ध हो जाए। कहने का यह आशय है (वस्तु (ब्रह्म) को निर्धर्मक वेदान्ती मानते हैं निम्बार्की सधर्मक मानते हैं)। जिस प्रकार रास में एक ही श्रीकृष्ण अनेक प्रकाश रूप में रहते हैं वैसे ही एक ही उज्ज्वल सागर रूप रस दम्पतिरूप से स्थित रहता है-यह भाव है। इस विषय में पूर्व में कहे गए आत्मा ही यह सब है, ''एक ही ज्योति राधा-माधव रूप में प्रकाशित होती है-इन श्रुति-आगम की उक्तियों का प्रमाण रूप में अनुसन्धान करना चाहिए।

श्रीराधा को शक्ति मानने पर उसका अप्राधान्य होगा तथा युगलोपासना में दोष उपस्थित हो जाएगा और यदि शक्ति रूपा राधा का प्राधान्य स्वीकार करेंगे तब शाक्तत्व दोष उपस्थित होगा-अतः दोनों से पाश बन्धन है-इसी के लिए ''शक्तित्वे'' यह कहा गया है। इन दोषों से बचने के लिए कहा जा रहा है कि ''एक ही स्वरूप शक्ति वाला ब्रह्म दृगिन्द्रय के समान दो नेत्रों से तुल्य समस्त शक्तिगुण के कारण समप्राधान्य रूप से नित्यदम्पतिरूप में अनादिकाल से विराजमान है-यही युगलोपासना का सिद्धान्त है। श्रीराधा को शक्ति स्वीकार करने पर भी वह स्वरूप घटक होने के कारण तथा

भगवान् की भगवत्ता का हेतु होने से गौण-अप्रधान नहीं है-यह बात पहले ही युक्तिपूर्वक प्रतिपादित कर दी गई है। किन्तु प्रकृत रसस्वरूप युगलोपासना में श्रीराधा को शक्ति मानने और उनका प्राधान्य मानने में शाक्तत्व से नहीं बचा जा सकता इसलिए इस उपासना में उसे शक्ति नहीं माना गया-यह अर्थ है।

''देह से एक होता हुआ भी वह ब्रह्म क्रीडन के लिए दो रूपों में हो गया।'' स्वयं ही उसने नायिका रूप बनाकर'' ''अपने आपको दो रूपों में'' ''श्रीराधा और श्रीकृष्ण की एक ही आत्मा है-इत्यादि श्रुतियों के द्वारा यह पक्ष समर्थित होता है तथा ''आत्मा'' शब्द से श्रीराधा का उल्लेख (परामर्श) किया गया है-इसलिए शक्ति मानने का पक्ष-दूर कर दिया गया-अर्थात् उसे शक्ति नहीं माना गया है। इस विवेचन से यह आक्षेप भी दूर कर दिया गया कि श्रीराधा को स्वाभाविक शक्ति न मानने में यह क्या दुराग्रह है। ऐश्वर्य प्रधान भाव चित् शक्तित्व बहिरङ्ग तत्त्व है तथा यह अन्तरङ्ग रस स्वरूप में असिद्ध है-क्योंकि इसमें वैयाकरणों का न्याय भी यह है कि-अन्तरङ्ग कार्य में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है। शक्तित्व प्रतिपादक शास्त्र सामान्य शास्त्र में संकोच हो जाता है (अर्थात् श्रीराधा को श्रीकृष्ण की आत्मा कहने वाला शास्त्र बलवान् है)।

समान योग क्षेम के न्याय से उक्त उपक्रम न्याय से उपसंहार की भी संगति लगानी चाहिए। (उपक्रम का अर्थ ग्रन्थ का प्रारम्भ एवं उपसंहार का अर्थ समापन होता है) यही मूल में ''तथैवेति'' के द्वारा कहा गया है। उपसंहार में भी ''उपक्रम'' में प्रतिपाद्य वस्तु के निर्देश की समान रूपता के आधार पर ''सत्यं परं धीमहि'' कहा गया है।

अब उपक्रम और उपसंहार के विचार का समापन करके ''अभ्यास'' के विषय में विचार करते हैं-''अचिन्त्यत्वमेवेति'' अचिन्त्यशक्ति के हेतु अचिन्त्य ऐश्वर्य के कथन में ''शक्तिवाद'' की शंका नहीं करनी चाहिए इसीलिए कहा गया है ''प्रतिपाद्यवस्तुन'' इति इस शास्त्र की प्रतिपाद्य वस्तु अभिन्न (समान) विशेषणों से विशिष्ट एक होते हुए भी दो प्रकार से प्राकशमान सत्य आदि शब्दों से कहने योग्य, सबसे विलक्षण युगल स्वरूप है। उस प्रतिपाद्य युगल वस्तु का पर्यवसान दोनों के समान उत्कर्ष में होता

है जहाँ न कोई न्यून है न कोई अधिक है। अतः उसमें शाक्तत्व की शंका का अवसर ही नहीं है।

षड्लिङ्गों में फलरूप लिङ्ग को दिखलाते हैं-''भक्तिं परामिति (विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णो, श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथवर्णयेद्यः। भक्तिं परा भगवति प्रतिलभ्य कामं,--हृद्रोगमाश्वपहिनात्यचिरेण धीरः'' भा. १०-३३-४०)

(श्रीकृष्ण की व्रजवधुओं के साथ की गई विविध क्रीडाओं को जो श्रद्धापूर्वक श्रवण करे या वर्णन करे वह भगवान् में परमभक्ति को प्राप्त होता है) भगवान् में परम को प्राप्त होता है। यह परमभक्ति क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है कि ''राधा के साथ सख्य भाव ही परम भक्ति है।'' ''अथ तादृशेति'' से अर्थवाद को दिखलाया गया है। ''शिवदमिति'' के द्वारा उपपत्ति को दिखलाया गया है (इनका विशद् विवेचन मूल के अनुवाद में दिया हुआ है)।

शास्त्र के तात्पर्य के निर्णय के लिए उपयोगी षड्लिङ्ग के परीक्षण से जो अर्थ फलित हुआ-उसे कहते हैं-इस प्रकार भागवत में सर्वत्र श्रीराधा के प्राधान्य से युगलोपासना का वर्णन किया गया है। ऐश्वर्य से अभिभूत श्रोता इसके अधिकारी नहीं है यह विचार करके ही मुनीन्द्र ने श्रोताओं से श्रीराधा का अत्यधिक गोपन किया (छिपाया) तथा अपने में आने वाले ज्ञान की खलता का निवारण करने के लिए ''अनया राधितो नूनं'' इत्यादि श्लिष्ट पदों से शिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए श्रीराधा को प्रकाशित भी कर दिया। रुद्रयामल में भी श्रीरुद्र ने ''राधासहस्रनाम स्तोत्र'' में ''श्रीभागवत-भासिता'' श्रीभागवतभाविता आदि नामों से श्रीराधा को प्रकट किया है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीराधा ही भागवत की प्रतिपाद्य है। इस प्रकार शास्त्र सिद्ध भी अर्थ को दुराग्रह के ग्रह से ग्रसित जन यदि स्वीकार नहीं करते हैं तब उनके लिए कोई औषध नहीं है-इसी बात को ''दुराग्रह'' आदि के द्वारा कहा गया है।

यत्तु श्रीमत्सुधानिधौ ''परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं तत इति। तत्र यदीति संभावनायाम्। यदि कश्चिदेवं संभावयेत्संभाव्यतां नाम, किमस्माकमिति तत्संभावनायामेवौदासीन्यं न तु शुकादाविति

तात्पर्यम्।। वस्तुतस्तु तत्प्रकटार्थमनुसृत्यैवेदमुक्तं पूर्वोक्तरीत्या अप्रकटार्थेषु न कश्चिद्विरोधः।। अपि च--

शास्त्रसम्मतिनिर्धारे ह्यनुबन्धचतुष्टयी।
अधिकारी च संबन्धो विषयश्च प्रयोजनम्।।
यत्रैषा पर्य्यवसिता शास्त्रतत्त्वं तदेव हि।
एनां वर्णयता त्वादिकविना सुष्ठु दर्शितम्।।
श्रीमद्भागवतं सर्वं राधाकृष्णरसात्मकम्।। तथाहि
धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुद्ध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्।।

अस्यार्थः--श्रीः सर्वोत्कर्षः।। तद्वति भागवते सति अपरैः अन्यैः शास्त्रैः किं।। न किमपीत्यर्थः।। एतेन सर्वशास्त्रेभ्यः प्राधान्यं, श्रीमदिति वस्तुविशेषणं वा।। श्रीरानन्दशक्तिः।। सा चास्य श्रीराधैव।। तया सह नित्यलीला वा।। तद्वत्।। नित्ययोगे मतुप्। तया सह नित्यविहारि यत्तदेव वस्त्वित्यर्थः।। अथवा श्रीमत्।। तदतिशायित्वप्रतिपादकं च तद्भागवतं तस्मिन्नित्यर्थः।। अत्र शुश्रूषुभिरेव किं पुनः शृण्वद्भिः।। ईश्वरः श्रीकृष्णः।। ''मत्तः सर्वं प्रवर्त्तत'' इत्युक्तेः।। सर्वप्रवर्त्तकत्वमीश्वरत्वम्।। सद्यस्तत्क्षणादेव हृद्यवरुध्यते, निष्कासितोऽपि न निःसरति।। विसृजति हृदयं न यस्य साक्षादित्येकादशात्।। किंवा--तत्क्षणादेव तस्य श्रीकृष्णस्य क्षणात् हर्षात्।। एतच्छ्रवणेन शुद्धसख्योदयाद्धर्षेणैवासौ रुद्धो भवतीति भावः।। तत्कुतः।। अत्र भगवद्भक्तिलक्षणः परमः सर्वोत्कृष्टः।। यद्वाअत्र पं कृत्वा रमयतीति।। ''विलाज्ञ उद्गायति नृत्यते चे''त्याद्युक्तेः।। यद्वा-परा ईश्वरादप्युत्कृष्टा मा रमा श्रीराधा यस्मिन्।। रमेति प्रथमं नाम ''रमाक्रीडमभून्नृपे''ति श्रीदशमोक्तेः।। तादृशशुद्धभक्तिलक्षणो धर्मः।। सोऽपि तत्सुखात्मक एवेत्याह।। प्रोज्झितेत्यादि।। प्रकर्षेणोज्झितः स्वसुखात्मकः कैतवो यस्मिन्निति।। यत्र भगवद्धर्मे वास्तवं वस्तुनः श्रीकृष्णस्येदं श्रीकृष्णलोको वृन्दावनम्।। वस्तु श्रीकृष्णश्च।। तदुभयं वेद्यम्।। उभयत्र चकारो देयः।। तदुक्तं--

येनाप्नोति परां भूमिं पदगुप्तेऽभिधेयता।
तदव्ययमुपादेयं पदव्याख्याविशारदैरिति।।

वसति सर्वभूतानां हृदये इति वसुस्तुन्। ''जयति जननिवासं'' इत्यादेः।। कीदृशं वस्तु।। सतां वेद्यम्।। कीदृशानां सतां।। निर्मत्सराणाम्।। मत्सरोऽत्र सापत्न्ये सत्येव।। परोत्कर्षासहनस्यैव तत्त्वात्।। तद्रहितानां शुद्धसख्यनिष्ठानामित्यर्थः।। पुनः कीदृशम्।। शिवदम्।। शिवं प्रेम।। तत्प्रदम्।। किंवा-शिवस्यापिदं शोधनं यस्मात्।। ''शिवः शिवोऽभूदित्यादेः।। सोऽपि पार्वतीसखत्वेन तत्प्रेमास्वादकः।। ''सह स्वस्त्रांबिकये''त्यादिश्रुतेः।। अन्यथा महायोगिनः स्त्रीसंबन्धस्यानौचित्यात्।। पुनः कीदृशो धर्मः।। प्रकर्षेणोज्झितं कैतवमुपाधिर्यस्मिन्।। निरूपाधिरित्यर्थः।। स चोपाधिः कामाद्यनुबन्ध एव।।

''कामात्क्रोधोद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः।।''

इति सप्तमादावादित्रिकस्य हेयगणत्वात् स्नेहभक्त्योश्चोपादेयत्वादिति भावः।। अत्राघशब्दो दुःखवचनः अंहोदुःखव्यसनेष्वघमिति कोशात्।। ''दुःखं कामसुखापेक्षेत्यादि दर्शयिष्यामः।। प्रशब्देनाकांक्षान्तरनिरासः।। ''विना मत्सेवनं जना''इति तृतीयोक्तेः।। भजनानन्देनैव पूर्णत्वात्।। तदघं तत्तत्पापमिति व्याख्यानं त्वश्लीलत्वादुपेक्ष्यम्।। अथवा कीदृशं वस्तु।। वास्तवम्।। तापत्रयोन्मूलनं च।। तत्र वास्तवं नित्यसिद्धम्।। प्रकटलीलावदुदयास्तमयाभावात्।। तापत्रयं च--

''नास्ति सापत्न्यभावोऽत्र न वियोगो न वा घृणे''ति भक्तिरत्नाकरे निषेधमुखेन तापत्रयमुपन्यस्तम्।। एतेन शास्त्रसंबन्धाभिधेयप्रयोजनानि व्याख्यातानि।। तत्र महामुनिकृत इति संबन्धः।। महामुनिर्भगवानेव।। ''स मुनिर्भूत्वाचिन्तय''दित्यादिश्रुतेः। ततश्चाभिहिताभिधानसंबन्धः।। सद्यो हृदीति प्रयोजनम्।। वेद्यं वास्तवमिति च।। धर्म इत्यभिधेयम्।।

जो श्रीमत्सुधानिधि में-''परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः'' अर्थात् श्रीशुक आदि परेश के भजन में उन्मत्त हैं तो इससे क्या? यहाँ यद् सम्भावना के अर्थ में है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई इस प्रकार से

सम्भावना करते हैं तो सम्भावना करते रहें, हमारा इससे क्या बिगडता है, सम्भावना करने वालों में हमारी उदासीनता है हम उनके पक्ष के नहीं है। हाँ शुकदेव मुनि में हमारी उदासीनता नहीं है क्योंकि शुकदेव मुनि का तात्पर्य तो श्रीराधा के स्तवन में ही है।

वस्तुतः उनके प्रकट अर्थ का अनुसरण करके ही यह कहा गया है अप्रकट अर्थ में कोई विरोध नहीं है। और भी--

शास्त्र की सम्मति किस अर्थ में है इसके निर्धारण के लिए अनुबन्ध चतुष्टयी होती है। अधिकारी, सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन-इन चार को अनुबन्ध चतुष्टयी कहते हैं। जिस अर्थ में इस चतुष्टयी का पर्यवसान होता है वही शास्त्र का रहस्य है।

इस चतुष्टयी का वर्णन करते हुए आदि कवि श्रीव्यास ने दिखलाया है कि श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण रूप से श्रीराधा-कृष्ण रसात्मक है। ''धर्मः प्रोज्झित.. तत्क्षणात्-''

''महामुनि व्यास के द्वारा निर्मित इस श्रीमद्भागवत महापुराण में मोक्ष पर्यन्त फल की कामना से रहित परम धर्म का निरूपण हुआ है। इसमें शुद्धान्तःकरण सत्पुरुषों के जानने योग्य उस वास्तविक वस्तु परमात्मा का निरूपण हुआ है, जो तीनों तापों का जड़ से नाश करने वाली और परम कल्याण देने वाली है अब और किसी साधन या शास्त्र से क्या प्रयोजन। जिस समय भी सुकृती पुरुष इसके श्रवण की इच्छा करते हैं, ईश्वर उसी समय अविलम्ब उनके हृदय में आकर बन्दी बन जाता है।

इस श्लोक का अर्थ। श्री का अर्थ है सर्वोत्कर्ष। सर्वोत्कर्ष से युक्त भागवत के रहते अन्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन। अर्थात् कुछ भी नहीं। इससे भागवत का अन्य शास्त्रों की तुलना में प्राधान्य द्योतित होता है। अथवा श्रीमद् इस पद को ''वस्तु'' का विशेषण मानना चाहिए। तब श्री का अर्थ होगा आनन्द शक्ति और वह है श्रीराधा ही। उसके साथ श्रीकृष्ण अथवा नित्यलीला। यह श्रीमद् का अर्थ हुआ। नित्ययोग में श्रीशब्द के साथ मतुप् प्रत्यय का योग है। उस श्रीराधा के साथ जो नित्य विहार करने वाला श्रीकृष्ण है वही वस्तु है। अथवा श्रीकृष्ण ही श्रीमत् है। उसके अतिशय का वर्णन करने वाला भागवत है-ऐसा भागवत के होने पर अन्य शास्त्रों से क्या

प्रयोजन। ''शुश्रूषुभिः'' सुनने की इच्छा रखने वालों के हृदय में भी जब परमात्मा अवरुद्ध हो जाता है तब सुनने वालों का तो कहना ही क्या। यहाँ ''ईश्वरः'' का अर्थ श्रीकृष्ण है। मुझ से सभी प्रवृत्त होते हैं। इस उक्ति के आधार पर यह अर्थ है। सबको प्रवर्तित करने वाला ही ईश्वर होता है। भागवत की सुनने मात्र की इच्छा करने वालों के हृदय में वह ईश्वर तत्काल अवरूद्ध हो जाता है, निकालने पर भी नहीं निकलता। एकादश स्कन्ध में कहा गया है कि वह साधक के हृदय को नहीं छोड़ता है। तत्क्षणात् का अर्थ है-''तस्य क्षणात्'' उस श्रीकृष्ण के हर्ष से। इस भागवत के सुनने से सख्य भाव के उदय के कारण हर्ष से वह ईश्वर अवरुद्ध हो जाता है-यह भाव है। यह हर्ष कहाँ से होता है? इसका उत्तर है भगवद् भक्ति स्वरूप धर्म ही परम है-उसी के हर्ष का उदय होता है। अथवा जिसको करके आनन्दित करवाता है। इस विषय में एक उक्ति है-लज्जा रहित होकर ऊँचे स्वर से गाता है, नृत्य करता है (आशय यह है कि भागवत में भगवद्भक्ति ही परमउत्कृष्ट धर्म है-भक्ति में ही भक्त लज्जा छोड़कर गाता है, नाचता है-इसी धर्म से हर्ष उत्पन्न होता है)।

अथवा परम का दूसरा अर्थ यह किया जा सकता है कि परा अर्थात् ईश्वर से भी उत्कृष्ट-मा-अर्थात् रमा श्रीराधा जिसमें स्थित है वही परम धर्म है। रमा-यह प्रथम नाम है। दशम स्कन्ध में कहा गया है--

उस प्रकार की शुद्ध भक्ति स्वरूप वाला ही धर्म यहाँ कहा गया है। वह धर्म भी तत्सुखात्मक (राधा-माधव को सुख पहुँचाने वाला) है।

''प्रोज्झितकैतवः'' की व्याख्या करते हैं। जिसमें अपने सुख का कैतव पूर्णरूप से छोड़ दिया गया है वह भक्तिलक्षण धर्म।

जहाँ भगवद्धर्म में वास्तव अर्थात् वस्तु श्रीकृष्ण का यह लोक वृन्दावन है (वास्तव का अर्थ किया गया है-वस्तुनोऽयं लोकः-वस्तु श्रीकृष्ण उसका लोक-वृन्दावन इस प्रकार ''वास्तव'' का अर्थ हुआ वृन्दावन) वस्तु श्रीकृष्ण है। इस प्रकार ''वास्तव'' से श्रीकृष्ण और उनका लोक वृन्दावन-ये दोनों अर्थ समझने चाहिए। दोनों स्थानों पर चकार देना चाहिए-वस्तु च वास्तवश्च।

कहा गया है--

पद के गुप्त होने पर जिस पद से अभिधेयता उत्कृष्ट कोटि में पहुँच जावे पद की व्याख्या करने में विशारद लोगों को उस पद को ग्रहण कर लेना चाहिए।

वस्तु की व्युत्पत्ति करते हैं-सभी भूतों के हृदय में जो वास करे वह वस्तु-वस् धातु से तुन् प्रत्यय करने पर वस्तु शब्द निष्पन्न होगा। ''जयति जननिवास'' इत्यादि में यही अर्थ कहा गया है। यह वस्तु कैसी है? यह सज्जनों के लिए वेद्य है (जानने योग्य है) कैसे सज्जन? जो मत्सरता से रहित हो। यहाँ मत्सरता सापत्न्य भाव (शत्रुभाव) होने पर ही हो सकती है। शत्रुभाव है दूसरे के उत्कर्ष को सहन न करना। उस शत्रु भाव से रहित शुद्ध सख्य भाव निष्ठ सज्जनों के लिए वह वस्तु वेद्य है। वह वस्तु पुनः किस प्रकार की है? कहते हैं ''शिवदम्'' शिव अर्थात् प्रेम को प्रदान करने वाली। अथवा जिस वस्तु से शिव का भी शोधन हो इस अर्थ में कहा गया है-शिवः शिवोऽभूत-शिव भी शिव हो गए।वह शिव भी पार्वती से सख्य भाव के कारण उस प्रेम के आस्वादक हैं (सख्य भाव से पार्वती के प्रेम के आस्वादक हैं)। अन्यथा महायोगी शंकर का स्त्री के साथ सम्बन्ध अनुचित होता।

पुनः यह धर्म कैसा है? जिसमें प्रकृष्ट रूप से उपाधि का त्याग कर दिया गया है-अर्थात् निरुपाधि-यह अर्थ है। कामनाओं का अनुबन्ध ही उपाधि है काम से, क्रोध से, भय से, स्नेह से, अथवा भक्ति से जिस भी प्रकार से ईश्वर में मन को लगाकर, पाप का परित्याग करके बहुत से लोग उस परमात्मा की गति (शरणागति) को प्राप्त हो गए।

सप्तम स्कन्ध के इस श्लोक में काम, क्रोध और भय-इन तीनों के समुदाय को तो हेय कहा गया है तथा स्नेह एवं भक्ति को उपादेय कहा गया है-यह भाव है (यद्यपि काम, क्रोध और भय ये तीनों त्याज्य हैं तथापि कुछ लोगों ने इनके कारण ही भगवान् में मन लगाया। स्नेह और भक्ति उपादेय है। अर्थात् भगवान् में मन लगाने के उत्तम प्रकार हैं)।

यहाँ ''अघ''=पाप शब्द से दुःख समझना चाहिए-अर्थात्-त्रिविध दुःखों का परित्याग करके भगवान् की गति को प्राप्त हो गए। कोश में ''अघ'' के पाप, दुःख और व्यसन ये अर्थ दिए गए हैं। दुःख कामसुख की

अपेक्षा है-ऐसा आगे स्पष्ट करेंगे।

प्रोज्झित में आए ''प्र'' का अर्थ है-अन्य आकांक्षा का त्याग। तृतीय स्कन्ध में कहा है-मेरे सेवन के बिना लोग..(सुख नहीं पाते) भजनानन्द से ही पूर्णता है। तदघं-का अर्थ उन-उन पापों को (छोड़कर) यह व्याख्यान अश्लील होने से उपेक्षा करने योग्य है।

अथवा कैसे वस्तु? इसका उत्तर है ''वास्तव'' और तापत्रय का उन्मूलन। इनमें वास्तव का अर्थ नित्य सिद्ध है जो प्रकट लीला के समान उदय और अस्त के भाव से रहित हो (प्रकट लीला में उदय और अस्त होता है परन्तु नित्य लीला में इसका अभाव रहता है)।

और तापत्रय--

जिसमें सापत्न्यभाव, वियोग और घृणा न हो-भक्ति रत्नाकर के इस श्लोक में निषेध मुख से तापत्रय कहा है-तात्पर्य यह भी सापत्न्य भाव (पर के उत्कर्ष को सहन न करना), वियोग और घृणा-ये तीन प्रकार के ताप हैं।

इस प्रकार इस विवेचन से भागवत शास्त्र के सम्बन्ध, अभिधेय (प्रतिपाद्य) और प्रयोजनों की व्याख्या की गई।

इनमें भागवत महामुनि व्यास से प्रणीत है यह सम्बन्ध है और महामुनि भगवान् ही है उस परमात्मा ने मुनि होकर सोचा यह श्रुति है। ग्रन्थ में अभिहित और अभिधान सम्बन्ध है। सद्यः हृदय में-अवरुद्ध हो जाना ही प्रयोजन है।

वस्तु श्रीकृष्ण और उसका लोक वृन्दावन तथा भगवद् भक्ति लक्षण धर्म ही-अभिधेय हैं।

विषयप्रयोजनाधिकारि-सम्बन्धेत्यनुबन्धचतुष्टयी यत्र पर्य्यवस्यति तदेव शास्त्र-तत्त्वमिति तद्विदां मार्गस्तदालोचनेनापि तत्तात्पर्य्यं सुगमं भवतीति तद्विमर्शाय द्वितीयं पद्यमवतारयति-''धर्मः प्रोज्झितकैतव''इत्यादि। प्रकर्षेणोज्झितं स्वसुखात्मकं कैतवं यस्मिन् सः तत्सुखात्मकोऽहैतुकः शुद्धभक्ति-लक्षणो धर्मः। यद्वा प्रकर्षेणोज्झितं कैतवमुपाधिः कामाद्यनुबन्धो यस्मिन् स धर्मः। निरुपाधिरित्यर्थः। कामादीनां हेयगुणत्वे ज्ञापकमाह-''कामात्क्रोधा''दित्यादि। श्रीमदित्यस्यार्थविशेषं दर्शयति-श्रीरानन्दशक्तिः

श्रीराधा। तया सह नित्यलीला वा। तद्वत्। नित्ययोगे मतुप्। तया सह नित्यविहारि यत्तदेव वस्त्वित्यर्थः। यद्वा श्रीमत्। श्रियोऽतिशायित्वप्रतिपादकं च तद्भागवतं तस्मिन्निति। ''ईश्वर'' शब्दस्य श्रीनारायणादिषु शक्तिं वारयन्नाह- ''श्रीकृष्ण''इति। ''मत्तः परतरं नान्यत्०''इति श्रीमुखोक्तेः। ''एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वय''मिति प्रथमस्कन्धे श्रीसूतोक्तेः। ईश्वरत्वं लक्षयति- ''सर्वप्रवर्त्तकत्व''मिति। कामस्य तु न सर्वप्रवर्त्तकत्वं, ''इच्छाद्वेषः सुखंदुःख''मित्यादि श्रीमुखोक्तेरीश्वरप्रेरितस्यैव तत्त्वमित्याशयः। ''वास्तव'' शब्दस्य प्रकृतानुसार्यर्थं दर्शयति वास्तवं वस्तुनः श्रीकृष्णस्येदं श्रीकृष्णलोको श्रीवृन्दावनं नित्यसिद्धं वस्तु, श्रीकृष्णश्च, तदुभयं वेद्यमिति। ''निर्मत्सराणां सता''मित्यस्यार्थमाह-मत्सरःपरोत्कर्षासहनं, तच्च प्रकृते शृङ्गाररसे सापत्न्ये सत्येव संभवति, तद्रहितानां शुद्धसख्यनिष्ठानामित्यर्थः। ''शिवादि'' मित्यस्यार्थमाह-शिवं प्रेम तत्प्रदमिति। ''प्रोज्झिते''त्यत्र प्र-शब्दस्यार्थं स्फोरयतिआकांक्षान्तरनिरासपूर्वकश्रीभगवत्सेवारूपभजनानन्देनैव पूर्णत्वं, ''दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना'' इतिश्रीतृतीयोक्तेरिति। युगलोपासनायां तापत्रयं दर्शयति-''सापन्त्यभावो, वियोगो, घृणा चे''ति। तस्य प्रकटलीलागतत्वान्नात्राप्रकटनिकुञ्जविहारे तत्प्रसरावकाशो, हेत्वभावादित्यर्थः। श्लोकं व्याख्याय अनुबन्धान् दर्शयति-''तत्रे''त्यादिना। तथाहि ''सद्योहृद्यवरुध्यतेऽत्रे''ति प्रयोजनम्। ''धर्मः प्रोज्झितकैतव'' ''वेद्यं वास्तवमत्र वस्तुशिवद''मित्यादि च प्रतिपाद्यविषयः। विषयशास्त्रयोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावरूपः सम्बन्धः। शुश्रूषुरधिकारीति।

शास्त्र के तात्पर्य का निर्णय करने के लिए षड्लिङ्ग के विवेचन के अनन्तर लिखते हैं कि विषय-प्रयोजन-अधिकारी और सम्बन्ध इन चार अनुबन्धों का पर्यवसान जिस अर्थ में होता है वही अर्थ शास्त्र का तत्त्व है- इस मार्ग का आश्रय लेने वालों के लिए तात्पर्य को सुगम करने के लिए एक दूसरा पद्य अवतरित करते हैं-

''धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो
निर्मत्सराणां सतां'' भाग.१-२)

(मूल में इसका अर्थ दिया हुआ है)

जिसमें अपने सुख प्राप्त करने का दाँव छोड़ दिया गया है, उसके

सुख में सुखी होने की बिना कारण की शुद्ध भक्ति ही धर्म है। अथवा जहाँ प्रकृष्ट रूप से कामनारूपी उपाधियों का त्याग किया गया है वह धर्म है। अर्थात् कामादि की उपाधि से शून्य हो जाना ही धर्म है। कामादि हेय गुण हैं इसमें ज्ञापक है-''कामात्क्रोधोऽभिजायते'' (काम से क्रोध उत्पन्न होता है) श्लोक में आये हुए श्रीमद् का अर्थ करते हैं श्री का अर्थ है आनन्द शक्ति श्रीराधा। श्री (राधा) से सहित श्रीकृष्ण अथवा नित्यलीला। उससे युक्त। नित्ययोग में श्रीशब्द में मतुप् प्रत्यय का योग है। उस श्रीराधा के सहित नित्यविहारी जो श्रीकृष्ण है वही वस्तु तत्त्व है-अर्थात् श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य है। अथवा श्रीमत् का अर्थ होगा-श्री-श्रीराधा का अतिशय रूप से प्रतिपादन करने वाला भागवत। ईश्वर शब्द से श्रीनारायण आदि न लिया जावे अतः कहा गया है-ईश्वर अर्थात् श्रीकृष्ण। क्योंकि स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से कहा है कि मेरे से भिन्न कोई परतर वस्तु नहीं है। ये अन्य अवतार उस पुरुष के अंश हैं किन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं-ऐसा प्रथम स्कन्ध की श्रीसूत की उक्ति से ज्ञात होता है। अब ईश्वरत्व को लक्षित करते हैं-''सबको प्रेरित करने वाला ही ईश्वर होता है। काम सबका प्रवर्तक नहीं है। ईश्वर से प्रेरित ही इच्छा, द्वेष, सुख एवं दुःख का त्याग कर सकता है ऐसा श्रीमुख से कहा गया है।

''वास्तव'' शब्द का प्रकृत के अनुसार अर्थ करते हैं-वास्तव के दो अर्थ हैं वस्तु रूप श्रीकृष्ण का यह लोक श्रीवृन्दावन तथा नित्य सिद्ध वस्तु श्रीकृष्ण।

''निर्मत्सराणां सतां'' का अर्थ करते हैं-मत्सर का अर्थ है दूसरे के उत्कर्ष को सहन न करना और वह प्रकृत शृङ्गार रस के सापत्न्य होने पर ही सम्भव हो सकता है, अतः सापत्न्य भाव से रहित शुद्ध सख्यभाव से उपासना करने वालों का (श्री युगलोपासक सख्य भाव से ही उपासना करते हैं) ''शिवदम्'' शिव का अर्थ है प्रेम उसको प्रदान करने वाला ही शिवद है। ''प्रोज्झित'' में आए हुए प्रशब्द का अर्थ प्रकट करते हैं-आकांक्षा रहित होकर साधक श्रीभगवत् सेवा रूप भजनानन्द को ही पूर्ण रूप से चाहते हैं-अन्यों का त्याग करते हैं-तृतीय स्कन्ध में कहा भी है कि-मेरे भक्त मेरी सेवा को छोड़कर दी जाने वाले मोक्ष आदि फलों को भी ग्रहण नहीं करते

हैं। युगलोपासना में तापत्रय को प्रकट करते हैं-सापत्न्यभाव, वियोग और घृणा-ये तीन ताप हैं। ये ताप प्रकट लीला में होते हैं। यहाँ अप्रकट निकुञ्ज विहार में इन तापों के प्रसार का अवसर नहीं है, तापत्रय के हेतु का अभाव होने से।

इस प्रकार श्लोक की व्याख्या करके अनुबन्धों को दिखलाते हैं ''तत्रेत्यादिना'' युगल उपासकों के हृदय में तत्काल श्रीकृष्ण अवरुद्ध हो जाते हैं-यह प्रयोजन है-इस शास्त्र के अध्ययन का। इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है-समस्त कामनाओं का परित्याग करके शुद्ध भक्ति ही धर्म है तथा प्रेम प्रदान करने वाली नित्यसिद्ध वस्तु श्रीकृष्ण एवं उनका लोक वृन्दावन।

विषय और शास्त्र का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव रूप सम्बन्ध है। इस शास्त्र के श्रवण की इच्छा रखने वाला ही अधिकारी है।

तत्र शुश्रूषुभिरित्यनेनाधिकारिणमुक्त्वाप्यपरितुष्यन् शास्त्रस्वरूपनिर्द्देशपूर्वकं तं विशिष्याह-निगमेति ।।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।।

पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावकाः ।।

अस्यार्थः--हे भावकाः ।। भावेन कं सुखं येषाम् ।। ''प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयत''इति प्रेमभक्ता इत्यर्थः ।। एतच्छ्रवणेन प्रेमभक्ता भविष्यथ इत्याशीरपि दर्शिता ।। अथवा रसविशेषभावनाचतुराः ।। तच्चातुर्यमप्येतच्छ्रवणादेव प्राप्स्यथ इत्यपि दर्शितम् ।। भागवता वैष्णवा इति वक्तव्ये फलप्रधानोऽयं निर्द्देशः ।। तस्य तस्य च भावकत्वे रसिकत्व एव पर्य्यवसानात् अन्यत्र गौणमेव हि तत्तदिति भावः ।। अत्र रसोभावश्च ''रसो भक्तिरसः प्रोक्तो भावस्तद्भावभावन'' मिति मनोबुद्धिसंवादोक्तः ।। तेन यदि रसिका भवितुमिच्छथ तर्हि भागवतं रसं पिबत ।। सादरमास्वादयथ ।। भागवतस्यैव रसत्वे पुनस्तदुक्तिः शक्यतावच्छेदकतयेति न पौनरुक्त्यम् ।। यद्वा-भगवतीनां गोपीनां श्रीराधासहचरीणामयं भागवतस्तम् ।। किंवा-भगं श्रीः ।। तस्या इमाः सख्यो भगवत्यस्तासां रसो रागस्तम् ।। ननु कथमिदं लभ्येत तत्राह-भुवि गलितम् ।। ननु रसस्य तथात्वे पानमनुपपन्नमित्यत आह-फलमिति ।। कस्येत्यत आह-निगमकल्पतरोः ।। तर्हि कथं नावशीर्णं तत्राह-

शुकमुखात् ।। श्रीशुकमारभ्य शनैः शनैरित्यर्थः ।। एतेन गोपीभावास्वाद एव निखिलनिगमोपनिषत्फलमिति दर्शितम् ।। पुनः कीदृशम् ।। अमृतेति ।। अमृतं मोक्षः ।। तस्य द्रवः परीहासो यस्मिन् भक्तिरसे तेन सम्यक् युतम् ।। मोक्षलघुताकृदिति रसामृतसिन्धोः ।। उपलक्षणमेतत् ।।

''सकृदेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ ।।

पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्तत''इति तत्रैवोक्तेः ।। कथमेतदित्यत आह-आलयं यथा स्यात्तथेति लयस्तावन्मत्तताऽमर्यादया ज्ञानराहित्यमित्यर्थः ।। अत्र परम इत्यस्य व्याख्याने प्रागेव व्याख्यातत्वात् ।। शेषं स्पष्टम् ।।

एवं युक्तिभिरेताभिः श्रीमद्भागवतस्य हि ।।

तात्पर्यं राधिकाकृष्णाराधने दृश्यते स्फुटम् ।।

इति श्रीराधाभक्तिमंजूषायां श्रीराधायाः

श्रीभागवतप्रतिपाद्यत्वयुक्तिः ।।७ ।।

यद्यपि ''शुश्रूषुभिः'' पद से अधिकारी (शास्त्र श्रवण का अधिकारी) के विषय में कहकर भी सन्तुष्ट न होते हुए शास्त्र निर्देश पूर्वक उसको अलग करके कह रहे हैं-''निगमेति'' निगमकल्पतरोर्गलितं-इस पद्य के द्वारा पद्य का अर्थ--

रस के मर्मज्ञ भक्तजन! यह भागवत वेदरूप कल्पवृक्ष का पका हुआ फल है। श्रीशुकदेव रूप तोते के मुख का सम्बन्ध हो जाने से यह परमानन्दमयी सुधा से परिपूर्ण हो गया है। इस फल में छिलका, गुठली आदि त्याज्य अंश तनिक भी नहीं है। यह मूर्तिमान् रस है। जब तक शरीर में चेतना रहे, तब तक इस दिव्य भगवद्रस का निरन्तर बार-बार पान करते रहो। यह पृथ्वी पर ही सुलभ है।

इसका अर्थ ग्रन्थकार करते हैं-हे भावकों! भाव से जिनको सुख मिलता है वे भावक हैं। ''प्रेम की प्रथम अवस्था को भाव कहते हैं-इस प्रकार अर्थ हुआ, हे प्रेम भक्तों! इस ग्रन्थ के श्रवण से श्रोता प्रेम भक्त बनेंगे-यह आशीर्वाद भी यहाँ दिखला दिया गया अथवा रसविशेष की भावना में चतुर। वह चातुर्य भी इस के श्रवण से ही प्राप्त करोगे, यह भी यहाँ प्रकट किया गया। भागवताः वैष्णवाः-यह कहने के स्थान पर भावक! भावुक-

कहना फल प्रधान निर्देश है अर्थात् इस ग्रन्थ के श्रवण से प्रेमरस की प्राप्ति होगी एवं श्रोता प्रेमभक्त बनेंगे। सभी श्रोता भावक-रसिक बनेंगे-इसी अर्थ में इनका पर्यवसान है।

यहाँ रस और भाव का अर्थ है-रस भक्तिरस तथा उस भक्तिरस का भावन करना भाव है-यह मेरी बुद्धि के संवाद से प्रकट है। यदि रसिक बनना चाहते हो तब भागवत रस का पान करो। आदरपूर्वक आस्वादन करो। भागवत के ही रस रूप होने पर पुनः रस शब्द का उल्लेख करने में पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि शक्यतावच्छेदक रूप में उसका कथन है। भागवत का यह अर्थ भी किया जा सकता है कि श्रीराधा की सहचरी भगवती गोपियों का यह ग्रन्थ है, उस का पान करो। अथवा-भग का अर्थ श्रीराधा। श्रीराधा की सखियाँ हुई भगवती-उनका रस अर्थात् राग-उस का पान करो। यह रस कैसे प्राप्त हो-तो इसके लिए कहा गया है-भुवि गलितम्-भूमि पर ही उपलब्ध है। रस के भूमि पर गिरने पर पान करना संगत या सम्भव नहीं होगा-इसीलिए कहा गया है-फलम्-वह फल स्वरूप है। यह फल किसका है-इसके लिए कहा गया है कि यह फल-निगम-वेद रूपी कल्पतरु का फल है। यह फल अवशीर्ण क्यों नहीं हुआ? तब कहते हैं-यह फल-शुक से आरम्भ होकर शनैः-शनैः प्राप्त हुआ है। इस विवेचन से यह कहा गया है कि गोपीभाव का आस्वाद या गोपीभाव से आस्वाद ही समस्त वैदिक उपनिषदों का फल है। पुनः यह कैसा है? अमृत है। अमृत का अर्थ मोक्ष है। उस मोक्षरूपी अमृत के द्रव से युक्त है-अर्थात् इस भक्तिरस में मोक्षरूपी अमृत का द्रव सम्यक् प्रकार से मिला हुआ है, रसामृतसिन्धु में कहा गया है कि यह भक्तिरस मोक्ष को भी लघु-अवरकोटि का बनाने वाला है। यह उपलक्षण है। रसामृतसिन्धु में कहा गया है--

एक बार हृदय में भगवान् की रति के प्रकृष्ट रूप से आरूढ होने पर धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ तिनके के सदृश हो जाते हैं। यह कैसे होता है-इसके लिए कहा गया है-''आलयं'' तात्पर्य है-जब तक लय न हो तब तक प्रकष्ट रूप से भगवद् भक्तिरस में ज्ञान रहित अवस्था में डूबने से यह सम्भव है। ''परम'' शब्द का व्याख्यान पूर्व में किया जा चुका है। शेष स्पष्ट है।

इस प्रकार इन युक्तियों के आधार पर भागवत का तात्पर्य श्रीराधा

और श्रीकृष्ण की आराधना में स्पष्ट रूप में देखा जाता है।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां श्रीराधायाः श्रीभागवतप्रतिपाद्यत्वयुक्तिः।।७।।

पुनश्च तं शास्त्रं च विशेषतो वर्णयन्नाह ''निगमे''त्यादि। प्रकृतानुसारितदर्थविशेषमाह-''अस्यार्थ''इत्यादिना। भावविभावानुभावसात्त्विकादीनां चित्तस्थानामेव परिपाकावस्थायां रसतापत्तेः रसिकजनास्वाद्यसुखस्य भावैकग्राह्यत्वमित्याशयेन ''भावक''शब्दं व्याचष्टे-''भावेन कं सुखं येषा''मिति। भावपदार्थमाह-''प्रेम्णस्तु प्रथमावस्थे''ति। तेन ''भावका''इत्यस्य प्रेमभक्ता इत्यर्थः। आशीर्वादगर्भितोऽयं भावशब्दइत्याशयेनाह-''एतच्छ्रवणेनेति। प्रकारान्तरेण भावकशब्दार्थमाह-''रसविशेषभावनाचतुरा''इति। तच्चातुर्य्यमपि श्रीभागवतश्रवणादेवाप्तुमिच्छथेत्याह-''तच्चातुर्य्य''मित्यादिना। अपि चात्र ''भागवता वैष्णवा''इति वक्तव्ये भावकशब्दप्रयोगात् फलप्राधनोऽयं निर्द्देश इति गम्यत इत्याशयेनाह-''अत्र भागवता'' इत्यादि। भागवतत्वस्य वैष्णवत्वस्य वा तत्तत्फलरूपे भावकत्वे रसिकत्व एव पर्य्यवसानान्मुख्यं भागवतत्वं वैष्णवत्वं वा रसिकानामेव मन्तव्यं, तदन्यत्र तु गौणमेव हि तत्तदित्याह-''तस्य तस्ये''त्यादिना। प्रकृते रसभावशब्दयोरर्थमाह-''रसो भक्तिरसः प्रोक्तो भावस्तद्भावभावन''मिति। रसिकत्वप्राप्तेरपि श्रीमद्भागवत प्रकशितभक्तिरसपानमेवोपाय इत्याह-''तेन यदी''त्यादिना। ''भागवतं रस''मित्यत्र पौनरुक्त्यं वारयन्नाह-'भागवतस्यैवेति। फलोपमितत्वेनापरितुष्यन् श्रीवेदव्यासः रसेन श्रीभागवतस्य सामानाधिकरण्यमुक्तवानित्यर्थ ''भागवतं रस''मित्यस्यार्थविशेषमाह-''यद्वे''ति। उक्तार्थानुसारिनिखिलनिगमोपनिषत्फलं निगमयति-''एतेने''ति। ''अमृतद्रवसंयुत''मित्यस्य प्रकृतानुरूपमर्थमाह-''अमृतं मोक्षस्तस्य द्रवः परीहासो यस्मिन् रागानुगाख्यभक्तिरसे तेन संयुत''मिति। ''मोक्षलघुताकृदि''ति भक्तिरसामृतसिन्धो''रिति। एतच्चोपलक्षणं चतुर्ण्णामपि पुरुषार्थानाम्। यतस्तेषामपि श्रीभगवद्विषयकनिरतिशयप्रेम्ण्येव पर्य्यवसानात्। ''भक्त्या त्वनन्यया शक्य०,'' ''भक्त्या मामभिजानाति'' ''अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता''इति श्रीमुखोक्तेः। ''न पारमेष्ठ्यं०,'' ''एकान्तिनो यस्य न कंचनार्थ०'' किमगुणेन च-कांक्षितेन-सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः,'' ''मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गु''

रित्यादि श्रीभागवताच्च। एतदर्थकं रसामृतसिन्धूक्तं पद्यं पठति-''सकृदेवे''ति। ''आलय''मित्यस्यार्थमाह-''लयस्ताव''दिति। मधुपानेनेव प्रेमरसपानेना-मर्य्यादमत्तता तया यच्छरीरवसनाद्यनुसन्धानराहित्यं तदत्र लयशब्दवाच्यम्। प्रेमोन्मादावस्थेति यावत्। तदवधि श्रीभागवतरसपानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। ''वासो यथापरिकृतं मदिरामन्दाध''इति श्रीएकादशोक्तेः। निगमयति-''एवं युक्तिभिरेताभि''रिति। उक्तोपपत्तिभिः श्रीमद्भागवतस्य श्रीराधिकाकृष्णाराधने स्फुटं तात्पर्य्ये ह्यवगम्यमानेऽपि तदवगणयतां दुराग्रहग्रहगृहीतानां समाधानं तु दुस्सम्पाद्यमिति निष्कर्षः।

''इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्याख्यटिप्पण्यां श्रीराधायाः श्रीमद्भागवतप्रतिपाद्यत्वयुक्तिः।।७।।''

इस शास्त्र विशेष रूप से वर्णन करते हुए ''निगमकल्पतरोर्गलितं फलं'' (मूल में पूरा श्लोक दिया हुआ है) यह श्लोक उद्धृत करते हैं। प्रकृत के अनुसार इसका विशेष अर्थ प्रकट कर रहे हैं-चित्त में स्थित भाव, विभाव, अनुभाव और सात्त्विक भाव परिपाक की अवस्था में रसता को प्राप्त हो जाते हैं, रसिकजनों के द्वारा आस्वाद्य सुखरूपी रस एकमात्र भाव से ही ग्राह्य होता है, इसी आशय को ध्यान में रखकर ''भावक'' शब्द को कहते हैं-भावक वे हैं जो भाव से सुख प्राप्त करते हैं। भाव पदार्थ को स्पष्ट करते हैं-प्रेम की प्रथम अवस्था भाव है। इस प्रकार भावक का अर्थ हुआ-प्रेमभक्त। यह भावक शब्द आशीर्वाद से गर्भित है प्रकारान्तर से भावक शब्द का अर्थ है-रसविशेष की भावना में चतुर।वह चतुरता भी श्रीभागवत के श्रवण से ही प्राप्त की जा सकती है। यहाँ भागवत या वैष्णव शब्द के स्थान पर भावक शब्द का प्रयोग करने से फल प्रधानता द्योतित होती है। भागवत या वैष्णव होने से तात्पर्य है वैष्णवता के फलरूप भावक या रसिक होना। रसिकों का ही भागवत या वैष्णव होना मानना चाहिए अन्यत्र (रसिकों से भिन्न में) यह गौण है। प्रकृत में रस और भाव शब्द का अर्थ कहते हैं-''भक्तिरस को रस कहते है'' तथा उसका भावन करना भाव है। रसिकत्व प्राप्ति का उपाय श्रीमद्भागवत में प्रकाशित भक्तिरस का पान ही है। ''भागवतं रसम्'' इस वाक्य में पुनरुक्ति का निवारण करते हुए कहा है-भागवत का ही रस पान करे। भक्तिरस भागवत श्रवण के फल सदृश है इस उपमा से भी

सन्तुष्ट न होते हुए श्रीवेदव्यास ने इस रस और भागवत में सामानाधिकाय कहा है (अर्थात् भागवत कहो चाहे भक्तिरस एक ही बात है)। भागवत रस का अर्थ विशेष कहते हैं। यह भागवत रस समस्त वेदराशि के रहस्य का फल है। ''अमृतद्रवसंयुतम्'' इसका प्रकृत के अनुसार अर्थ करते हैं- अमृत-अर्थात्-मोक्ष उसका द्रव-रागानुगाभक्ति का रस उससे युक्त। भक्तिरसामृतसिन्धु में मोक्ष को भक्ति के सामने लघु माना गया है। मोक्षरूपी उपलक्षण से ज्ञात होता है कि अन्य धर्म आदि पुरुषार्थ भी भक्ति के सामने तुच्छ हैं। क्योंकि उन सब पुरुषार्थों का भगवद् विषयक निरतिशय प्रेम में ही पर्यवसान होता है। इस विषय में भगवान् के ये वचन प्रमाण हैं-''अनन्य भक्ति से यह सम्भव है।'' ''भक्ति से मुझे जानता है'' ''मैं सभी का उत्पत्ति स्थान हूँ मुझ से ही सब प्रवृत्त होता है'' ऐसा समझकर के विद्वान् जन भाव से समन्वित होकर मेरा भजन करते हैं (ये वाक्य श्रीमद्भगवद्गीता के हैं)।

श्रीमद्भागवत में भी इसी अर्थ को प्रकट करने वाले वाक्य हैं-इसी अर्थ को कहने वाला रसामृतसिन्धु का पद्य उद्धृत करते हैं-''सकृदेवेति'' (पूर्ण श्लोक और अर्थ में दिया हुआ है)। आलय का अर्थ है लय तक। यहाँ लय का अर्थ है-मधुपान के समान प्रेमरस के पान से-मर्यादा रहित मत्तता हो जिससे शरीर और वस्त्र अधिक भी मान न रहे। यह प्रेम के उन्माद की अवस्था है। इस अवस्था तक भागवत रस का पान करना चाहिए। एकादश स्कन्ध में कहा है-जैसे मदिरा के मद में अन्धा जिस प्रकार वस्त्र का भी परित्याग कर देता है।

इस सभी युक्तियों से यह सिद्ध होता है कि भागवत का स्पष्ट तात्पर्य श्रीराधा और श्रीकृष्ण की आराधना में है।

फिर भी दुराग्रह से ग्रसित जन यदि इसे स्वीकार नहीं करते हैं तब उनका समाधान दुःसाद्य हैं।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जुषायां भावभूषाप्रदर्शिन्याख्यटिप्पण्यां श्रीराधायाः श्रीमद्भागवतप्रतिपाद्यत्वयुक्तिः।।७।।

।। अथ श्रीवृन्दावनोत्कर्षयुक्तिः ।।८।।

साधितं सुष्ठु वैशिष्टयं सेव्ययो राधिकेशयोः ।।
अथ धाम्नोऽपि वैशिष्ट्यं शिष्टैः सम्यग्विचारितम् ।।
संचारितं तत्र तत्र वर्ण्यते तद्यथामति ।।

तत्र श्रीगोपालतापन्यां--

''तमेतमात्मानं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुह-तलासीनं समरुद्गणोऽहं परया स्तुत्या स्तोष्यामी''त्यादिकाश्रुतिः ।।

तद्विविधम् ।। महावृन्दावनं चैवं केलिवृन्दावनानि चेति पंच-रात्रोक्तेः तत्राद्यमादिपुराणे--

वनं वृन्दावनं नाम ह्यनादिनिधनं खग ।।
किशोरमूर्त्तेः कृष्णस्य रहस्यं वसतिस्थलमिति ।।

इदं चातिरहस्यम् ।।

''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।। तं पीठगं येऽनुयजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषा-मिति''तापनीश्रुतेः ।। पीठगं योगपीठगमित्यर्थः ।। योगपीठत्वमस्यै-वेति दर्शयिष्यामः ।। तथा च-''केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेश-मात्रं पुरुषं वसन्त''मित्यस्यापवादः ।। तस्य योगिध्येयमात्रत्वादन्यदेतत् ।। तथा श्रीकृष्णोपनिषदि--अन्तःपुरनिवासिन्यो गोप्यो यूथायुतानि च ।। तथा गुह्याद्गुह्यतरं रम्यं मध्ये वृन्दावनं वनमिति तत्रैव ।।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां श्रीवृन्दावनोत्कर्षयुक्तिः ।। प्र. ८ ।।

अब तक सेव्य (आराध्य) श्रीराधा और श्रीकृष्ण का वैशिष्ट्य सम्यक् प्रकार से सिद्ध कर दिया गया है। अब शिष्ट जनों से ठीक प्रकार से विचारित धाम (वृन्दावन) का वैशिष्ट्य विचारित किया गया हैं एवं प्रचारित भी किया गया है, उसका यथामति वर्णन किया जा रहा है।

श्रीगोपालतापिनी उपनिषद् में-५/४

देवगणों के सहित मैं वृन्दावन में कल्पवृक्षों के नीचे विराजमान सच्चिदानन्दविग्रह नराकृति उस मुख्य गोविन्द को उत्कृष्ट स्तुति से सन्तुष्ट करता हूँ इत्यादि श्रुति है।

वह वृन्दावन दो प्रकार का है। पञ्चरात्र की उक्ति के अनुसार महावृन्दावन और केलि वृन्दावन भेद से।

उनमें से प्रथक् का वर्णन आदि पुराण में इस प्रकार है-हे खग! किशोरमूर्त्ति श्रीकृष्ण अतिरहस्य वाला निवास स्थान अनादिनिधन स्वरूप वृन्दावन नाम का वन है। यह अत्यन्त रहस्य वाला है।

तापनीश्रुति में कहा गया है--

जो अनन्त नित्यों में तथा चेतनों में एक नित्य और चेतन रूप में उपासित होता हुआ वाञ्छित कार्य निष्पन्न करता है योगपीठ में स्थित उसकी जो धीर पुरुष उपासना करते हैं, उन्हें ही शाश्वत सिद्धि प्राप्त होती है अन्यों को नहीं। पीठगम्-का अर्थ योगपीठस्थ है-यह बात आगे बताएंगे। कुछ लोग इसे अपने देह में स्थित हृदयावकाश में प्रादेश मात्र में रहने वाला पुरुष कहते हैं-वह इसका अपवाद है, वह योगिमात्रध्येय है।

तथा कृष्णोपनिषद् में कहा है--

अन्तः निवासिनी गोपियों के अयुत झुण्ड है तथा मध्य में गुह्य से भी गुह्य रमणीय वृन्दावन है।

श्रीनारदपंचरात्रे च--

गोलोकवासिनं कृष्णं वृंदावनविहारिणमिति ।।

श्रीवाराहतंत्रे-- सहस्रपत्रं कमलं गोविंदस्थानमुत्तमम् ।।

तस्योपरिस्वर्णपीठं मणिमंडपमंडितम् ।।

एतदष्टदलं प्रोक्तं वृंदारण्यान्तरे स्थितम् ।।

श्रीमद्वृंदावनं रम्यं यमुनायाः प्रदक्षिणमिति योगपीठत्वम् ।।

पंचयोजनमध्यस्थं सार्द्धयोजनमायतम् ।।

ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठेव भिन्नाभिन्नतयास्थितमितिकारिका ।।

एवमेवाभिप्रेतं श्रीमुनीन्द्रैः--

वृंदावनं गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च ।।

वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृपेति ।।

अत्र वृंदावनं वीक्ष्येत्यनेनैव गतार्थतायां पुनस्तद्गतप्रदेशद्वयस्य विविच्यकथनं गोपावास-रासविलासयोरुद्दीपकत्वाभिप्रायेणेति ज्ञेयं ।।

नारदपञ्चरात्र में--

गोलोकवासी वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण को (नमस्कार)।

श्रीवराहतन्त्र में--

वृन्दावन में सहस्रपत्र कमल गोविन्द का उत्तम स्थान है। उस पर मणिमण्डप से सुशोभित स्वर्णपीठ है और यह अष्टदल का कहा गया है।

यमुनाजी के दक्षिण में योगपीठ के रूप में पाँच योजन के मध्य भाग में डेढ़ योजन आयत में रमणीय श्रीमद्वृन्दावन है जो ब्रह्मपुच्छ की प्रतिष्ठा के समान भिन्नाभिन्न रूप से स्थित है।

श्रीव्यासमुनि यही अभिप्रेत (वृन्दावन) है--

हे नृप! वृन्दावन, गोवर्द्धन और यमुना के तटों को देखकर राम और माधव की उत्तम प्रीति थी (अथवा राम और माधव में उत्तम प्रीति थी)।

यहाँ वृन्दावन को देखकर इतने में ही अर्थ बोध होने पर भी पुनः वृन्दावनगत गोवर्धन और यमुना दो प्रदेशों का अलग से कथन करना गोपों के आवास और रासविलास के उद्दीपक रूप से वर्णन करने से है (गोवर्धन गोपों का आवास है तथा यमुना तट रास का स्थान है)।

तथैव श्रीकृष्णयामले--

''स्थानं नित्यविहारस्य ख्यातं वृंदावनं वनम्।।
यत्र नित्यं विहरति कृष्णो राधिकया सह।।
आविर्भावं द्वापरान्ते विहारस्य करोति सः।।
अन्यदान्तर्हितो नित्यं विहारं कुरुते प्रभुः।।
राधिकाख्या पराशक्ती राधाधीनो जगत्पतिः।।
तां विना कृष्णचन्द्रस्य न चेष्टापि प्रवर्त्तते।।
तया सह विहारो यः कृष्णस्य परमात्मनः।
स एवोपनिषद्भिस्तु नित्यानन्द इतीर्य्यते।।
या राधा शक्तिराख्याता श्रीकृष्णस्तु तयां विना।
नाराध्यते जनैस्तस्मात्सा हि राधेति गीयते।।
राधया जायते विश्वं राधायामेव लीयते।
स्थितिमाप्नोति राधायां कृष्ण आरोप्यते बुधैः।।
कृष्णो राधास्वरूपेणाराध्यमानः प्रसीदति।
नारदोऽपि पुरा राधासखी भूत्वा रहः स्थितः।।

कृष्णं संतोषयामास वृन्दावनविहारिणम् ।।
तिस्रः पंच चतस्रो वा षोडशैकादशापि वा ।
याः शक्तयः समाख्याता गोपीरूपेण ताः पुनः ।
सख्यो भूत्वा राधिकायाः कृष्णचन्द्रमुपासते ।।
वृंदावनस्य मध्यस्थमूलाधारात्मके स्थले ।
पंचभिर्देवतरुभिर्लताकुमुदिनीवृते ।।
कुंजे कुंजे चतुर्वेदपुराण भ्रमराकुले ।
वैकुंठादपि संगोप्ये संभोगस्थितमीश्वरम् ।।
उपरिस्थितया राधाशक्त्या नित्यविहारिणम् ।
सर्वं रहस्यं कृष्णस्य प्रोक्तवान् नारदः पुरा ।।
वेदव्यासाय विविधान् राधिकाकृष्णयोर्गुणान् ।।
गोपयित्वा ततो व्यासः पुराणादिषु केवलम् ।
कृष्णलीलां निजगदे न राधासंश्रितां कथाम् ।।
रुक्मिण्याद्याः स्त्रियो यास्तु ता राधांशा न संशयः ।।
षट्क्रोशीसंमितं स्थानं राधाकेलिस्थलं महत् ।
तत्तु राधामयं धाम नित्यसंभोगसंश्रितम् ।।
योगीन्द्रैरपि दुर्गम्यं विज्ञेयं गुर्वनुग्रहात् ।।
अतो राधाराधनेन कृष्णचन्द्रः प्रसीदति ।।''इति ।।

वैसे ही कृष्णयामल में--

नित्य विहार का स्थान वृन्दावन वन प्रसिद्ध है। जहाँ राधिका के साथ श्रीकृष्ण नित्य विहार करते हैं। द्वापर के अन्त में वह विहार का आविर्भाव करते हैं। अन्य समय में प्रभु अन्तर्हित होकर नित्य विहार करते हैं। श्रीराधा पराशक्ति है जगत्पति श्रीकृष्ण राधा के अधीन है। उसके बिना श्रीकृष्णचन्द्र की चेष्टा भी प्रवर्तित नहीं होती है।''

परमात्मा श्रीकृष्ण का उसके साथ जो विहार है वही उपनिषदों के द्वारा नित्यानन्द कहा गया है। जो राधा नामक शक्ति है उसके बिना श्रीकृष्ण की भी आराधना नहीं की जाती है-इसी कारण वह राधा कही जाती है।''

राधा से ही जगत् उत्पन्न होता है और राधा में ही लीन होता है वह राधा में अपनी स्थिति को प्राप्त करता है विद्वान् लोग इसे कृष्ण में आरोपित

करते हैं।

राधा स्वरूप से आराध्यमान श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं। श्रीनारद भी प्राचीन काल में राधासखी होकर एकान्त में स्थित होकर वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण को प्रसन्न किया।

तीन, चार, पाँच, ग्यारह अथवा सोलह-जितनी भी शक्तियाँ कही गई हैं वे गोपीरूप से राधिका की सखी बनकर श्रीकृष्णचन्द्र की उपासना करती हैं।

वृन्दावन के पाँच देववृक्षों से घिरे हुए, लता-कुमुदिनी से आवृत्त मध्यस्थ मूलाधार रूप स्थल में प्रत्येक कुञ्ज चारों वेद और पुराण रूपी भ्रमरों से भरा हुआ है वह कुञ्ज, वैकुण्ठ से भी अधिक संगोप्य है उसमें नित्यविहारी, ईश्वर श्रीकृष्ण ऊपर स्थित राधाशक्ति के साथ संभोग में स्थित है। कृष्ण के इस समस्त रहस्य को श्रीनारद ने पुराकाल में श्रीवेदव्यास को कहा एवं राधाकृष्ण के समस्त गुणों का वर्णन किया।

तदनन्तर व्यास ने गोपन पद्धति से पुराणों में केवल श्रीकृष्ण की लीला का ही वर्णन किया, राधाश्रित कथा का नहीं।

रुक्मिणी आदि जो स्त्रियाँ हैं वे राधा की अंश हैं इसमें संशय नहीं है।

छह कोस वाला महान् राधा के लिए (स्थल का) स्थान है, वह राधामय धाम है तथा नित्य संभोग से संश्रित है।

योगीन्द्रों के लिए भी यह दुर्गम्य है, गुरु के अनुग्रह से ही विज्ञेय है, अतः राधा के आराधन से ही कृष्णचन्द्र प्रसन्न होते हैं।

आदि पुराणे श्रीनारायणः--

''अस्ति मे परमं रूपं यस्यांशात्संभवो मम।
स नित्यं क्रीडते कुंजे वल्लवीगणवेष्टितः।।
कृष्णः किशोररूपेण यत्र क्रीडति नित्यदा।
न तद्रूपात्परं रूपं न तस्माद्विपिनं पर''मिति।।

केलिवृन्दावनानि च वराहतंत्रे--

''भद्र श्री लोह भांडीर महाताल खदीरकाः।
बहुलं कुमुदं काम्यं मधु वृंदावनं तथेति द्वादश।।

तथा ।। कालिंद्याः पश्चिमे सप्त पूर्वस्मिन्पंचकीर्त्तिता ।
इत्युक्त्वा-अन्यान्युपवनान्यत्र कृष्णक्रीडारहः स्थलम् ।
कदम्बखंडं[१] नंदस्य[२] वनं नंदीश्वर[३] तथा ।।
नन्दनं[४] ललिताकुंडं[५] पाला[६]शाशोककानने[७] ।
सुगंधमादनं[८] कैल[९]ममृतं[१०] भोजनस्थलम्[११] ।।
सुखप्रसादनं[१२] वत्सहरणं[१३] शेषशायिका[१४] ।
श्यामाकुंडं[१५] दधिग्रामं[१६] वृषभानुपुरं[१७] तथा ।।
संकेतं[१८] दीपनं[१९] चैव रासक्रीडा[२०] सुवर्णकम्[२१] ।
केमद्रुमसरश्चैव[२२] कोकिलावन[२३]मंजनम्[२४] ।।
चतुर्विंशतिसंख्यानि केलिवृंदावनानि ह ।
व्रजे विलासिनो राधाकृष्णयो र्भोग भूमयः'' ।। इति ।।

आदि पुराण में श्रीनारायण के वचन--

श्रीनारायण कहते हैं कि मेरा एक परम रूप है जिससे मेरी उत्पत्ति हुई है-वह परम रूप किशोर के रूप में गोपीजनों से वेष्टित होकर कृष्ण स्वरूप में नित्य क्रीड़ा करते हैं उससे परम रूप और कोई नहीं हैं तथा जहाँ वह क्रीड़ा करते हैं उस वृन्दावन से भिन्न परम कोई वन नहीं है।

वाराह तन्त्र में केलि वृन्दावनों का उल्लेख है-भद्र, श्री, लोह, भांडीर, महा, ताल, खदीरक, बहुल, कुमुद, काम्य, मधु और वृन्दावन ये बारह केलिवन प्रसिद्ध हैं।

कालिन्दी (यमुना) के पश्चिम में सात और पूर्व में पाँच वन हैं। इनके कथन के पश्चात् कृष्ण क्रीडा के रह स्थल (एकान्त स्थान) अन्य चोईस उपवन कहे गए हैं-उनके नाम इस प्रकार हैं--

१-कदम्बखण्ड २-नन्दवन ३-नन्दीश्वरवन ४-नन्दनवन ५-ललिताकुण्ड ६-पालाशवन ७-अशोकवन ८-सुगन्ध मादन ९-कैलवन १०-अमृतवन ११-भोजनस्थलवन १२-सुखप्रसादनव्रन १३-वत्सहरणवन १४-शेषशायिकावन १५-श्यामाकुण्ड १६-दधिग्राम १७-वृषभानुपुर १८-संकेतवन १९-दीपनवन २०-रासक्रीडावन २१-सुवर्णकवन २२-केमद्रुमसर २३-कोकिलावन २४-अञ्जनवन।

व्रज में विलास करने वाले राधाकृष्ण की ये २४ भोग भूमियाँ है।

तथा च श्रुतिः--

ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगाअयासः ।।
अत्राहतदुरुगायस्यवृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ।।इति ।।

अस्या अर्थः--ता तानि ।। वां युवयोः श्रीराधाविहारिणोः ।। ''तिष्ठतांजागरूकेऽस्मिन् युवानौ श्रीसनातना'' विति पाद्मात् ।। वास्तूनि लीलास्थानानि केलिवनानीत्यर्थः ।। गमध्यै प्राप्तुम् ।। उश्मसि कामयामहे ।। तानि किंविशिष्टानि ? यत्र येषु भूरिशृंगा महाशृंग्यो गावो यन्ति वर्त्तन्त इत्यर्थः ।। यथोपनिषदि भूमवाक्ये धर्मिपरेण भूमशब्देन महिष्ट्वमेवोच्यते, नतु बहुत्वमिति यूथदृष्ट्यैव तथात्वं ।। शृंगं प्रधान-सान्वोश्चेत्यनेकार्थात् भूरिशृंगा बहुशुभलक्षणा इत्यर्थो वा ।। अथवा बहुशुभलक्षणा गावो व्रजगावः ।। व्रजदेव्य इतियावत् ।। मोचयन् व्रजगवां दिनतापमिति श्रीदशमोक्तेः ।। अयासः शुभा अतिसुन्दर्य्य इति वा ।। तल्लोकवेदप्रसिद्धं श्रीगोलोकाख्यम् ।। उरुगायस्य स्वयं भगवतो ।। वृष्णः सर्वकामदुघचरणारविन्दस्य ।। परमं प्रपंचातीतम् ।। पदं स्थानम् ।। भूरि बहुधा द्वादशचतुर्विंशत्यादिभेदेन ।। अवभाति प्रकाशत इत्यर्थः ।। यथाहि श्रीभगवतः प्रकाशभेदेऽप्यभेदस्तथा धाम्नोऽपीति दर्शयितुमेवमुक्तमिति ज्ञेयम् ।। तदुक्तं श्रीकृष्णसन्दर्भे ।। एवं तत्तल्लीलाभेदेनैवैकस्यापि तत्तत्स्थानस्य प्रकाशभेदश्च श्रीविग्रहवत् ।। तत्र त्वितरलीलान्तः पातिभिः प्रायश इतरलीलाप्रकाश विशेषो नोपलभ्यत इति तत्त्वमिति ।। इयं बह्वृचश्रुतिः यजुःष्वपि माध्यन्दिनीये दृश्यते । या ते धामानिति प्राग्वत् ।। तत्र विष्णोः परमं पदमवभातीति पठन्ति ।। सर्वप्रकारैः पोषयतीत्यर्थः ।। यत्तु पाद्मोत्तरखंडाविमे श्रुती परमव्योमप्रस्तावे ह्युदाहृते तत् परमव्योम-गोलोकयोरेकतापेक्षयेति मन्तव्यं यतस्तत्रैव-तिष्ठतांजागरूकेऽस्मिन् युवानौ श्रीसनातनाविति प्रोक्तम् ।। युवशब्दोऽत्र किशोरवचनः ।। सन्तं वयसि कैशोर इति श्रीतृतीयोक्तेः ।। श्रीगोपालतापन्यां च ।। जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्यो योऽसौ सौर्य्ये तिष्ठति, योऽयं गोषु तिष्ठति, योऽसौ गोपान् पालयति ।। योऽसौ गाः पालयतीति श्रुतिः ।। अत्र पुनः पुनर्यच्छब्दोपादानात् प्रकाशभेदेन तत्र तत्र नित्य-स्थितिर्विवक्षिता ।। श्रीगोपालस्तवराजे गौतमीयतंत्रेऽपि तथा दर्शनात् ।। जन्मेत्यादिना

नित्यविहारत्वम् ।। स्थाणुरिति सदाऽविचलत्वम् ।। अच्छेद्य इति बहुरूपत्वेऽपि तत्रतत्राविच्छिन्नत्वं चाभिप्रेतम् ।। सौर्य्ये इति सौरी यमुना तस्यास्तटे ।। सन्निहितत्वान्महावृन्दावन इति मुख्यः प्रकाशोऽभिहितः ।। एवमेव स्तवराजेऽपि ।। नवीननीरदश्याममित्यारभ्य लसद्गोपालिकाचेतो मोहयन्तं मुहुर्मुहुरित्यनेन मुख्य एव ।। बल्लवीवदनाम्भोजेत्यारभ्य यावत्समाप्तिं प्रकाशान्तरलीलेति सर्वसमंजसम् ।। गोपालिकात्र मुख्यत्वाद्राधैव ।। एवं च मुख्यः प्रकाशो महावृन्दावनाख्यः ।। इदं च श्रीजीवगोस्वामिभिरप्यनुमतं श्रीमद्वैष्णवतोषण्यां यथायत्त्वादिवाराहादौ कालियहृदादिकतिपयतीर्थानां श्रीवृन्दावनावरणोपादेयतया वर्णितत्वात् संक्षिप्तमिव तत्प्रतीयते तत्खलु तदधिदैवगोविन्ददेवाधिष्ठानत्वेन मुख्यत्वविवक्षया ।। श्रीकेशवाधिष्ठानत्वेन मथुरापुर्य्याम् इव ।। प्रकाशद्वयं समुदितं च पंचयोजनात्मकमेव ।।

इसमें श्रुति का प्रमाण भी है--

तावां वास्तूनि.....भूरि।।

तुम दोनों (राधाकृष्ण) के उन लोकों में जाने की इच्छा हम करते हैं जहाँ महान् सींगों वाली गौएँ विद्यमान हैं। कामना की वर्षा करने वाले तथा बहुतों के द्वारा स्तुत्य उस युगल का परम पद अत्यधिक सुशोभित होता है।

इसका अर्थ करते हैं-वां राधा और कृष्ण के। ता-तानि उन लोकों। पद्मपुराण का वचन है कि इस जागरूक लोक में सनातन युवा (राधाकृष्ण) रहें। वास्तूनि का अर्थ है लीला स्थान-केलिवन। गमध्यै का अर्थ है जानें के लिए। उश्मसि-चाहते हैं। वे केलिवन किस प्रकार के हैं? जिस में महान् सींगों वाली गौएँ रहती हैं। जिस प्रकार उपनिषद् में भूमवाक्य (भूमा वै सुखम्-महिमा से युक्त में सुख है) में धर्मी परक होने से भूमशब्द महिमा के अर्थ को प्रदान करता है न कि अधिकता को क्योंकि वह अर्थ तो यूथदृष्टि (झुण्डों की दृष्टि) से ही ज्ञात हो जाएगा।

भूरिशङ्ग का अर्थ है बहुत शुभ लक्षण वाली। अथवा बहुशुभलक्षण वाली गौएं अर्थात् व्रज की गौएं व्रज की देवियाँ यह अर्थ भी सम्भव है। दशमस्कन्द में उक्ति है-व्रज की गौओं को दिन के ताप से मुक्त कराते हुए।

अयासः का अर्थ है शुभ या अति सुन्दरियाँ।उस लोक का तात्पर्य गोलोक है। उरूगायस्य का अर्थ है स्वयं भगवान् के। वृष्णः का अर्थ हुआ समस्त कामनाओं को प्रदान करने वाले चरणारविन्द का। परमं-का अर्थ है प्रपञ्च से परे। पदं-स्थान। भूरि-बहुधा, बारह अथवा चोईस भेद वाले केलिवन। अवभाति प्रकाशित होता है।

इस प्रकार श्रुति का अर्थ हुआ--

हे राधाकृष्ण युगल! हम आपके गोलोक में जाने की कामना करते हैं जहाँ महा सींगो वाली अथवा बहुशुभलक्षण वाली अति सुन्दरियाँ व्रज की गौएं अथवा व्रजदेवियाँ विद्यमान हैं। समस्त कामनाओं की वर्षा करने वाले भगवान् के चरणारविन्द का वह स्थान समस्त प्रपञ्चों से परे है। यह स्थान बारवह, केलिवन अथवा चोईस उपवनों के भेद वाला प्रकाशित होता है।

जैसे भगवान् के प्रकाश भेद में भी अभेद है वैसे ही धाम में भी भेद में अभेद है-यह बतलाने के लिए ही ऐसा कहा है। यह श्रीकृष्ण सन्दर्भ में कहा गया है। इसी प्रकार लीला भेद से जैसे श्रीविग्रह में भेद है वैसे ही लीला स्थान का भी प्रकाश भेद है। इसमें रहस्य या तत्त्व यह है कि एक लीला में अन्तः पात करने वालों को उससे भिन्न लीला का प्रकाश प्रायः उपलब्ध नहीं होता है। यह ''तां वां वास्तूनि'' ऋग्वेदीय श्रुति यजुर्वेद की माध्यन्दिनीय संहिता में भी देखी जाती है। मन्त्र इस प्रकार है-

''या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि।।''

यजु. मा. सं.६/३

ऋग्वेद में तां वां वास्तूनि पद है यहाँ ''या ते धामानि'' पद है, ऋग्वेद के मन्त्र ''वृष्ण'' पद है यहाँ स्पष्ट रूप से ''विष्णोः'' पद दिया गया है। विष्णु का स्थान सब प्रकार से पोषण करता है।

जो पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में ये दोनों श्रुतियाँ परम व्योम के विषय में उद्धृत की गई है उसे परम व्योम और गोलोक की एकता की अपेक्षा से ही मानना चाहिए (परम पदं का परम व्योम जो अर्थ किया जाता है वह गोलोक से अभिन्न मानते हुए ही किया जाता है)। क्योंकि वहीं पर

''तिष्ठताम्जागरूकेऽस्मिन् युवानौ श्रीसनातनाविति'' यह कहा गया है (इस जागरूक लोक में सनातन युवा रहें)। यहाँ युव शब्द का अर्थ किशोर है, तृतीय स्कन्ध में कहा गया है-किशोर अवस्था में विद्यमान।

श्रीगोपालतापनी में कहा गया है--

जन्मजराभ्यां..गाः पालयति...'' गोपालोत्तरतापिनी/२६

जन्म तथा जरा से उपलक्षित मृत्यु, शोक, मोह, क्षुधा, प्यास आदि रहित सर्वदा स्थिर स्वभाव वाला (षड् विकार से रहित) अपक्षय से शून्य यह जो सूर्य मण्डल में विद्यमान है, जो यह गौओं में पालक के रूप में स्थित है, जो यह गोपों का पालन करता है, जो यह इन्द्रियों का पालन करता है'' यह श्रुति है। यहाँ पुनः पुनः यः-जो, जो-इस प्रकार पद, कहा गया है वह प्रकाश भेद से कहा है, वहाँ-वहाँ भगवान् की नित्य स्थिति मानी गई है (अर्थात् श्रीकृष्ण प्रकाशभेद से सूर्यमण्डल, गौओं आदि में नित्य विद्यमान है)।

श्रीगोपालस्तवराज तथा गौतमीयतन्त्र में भी इसी प्रकार वचन उपलब्ध हैं। पूर्व श्रुति में आए पदों की व्याख्या करते हैं जन्म शब्द से नित्य विहार अर्थ लेना चाहिए। स्थाणु का अर्थ सदा अविचल है, अच्छेद्य का अर्थ है-श्रीकृष्ण के अनेक रूप होने पर सर्वत्र अविच्छन्नत्व-समानता है। सौर्य्ये का अर्थ-यमुना का तट लेना चाहिए। यमुना के सन्निहित होने से महावृन्दावन को ही मुख्य प्रकाश कहा है, इसी प्रकार स्तवराज में भी कहा गया है। गोपालस्तवराज के प्रारम्भिक पाँच श्लोकों-''नवीन नीरदश्यामम् से लेकर मोहयन्तं मुहुर्मुहु'' तक मुख्य प्रकाश विषय है। ''वल्लवीवदनाम्भोज से लेकर समाप्ति पर्यन्त प्रकाशान्तर लीला है। ''गोपालिका'' यहाँ मुख्य होने से वह श्रीराधा ही है। इस प्रकार मुख्य प्रकाश महावृन्दावन है। वैष्णवतोषिणी में श्रीजीवगोस्वामीजी ने भी इसे स्वीकार किया है-जैसे-जो आदि वराह आदि में कालियह्रद आदि कतिपय तीर्थों का वर्णन प्राप्त होता है वह वृन्दावन के आवरण की उपादेयता से ही संक्षिप्त प्रतीत होते हैं किन्तु उनके अधिदैव श्रीगोविन्ददेव के अधिष्ठान के रूप में मुख्य हैं। जैसे श्रीकेशव के अधिष्ठान रूप से मथुरापुरी के स्थान मुख्य हो जाते हैं। पाँच योजन में दो प्रकाश स्फुरित हैं।

तथा च बृहद्गौतमीये--

इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम् ।।
अत्र मे पशवः पक्षिमृगाः कीटा नरामराः ।।
ये वसन्ति ममाधिष्ठे मृता यान्ति ममालयमिति ।।

अत्र ममालयमिदमेव ।। मम धामैवेत्यवधारणात् ।। अस्मच्छब्दप्रयोगाच्च ।। तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनंतांशसंभवमिति ब्रह्मसंहितोक्तेश्च ।। तथैव स्कान्दे श्रीनारदः--

तस्मिन्वृन्दावने पुण्यं गोविन्दस्य निकेतनम् ।।
तत्सेवकसमाकीर्णं तत्रैव स्थीयते मया ।।
भुवि गोविन्दवैकुंठं तस्मिन्वृन्दावने नृप ।
यत्र वृन्दादयो भूत्या सन्ति सेवनलालसाः ।। इति ।।

अत एवात्र मृतानां प्राप्यमिदमेवेति साधुव्याख्यातम् ।।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनायेतिश्रुतिरप्यत्र प्रमाणम् ।। विदित्वा ज्ञात्वा लब्ध्वा वा ।। धामधामिनोरभेदविवक्षयेदम्।। ''न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्त'' इति श्रुतेश्च।। अतएव यान्तीत्युक्तं न तु गच्छन्तीति ।।

''अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये ।।
योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणा''इति ।।

गृहाणार्घ्यं मया दत्तं दामोदर मया सहेत्युक्तदिशा मया श्रीराधया सहितस्य मम सेवापरायणाः सत्यः ।। योगिन्यः सख्येनेति शेषः ।। सख्येन नित्ययोगिन्यस्तिष्ठन्तीत्यर्थः ।।

''पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम् ।।
कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी ।।''

एतेन सुषुम्णारूपकेण तदधिष्ठानसाम्यात् पञ्चयोजनात्मकस्य मम देहरूपस्योत्तमङ्गमिदमिति दर्शितम् ।। एवञ्च श्रीराधायास्तत्सखीनां च विहरणाय मया स्वदेह एवास्तृत इति भावः ।।

''अत्र देवाश्च भूतानि वर्त्तन्ते सूक्ष्मरूपतः ।।
सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित् ।।

आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे ।।
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्म्मचक्षुषेति ।।''

बृहद्गौतमीय में कहा गया है--

केवल मेरा धाम ही वृन्दावन रम्य है। मुझ से अधिष्ठित वृन्दावन में रहने वाले मेरे पशु, पक्षि, मृग, कीट, मनुष्य, देवगण मरने पर मेरे धाम में जाते हैं। मेरा आलय वृन्दावन ही है। मम धामैव-यह निश्चय के लिए कहा गया है। अस्मत् शब्द के प्रयोग से भी यह अर्थ ज्ञात होता है। ब्रह्मसंहिता की उक्ति भी इसी प्रकार है-उसका कणिकार, उसका धाम, उसके अंश से उत्पन्न हैं।

इसी प्रकार स्कन्द पुराण में श्रीनारद कहते हैं--

उस वृन्दावन में गोविन्द का पुण्य निकेतन है, वह उसके सेवकों से भरा हुआ है मैं वहीं रहता हूँ। हे नृप! पृथिवी पर उस वृन्दावन में गोविन्द को वैकुण्ठ है। जहाँ पर सेवा करने की लालसा से वृन्दा आदि वैभव के साथ हैं। यह वैकुण्ठ मृतजनों को प्राप्य है यह ठीक ही कहा है।

''अन्धकार से परे आदित्य स्वरूप उस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ। उसे ही जानकर मृत्यु के पार जाया जा सकता है और कोई मार्ग नहीं है। यह श्रुति भी इसमें प्रमाण है। विदित्वा-जानकर अथवा प्राप्त करके। धाम और धामी में अभेद की विविक्षा से यह कहा गया है। श्रुति में कहा है-उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। यहीं लीन होते हैं। इसीलिए बृहद्गौतमीय के श्लोक में ''यान्ति'' पद दिया था न कि ''गच्छन्ति।''

इस मेरे निकेतन वृन्दावन में मेरी सेवा में तत्पर होकर जो गोप कन्याएँ निवास करती हैं वे नित्य मुझ से युक्त रहती हैं। हे दामोदर! मेरे द्वारा दिए गए अर्घ्य को ग्रहण करो। यहाँ मया सह-इस दृष्टि से अर्थ है-श्रीराधा के सहित मेरी सेवा में तत्पर होती हुई सख्य भाव से नित्य मेरे साथ संयुक्त रहती हैं। मेरा देह रूप वाला वन (वृन्दावन) पाँचयोजन में फैला हुआ है। इसमें परम अमृत का वहन करने वाली सुषुम्णा नाम की कालिन्दी (यमुना) है।

इस सुषुम्णा (नाडी) के रूपक से उसके अधिष्ठान के साम्य से मेरे देहरूप का यह उत्तमाङ्ग है ऐसा दर्शित किया गया है (श्रीकृष्ण के देहरूप

वृन्दावन में कालिन्दी श्रेष्ठ अङ्ग (शिर) है।

इससे यह भाव भी द्योपित होता है कि श्रीराधा एवं उनकी सखियों के विहार के लिए मैंने अपनी देह का ही विस्तार किया है।

इस वृन्दावन में सूक्ष्मरूप से सभी देव और भूत विचरण करते हैं। मैं सर्वदेवमय हूँ कहीं भी वन का त्याग नहीं करता हूँ।

प्रत्येक युग में यहीं मेरा आविर्भाव और तिरोभाव होता है। यह वृन्दावन तेजोमय रमणीय है किन्तु चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता है।

स्वायंभुवागमे श्रीशिवः--

''ध्यायेत्तत्र विशुद्धात्मा इदं सर्वं क्रमेण तु ।।
नानाकल्पलताकीर्णं वैकुण्ठं व्यापकं स्मरेत् ।।
ततः साम्यं गुणानां तु प्रकृतिं सर्वकारणं ।।
प्रकृतेः कारणान्येव गुणांश्च क्रमशः पृथक् ।।
ततस्तु ब्रह्मणो लोकं ब्रह्मचिह्नं स्मरेत्सुधीः ।।
उर्ध्वे तु सीम्नि विरजां निःसीमवरवर्णिनि ।।
वेदाङ्गस्वेदजनितैस्तोयैः प्रस्रावितां शुभाम् ।।
इमाश्च देवता ध्येया विरजायां यथाक्रमम् ।।''

इत्याद्यनन्तरं--

''ततो निर्वाणवदवीं मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।।
स्मरेत्तु परमव्योम यत्र देवाः सनातनाः ।।
ततोऽनिरुद्धलोकं च प्रद्युम्नस्य यथाक्रमम् ।।
लोकं संकर्षणस्याथ वासुदेवस्य च स्मरेत् ।।
लोकाधिपान् स्मरे''दित्याद्यनन्तरम्--
''पीयूषलतिकाकीर्णां नानासत्त्वनिषेविताम् ।
सर्वर्तुसुखदां स्वच्छां सर्वजन्तुसुखावहाम् ।।
नीलोत्पलदलश्यामां वायुना वलितां मृदु ।
वृन्दावनपरागैश्च वासितां हरिवल्लभाम् ।।
सीम्नि कुंजतटां योषित्क्रीडामंडपमध्यगाम् ।
कालिन्दीं संस्मरेद्धीमान् सुवर्टतटपंकजाम् ।।
नित्यनूतनपुष्पादिरंजितं सुखसंकुलम् ।

स्वात्मानन्दसुखोत्कर्षिशब्दादिविषयात्मकम् ।।
नानाचित्रविहंगादिध्वनिभिः परिरंजितम् ।
नानारत्नलताशोभिमत्तालिध्वनिमंडितम् ।।
चिन्तामणिपरिच्छिन्नं ज्योत्स्नाजालसमावृतम् ।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं प्रवालैः शोभितं[२] परि[१] ।।
कालिन्दीजलसंसर्गिवायुना कंपितं मुहुः ।
वृन्दावनं कुसुमितं नानावृक्षविहंगमैः ।।
संस्मरेत्साधको धीमान् विलासैकनिकेतनम् ।
एकीभावो द्वयोर्यत्र वृक्षयोर्मध्यदेशतः ।।
तदधश्चिन्तयेद्देवि मणिमंडपमुत्तमम् ।
त्रैलोक्यसुखसर्वस्वं सुयंत्रं केलिवल्लभम् ।।
तत्र सिंहासने रम्ये नानारत्नमये शुभे ।
सुमनोऽधिकमाधुर्य्यकोमले सुखसंस्तरे ।।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुःपादैर्विराजिते ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां शिरोभूषणभूषिते ।।
तत्र प्रेमभराक्रान्तं किशोरं पीतवाससम् ।
कलापकुसुमश्यामं लावण्यैकनिकेतनम् ।।
लीलारससुधाम्भोधिसंमग्नसुखसागरम् ।
नवीननीरदाभासं चन्द्रिकांचितकुंतलम् ।।
वामभागे स्थितां तस्य राधिकां परदेवताम् ।''
अत्र हि सूक्ष्मारुन्धतीन्यायेन श्रीराधाप्राधान्यमनुसन्धेयम् ।।
''निलीनचीनवसनां द्रुतहेमसमप्रभाम् ।
पटांचलेनावृतार्द्धसुस्मेराननपंकजाम् ।
मुक्ताहारस्फुरच्चारुपीनोन्नतपयोधराम् ।।
चारुमध्यां बृहच्छ्रोणीं किंकिणीजालमंडिताम् ।।
रत्नताटंककेयूरमुद्रावलयभूषिताम् !
रणत्कनकमंजीररत्नपादांगुलीयकाम् ।।
लावण्यसारमुग्धाङ्गीं सर्वावयवसुन्दरीम् ।
आनन्दरससंमग्नां प्रसन्नां नवयौवनाम् ।।

सख्यश्च तस्याः सुरुचस्तत्समानवयोगुणाः ।
तत्सेवनपरा भाव्याश्चामरयजनादिभि''रिति ।।

स्वायंभुवागम में श्रीशिव के वचनः-विशुद्धात्मा भक्त को वृन्दावन में आगे कहे जाने वाले तत्त्वों का क्रमशः स्मरण करना चाहिए। वहाँ नानाविध कल्प लताओं से भरे हुए वैकुण्ठ का व्यापक रूप से ध्यान करो। तदनन्तर गुणों की साम्य अवस्था रूप सभी की कारण स्वरूपा प्रकृति का, तदनन्तर प्रकृति (महदादि) के कारण स्वरूप गुणों का पृथक्-पृथक् स्मरण करे। तदनन्तर सुधीजन को ब्रह्म चिह्न ब्रह्मलोक का ध्यान करना चाहिए।

निःसीम और श्रेष्ठ गुणों वाली ऊर्ध्व सीमा में वेदाङ्ग के स्वेद से पैदा हुए जल से बहने वाली शुभ विरजा का ध्यान करे (वैकुण्ठवासिनी विरजा ही शापवश विरजा नदी रूप में प्रकट हुई है) यथाक्रम विरजा में देवताओं का ध्यान करना चाहिए। अनन्तर--

तदनन्तर ऊर्ध्वरिता मुनियों की निर्वाण पदवी (मोक्ष मार्ग) का ध्यान करे। तत्पश्चात् परम व्योम का स्मरण करे जहाँ सनातन देवता निवास करते हैं। तत्पश्चात् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव के लोक का तथा लोकाधिपों का स्मरण करे।

अनन्तर--

बुद्धिमान् को अमृत की लताओं से भरी हुई, नानाविध प्राणियों से सेवित, सभी ऋतुओं में सुख प्रदान करने वाली, स्वच्छ, समस्त जन्तुओं को सुख प्रदान करने वाली, नीलकमल के पत्तों के समान श्यामवर्ण वाली या नीलकमल के पत्तों के कारण श्यामवर्ण वाली, मृदु वायु से घिरी हुई, वृन्दावन के परागों से सुवासित, हरिवल्लभा, सीमा पर कुञ्ज तट वाली, बीच-बीच में नारियों की क्रीडा के मण्डप वाली, सुवर्ण तट कमल वाली कालिन्दी का ध्यान करना चाहिए।

तदनन्तर नित्य नवीन पुष्पों से रञ्जित, सुख से पूर्ण, अपने आत्मानन्द में उत्कर्ष प्रदान करने वाले, शब्द, स्पर्श-रूप आदि विषयों वाले, अनेकविध पक्षियों के कलरव से रञ्जित, नाना रत्नों वाली लताओं को सुशोभित करने वाले मदमत्त भ्रमरों से मण्डित, चिन्तामणियों से परिच्छिन्न, ज्योत्सना के जाल से आवृत्त सभी ऋतुओं के फल और पुष्पों

से भरे हुए चारों और प्रवाल (मणि विशेष) से सुशोभित, कालिन्दी के जल से संसर्ग वाले वायु से बार-बार कम्पित, नाना प्रकार के पक्षियों वाले कुसुमित, विलास (राधा-माधव के विलास) का एकमात्र स्थान वृन्दावन का स्मरण करे।

हे देवि! उस वृन्दावन में जहाँ दो वृक्ष मिलकर एक हो गए हैं उसके मध्य देश के नीचे उत्तम मणि मण्डप का ध्यान करे। यह मण्डप त्रैलोक्य के सुख का सर्वस्व है तथा केलि का प्रिय एवं भली प्रकार से यन्त्रित है।

उस मण्डप में नानारत्नमय, शुभ, सुमनों से अधिक मधुर और कोमल, सुखद बिछोने वाले, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार पायों से विराजित, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के शिरोभूषण से भूषित सिंहासन पर प्रेम के आधिक्य से भरपूर, पीत वस्त्र वाले, कलाप के कुसुमों के समान श्याम, लावण्य का एकमात्र निधान, लीलारस रूपी अमृत के सागर में मग्न सुख सागर, नवीन बादलों के समान कान्ति वाले, चन्द्रिका से सुशोभित केश वाले किशोर का ध्यान करे और उसके वामभाग में परदेवता श्रीराधा का ध्यान करे।

यहाँ इस प्रसङ्ग में सूक्ष्म अरुन्धती न्याय से श्रीराधा के प्राधान्य का अनुसन्धान करना चाहिए।

श्रीराधा के ध्यान का स्वरूप बता रहे हैं। चीन वस्त्र (झीने रेशमी वस्त्र) में लिपटी हुई, चञ्चल (झिलमिल) स्वर्ण के समान कान्ति वाली, पटाञ्चल से आधे ढके हुए मुस्कुराहट भरे कमल मुख वाली, मुक्ताहार से चमकते हुए सुन्दर उन्नत स्तनों वाली, सुन्दर कटिवाली, विशाल जघना, किंकिणी के जाल में सुशोभित (घुंघरु वाली करधनी से शोभित) रत्नजड़ित शिरोभूषण, केयूर (बाजूबन्ध) मुद्रा एवं वलय (कड़े-कंकण) से भूषित, बजते हुए स्वर्ण के घुंघरू वाली पायजेब एवं पैर में रत्न जड़ित अंगूठी धारण करने वाली, लावण्य के सार से मुग्ध अङ्गों वाली, सभी अवयवों से सुन्दरी, आनन्द रस में मग्न, प्रसन्न, नवयौवना श्रीराधा का ध्यान करे।

उसकी सेवा में तत्पर, चँवर डुलाती हुई, सुन्दर कान्तिवाली, वय और गुणों में उसके समान उसकी सखियों की भावना करनी चाहिए।

श्रीमृत्युंजयतन्त्रे च--

''ब्रह्मांडस्योर्द्धतो देवि ब्रह्मणः सदनं महत्।
तदूर्ध्वं देवि विष्णूनां तदूर्ध्वं रुद्ररुपिणाम्।।
तदूर्ध्वं च महाविष्णोर्महादेव्यास्तदूर्ध्वगम्।
कालातिकालयोश्चैव परमानन्दयोस्ततः।।
पारे पुरि महादेवि कालः सर्व भयावहः।
तत्र श्रीरत्नपीयूषजलधिर्नित्यनूतनः।।
तस्य तीरे महाकालः सर्वग्राहकरूपधृक्।
तस्यान्तरे समुद्भासी रत्नद्वीपः शिवाह्वयः।।
उद्यच्चन्द्रोदयक्षुब्धरत्नपीयूषवारिधेः।
मध्ये हेममयीं भूमिं स्मरेन्माणिक्यमंडिताम्।।
षोडशद्वीपसंयुक्तां कलाकौशलमंडिताम्।
वृन्दावनसमूहैश्च मंडितां परितः शुभाम्।।
तन्मध्ये नन्दनोद्यानं मदनोन्मादनं महत्।
अनल्पकोटिकल्पद्रुवाटिभिः परिवेष्टितम्।।
तस्यान्तरे महापीठं महाचक्रसमन्वितम्।
तन्मध्ये मंडपं ध्यायेद्व्याप्तब्रह्माडमंडलम्।।
ध्यायेत्तत्र महादेवीं स्वयमेव तथाविधः।
तथाविधः सखीभावाविष्टः।।
रक्तपद्मनिभां देवीं बालार्ककिरणोपमाम्।
पीतवस्त्रपरीधानां वंशीयुक्तकरांबुजाम्।।
कौस्तुभोद्दीप्तहृदयां वनमालाविभूषिताम्।
श्रीकृष्णाङ्कपर्यङ्कनिलयां परमेश्वरीम्।।
सर्वलक्ष्मीमयीं देवीं परमानन्दनन्दिताम्।
रासोत्सवपरां राधां कृष्णानन्दस्वरूपिणीम्।।
भजेच्चिदमृताकारां पूर्णानन्दमहोदधिम्।
इति ध्यात्वा तथा भूत्वा तस्या एव प्रसादतः।।
तदाज्ञया परामेत्य नित्यानन्दकलावृताम्।
परां श्रीराधाकुंजवाटिकामित्यर्थः।।
तामाकर्णय देवेशि कथयामि तवानघे।

एतदन्तर्महेशानि श्वेतद्वीपमनुत्तमम् ।।
क्षीरांभोनिधिमध्यस्थं निरन्तरसुरद्रुमम् ।
उद्यदर्केन्दुकिरणैर्दूरीकृततमोभरम् ।।
कालमेघसमालोकनृत्यद्बर्हिकदंबकम् ।
कूजत्कोकिलसंघेन वाचालितजगत्त्रयम् ।।
नानाकुसुमसौगन्ध्यवाहिगन्धवहान्वितम् ।
कल्पवल्लीनिकुंजेषु गुंजद्भृंगगणावृतम् ।।
रम्यावाससहस्रेण विराजितनभस्तलम् ।
रम्यनारी सहस्रौघैर्गायद्भिः समलंकृतम् ।।
गोवर्द्धनेन महता रम्यावासविनोदिना ।
शोभितं शुभचिह्नेन मानदंडेन वा परम् ।।

श्रीगोवर्द्धनेन तत्प्रदेशाद्बहिरपि स्थितेनाप्यायतत्वादातपत्रायितेनेव शोभितं, मानदंडेनेत्युक्तत्वात् ।। मानदंडस्य हि राजगृहाद्बहिस्थितेरेव प्रसिद्धेः ।। वाशब्द उपमायाम् ।।

श्रीमृत्युञ्जय तन्त्र में कहा हैः– हे देवि! ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व भाग में ब्रह्मा का महान् सदन है, उसके ऊपर विष्णु तथा उससे ऊपर रुद्ररूप वालों का, उससे ऊपर महाविष्णु का और उससे ऊपर महादेवी का सदन है। उससे ऊपर काल, अतिकाल, परम और आनन्द के सदन हैं। हे महादेवि! इन सदनों से परे सबके लिए भयावह काल विद्यमान है। वहाँ नित्यनूतन श्रीरत्न के अमृत का सागर है। उसके तीर पर सबको अपने में ग्रहण करने वाला महाकाल विद्यमान है। उस सागर के मध्य में शिव नामक रत्नद्वीप उद्भासित हो रहा है। उदित होते हुए चन्द्र से क्षुब्ध होने वाले रत्नपीयूष सागर के मध्य में माणिक्य से मण्डित हेममयी (स्वर्णमयी) भूमि का स्मरण करना चाहिए। वह भूमि सोलह द्वीपों से युक्त है, कला कौशल से मण्डित है, उसके चारों ओर वृन्दावन का समूह है। उसके मध्य में काम को दीप्त करने वाला महान् नन्दन कानन है जो अनन्त कोटि कल्पवृक्षों से परिवेष्टित है, उसके मध्य में महाचक्र से समन्वित महापीठ है, उसके मध्य में ब्रह्माण्डमण्डल को व्याप्त करने वाले मण्डप का ध्यान करना चाहिए तथा उसी मण्डप में साधक को सखी भाव से आविष्ट होकर महादेवी (श्रीराधा) का ध्यान करना चाहिए।

श्रीमहादेवी के ध्यान का स्वरूप बता रहे हैं:-लाल कमल के सदृश, बाल सूर्य की किरणों के समान, पीत वस्त्रधारिणी, वंशी से विभूषित करकमल वाली, कौस्तुभमणि से उद्दीप्त हृदय वाली, वनमाला से सुशोभित, श्रीकृष्ण के अंक (गोदी) रूपी पलङ्ग पर सोई हुई, परमेश्वरी, सभी प्रकार की लक्ष्मीमयी, परम आनन्द से आनन्दित, रास के उत्सव में तत्पर, कृष्णानन्द स्वरूप वाली, चैतन्यरूपी अमृत आकार वाली, पूर्ण आनन्द की सागर श्रीराधा देवी का ध्यान करके, उसके प्रसाद से सखीभावाविष्ट होकर, उसकी आज्ञा से श्रीराधा कुञ्जवाटिका को प्राप्त करके भजन करे। (श्लोक में आए परां शब्द का अर्थ श्रीराधाकुञ्जवाटिका है) हे निष्पाप! देवेशि तुम्हें कह रहा हूँ कि तुम उस श्रीराधा की बात सुनो।

इस नन्दन कानन के मध्य में श्रेष्ठ श्वेत द्वीप है। यह क्षीरसागर के मध्य में स्थित है इसके चारों ओर देववृक्ष हैं। उगते हुए सूर्य की किरणों से अन्धकार दूर किया गया है। यह काल मेध के समान कान्ति वाले नाँचते हुए मयूरों के झुण्ड वाला है। इसमें कूजती हुई कोकिलों के समुदाय से तीनों लोकों को वाचालित कर रखा है। यह नानाविध पुष्पों की सुगन्ध को वहन करने वाले वायु से भरा हुआ है। कल्प लताओं के कुञ्जों में गुञ्जार करते हुए भ्रमर समुदाय से घिरा हुआ है। इसका नभस्थल हजारों रमणीय आवासों से युक्त है। गान करती हुई सहस्रों रमणीय नारियों से यह अलंकृत है।

रमणीय आवासों से विनोद करने वाले शुभचिह्न वाले मानदण्ड के समान महान् गोवर्द्धन से यह सुशोभित है।

अपने प्रदेश से भी बाहर आतपत्र के समान फैले हुए गोवर्द्धन से सुशोभित। जैसे मानदण्ड राजगृह से बाहर स्थित रहता है वैसे ही यह भी स्थित है वा शब्द उपमा अर्थ में है।

''अवाची प्राच्युदीच्याशा क्रमायतविवृद्धया।
व्याप्तं यमुनया देव्या नीलमेघाम्बुशोभया।।
तन्मध्ये स्फाटिकमयं भवनं महदद्भुतम्।।इत्यादि।
''तत्तदन्तर्महाकल्पमंदारादिद्रुमैर्वृतम् ।।
महावृंदावनं ध्याये न्नदत्पक्षिकुलाकुलम्।

कुत्रचिद्रत्नभवनं कुत्रचित्स्फाटिकालयम् ।।
गोपीयूथैरसंख्यातैः सर्वतः समलंकृतम् ।
विपापं विलयं शुद्धं रम्यमूर्मिविवर्जितम् ।।
तस्य मध्ये मणिमयं मंडपं तोरणान्वितम् ।
तन्मध्ये गरुडोद्वाहिमहामणिमयासनम् ।।
कल्पवृक्षसमुद्भासि रामोपास्यं परं महः ।
स्मरेद्वृन्दावने रम्ये मोहयन्तमनारतम् ।।
बल्लवीवल्लभं कृष्णं गोपकन्याः सहस्रशः ।
वल्लवी श्रीराधा ।। अन्यथा पौनरुक्त्यम्।। तत्रैव नित्यानित्य-विवेक देव्या पृष्टे श्रीशिवः--

''शृणु देवि महामाये यन्नित्यं यदनित्यकम् ।
ब्रह्मादीनां च सर्वेषां भुवनानां महेश्वरि ।।
विनाशोऽस्तीह सर्वेषां विना तद्भवनं तयोरिति ।।''
तयोः श्रीराधाकृष्णयोः ।।
अत्र कारिकाः ।।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षे स्थित एवं विचारतः ।
सर्वोपरितनं धाम राधामाधवयोः स्फुटम् ।।
यत्र नित्यं विहरत उभावपि प्रियाप्रियौ ।
पूर्वोक्तरीत्या रासस्थली चापि विदूरतः ।।
स्थिता किं तत्र वक्तव्यं व्रजलोको विदूरग इति ।।

नीले मेघ के जल के समान शोभावाली, क्रमशः आयताकार रूप में बढने की इच्छा वाली यमुना नदी से इसकी पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशाएँ व्याप्त हैं। उसके मध्य में स्फटिकमय महान् और अद्भुत भवन है।

इसके मध्य में महावृन्दावन का ध्यान करना चाहिए जिसके मध्य-मध्य में विशाल कल्प और मन्दार के वृक्ष फैले हुए हैं। वह महावृन्दावन कलरव करते हुए पक्षियों से भरा हुआ है। उसमें कहीं रत्नों के भवन हैं, कहीं स्फटिक भवन हैं, वहाँ गोपियों के असंख्य झुण्ड हैं। वह पाप रहित, लय रहित, शुद्ध और रमणीय है चिन्ता रहित है।

उसके मध्य में तोरण द्वार से युक्त मणिमय मण्डप है। उस मण्डप

के मध्य में गरुड से वहन करने योग्य महामणियों का आसन है। यह आसन कल्पवृक्ष के समान कान्ति वाला एवं रामोपास्य महान् तेज वाला है। उस रमणीय वृन्दावन में अतृप्तों को मोहित करते हुए श्रीराधावल्लभ श्रीकृष्ण एवं सहस्रों गोप कन्याओं का स्मरण करना चाहिए।

वल्लवीवल्लभ में आए हुए वल्लवी पद का अर्थ श्रीराधा है। इसका अर्थ गोपियाँ करेंगे तब पुनरुक्ति हो जाएगी क्योंकि आगे ''गोप कन्याः'' पद दिया हुआ है।

नित्यनित्यविवेक के प्रसङ्ग में वहीं देवी के पूछने पर शिव कहते हैं--

हे महादेवि! महामाये! महेश्वरि! जो नित्य है और जो अनित्य है-इसके विषय में सुना-ब्रह्मा आदि सबके भुवन अनित्य हैं-इनका विनाश है, किन्तु उन राधा-कृष्ण का वह भवन (वृन्दावन) नित्य है। ''तयोः का अर्थ है राधा और कृष्ण का।''

इस विषय में कारिकाएँ इस प्रकार हैः--सभी भुवन एक-दूसरे से उत्तरोत्तर उत्कर्ष पर स्थित है-ऐसा विचार करने से राधामाधव का धाम स्पष्ट रूप से सर्वोपरि ठहरता है जिसमें प्रिया और प्रियतम दोनों नित्य विहार करते हैं।

पूर्वोक्त रीति से रासस्थली राधामाधव के धाम से दूर है और इसमें कहना ही क्या कि व्रजलोक इससे दूर है।

एवमेवोक्तं श्रीप्रबोधानन्दचरणैः--

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं ब्रह्म तुर्य्यं श्रीवैकुण्ठं द्वारका जन्मभूमिः ।।
कृष्णस्याथो गोष्ठवृन्दावनान्तरगोप्याक्रीडं धाम वृन्दावनान्तः ।।
अत्याश्चर्य्या सर्वतोऽस्माद्विचित्रा श्रीमद्राधाकुंजवाटी चकास्ति ।।
आद्यो भावो यो विशुद्धोऽतिपूर्णस्तद्रूपा सा तादृशोन्मादि सर्वम् ।।
तत्रैवाविर्भोभवद्रूपशोभावैदग्ध्यान्योन्यानुरागाद्भुतौद्यौ ।।
नित्याभंगप्रोन्मदानंगरंगौ राधाकृष्णौ खेलतः स्वालिजुष्टौ ।।

श्रीप्रबोधानन्दचरण ने इस विषय में कहा है--

ब्रह्म स्थूल, सूक्ष्म, कारण एवं तुर्य्य भेद से चार प्रकार का है। उसके लोक भी श्रीवैकुण्ठ, द्वारका, जन्मभूमि तथा वृन्दावन के समीप कृष्ण

का गोष्ठ वृन्दावन के मध्य गोपियों के साथ क्रीडा भूमि हैं।

इस सबसे विचित्र अति आश्चर्य वाली श्रीकृष्ण और राधा की कुञ्जवाटी सुशोभित होती है। विशुद्ध, अतिपूर्ण जो आद्य भाव है वह उस रूप को धारण कर लेती है (भक्त का जो-जो भाव शुद्ध होता रहता है कुञ्जवाटी उसी स्वरूप को धारण कर लेती है) सभी उसी उन्माद वाले हो जाते हैं।

वहीं (राधाकृष्ण कुंजवाटी में) पर पुनः-पुनः होने वाली रूपशोभा के वैदध्य से एक-दूसरे में अनुराग के अद्भुत समुदाय वाले, नित्य अखण्डित प्रेम के उन्माद से काम रंग वाले, सखियों से सेवित राधाकृष्ण क्रीडा करते हैं।

श्रीदशमे शुकः--

वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम् ।।
यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः ।।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकमिति ।।

अस्यार्थः--वृन्दादेव्याधिष्ठितं वृन्दावनम् ।। वृंदावनं द्वादशमं वृन्दयाधिष्ठितं महदितिवराहतंत्रोक्तेः ।। महदिति ।। तद्वृंदावनमेव ।। यत्तु वृन्दयाधिष्ठितं तन्महावृंदावनमित्यर्थः ।। अधिदैवसन्निधानादिति भावः ।। यदाहुः श्रीप्रबोधाः ।।

प्रकृत्युपरि केवले सुखनिधौ परब्रह्मणि
श्रुतिप्रथितवैभवं परपदं विकुंठाभिधम् ।।
तदन्तरखिलोज्ज्वलं जयति माथुरं मंडलं
महारसमयं सखे कलय तत्र वृंदावनम् ।।

पञ्चयोजनात्मकस्याप्यन्तर्गतत्वादिदं महारसमयमिति भावः ।।

तत्रैव (नाम) निरुक्तिर्यथा--

खगवृन्दं पशुवृन्दं तरुवल्लीवृन्दमुन्मदप्रेम्णा ।।
प्रीणयदमृतरसेन ख्यातं वृंदावनं नमत ।। अपि च ।।
रक्षति संसारभयाद्दोषाकरमप्यशेषदेहभृद्वृन्दम् ।।
वृन्दावनमिति तेन प्रथितं तन्नौमि काननं किमपि ।।
तद्वृन्दावनं पुरःस्थितमपश्यदिति पूर्वेणान्वयः ।।

कथं भूतं तत्।। जनाः शुद्धभक्तास्तेषामाजीव्याः परमोपास्या ये श्रीनृसिंहादयस्त एव द्रुमास्तैराकीर्णं सर्वतो व्याप्तम्।। श्रीवंशीवटादीनां तथात्वेन प्रसिद्धेः।। यद्वा।। जनाः सखीजनाः।। नामैकदेशेन नामग्रहणं रहस्यत्वात्।। तेषामाजीव्या ये कुंजद्रुमास्तैः।। तत्तल्लीलानुभावकत्वा-त्तेषां तथात्वम्।।

दशमस्कन्ध में श्रीशुकदेवः--

वृन्दावन सभी जनों के लिए जीवनदायी वृक्षों से भरा हुआ है, राधा सहित श्रीहरि का सर्वप्रिय है, जहाँ नैसर्ग वैर वाले मनुष्य, मृग आदि मित्रों के समान साथ रहते हैं। जैसे शुद्ध प्रेम अन्य रसो से अपराजेय होते हुए क्रोध और लोभ आदि को दूर कर देता है।

इसका अर्थ। वृन्दादेवी से अधिष्ठित वृन्दावन। वराहतन्त्र की उक्ति के अनुसार-वृन्दा से अधिष्ठित बारहवां केलिवन मध्य वृन्दावन है। वृन्दा से अधिष्ठित ही महावृन्दावन है। अधिदैव के सन्निधान के कारण यह भाव है।

जैसा कि श्रीप्रबोधानन्द ने कहा है:--प्रकृति के ऊपर केवल सुखनिधि परब्रह्म में श्रुति प्रसिद्ध, वैभव वाला वैकुण्ठ नामक परमपद है। उस वैकुण्ठ में सबसे उज्ज्वल माथुर मण्डल है उसी में हे सखे! उसी में महारसमय वृन्दावन समझना चाहिए।

पञ्चयोजनात्मक के अन्तर्गत होने के कारण ही इसे महारसमय कहा है।

वृन्दावन नाम का निर्वचन वहीं कहा गया है:--

पक्षीवृन्द, पशुवृन्द, वृक्ष और लताओं के वृन्द (समुदाय) को उन्मद प्रेम तथा अमृतरस से प्रसन्न करते हुए प्रसिद्ध वृन्दावन को नमन करो।

और भी --

दोषों के खजाने समस्त देहधारियों के वृन्द को संसार के भय से जो रक्षा करने के कारण वृन्दावन नाम से प्रसिद्ध हुआ है उस वृन्दावन को मैं नमन करता हूँ।

यहाँ तद्वृन्दावनम्-(उस वृन्दावन को) आगे आने वाले अनश्यत्-देखा के साथ अन्वय है।

वह वृन्दावन किस प्रकार का है?--शुद्ध भक्तों के आजीव्य परमोपास्य जो श्रीनृसिंह आदि हैं वे ही जहाँ वृक्ष बन गए है उनसे भरा हुआ वृन्दावन है। श्रीवंशीवट आदि उसी रूप में प्रसिद्ध हैं अथवा सखीजनों के आजीव्य जो कुञ्जों के वृक्ष है उनसे भरा हुआ वृन्दावन है लीला में उनका वैसा ही अनुभव होता है।

यदाहुः श्रीप्रबोधाः--

तांबूलपानकमनोहरमोदकादि- -
रम्ये लसन्मृदुलपल्लवचारुतल्पे ।।
द्वारि स्थितालिभिरहो सुहृदावपेक्ष्य
वृंदावनं स्मर निकुंजगृहैर्मनोज्ञम् ।।
क्वचिद्रसविमर्द्दितप्रसवतल्पकैः कुत्रचि-
द्रतोपकरणान्वितप्रियमृदुप्रसूनास्तरैः ।।
क्वचित्प्रमदराधिकामधुपतिप्रवृत्तोत्सवैः
सदा नवनिकुंजकैः स्मर सुमंजु वृंदावनम्।। तथा-
गृणन्ति शुकसारिकाः सुचरितानि राधापते-
स्तदेकपरितुष्टये तरुलताः सदोत्फुल्लिताः ।।
सरांसि कमलोत्पलादिभिरधुश्च यत्र श्रियम्
तदुत्सवकृते मनः स्मर तदेव वृंदावनमिति ।।
पुनः कीदृशम्।। मया राधया सह वर्त्तमानः समः ।।
मा-शब्देनोच्यते राधा तया सहकृतो हरिः ।।
सदा तद्वशवर्त्ती च सम इत्यभिधीयते ।। इति श्रीसुधर्माध्व-बोधोक्तेः ।। तस्य आ सर्वतः प्रियम् ।। तत्रैव नित्यस्थितेरिति भावः ।।
वृंदावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति ।।
गोप्येकया युतस्तत्र परिक्रीडति नित्यदेति श्रीब्रह्मयामलोक्तेः ।।

जैसा कि प्रबोधानन्दजी ने कहा हैः--

ताम्बूल, पेय पदार्थ और मनोहर मोदक आदि से रमणीय मृदुल पत्तो के सुन्दर शय्या पर सुहृद् श्रीराधा और कृष्ण को देखने की अपेक्षा से द्वार पर स्थित सखियों वाले निकुञ्ज गृहों से मनोज्ञ (सुन्दर) देदीप्यमान वृन्दावन का स्मरण करो।

कहीं रसदशा में मसली हुई मञ्जरी वाले पलङ्गों वाले कहीं रति के उपकरणों से सम्बद्ध फूलों के बिछोनों वाले कहीं श्रीराधिका और मधुपति श्रीकृष्ण द्वारा प्रवृत्त उत्सवों वाले सदा नव निकुञ्जों से सुन्दर वृन्दावन का स्मरण करो।

और--

शुक सारिकाएँ राधापति श्रीकृष्ण के सुचरितों का गुणगान करती है, उसी एक को सन्तुष्ट करने के लिए वृक्ष और लताएँ सदा खिली रहती हैं, उसी के उत्सव के लिए जहाँ तालाब कमल और नीलकमलों से श्री को धारण करते हैं, हे मन उस वृन्दावन का स्मरण करो।

वृन्दावन कैसा है? पुनः कहते हैं:--''समप्रियं'' राधा के साथ विद्यमान श्रीकृष्ण का सबसे प्रिय वृन्दावन है। ''मा'' का अर्थ राधा है- उसके सहित हरि ''समः'' समः का अर्थ है जो सदा उस राधा के वशीभूत हो। यह अर्थ श्रीसुधर्माध्वबोध की उक्ति के अनुसार है, उस हरि का सबसे अधिक प्रिय वृन्दावन। उस वृन्दावन में ही उसकी नित्यस्थिति है (वृन्दावनं जनाजीव्य...। पद्य में आये हुए ''समप्रियं'' पद का अर्थ हुआ)।

वृन्दावन को छोड़कर वह कहीं भी नहीं जाते हैं। ब्रह्मयामल में कहा है वह हरि एक गोपी के साथ वृन्दावन में नित्य क्रीड़ा करता है।

पुनः कीदृशम्।। यत्रेत्यादि।। नृमृगादयो निसर्गदुर्वेरा अपि यत्र मित्राणीव सहासते नित्यं वर्त्तते।। नृमृगादय इत्यनेन तत्तद्रसाश्रया एव विवक्षिताः।। अधिष्ठानाधिष्ठेययोरभेदात्।। कुत इत्यपेक्षायां हेतुगर्भं विशेषणं अजितेत्यादि स्पष्टम्।। यद्वा।। अजितः रसान्तरैरनाक्रान्तः शुद्धः प्रेमा।। तस्यावासेन द्रुता निरस्ता रुट् क्रोधस्तेन रौद्ररसो लक्षितः।। तर्षो लोभः स च जीवनाभिलाषस्तेन च भयम्।। अयं भावः।। सिंहं दृष्ट्वा नराणां भयं जायते।। नरं च दृष्ट्वा सिंहस्य क्रोधो भवति।। तयोः परस्परविरोधाद्बाध्यबाधकता भवत्येव।। अत्र तु शुद्धप्रेमसाम्राज्ये जरीजंभमाणे सर्वे रसा भावाश्च संचारितामुपगच्छन्तो विरोधिनोऽपि परस्परोपकारिणो भवन्ति।। यद्वा।। सापत्न्ये रुट्।। परकीयात्वेऽनेकनायिकात्वे च तर्षो भवति।। तद्रहितं कं सुखं शुद्धमधुराख्य यस्मिंस्तत्।। केवलं स्वाधीनपतिकाधीनत्वादस्य देशस्येति भावः।। प्रसिद्धार्थे तु न कोऽप्य-

तिशयः ।। मुनिवासादावपि तत्र तत्र ततोप्युत्कर्षश्रुतेः ।।

अब पुनः वृन्दावनं जनाजीव्य..पद्य में आए हुए ''नैसर्ग दुर्वैराः नृमृगादयः'' का अर्थ करते हैं। मनुष्य और मृग आदि वैर का परित्याग करके जहाँ मित्रों के समान नित्य साथ-साथ रहते हैं। नृ-मृग आदि शब्दों से उन-उन रसों के आश्रय का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि अधिष्ठान और अधिष्ठेय में अभेद रहता है। कैसे रहता है? इस अपेक्षा में हेतु में स्थित विशेषण अजित आदि को स्पष्ट करते हैं (मित्राणीवाजितावास-द्रुतरुट्तर्षकादिमिति) अथवा-अजित का अर्थ हुआ अन्य रसों से अनाक्रान्त शुद्ध प्रेम। उस शुद्ध प्रेम के आवास (स्थिति) से क्रोध (तथा उससे उपलक्षित रौद्र रस) तथा लोभ (तथा उससे उपक्षित भयानक रस) निरस्त हो जाते हैं। भाव यह है कि सिंह को देखकर मनुष्यों को भय होता है तथा मनुष्य को देखकर सिंह को क्रोध होता है इन दोनों रसों में एक दूसरे से विरुद्ध होने के कारण बाध्य-बाधक भाव रहता है। किन्तु इस वृन्दावन में शुद्ध प्रेम के साम्राज्य पूर्ण रूप से उदित होने पर सभी अन्य रस और भाव संचारी बनकर विरोधी होते हुए भी परस्पर उपकारी हो जाते हैं। अथवा सापत्न्य भाव में क्रोध होता है तथा परीकीया या अनेक नायिकाएँ होने पर तर्ष लोभ और उससे भय होता है-इन दोनों (क्रोध और तर्ष-न्नय) से रहित सुख शुद्ध मधुर रस जिसमें है वह वृन्दावन है। तात्पर्य यह है कि प्रसिद्धार्थ में कोई अतिशय नहीं होता है। जबकि मुनियों के आवास आदि में भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है।

तथैव ब्रह्मसंहितायां--

श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम् ।।
कथा गानं नाट्यं भ्रमणमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ।।१ ।।
स यत्र क्षीराब्धिःसरतिसुरभीभ्यश्च सुमहान्
निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति नहि यत्रातिसमयः ।।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यम्
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये ।।२ ।।

युग्मम् ।। अस्यार्थः ।। अहं तं अचिन्त्यप्रभावं श्रुतिशिरोभिरपि नेतिनेतीत्यादिना निर्वक्तुमशक्यम् ।। अतिगूढमपि इह भारतकीयभूभागे साक्षादनुभूयमानं गोलोकमिति प्रसिद्धम् ।। गवां लोको गोलोकस्तम् ।। यत्र गावो भूरिशृंगा अयास इति बह्वृचश्रुतेः ।।

गवामेव हि गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः ।।

स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानः कृतात्मना ।।

धृतो धृतिमता वीर निघ्रतोपद्रवान् गवामिति श्रीहरिवंशोक्तेश्च ।। अथवा ।। मोचयन् व्रजगवां दिनतापमिति श्रीदशमोक्तेर्व्रजगवां श्रीव्रजदेवीनां लोकं नित्यनिवासस्थानमित्यर्थः ।। ताश्च श्रीराधासख्यस्तद्भावभावितस्वान्ताः साधकाश्च ।। तासां लोकमिव लोकं स्थानं तत्प्राप्यं च ।। भजे सेवयामि ।। ननु प्रापंचिकलोकस्य कथमेवं भूतत्वमित्याशंक्य कैमुत्येन समादधन्नाह ।। यं विदन्तोऽपि कतिपये न तु सर्वेऽपि ।। सन्तः महाभागवताः ।। क्षिति विरलचाराः ।। क्षितौ विचरन्तोप्यनुभूयमाना अंभस्यं भोजवदासंगरहिता भवन्ति ।। ततः किंवाच्यमत्रवसतां सेवतां वास्य लोकस्य च माहात्म्यमिति भावः ।। ''यथा सरसि पद्मं तिष्ठति''-इति तापनीश्रुतेः ।। ननु कथमेवं ज्ञायत इत्यत आह द्वीपमिति ।। तद्वदनासंगमित्यर्थः ।। तत्कुतस्तत्राह श्वेतमिति ।। गौण्यावृत्त्या मायोपाधिरहितं ।। शुद्धमिति यावत् ।। किंवा द्विर्गता आप इति द्वीपशब्दस्य व्युत्पत्तेस्तयैव वृत्त्या,''रसोऽहमप्सुकौन्तेये''ति श्रीगीतोक्तेश्च शुद्धप्रेमरसात्मकम् ।। द्विर्गतत्वमस्य विषयाश्रयभेदेनेति ज्ञेयम् ।।

ब्रह्मसंहिता में जैसे--

वृन्दावन में लक्ष्मीस्वरूपा ही कान्ताएँ, परम पुरुष कान्त, कल्पवृक्ष ही वृक्ष, चिन्तामणियों का समूह ही भूमि, अमृत ही जल, गान ही कथा, भ्रमण ही नाट्य, प्रियसखी ही वंशी और ज्योति भी परम चिदानन्द है।

जहाँ गायों से महान् क्षीर सागर बहता है इसमें आधे निमेष से भी कम समय के लिए काल का प्रवेश नहीं है। नहीं लगता है, इसे धरा पर उस श्वेत द्वीप सदृश वृन्दावन को मैं गोलोक के समान सेवित करता हूँ कुछ ही सन्त इसके महत्व को जानते हुए धरती पर विचरण करते हैं, यह दो श्लोकों

का युग्म है।

इसका अर्थ। मैं श्रुतियों ने भी जिसे नेति-नेति कहा है ऐसे अचिन्त्य प्रभाव वाले वृन्दावन का निर्वचन नहीं कर सकता। यद्यपि अतिशय गूढ होते हुए भी भारतीय भूभाग पर साक्षात् अनुभूयमान गोलोक के रूप में प्रसिद्ध है। गायों का लोक गोलोक है। श्रुति का वचन है-जहाँ उन्नत सींगों वाली गायें विद्यमान हैं। (गो शब्द के गाय, किरण आदि अर्थ है)।

गायों का लोक ही गोलोक है। वहाँ तक जाने की गति कठिन है। हे कृष्ण! वह लोक आपके द्वारा अधिष्ठित है।

श्रीहरिवंश की उक्ति है--

हे वीर! गायों को व्याप्त होने वाले उपद्रवों को शान्त करके धैर्यवान् आपके द्वारा वह लोक धारण किया हुआ है।

अथवा श्रीदशमस्कन्ध की उक्ति है--

व्रज की गौओं के दिन ताप को मुक्त (दूर) करते हुए। यह व्रज गौओं एवं व्रजदेवियों का नित्य निवास स्थान है। वे व्रजदेवियाँ श्रीराधा की सखियाँ है तथा उनके भाव से भावित अन्तःकरण वाली साधिकाएँ हैं। उनके लोक के समान लोक अर्थात् स्थान है तथा उनके लिए प्राप्य है। भजे-मैं सेवन करता हूँ।

प्रश्न होता है कि प्रपञ्चपूर्ण लोक इस प्रकार का कैसे सम्भव है? इसका उत्तर कैमुतिक न्याय (क्या कहना) से देते हुए कहते हैं-सब नहीं कुछ लोग इसको इस रूप में जानते हुए भी महाभागवत जन धरती पर विचरण करते हुए भी इसका अनुभव करते हैं जैसे जल में रहने वाला कमल आसक्ति रहित होकर जल का अनुभव करता है। यहाँ रहने वाले या इसकी सेवा करने वाले तथा इस लोक के महत्व के विषय में तब क्या कहें।

जैसे तापनी श्रुति में कहा है-जैसे सरोवर में पद्म रहता है। यह कैसे जाना जाता है-तब कहते हैं ''द्वीपम्'' इति। जैसे द्वीप। द्वीप के समान आसक्ति रहित (जैसे द्वीप के दोनों ओर जल रहता है किन्तु द्वीप में नहीं रहता) यह कैसे? तब उत्तर है श्वेत-श्वेत द्वीप-गौण वृत्ति से अर्थ हुआ माया की उपाधि से रहित-शुद्ध। अथवा द्वीप शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार दोनों

ओर जिसके जल हो वह द्वीप-इसी वृत्ति से भी अर्थ सम्भव है। ''हे कौन्तेय।'' मैं जल में रस हूँ-श्रीगीता की उक्ति से-शुद्ध प्रेमरस रूप-वृन्दावन शुद्ध प्रेमरस रूप है।

विषय और आश्रय भेद से वृन्दावन का द्विगतत्व (द्वीपत्व) रूप है।

तदुक्तं शतकेषु--

विशुद्धाद्वैतैकप्रणयरसपीयूषजलधे- -
र्घनीभूतद्वीपे समुदयति वृन्दावनमहो ।।
मिथः प्रेमोद्घूर्णद्रसिकमिथुनाक्रीडमनिशम्
तदेवाध्यासीनः प्रविशति पदे क्वापि मधुरे ।।

मायोपाधिरहितत्वं चास्य वृहद्वामनपुराणे श्रुतिप्रार्थनायां- ''नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ।। सगुणं ब्रह्मसर्वेदं वस्तु-बुद्धिर्नतेषु नः ।। ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परं ।। वाङ्मनो गोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ।। आनन्दमात्रमिति यदित्वादि ।।''

''आनन्दमात्रमिति यद्वदन्ति हि पुराविदः ।।
तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ।।
श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वलोकं प्रकृतेः परम् ।।
केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमव्ययम् ।।
यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैरित्यादिना।
ब्रह्मत्वं च श्रीपञ्चरात्रे श्रुतिविद्यासंवादे ।।
श्वेतद्वीपमहीद्वीपश्चतुर्दिक्षु विदिक्षु च ।
अधश्चोर्ध्वं च दिङ्नाथास्तोयं क्षीरामृतार्णवम् ।।
महावृन्दावनं तत्र केलिवृंदावनानि च ।
वृक्षाः कल्पद्रुमास्तत्र चिन्तामणिमयी स्थली ।।
क्रीडाविहंगलक्षं च सुरभीणामनेकशः ।
नानाचित्रविचित्राणि रासमंडलभूमयः ।।
केलिकुंजनिकुंजानि नानासौख्यस्थलानि च ।
प्राचीरछन्नरत्नानि फणाः शेषस्य भान्त्यहो ।।
यच्छिरोरत्नवृन्दानामतुल्यद्युतिवैभवम् ।
ब्रह्मैव राजते तस्य रूपं को वक्तुमर्हतीत्यादिना ।।

शेषस्येति तदनन्तांशसंभवमित्यत्रैव प्रागुक्तम्।
विवृतमिदं श्रीकृष्णयामले श्रीवासुदेवेन ।।
दिव्यं वृंदावनं स्थानं नित्यमप्यनघं परम्।
प्रकाशमभवत्पूर्वं चतुर्भ्य इति श्रुश्रुम ।।
आद्योऽयं भगवान् शेषो द्वितीया त्रिपुरेश्वरी।
श्रीकृष्णःस्यात्तृतीयस्तु तुरीया राधिकास्मृता ।।
श्रीकृष्णस्य विहारार्थं शेषदेवोऽभवत्प्रभुः।
अग्रेजात इति न्यायादग्रजोऽयं निगद्यते ।।
यः शय्यासनछत्रादिप्रासादव्यजनादिकम् ।
उपानहोपबर्हं च प्राकारादर्शदीपकम् ।।
अन्यानीप्सितवस्तूनि कृष्णस्यार्थं विहारिणः।
संपाद्य भगवानेष सेवतेऽच्युतमन्वहम् ।।
यदंगप्रभवानन्तचिन्तामणिरसस्थलम् ।
वृन्दावनं स्फुरत्स्वच्छपरागपरिभूषितम् ।।
तदङ्गकुण्डलीसप्तप्रकारलसदाकृति ।
स्फाटिक श्रीलसत्स्वच्छांगनसोपानवेदिकम् ।।
फणासहस्रातपत्रैराच्छादितदिगन्तरम् ।
तद्रत्नरश्मिजालैः संदीपिताशेषदिङ्मुखम् ।।
यत्किरीटमणिस्वच्छसूर्य्यप्रकरभूगृहम् ।
ललाटपटलोद्दीप्तकृशानुकररंजितम् ।।
कंठस्थितमणिभ्राजच्चन्द्रबिंबकरोज्ज्वलम् ।
तदवस्थितिभावेन दिग्विदिङ्मंडलान्वितम् ।।
तद्भोगवलयद्वन्द्वकृताष्टविद्रुमगृहम् ।
फणैकविलसत्पद्ममंडलस्थानराजितम् ।।
पीठशक्त्यासनछत्रं श्रीकृष्णस्य मनोरमम्।
पयः फेनरुचिस्वच्छशय्याश्रीरत्नमंडपम् ।।
नाना सुखमयं नाना रहः स्थाक्रीडमन्दिरम्।
सुखमिच्छन् भगवतोः शुद्धसख्यवपुर्दधौ ।।
शेषः क्वापि रहस्यत्वात्संक्षेपात्कथितं प्रिय इति ।।

शतक में कहा हैं--

अहो! विशुद्ध अद्वैत के एकमात्र प्रणय रस के पीयूष (अमृत) सागर के धनीभूत द्वीप में वृन्दावन समुदित (प्रकट) हो रहा है। यह निरन्तर एक-दूसरे के प्रेम के उद्रेक से रसिक मिथुनो का क्रीड स्थल है। उसी वृन्दावन को अधिष्ठित किए हुए श्रीकृष्ण किसी भी मधर स्थान में प्रवेश करते हैं (प्रकट होते हैं)।

वृन्दावन माया की उपाधि से रहित है यह बात बृहद्वामनपुराण के श्रुति प्रार्थना में कही गई है--

हे अच्युत! हमने नारायण आदि रूप जान लिए हैं। यह सभी सगुण ब्रह्म है इन स्वरूपों में हमारी वस्तु बुद्धि नहीं है (अपितु सगुण ब्रह्म बुद्धि है)।

जो निर्गुण ब्रह्म वाणी और मन से अतीत माना जाता है, उससे सगुण ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता है।

हे प्रभु! यदि आप हमें वरदान देना चाहते हैं तो जिसे पुराविद् आनन्द मात्र स्वरूप ब्रह्म कहते हैं, उसे हमें दिखाइए। यह सुनकर अच्युत ने प्रकृते परे विद्यमान, अक्षर, अव्यय, केवल अनुभवगम्य आनन्दमात्र अपने लोक का दर्शन करवाया, जहाँ कामनाओं की पूर्ति करने वाले वृक्षों से आवृत्त वृन्दावन नाम का वन था।

श्रीपञ्चरात्र में श्रुति विद्या संवाद में वृन्दावन के ब्रह्म स्वरूप का वर्णन है--

जहाँ चारों दिशाओं और विदिशाओं में महाद्वीप श्वेत द्वीप है। जिसके ऊपर नीचे दिग्गज हैं, क्षीर सागर और अमृत सागर का जल है वहाँ महावृन्दावन है और केलिवृन्दावन (बारह प्रमुख चोईस उपवन) हैं। उनमें कल्पवृक्ष ही वृक्ष हैं। वहाँ की भूमि चिन्तामणियों वाली है। वहाँ लाखों क्रीडा पक्षी हैं, अनेक गाएँ हैं। नाना चित्र विचित्र रासमण्डल की भूमियाँ हैं। वहाँ केलि कुञ्ज-निकुञ्ज है, अनेक सुख स्थल हैं। उनकी दीवारों में रत्नजड़ित हैं। वहाँ शेष के फण भी सुशोभित होते हैं। इसके शिर पर विराजमान रत्नों के समुदाय का अतुल्य प्रकाश वैभव है-यह ब्रह्म रूप में ही सुशोभित होता है इस वैभव का वर्णन कौन कर सकता है। शेष के फण

सुशोभित होते हैं–तात्पर्य है उनके शेष के अनन्त अंश से उत्पन्न हैं (वृन्दावन की सभी वस्तुएँ श्रीशेष के अंग से उत्पन्न है) श्रीकृष्णयामल में श्रीवासुदेव ने इस विषय में कहा है--

यह वृन्दावन दिव्य, नित्य, निष्पाप और पर धाम है। पूर्वकाल में इस धाम में चार से प्रकाश हुआ है ऐसा सुना है। प्रथम प्रकाशक भगवान् शेष है, द्वितीया प्रकाशिका त्रिपुरेश्वरी है। तीसरे श्रीकृष्ण एवं चतुर्थ श्रीराधिका मानी गई है। श्रीकृष्ण के विहार के लिए भगवान् शेष पहले प्रकट हुए तथा न्याय के अग्रज कहलाए जो विहारी कृष्ण के लिए शय्या, आसन, छत्र आदि, महल और विभिन्न दीवारी, दर्पण, दीपक तथा अन्य ईप्सित वस्तुएँ बनाकर अच्युत (श्रीकृष्ण) की नित्य सेवा करते हैं। जिनके अंग से उत्पन्न अनन्त चिन्तामणियों वाले रसस्थल वाला, स्फुरित होते हुए स्वच्छ पराग से विभूषित वृन्दावन है।

यह वृन्दावन श्रीशेष के अङ्ग की कुण्डली से सात दीवारों से सुशोभित आकृति वाला है जिसमें स्फटिक की शोभा से दमकते हुए आङ्गन में सोपान (सीढी) की वेदि बनी हुई है। वहाँ का दिगन्तर शेष के हजारों फणों के आतपत्र (छातों) से आच्छादित है। उसके रत्नों की रश्मियों के जाल से समस्त दिशाएँ दीप्त हो रही हैं। वृन्दावन के तहखाने शेष के मुकुट की मणियों से स्वच्छ तथा सूर्य का अपहरण करने वाले हैं। ये तहखाने शेष के ललाट पटल पर चमकते हुए अग्नि की किरणों से रंजित है। ये शेष के कण्ठ में स्थित मणियों में सुशोभित होने वाली चन्द्रबिम्ब मणि की किरणों के समान (उज्ज्वल) हैं।

शेषनाग की इस प्रकार की उपस्थिति से वृन्दावन की समस्त दिशाएँ सुशोभित हैं।

शेष के फण के वलय द्वन्द ने आठ प्रकार के विद्रुम के घरों का निर्माण कर दिया है। उसके फन पर एकमात्र विराजमान पद्ममण्डल के स्थान से सुशोभित है वृन्दावन। श्रीकृष्ण के पीठशक्ति पर आसन और छत्र मनोरम हैं। मण्डप पयः फेन की कान्ति के समान स्वच्छ शय्या से शोभित है। एकान्त क्रीडा के मन्दिर नानाविध हैं तथा नाना सुखों से युक्त हैं। शेष ने भगवान् और भगवती राधा के सुख को चाहते हुए शुद्ध सख्य भाव से कहीं

भी शरीर धारण किया है यह रहस्य होने पर हे प्रिय! तुम्हें संक्षेप में कहा है।

तथैव श्रीदशमेऽष्टाविंशेऽध्याये ।।

दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ।।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मज्योतिः सनातनम् ।।

यद्धिपश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता इति ।।

तथा च श्रुतिः ।। स भगवो कस्मिन्प्रतिष्ठित इति पृष्टे स्वे महिम्नीत्युत्तरम् ।। स च महिमास्य ब्रह्मैव ।। ''मदीयं महिमानं वै परं ब्रह्मेति शब्दित'' मिति श्रीअष्टमात् ।। परं ब्रह्मेत्यस्य श्रीभगवल्लोक एव मुख्यावृत्तिः ।। तत्रैव महिम्नोऽपि स्वरूपलाभश्च ।। जीवाख्यब्रह्मणस्तु 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमित्यनेनैव तुच्छीकृतत्वात् ।। ननु श्वेतद्वीपस्य क्षीराब्धितीरे प्रसिद्धेः कथमयं लोकस्तथेत्यत आह ।। यत्र सः ।। प्रसिद्धो विलक्षणो वा क्षीराब्धिः सुरभीभ्यः सरति ।। अविच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्त्तते ।। सुरभीभ्य इति बहुत्वेनैकसुरभिक्षरितक्षीराब्धेः सकाशादतिरेकः ।। यत्र च सुमहान् द्विपरार्द्धाख्यः संवत्सरात्मकश्च निमेषार्द्धाख्योऽतिसूक्ष्मश्च समयो न व्रजति ।। न प्रविशति, ''न यत्र काल''इति श्रीद्वितीयोक्तेः ।। अथवा ।। कीदृशः समयः ।। सुरभीभ्यः ।। सुरभिना पुष्पसमयेन इभ्य आढ्यः ।। नित्यदा ऋतुराजसेवित इत्यर्थः ।। ''स च वृंदावनगुणैर्वसन्त इव लक्षित'' इति श्रीदशम उपलक्षितत्वात् ।। स च न व्रजति ।। वृथा नापयातीत्यर्थः ।। (प्रेमविशेषलक्षणा उत्तमा तत्सुखैकसुखितामयी निःस्वार्था युगलसहचरीभावात्मिका भक्तिरेव फलरूपा फलान्तराभिलाषशून्या) नित्यक्रीडास्पदत्वात् ।। किंवा व्रज इव नाचरति ।। प्रकटलीलाभिप्रायेणेदं ।। गमागमोदयास्तमयादेस्तत्रैव स्वीकारात् ।। अत्र तु ''कुंजपुंजगता क्रीडा कदाचिद्विरमेन्नहीत्यादिपुराणादात्मना'' रमया रेमे त्यक्तकामसिसृक्षये''त्यत्रैव प्रागुक्तेश्च नित्यविहारस्यैव निर्णीतत्वात् ।।१ ।।

इसी प्रकार दशम स्कन्ध के २८ वें अध्याय में:--श्रीकृष्ण ने गोपों को अन्धकार से परे अपना लोक दिखलाया जो सत्य, ज्ञान, अनन्त, ब्रह्म ज्योति स्वरूप और सनातन है। इसे माया के दूर होने पर समाधिस्थ मुनिजन

देखते हैं।

और श्रुति है। वह भगवान् किस में प्रतिष्ठित है? ऐसा पूछने पर-अपनी महिमा में यह उत्तर है। इस भगवान् की महिमा ब्रह्म ही है। अष्टम स्कन्ध में कहा गया है--''मेरी महिमा को ही शब्द ब्रह्म कहा जाता है।'' परब्रह्म का मुख्य अर्थ भगवान् का लोक ही है। उसी लोक में महिमा का अपने स्वरूप का लाभ होता है। जीव ब्रह्म तो, मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ इसी से हीन हो जाता है। प्रश्न है कि श्वेतद्वीप क्षीर सागर के तीर पर स्थित है-यह प्रसिद्धि है तब यह लोक वैसे कैसे है? इसीलिए श्लोक में ''यत्र सः'' इस प्रकार कहा गया है-पूर्व में एक श्लोक इस प्रकार आया है--

''स यत्र क्षीराब्धि सरति सुरमीभ्यश्च सुमहान्,
निमेषहर्दाख्यो वा व्रजति नहि यत्रातिसमयः।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं,
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये।।''

इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं-प्रसिद्ध अथवा विलक्षण क्षीरसागर सुरभियों (गौओं) से बहता है। अविच्छिन्न प्रवाह रूप से विद्यमान है। ''सुरभीभ्यः'' में जो बहुवचन का प्रयोग किया गया है उसका तात्पर्य है एक सुरभी से बहने वाले क्षीर सागर की तुलना में इसमें अतिरेक है। जहाँ पर महान् द्विपरार्द्ध संख्या वाला संवत्सर भी निमेष के भी अर्द्धभाग अर्थात् अति सूक्ष्म समय के लिए वृन्दावन में प्रवेश नहीं करता है। द्वितीय स्कन्ध में कहा है-जहाँ काल भी प्रवेश नहीं करता है। अथवा कैसा समय? सुमिनापुष्पसमय से इभ्यः-आढ्य-भरपूर। अर्थात् नित्य ऋतुराज वसन्त से सेवित। दशम स्कन्ध में उपलक्षित किया है-वृन्दावन के गुणों के कारण वह वसन्त के समान अथवा वसन्त के रूप में लक्षित होता है। वह वसन्त वहाँ से नहीं जाता है। (उस वसन्त का फल है-प्रेम विशेष लक्षण वाली, उत्तम, प्रिय के सुख में सुख वाली, स्वार्थ रहित युगल सहचरी भावरूपा भक्ति अन्य फलों की यहाँ अभिलाषा नहीं है) एकक्षण के लिए भी वसन्त वहाँ नहीं जाता है क्योंकि वृन्दावन नित्य क्रीडा स्थान है। अथवा व्रज के समान आचरण नहीं करता हैं (न व्रजति) यह प्रकट लीला के अभिप्राय से ही की गई है (व्रज में प्रकट लीला है, प्रकट लीला में काल का प्रवेश होता है (वहाँ

उदय, अस्त आदि सब है) किन्तु दिव्य वृन्दावन में समय का प्रवेश नहीं है इसलिए उसमें न गमन होता है न आगमन होता है न उदय और न अस्त। पुराण में कहा है ''कुञ्जसमुदायगत क्रीडा कभी भी विरतु नहीं होती है'' ''व्यक्तकाल की दृष्टि से पूर्व में यहाँ कहा गया है'' अपनी रमा से रमण किया।'' वृन्दावन में नित्यविहार का ही निर्णय किया गया है।

यत्र च कान्ताः श्रियः ।। सुखमस्यात्मनोरूपमिति श्रीसप्तमात्कस्यात्मसुखस्यान्तः पर्याप्तिः समाप्तिर्यास्विति ।। तत्सुखसुखिन्यः सख्य इति यावत् ।। यत्र कान्तोऽपि परमपुरुषः ।। परमायास्तस्याः श्रीराधायाः पुरुष इव पुरुषः। तन्निदेशसंपादनपेशलः ।। यतः कान्तः सोऽपि तत्सुखसुखीत्यर्थः ।। यत्र च द्रुमाः कल्पतरवः ।। त इव तयोस्तासां चाभीष्टदानसमर्थाः ।।

अब द्वितीय श्लोक ''श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरणे'' की व्याख्या करते हैं (श्लोक पूर्व में आ चुका है) ''यत्र च कान्ताः श्रियः।'' इस श्रीकृष्ण की आत्मस्वरूप ही सुख है। सात सुखों वाले आत्म स्वरूप की जहाँ पर्याप्ति-समाप्ति हो वे उसके सुख में सुखी होने वाली सखियाँ ही कान्ताएँ हैं। जहाँ (वृन्दावन में) कान्त भी परमपुरुष है। परमा जो श्रीराधा के पुरुष के समान पुरुष। उस राधा के आदेश सम्पन्न करने में जो चतुर है। कान्त भी उस (राधा) के सुख में सुखी है। जहाँ के द्रुम भी कल्पवृक्ष हैं। वृन्दावन के वे वृक्ष उन दोनों को अभीष्ट प्रदान करने में समर्थ हैं।

ते च दर्शिताः श्रीशतकेषु ।।

केचित्पीयूषसारैः परिणतरुचयः केचन क्षीरसारै,
र्दिव्यैः सन्निर्मिताः केऽप्यतुलमदकृतामासवानां घनाङ्गाः।
केचिच्छैलोपलाः केऽप्यतिहिमकरकातुल्यरूपा इति,
श्रीवृंदारण्ये द्रुमेन्द्रा दधति बहुविधां राधिकाकृष्णतुष्ट्यै ।।१।।

श्रीराधाकृष्णनर्मोक्त्यनुसरणपरा बिभ्रतः केऽपि शाखा
भूलग्नाः सूनभारा बहुशतपरितो मंडपाकाररम्याः ।
हस्तग्राह्यप्रसूनाह्यथ परशीर्षस्थं च संधारयन्ति
शाखीन्द्रा यत्र धन्या दिशतु मम शिवं सैव वृंदाटवीयम् ।।२।।

केचिन्मा प्राह्निकादप्यतिबहुलरुचश्चंडमार्त्तंडकोटि-

भ्राजाद्दिव्यं प्रभामंडलत उरुरुचः केऽपि कल्पाग्निकोटेः।
केचिद्राकेन्दुकोट्युज्वलशिशिरलसच्चंद्रिकाचारुरोचिः-
पुंजा गुंजाभिरामद्युतिविततिमहामंजुलाः केऽपि यत्र ।।३।।
केचिद्विद्योतमाना द्युतिभिरगणितोद्दीप्तविद्युल्लतानां
विस्फूर्जद्दिव्यकोट्यः कनकमणिमहास्वच्छभासोऽपि केऽपि।
केचिद्बालप्रवालाधिकललितमहः कंदलीसुंदराङ्गाः
केचिन्निर्भान्त्यनंतद्रुतकनकरुचोहरिहारत्विषोऽन्ये ।।४।।
केऽपि प्रोत्फुल्लदिव्यस्थलकमलरुचः केऽपि नीलोत्पलाभाः
केचित्कीरानुकारिच्छविनिकरचिताः केऽपि काश्मीरभासः।
केचिद्भिन्नांजनाभा मरकतमणिवत्केचिदत्युज्वलाभाः
केचित्सत्पाटलप्रोच्चयरुचिररुचोऽन्ये जवापुष्पभासः ।।५।।
इत्थं स्वानन्दसच्चिद्रसघनवपुषो यत्र शाखीन्द्रवृंद-
स्याश्चर्य्या वर्णभेदा अथ विविधरुचां वीचयो दुर्निरूपाः।
आकाराणां प्रकारा अतिपरमचमत्कारिणः पत्रपुष्पा-
द्यत्याश्चर्येकसीम्नः स्फुरतु मम सदा सैव वृंदाटवीयमिति ।।६।।

उनके इस स्वरूप का वर्णन श्रीशतक में है:--

वृन्दावन में श्रीराधा और कृष्ण की सन्तुष्टि के लिए श्रेष्ठ वृक्ष बहुविध रूपों को धारण करते हैं-उनमें कुछ वृक्ष तो अमृत के सार से परिणत कान्ति वाले हैं, कुछ दिव्य क्षीर सागर से निर्मित है, कुछ अतुलनीय मद प्रदान करने वाले आसवों के घनीभूत अङ्ग है, कुछ पर्वताकार है, कुछ अत्यन्त ठण्ड प्रदान करने वाले हैं।।१।।

कुछ वृक्ष फूलों के भार से लदे हुए भूमि तक झुके हुए है। इनकी शाखाएँ श्रीराधाकृष्ण की नर्म उक्ति के अनुसरण में तत्पर हैं। इन वृक्षों के चारों ओर रमणीय मण्डप की आकृतियाँ बनी हुई हैं। ये अपने शिर पर एवं हस्तग्राह्य भी पुष्प धारण करते हैं। ऐसे धन्य वृक्ष जहाँ पर हैं वह वृन्दावन की अटवी मेरे लिए मङ्गल प्रदान करें।।२।।

जहाँ कुछ वृक्ष मध्याह्न काल से भी अधिक कान्ति वाले है, कुछ करोड़ों प्रचण्ड सूर्यों से भी अधिक चमकदार हैं, कुछ कल्पाग्नि से भी अधिक प्रकाश मण्डल को धारण करते हैं, कुछ वृक्ष उज्ज्वल एवं ठण्ड को

धारण करने वाले करोड़ों चन्द्रमाओं की चाँदनी से भी अधिक कान्ति वाले है, कुछ गुञ्जा के सदृश महाद्युति वाली लताओं से अत्यधिक शोभित हैं।।३।।

वृन्दावन के कुछ वृक्ष अगणित उद्दीप्त विद्युत् लताओं की कान्ति से द्योतमान हैं, कुछ चमकती हुई दिव्य करोड़ों कनक मणियों की महान् स्वच्छ कान्ति वाले हैं, कुछ प्रवाल से भी अधिक ललित शोभाशाली हैं, कुछ सुन्दर कन्दलियों से शोभित है, कुछ अनन्त चमकते हुए स्वर्ण की कान्ति वाले हैं तथा अन्य वृक्ष हीरों के हार से सदृश आभा वाले हैं।।४।।

कुछ वृक्ष खिले हुए दिव्य स्थल कमल की कान्ति वाले हैं, कुछ नील कमलों की आभा वाले हैं, कुछ वृक्ष तीते का अनुसरण करने वाली कान्ति समुदाय से खचित हैं, कुछ केसर की आभा वाले हैं, कुछ दमकते हुए अञ्जन की आभा वाले हैं, कुछ मरकत मणियों से भी उज्ज्वल चमक वाले हैं, कुछ पाटल वृक्ष से भी उच्च कान्ति वाले हैं तथा कुछ जवा पुष्प की कान्ति वाले हैं।।५।।

इस प्रकार अपने चित् और आनन्दघन शरीर वाले वृक्षवृन्द का आश्चर्यकारी वर्णभेद है, इनकी विविध कान्ति वाली तरंगे अनिरूपणीय हैं, इनके आकारों के प्रकार की परम चमत्कारी हैं, इनके पत्र-पुष्प भी आश्चर्य की सीमा से भी परे हैं, ऐसी वृन्दाटवी मेरे लिए सदा स्फुरित है।।६।।

यत्र च भूमिश्चिंतामणिगणमयी सापि तथैव।। तांबूलपान-केत्यादिना प्रागेवदर्शिता।। यत्र च तोयममृतम्।। तच्च मुक्तप्रग्रहयावृत्त्या-ऽधरामृतमाख्याति।।

यत्र च कथा सुरतालापः।। स च पंचधा।। तत्रैको मिथः प्रियकृर्तृको यथा कर्णानन्दे--

विश्रम मुग्धे क्षणमिहशयने-वर्ज्जय चंचल चपलितपाणी
कश्चरणौ ते सुमुखिसुखयिता-मा खलुकैतव तरलय वाचम्।
कस्तव गाता गुणगणमखिलं-को न पुरः कथयति हितमर्थी
कस्त्वदृतेऽर्थोऽधिमदिति मिथुनं जल्पिमिथःस्मर हृदयनिकुंजे।।१।।

यथा वा शतकेषु--

कान्ते मन्मतिहृत्सुमंजुलकुचाद्युच्छ्रीरियं-सेव्यताम्

सैव, त्वं यदि सुप्रसीदत्ति, मम प्रीतिः परागम्यताम्।
तत्कुंजं, निमिषं त्वया तु न विना जीवाम्यहो व्याहति-
र्वृन्दाटव्यनुगा इति स्मर कथाः श्रीराधिकाकृष्णयोः ।।२।।

जहाँ की (वृन्दावन की) चिन्तामणियों के समूह से भरी हुई भूमि भी वैसा ही मनोरम है। इसका वर्णन ''ताम्बूल पानक'' इत्यादि श्लोकों में पहले ही किया गया है। जहाँ का जल अमृत है। यह अमृत मुक्तप्रग्रहवृत्ति से ''अधरामृत'' को इङ्गित करता है। जहा सुरतालाप ही कथा है। वह पाँच प्रकार का होता है (सुरतालाप पाँच प्रकार का होता है)।

प्रथम सुरतालाप (रति क्रीडा का संभाषण) प्रियकर्तृक प्रेमी प्रेमिका का संवाद है। जैसे कर्णानन्द में--

हे मुग्धे! इस शयन पर तनिक विश्राम करो। अपने चंचल चपलित हाथ को रोको। हे सुमुखि! तुमहारे चरणों को कौन सुख प्रदान करने वाला है? अपनी कितवता से चञ्चल वाणी मत बोलो। तुम्हारे समस्त गुण समुदाय का कौन गान करने वाला है, कौन याचक सामने हित की बात नहीं कहता है। तुम्हें छोड़कर क्या अर्थ-प्रयोजन है-इस प्रकार मिथुन के परस्पर वार्तालाप को हृदय के निकुञ्ज में स्मरण करो।।१।।

अथवा शतक में--

हे कान्ते! मेरी मति का हरण करने वाली समुज्जुल कुचों से उद्गत होने वाली यह वहीं शोभा है इसे तुम धारण करो। यदि तुम प्रसन्न होती हो तो मेरी प्रीति भी पराकाष्ठा को प्राप्त हो। तुम्हारे बिना मैं निमिष मात्र भी नहीं जी सकता, इस प्रकार श्रीराधा और श्रीकृष्ण की वृन्दाटवी में व्याप्त होने वाली कथाओं का स्मरण करो।।२।।

द्वितीयः प्रियाकर्त्तृकः सखीकर्मको यथा तत्रैव ।।
सखि तरुणतमालः कश्चिदस्मिन्निकुंजे
वरकनकलतावत्कौतुकात्पर्यरंभि ।
अहह स तु बलान्मे पश्यताकारि किंवा
कथमिव कुटिला मे प्रत्ययं यान्तु सख्यः ।।१।।
अन्यानन्यान् केशबन्धप्रकारानन्यानन्यान् पत्रभंगीविभेदान्
अन्याअन्या माल्यवस्त्रादिभूषाः कुर्वन्नास्तेरात्र्यहस्त्वत्सखा मे ।

नित्यं मन्मुखसम्मुखं मुखविधुं धत्तेऽनिमिषेक्षणो
नित्यं मन्मुखमेव पश्यति ममैवाजस्रगोष्ठीपरः।
आधायैव शयीत मां हृदि मयैवावर्त्तयेत्पार्श्वकम्
सख्युस्ते सखि सर्वनागरमणेः प्रीतिः कथं वर्ण्यताम्।।२।।
अपि च।। प्रियसखि ममवृत्तं पृच्छ मा भाग्यमीदृक्
क्वनु मम कथयेयं त्वय्यहं तान् विलासान्।
धृतवति करमेव श्यामले क्वास काहं
किमिव चकर कोऽसौ किं व्यधान्न स्मरामि।।३।।
किञ्च।। वेणीं गुम्फति दिव्यपुष्पनिचयैः सीमंतसीमन्यहो
सिन्दूरं निदधाति कज्जलमयीं निर्मातिरेषां दृशोः।
दिव्यं वासयते दुकूलमसकृत्ताम्बूलमप्याशये-
दित्थं भूतरतिः सखा तव न मां तल्पे निधत्तेऽङ्कतः।।४।।

द्वितीय प्रकार का सुरतालाप है प्रिया कर्तृक सखीकर्मक (प्रिया के द्वारा सखी को कहा गया सुरतालाप) जैसे शतक में ही--

हे सखि! मुझे देखते हुए उसने (नायक ने) इस निकुञ्ज में किसी तमाल के वृक्ष का आलिङ्गन न किया, अहह उसका उसने न जाने क्या किया, किन्तु ये मेरी कुटिल सखियाँ मेरी बात पर विश्वास कैसे करें।।१।।

हे सखि! तुम्हारे सखा कभी भिन्न-भिन्न प्रकार के केश बन्धनो, कभी नाना प्रकार की शरीर पर की जाने वाली चित्रकारी से कभी अन्य-अन्य प्रकार की माला-वस्त्रभूषा आदि से रात-दिन मेरा शृङ्गार करते रहते हैं।

हे सखि! समस्त नागरिकों के शिरोमणि तुम्हारे सखा की प्रीति का वर्णन कैसे करें? क्योंकि वे नित्य प्रतिक्षण अपना मुखचन्द्र मेरी मुख के सामने रखते हैं, नित्य मेरे मुख को ही देखते रहते हैं, निरन्तर मेरे साथ ही संवाद करते रहते हैं, मुझे हृदय पर धारण करके शयन करते हैं अपनी करवट भी मेरे साथ ही बदलते हैं।।२।।

और भी--

हे प्रिय सखि! मेरे विषय में तो तुम पूछो ही मत, मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि मैं अपने विलासों को तुम्हारी उपस्थिति में कह सकूँ। हे सखि मेरे

श्यामल शरीर पर हाथ ही रखते, यह कौन है? मैं कौन हूँ? इसने कैसे क्या किया यह सब कुछ मुझे स्मरण नहीं है।।३।।

और भी--

हे सखि! तुम्हारे सखा, आश्चर्य है कि दिव्य पुष्पों के समूह से मेरी वेणी गूंथते हैं, सिन्दूर भरते हैं, आँखों में कज्जल की रेखा बनाते हैं, अनेक बार दिव्य वस्त्र पहनाते हैं, मुख में ताम्बूल रखते हैं, इस प्रकार से आनन्दित होते हुए तुम्हारे सखा अपनी गोद से मुझे पलङ्ग पर नहीं रखते हैं।।४।।

तृतीयो मिथः प्रियासखीकर्तृको यथा।।

श्रीवृंदारण्यवीथ्यामयि सखि कलयाश्चर्य्यपुंनागशोभाम्
लोभादत्रैव नेत्रे मम रसविवशे खेलतोऽन्यत्र नैतः।
एतं नित्यं मम स्थापय करनिकटेऽनेकसम्यग्गुणं च
प्रेम्णा संग्रथ्य कंठादिषु विनिदधती स्वेन संमोदिनी स्याम्।।१।।
राधे तारल्यमेवं न कुरु हृदि समाधेहि गंभीरभावम्
लज्जां किंचित्सखीभ्यः कुरु पुरुषवरस्त्वत्पदाब्जं दधातु।
क्रूरे पुन्नागनामद्रुमकुसुममियं वक्ति तत्रान्यथा ते
शंकाऽऽस्तां नेति राधागिरमनु तदिमामुक्तिमाल्याः स्मरामि।।२

अपि च।।

श्रीवृन्दावनवीथिकासु कुसुमेषूच्चैर्ग्रहावेशतो
राधे त्वं तरलाऽस्यतीव यदहो शश्वत्सखीनां पुरः।
संगृह्य प्रियकं मनोज्ञतिलकं सद्बन्धुजीवं रह-
स्युत्सङ्गे स्वयमुन्मदा च पुरतो भृंगान्मुधा भ्राम्यसि।।३।।
मिथ्यावादिनि किं मुधा प्रलपसि प्रत्यक्षमेतत्कथम्
सख्यः पश्यत किं तदाह यदियं किं वाह सा पृच्छ्यताम्।
एवं सत्यमिदं कथं प्रकुपितास्येवं सखीनां गिरा
नासाग्रार्पित तर्जनीकमहसद्राधा शिरः कंपिनीति।।४।।

यथा वा अलंकारकौस्तुभे --

वनं निधुवनं नाम क्व नाम सखि वर्त्तते।
यदर्थं तव कृष्णोऽयमुन्मना दुर्मनायते।।५।।

सुरतालाप का तृतीय प्रकार है प्रिया सखी कर्तृक कालाप जैसे--

अयि सखि! वृन्दावन की गली में आश्चर्यकारी सफेद कमल की शोभा का विस्तार करो। इस शोभा के लोभ से यहीं रस में विवश मेरे नेत्र रमण करते हुए अन्यत्र नहीं जाता है। अनेक गुण वाले इस कमल को मेरे हाथ के समीप ही स्थापित करो। प्रेम से गूंथकर कण्ठ आदि में धारण करती हुई मैं अपने आप में संमोद (आनन्द) वाली हो जाऊ (या सम्पत्ति वाली हो जाऊँ)।।१।।

हे राधे! हृदय में चञ्चलता मत रखो, गम्भीर भाव को धारण करो। सखियों से कुछ लज्जा करो। श्रेष्ठ पुरुष तुम्हारे चरण कमल को धारण करे जो सफेद कमल के पुष्प जैसा है, ये बाते यह सखी कह रही है-अन्यथा तुम्हें मेरे विषय में शंका होगी, नहीं-राधा के ऐसा कहने पर सखी की कही गई इस उक्ति का स्मरण करती हूँ।।२।।

और भी--

राधे! वृन्दावन की वीथिकाओं (गलियों) में उच्च ग्रहों के आवेश कारण सखियों के सामने ही फूलों पर चञ्चल सी हो रही हो। बन्धु जीव के प्रिय और मनोज्ञ तिलक पुष्पों को एकान्त में अपनी गोद में संगृहीत करके सबके सामने मदवाली हो रही हो, भ्रमरों को व्यर्थ ही भ्रमण करा रही हो।।३।।

हे मिथ्यावादिनि! क्यों व्यर्थ प्रलाप कर रही हो। यह सब प्रत्यक्ष कैसे है? हे सखियों देखो-उसने क्या कहा? इसने क्या कहा? यह उसे पूछा जाना चाहिए।

यह सत्य है तुम कुपित क्यों हो रही हो? सखियों की इस वाणी से शिरः कम्पन करने वाली राधा अपनी नाक के अग्रभाग पर तर्जनी रखते हुए हँसी।।४।।

अथवा अलंकार कौस्तुभ में:--

हे सखि! निधुवन नाम का वन कहाँ है जिसके लिए तुम्हारा यह कृष्ण उन्मना होते हुए दुःखी हो रहा है।।५।।

अथ च चतुर्थः सखीपरस्परकर्त्तृको यथा श्रीगोविन्दलीलामृते-माधव्याः श्रीर्माधवेनैव रम्या माधव्यैवोत्फुल्लया माधवश्रीः। इत्यन्यो-न्यश्रीसमुल्लासहेतू एतौ धातुर्युजतोऽभिज्ञतासीत्।।

यथा वा शतकेषु--

अद्यातिचित्रमहमत्र विलोक्य मुग्धा
मुग्धाक्षि कोऽपि कमनीयकलं निकुंजे।
सत्पद्मिनी कनकमय्यतिदिव्यलीला
नीलेन्दुबिंबमभिचुंबति पंकजेन।।१।।

संचारिणीकाचनहेमवल्ली व्यलोकि वृंदावनसत्तमाले।
सा कांचनाद्रिद्वितयं दधाति तत्रापि दृष्टा बहवोऽर्धचंद्राः।।२।।

यथा वा।।

ध्यायन् कांचन कांचनीं सुललितां संचारिणीं पद्मिनीम्
सोल्लासं प्रसरत्करो रमयितुं तामेव रात्रिंदिवम्।
नीलः कश्चन चन्द्रमाः सखि चतुःषष्टेः कलानां निधिः
श्रीवृंदावनदिव्यकुंजकुहरध्वान्तान्तरे ताम्यति।।३।।

अपि च।।

सा विद्युल्लतिका चमत्कृतिवती काचिन्न राधा स चां-
भोदः कोऽपि विजृंभते स्म न पुनः श्रीराधिकावल्लभः।
लीलादैवतयोस्तयोर्नवलतासद्मन्यहो स्यात्सखी
यत्रान्यां प्रतिबोध्य कामपि मुदा संतोषयेद्राधिकाम्।।४।।

अन्योक्त्येति भावः

अपि च।।

एतत्किं विधुमंडलं विलसते नाङ्के कलङ्कं नु किं
वृंदारण्यविलासिनी सुवदनं किंवा सुबिंबाधरम्।
स्यादेवं सखि किन्त्वमुष्य दशदिग्व्यापिप्रभामंडलं
स्वाभाव्यात्कथमित्यकुर्वतकथां यत्रेति राधालयः।।५।।

चौथे प्रकार का सुरतालाप सखियों के परस्पर संवाद रूप होता है- जैसे गोविन्दलीलामृत में:--

श्रीमाधव से ही माधवीलताएँ रमणीय हैं तथा कुसुमित माधवीलता से ही माधव की शोभा है।

एक दूसरे की शोभा के उल्लास के हेतु इन दोनों को मिलने वाले ब्रह्मा की समझदारी थी।

अथवा शतक में:--

हे मुग्धाक्षि! आज निकुञ्ज में अतिदिव्य लीला वाली, स्वर्ण आभावाली सत्पद्मिनी कमल के साथ नीले चन्द्र बिम्ब को चूम रही है इस कमनीय शोभा वाली अति विचित्र स्थिति को देखकर मैं मोहित हो गई।।१।।

वृन्दावन के तमाल के कुञ्ज में उसने (नायक में) कोई सञ्चरणशील हेमवल्ली-स्वर्णलता (नायिका) देखी वह नायिका भी स्वर्ण के दो पर्वतों को धारण करती है और वहाँ पर भी बहुत से अर्द्धचन्द्र देखे गए (यहाँ हेमलता-नायिका की देह है दो स्वर्ण पर्वत उसके पयोधर है तथा अर्द्धचन्द्र ललाट हैं)।।२।।

जैसे और--

हे सखि! स्वर्ण आभावाली, सुललित, सञ्चरणशीला, किसी पद्मिनी का रात-दिन ध्यान करता हुआ, उसे ही रमण कराने के लिए उल्लास पूर्वक हाथ फैलाने वाला चौंसठ कलाओं का निधि चन्द्रमा श्रीवृन्दावन के दिव्य कुञ्जों कुहर के अन्धकार में नीला हुआ दुःखी हो रहा है।।३।।

और भी--

वह राधा नहीं है चमकने वाली कोई विद्युल्लता है, वह श्रीकृष्ण नहीं है अपितु यह मेघ जम्भाई ले रहा है इस प्रकार नवीनलता गृह में उन दोनों देवताओं की आश्चर्यकारी लीला है-ऐसा किसी सखी ने अन्य सखी को बतलाकर प्रसन्नता से राधा को सन्तुष्ट किया।।४।।

और भी--

हे सखि! जहाँ राधा का निवास है वहाँ इस श्रीकृष्ण की दश दिशाओं में व्याप्त होने वाली प्रभामण्डल के विषय में इस प्रकार कथा-चर्चा हो रही है कि क्या यह चन्द्रमण्डल चमक रहा है? किन्तु इसकी गोद में कलङ्क नहीं है। क्या यह वृन्दावन में विलास करने वाली श्रीराधा का सुन्दर वदन है अथवा क्या यह सुन्दर बिम्बाधर हैं।।५।।

अथ पंचमः कीरादिकर्तृको यथालंकारकौस्तुभे।।

मम श्रोत्रे शब्दः सुरतमिति हे कृष्ण न गतः
सखीम्यो याचित्वा यदि भवति दास्यामि भवते।

इति स्वोक्तं प्रातः शुकयुवतिभिर्भाषितमसौ
कयेदं वः प्रोक्तं वच इति सखीष्वेव निदधे ।।१।।
शतकेषु ।।
किं मां खेदयसे विमुंच वसनं तल्पोत्तमेऽस्मिन्सुखे-
नागत्य स्वपिहि त्यज त्यज भुजं श्लिष्यामि कान्तेऽसकृत् ।
आः किं निर्दय मुंच मुंच न किमप्यापीडये राधिका-
कृष्णालापमिमं कदा नु शृणुयां वृंदाटवीकीरतः ।।२।।
इदमेव वाकोवाक्यमित्युच्यते ।। यथा वा ।।
कान्ते तल्पमिदं कृतार्थय नहि प्रेष्ठेऽपराधोऽस्य कः
श्यामत्व-छुरितं न भद्रमयि किंवक्ष्यामि तत्ते कियत् ।
क्षन्तव्यं सकलं नहि त्यज पदं त्वद्भुक्ततल्पे स्वपी-
म्यंघ्री ते परिलालये न निपुणोऽस्याशिक्ष्यतां किंकरः ।।३।।
नष्टा ते खलु बुद्धिरुन्मद नहि त्वं तामहार्षीर्हृता
क्व स्वाङ्गे वद यत्र किं मम करं चोल्यन्तरे निक्षिपः ।
अत्रैवेति शुकार्भकान्निगदतो हुंकारपुष्पाहतैः
स्मित्वोपालिनिवारयन्त्यवतु मां राधात्र वृंदावने ।।इत्यादि।।४।।

पाँचवा प्रकार सुरतालाप शुक आदि पक्षि-कर्तृक होता है जैसे अलंकार कौस्तुभ में:--

हे कृष्ण! मेरे कान में सुरत-यह शब्द नहीं गया है। यदि सम्भव हुआ तब सखियों से याचना करके आपको यह शब्द देऊँगी। इस प्रकार अपने द्वारा उक्त को प्रातः शुक-युवतियों ने जब कहा तब उसने उनसे पूछा, यह शब्द किस ने तुम्हें कहा है, तब स्वयं ही ने सखियों में-यह पद रख दिया।।१।।

शतक में:--

मुझे क्यों खिन्न कर रहे हो, मेरे वस्त्र को छोड़ो, इस उत्तम शय्या पर सुख पूर्वक आकर सो जाओ, मेरी भुजा छोड़ो, हे कान्ते। मैं तो आलिङ्गन कर रहा हूँ, यह क्या हे निर्दुय छोड़ो-छोड़ो, मैं तो कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचा रहा हूँ-इस प्रकार श्रीराधा और कृष्ण के आलाप (सम्वाद) को वृन्दावन के तोते के मुख से कब अनेक बार सुनुँगा।।२।।

इस प्रकार वार्तालाप को ही वाकोवाक्य कहते हैं।

अथवा जैसे अन्यः--

हे कान्ते! इस शय्या को कृतार्थ करो, हे प्रिय! इस शय्या का कोई अपराध नहीं है। अरे! श्यामत्व से से भरे वाक्य उचित नहीं है। हे प्रियो! मैं तुम्हें क्या कहूँ और कितना कहूँ। सब क्षमा करो। मेरे पैर छोड़ो। नायक कहता है मैं तुम्हारे द्वारा उपमुक्त शय्या पर सोता हूँ। तुम्हारे पैर सहलाता है, यह सेवक इस कार्य में निपुण नहीं है तुम शिक्षित करो।।३।।

तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गई है, उन्माद मत करो। तुम उसको (चोली को) ले गए हो। (यह राधा की उक्तियाँ है)। (श्रीकृष्ण) कहाँ हरण करली। (राधा) तुम्हारे अङ्ग में, कहो जहाँ क्या है (अर्थात् तुम्हारे अङ्ग में चोली से छिपाने के लिए क्या है) हे कृष्ण मेरा हाथ चोली में डालो, (क्या यहीं) हाँ यहीं, हे सखि (इस प्रकार रात्री के वार्तालाप को) कहते हुए तोते के बच्चे से पुष्पाहत और हुंकार से मुस्कुरा कर मुझे दूर करती हुई राधा इस वृन्दावन में मेरी रक्षा करे।।४।।

तदेतच्च गानमिव कर्णामृतमित्यर्थः ।। यत्र च भ्रमणं अर्थादङ्गनां सुरतसमयेइतस्ततः प्रक्षेपस्तदपि नाट्यमिवानन्दजनकम् ।। तच्चदर्शयिष्यते ।। न तु रासलास्यादिकमन्यत् ।। अतिरहोविहारास्पदत्वात् ।। यत्र प्रियसखी नित्यसहचरीवंश्येव ।। अहोभाग्यमेतस्याः न यत्र कस्यापि गतिस्तत्राप्येषातितरामास्वादयत्येतयोः सुखम् ।। एतेन सुरतसहायिनीतिध्वनितम् ।। यत्र च ज्योतिश्चन्द्रार्करूपं तदपि चिदानंदमेव ।। चिच्च आनन्दश्च तयोः समाहारः ।। तत्रोभयोश्चेतनावस्थाअर्कः ।। आनंदानुभवावस्था च चन्द्र इतिविवेकः ।। न तु लौकिकचन्द्रादि ।।

अतएव वैलक्षण्येनोक्तं श्रीगौतमीये समानोदित चन्द्रार्कमिति ।। सततविहार-विष्टत्वादुभयोः ।। यतश्च समयो न व्रजतीत्युक्तम् ।। न तद्भासयतेसूर्य्यो न शशांको न पावक इति श्रीगीतोक्तेः ।। न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति श्रुतिश्चात्र सहायिनी। तदिति समानपदोपादानादुमयोरेकीभावो.. द्योत्यते ।। यद्वा सर्वं तत्र रसात्मकमिति श्रीपंचरात्रोक्त्या चिदानन्दात्मकानां कल्पपादपानामेव

तादृशत्वमित्यर्थः ।।

ब्रह्मसंहिता में आये हुए श्लोक ''कथा गानं नाट्यं भ्रमणमपि''-की व्याख्या करते हुए लिखा है-तो इस प्रकार के वचन गान के समान कर्णामृत हैं। जहाँ का भ्रमण अर्थात् सुरतसमय में अङ्गों का इधर-उधर प्रक्षेप करना भी नाट्य के समान आनन्द जनक है। वह दिखलाऐंगे। रासलास्य आदि अन्य कुछ नही है (आनन्दजनक मात्र है) अत्यन्त विहारास्पद है। जहाँ वंशी ही नित्य सहचरी प्रियसखी है। यह वंशी का अहोभाग्य है जहाँ किसी अन्य का प्रवेश नहीं है वहाँ पर भी यह श्रीराधा और कृष्ण को अतिशय सुख पहुँचाती है, इससे यह ध्वनित होता है कि यह सुरत में सहायिका है। जहाँ की चन्द्र-सूर्य ज्योति भी चिदानन्दरूप है। चित् और आनन्द का समाहार चिदानन्द है। इसमें दोनों की चेतन अवस्था तो अर्क (सूर्य) है तथा आनन्दानुभव की अवस्था चन्द्र है-यह विवेक है। न कि लौकिक चन्द्र और सूर्य।

इसीलिए गौतमीय में वैलक्ष्यपूर्वक कहा गया है-चन्द्र और सूर्य समान रूप से उदित है। सतत विहार के लिए दोनों ही इष्ट हैं (सतत विहार के लिए चेतन और आनन्द अवस्था निरन्तर आवश्यक हैं) पूर्व में कहा था कि वृन्दावन में समय का प्रवेश नहीं है।

श्रीगीता में कहा है-उसे (परमात्तत्त्व को) न तो सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि प्रकाशित करता है। वहाँ सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र तारे, न यह विद्युत्, और कहाँ यह अग्नि। उसी के (परमात्म के) प्रकाशमान रहते यह सब प्रकाशित होता है, उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है, यह श्रुति भी इस विषय में सहायक है।

इस प्रकार समान पदों के ग्रहण करने से दोनों (श्रीराधा-कृष्ण) का एकीभाव द्योतित होता है अथवा पञ्चरात्र की उक्ति के अनुसार वृन्दावन में सब रसात्मक है, कल्पवृक्ष भी वहाँ चिदानन्दरूप हैं।

तदुक्तं श्रीरुद्रयामले-

वीथ्यां वीथ्यां निवासोऽधरमधुसुवचस्तत्रसांतानकाना-
मेकेराकेन्दुकोट्यातपविशदकरास्तेषुचैकेकमन्ते ।
रामे रात्रेर्विरामे समुदिततपनद्योतिसिन्धूपमेया,

रत्नाङ्गनां सुवर्णाचितमुकुररुचस्तेभ्य एके द्रुमेन्द्राः ।।
यत्कुसुमं यदा मृग्यं यत्फलं च वरानने ।
तत्तदेव प्रसूयन्ते वृन्दावनसुरद्रुमाः ।।

अनयोरर्थः--हे अधरमधुसुवचः ।। अधरमधुतुल्यानि सुवचांसि यस्यास्तथाभूते गौरि ।। तत्र श्रीवृंदावने रत्नांगानां सांतानकानां मध्ये एके द्रुमेन्द्राः राकेन्दुकोट्यातपविशदकराः ।। पूर्णचन्द्रकोटिप्रकाशसदृशा विशदा उज्ज्वलाः कराः किरणा येषामिति ।। राकेन्दुकोटावपि सातपा विशदा उज्ज्वलाश्च करा येषां ।। राकायां रात्रावपि दिनकर प्रतिभानं तयोरिच्छया भवतीत्यर्थः ।। हे रामे ।। गौरि ।। यद्वा, आरामे विहारवन इत्यर्थः ।। योगः संयोग इतिवत् ।। अथवा ।। रमणं रामः ।। विहार इति यावत् ।। तस्मिन् सति ।। तेषु सांतानकेषु ।। एके रात्रेर्विरामे समुदित तपनद्योतिसिन्धूपमेयाः ।। सम्यगुदितः ।। तेन पूर्वोक्तपूर्ण-चन्द्रेण मिलितो वा ।। तपनस्तस्य द्योत इव द्योतोऽस्ति येषु ।। तावालक्ष्य द्रुमेभ्यः कल्लोला व्युच्चरन्ति ततस्ते द्रुमेन्द्राश्चन्द्रोदये सिन्धूनामुपमा येषां तथाभूता भवन्ति ।। एवं कमन्ते ।। राजन्ते । तेभ्यस्तानतिक्रम्य एके कमन्ते ।। किं भूताः ।। सुवर्णाचितमुकुररुचः ।। एते द्रुमेन्द्रा एव दर्पणमंदिररुच इत्यर्थः ।। यत्र च यत्कुसुमं मृग्यं भवति ।। यदा च सत्फलं मृग्यं भवति ।। तदैव तद् वृंदावनसुरद्रुमाः प्रसूयन्त इत्यर्थः ।। जनाजीव्यमित्यादिश्रीदशमोक्तेः ।। एवं चर्तूनामपि तयोरिच्छयैव तत्र प्रचारो न तु कालादिनियम इति दर्शितम् ।।

श्रीरुद्रयामल में कहा है:--

अधरामृत के तुल्य मधुर वचन वाली हे गौरी! वृन्दावन के रत्नाङ्ग एवं विस्तार में फेले हुए वृक्षों में से कुछ वृक्ष करोड़ों पूर्ण चन्द्रों के समान कान्ति वाले हैं अथवा उन चन्द्रमाओं की उपस्थिति में वे आतप से देदीप्यमान कान्ति वाले रात्रि में भी सूर्य के सदृश आभा वाले हैं। ऐसे वृक्ष प्रत्येक कतार में है। हे गौरी! रात्रि के बीतने पर भी चन्द्र सदृश चाँदनी से वे द्योतित होते हैं, वे वृक्ष सागर के समान हैं क्योंकि उन्हीं से तरङ्गे उठती रहती हैं। उनमें से कुछ श्रेष्ठ वृक्ष दर्पण की कान्ति के सदृश कान्ति वाले हैं तथा शोभित होते हैं।

हे वरानने! जो पुष्प और फल ढूँढा जाता है वृन्दावन के सुरद्रुम उनको ही प्रकट कर देते हैं।

उन दोनों श्लोकों का अर्थ करते हैं:--

हे अधर के मधु के तुल्य वचन वाली गौरि! वृन्दावन में रत्नों के अङ्ग वाले विस्तृत वृक्षों में कुछ वृक्ष रात्रीकालीन करोड़ों चन्द्रमाओं के प्रकाश के समान विशद किरणों वाले हैं। पूर्णचन्द्रकोटि के प्रकाश के समान विशद उज्ज्वल किरणें जिनकी हैं। करोड़ों रात्रीकालीन चन्द्रमाओं की उपस्थिति में भी जिनकी किरणें उज्ज्वल-विशद हैं। उन दोनों (श्रीराधाकृष्ण) की इच्छा से रात्रि में भी सूर्य की प्रतीति होती है-यह अर्थ है) हे रामे! हे गौरी! अथवा-रामे का अर्थ आराम में विहार वन में-यह भी किया जा सकता है-अर्थात् विहारवन में ऐसे वृक्ष हैं। योग अर्थात् संयोग अर्थ है अथवा रामे का अर्थ राम का अर्थ हुआ रमण-विहार। विहार होने पर (राधाकृष्ण का विहार होने पर) उन कतारबद्ध वृक्षों में कुछ रात्रि के समाप्ति पर विद्यमान तपन से द्योतित होने वाले सिन्धु के सदृश हैं। अथवा पूर्वोक्त पूर्ण चन्द्र से मिलित हैं। तपन (सूर्य) के द्योत प्रकाश के समान है प्रकाश जिनमें। उन राधा-कृष्ण को लक्षित करके ही उन वृक्षों से तरङ्गे उठती हैं। तब वे वृक्ष चन्द्रोदय होने पर सिन्धु के सदृश हो जाते हैं। इस प्रकार सुशोभित होते हैं। ऐसे में से भी कुछ उनसे भी बढकर शोभित होते हैं। किस प्रकार होकर? ये वृक्ष दर्पण के मन्दिर के समान कान्ति वाले होते हुए उनसे बढकर हैं।

जहाँ वृन्दावन में जो पुष्प खोजा जाता है, जो भी फल ढूंढा जाता है, उसी के वे सुरद्रुम प्रसूत कर देते हैं। श्रीदशम स्कन्ध की उक्ति के अनुसार वृन्दावन जन के लिए आजीव्य है। इस प्रकार ऋतुओं का भी प्रसार राधाकृष्ण की इच्छा के अनुसार होता है न कि काल के नियम से।

यदाहुः श्रीप्रबोधाः--

क्षणाच्छरदुपागमं क्षणत एव वर्षागमम्
क्षणात्सुरभिवैभवं क्षणत एव चान्यर्त्तुमत्।
सदाजनितकौतुकं किमपि राधिका-कृष्णयोः
स्मर प्रतिपदोल्लसद्रसमयं श्रीवृंदावनम्।।इति।।१।।

तथा--

राधाकृष्णौ यल्लतापादपानां चित्त्वा पुष्पादिकमुरुविधं श्लाघमानौ पुषाते।

स्नानाद्यं यत्सरसि कुरुतः खेलतो यद्गाह्यौ
वृंदारण्यं परमपरमं तन्न सेवेत को वा।।२।।
तेषां नामनिरुक्तिरपि तत्रैव यथा--
द्रवन्तिहरिभावतस्तरणतारणेऽतिक्षमा- -
स्ततो द्रुमतरुप्रथा व्रततयश्च कृष्णव्रताः।
स्फुरन्ति हरिणा इह प्रकटकृष्णसारप्रथा
मृगाश्च पदमार्गिणः प्रविलसन्ति वृंदावने।।३।।

जैसा कि प्रबोधानन्दजी ने कहा हैः-

श्रीराधाकृष्ण को कुछ सदा ही कौतुक पैदा करने वाले प्रतिपद पर भिन्न-भिन्न समय वाले वृन्दावन का स्मरण करो जहाँ क्षणभर में शरद् का आगमन, क्षणभर में वर्षा का आगम, क्षणभर में वसन्त का वैभव और क्षणभर में किसी अन्य ऋतु का आगमन होता है।।१।।

औरः--

श्रीराधाकृष्ण जिन लता-पादपों के पुष्प आदि चयन करके अनेक प्रकार से प्रशंसा करते हुए आनन्दित होते हैं, जिस सरोवर में स्नान आदि करते हैं, जिसमें अवगाहन करके जल क्रीड़ा करते हैं वह वृन्दारण्य परम से भी परम है, उसका सेवन कौन नहीं करें-अर्थात् सभी उसका सेवन करें।।२।।

उन (वृक्ष, लता आदि) के नामों का निर्वचन भी वहीं (प्रबोधानन्द के श्लोकों में) है-जैसे--तरण-तारण में जो अति सक्षम हों वे तरु, कृष्ण का व्रत रखने वाली व्रतवर्ती (व्रतती-लता-कृष्णव्रताः) हरि (कृष्ण) से स्फुरित होने के कारण कृष्णसार (काला मृग) कहा जाता है, और श्रीराधाकृष्ण के पदचिह्नों को खोजने वाले मृग (पदमार्गिणः) कहे जाते हैं।।३।।

तत्प्रभावश्च श्रीबृहद्भागवते--

यस्यैकवृक्षोऽपि निजेन केनचिद्
द्रव्येण कामांस्तनुतेऽर्थिनोऽखिलान्।
तथापि तन्नैव सदाप्रकाशये-
दैश्वर्य्यमीशः स्वविहारविघ्नतः।।१।।

श्रीआदिपुराणे च--

एते वयं यत्र तरुस्वरूपा नित्यं वसामः किलमोदमानाः।
वृंदावनेऽन्तर्नयनैः किशोरं तथा किशोरीं प्रचुरं प्रपन्नाः ।।२।।
तथैव श्रीदशमे श्रीभगवता बाललीलामिषेणैते संस्तुताः।
अहो अमी देववरामरार्चितं पादांबुजं ते सुमनः फलार्हणम्।
नमत्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यैतरुजन्मयत्कृत-मित्यादिना ।।३।।

अत्रात्मनस्तमोपहत्यै इति नासंगतम्।। तमः शब्देन 'अविदो भूरितमस' इति तृतीयोक्तरीत्या तरुजन्मकृतं जाड्यमेवोद्यते।। तदपघातेन तत्तत्क्रीडासुखास्वादायेत्यर्थः ।। अत एव नतु तरुजन्मनो-ऽपहत्यै इति।। तस्य तु तैस्तैर्वाञ्छितत्वाददिति ।।

उन वृक्ष आदि के प्रभाव का वर्णन बृहद् भागवत में:--

जहाँ का एक भी वृक्ष अपने किसी द्रव्य विशेष से याचकों की समस्त कामनाओं को पूर्ण कर देता है (या प्रकट कर देता है) किन्तु वहाँ पर ईश अपने विहार के विघ्न के कारण अपने ऐश्वर्य को सदा प्रकाशित करे।।१।।

और भी आदि पुराण में--

वृन्दावन में अपने नयनों से किशोर और किशोरीजी के प्रचुर रूप से प्रपन्न होकर मोदमान होते हुए तरुस्वरूप में हम नित्य रहते हैं।।२।।

भागवत के दशम स्कन्ध में भगवान् ने बाललीला के बहाने इनकी स्तुति की है--

अहो! ये वृक्ष श्रेष्ठ देवों से अर्चित आपके (श्रीकृष्ण के) चरणकमल में अर्पण करने के लिए पुष्प और फलार्घ अपनी शिखाओं से लाकर नमन करते हैं यह कार्य ये वृक्ष अपने वृक्षरूप में जन्म की जड़ता को नष्ट करने के लिए करते हैं।।३।।

यहाँ यदि अपने अन्धकार (जड़ता) को नष्ट करने के लिए यदि ऐसा अर्थ करें तब भी असंगत नहीं है। ''तमः शब्द से'' ''अविदो भूरितमस'' इस तृतीय स्कन्ध की उक्ति के अनुसार तरुजन्म कृत जाड्य ही अर्थ कहा जाता है। उस जड़ता के अपघात से तत्-तत् क्रीड़ा सुख का

आस्वाद के लिए ऐसा अर्थ हो जाता है, अतः तरु रूप में जन्म के विनाश के लिए यह अर्थ ठीक नहीं। क्योंकि तरुजन्म तो उनके द्वारा इच्छित है।

प्रकृतमनुसरामः ।। यथा च रुद्रयामले आद्याशिवसंवादे--

सुधासारं तोयं स्थलममलचिन्तामणिमयं
स्फुटन्मल्लीवल्लीकुलकलितकल्पद्रुमलता ।
सदा तत्र प्रेमोद्भवति परमानन्दलहरी
नवीना ह्यङ्गानां तदपि परमास्वाद्यमपि च ।।१।।

तथैव व्याख्यातं प्राक्--

भूमिर्यत्र सुपक्वदाडिमलसद्बीजाभचिन्तामणी-
कीर्णा कल्पतरुप्रसूनरजसा चित्रायिता पूरिता ।
तच्छाखानवमंजरीकुलगलत्पीयूषबिन्दूत्करैः,
स्निग्धा सत्सुख-दायिनी सुललितैर्मन्दानिलैः सेविता।।२।।

नानारत्न विनिर्मितोभयतटी पीयूषनीरा स्फुरत्
फुल्लेन्दीवरपद्मखंडकुमुदामोदेन संमोदिताः ।
यत्रास्ते यमुनासरित्सुविमलस्निग्धोल्लसद्वालुका-
हंसाश्चातक चक्रावाकनिकराः क्रीडंति यस्यां मुदेति ।।३।।

स्पष्टम् ।। तदेवं सर्वथा वैलक्षण्येऽप्यचिन्त्यशक्त्यैव भारतवर्ष-वदहोरात्रादिकमत्रावसेयम् ।।

अब प्रकृत का अनुसरण करते हैं। और जैसे रुद्रयामल में आद्या शक्ति और शिव के संवाद में:--

वृन्दावन का जल अमृत का सार है, वहाँ की भूमि स्वच्छ चिन्तामणिमय है, कलद्रुमलता स्फुटित होती हुई मल्लिका की वल्ली के समुदाय से शोभित है, वहाँ सदा परम आस्वाद्य प्रेम प्रकट होता है तथा वह अङ्गों के लिए नवीन परमानन्द की लहरी है।।१।।

पहले इसी प्रकार की व्याख्या की गई है (अन्य श्लोक की)।

जहाँ की भूमि (वृन्दावन की भूमि) पके हुए दाड़िम के चमकते हुए बीजों की कान्ति सदृश कान्ति वाले चिन्तामणियों से भरी हुई है, कल्पवृक्ष के पुष्पों के पराग से चित्रित रूप से पूरित है वृक्षों की शाखाओं की नवीन मञ्जरी के समुदाय से गिरते हुए अमृत की बून्दों को बिखेरती हुई, सुललित,

मन्द पवन से सेवित हैं तथा स्निग्ध और सुख देने वाली है।।२।।

जहाँ वृन्दावन में यमुनाजी पीयूष नीर वाली है उसके दोनों तट अनेक रत्नों से बने हुए हैं, यमुनाजी के तटों की बालु का (रेत) चमकते हुए खिले हुए नीलकमल पद्म और कुमुदों की सुगन्ध से सम्मोदित हैं, उस बालू में हँस, चातक और चक्रवाक पक्षियों के झुण्ड आनन्द पूर्वक क्रीड़ा करते हैं।।३।।

अर्थ स्पष्ट है। इस प्रकार वृन्दावन सर्वथा विलक्षण है फिर भी अचिन्त्य शक्ति से ही भारतवर्ष के समान अहोरात्र (रात-दिन) यहाँ रहना चाहिए।

तदुक्तं श्रीबृहद्भागवतामृते--

तस्मिन्नगम्येऽखिलदेवतानां लोकेश्वराणामपि पार्षदानाम्।
एतस्य भू र्भारतवर्षकीयाऽऽर्यावर्त्तदेशस्य निरूप्य रीतिम्।।
दिव्यां दिनेशोद्गमनादिनैतां भौमीं नृभाषा चरितादिनापीति।।
अत्र कारिकाः-
अथ यद्यपि लीलेयमप्रमीला विराजते।। (अविरता)
तथापि ख्यापिता तज्ज्ञैर्लौकिकी चाप्यलौकिकी।
तत्रापि भारते वर्षे माथुरे मंडले स्थितेः।।
श्रीमद् वृन्दावनस्याहोरात्राद्येतद्विधं ततः।
वेषभाषाविलासादि ज्ञेयं तच्चाप्यलौकिकमिति।।

श्रीबृहद्भागवतामृत में कहा हैः--

समस्त देवताओं, लोकेश्वरों और पार्षदों के लिए भी वह वृन्दावन अगम्य है, इस वृन्दावन की भारतवर्षीय आर्यावृत देश की रीति को देखकर सूर्य आदि के उदय आदि से दिव्य भूमि का यहाँ के मनुष्य, भाषा, चरित आदि के वर्णन से वर्णन किया गया है।

इस विषय में कारिकाएँ हैं--

यद्यपि यह लीला अविरल विराजित है तब भी जानकारों ने इसे लौकिक और अलौकिकी लीला ऐसा कहा है। उसमें भी भारतवर्ष के माथुर मण्डल में स्थित श्रीवृन्दावन के अहोरात्र आदि इस प्रकार के हैं (पूर्व वर्णनानुसार) वेष, भाषा, विलास आदि को भी अलौकिक ही समझना

चाहिए (वृन्दावन अलौकिक अतः उसके अहोरात्र, वेष, भाषा आदि भी अलौकिक हैं)।

तथा श्रीमदानन्दवृन्दावनचम्पुवामुक्तम्--

यस्य कालातीतस्यापि षड्भिरेव ऋतुभिर्भगवल्लीलौपयिकतयाऽप्राकृतैरपि प्राकृतैरिव भासमानैः कृतविभागाः षड्विभागाः।। यथा।। वर्षा हर्षः, शरदामोदो, हेमन्तः सन्तोषाः, शिशिरः सुखाकरो, वसन्तः कान्तो, निदाघः सुभगश्चेति।।

अलंकारकौस्तुभे च--

वृन्दावने षड्ऋतवः सहवर्त्तमानाः
कुंजा मणीन्द्रगृहतोऽपि मनोविनोदाः।
कर्पूरभांसि यमुनापुलिनानि हंस-
कारंडवादिललितं नलिनीवनं च।।

तथाहि--

शिरीषेणासक्ता स्थलकमलिनी कुंदलतिका
रता लोध्रे नीपः स्वयमनुसृतो माधविकया।
अहो वृन्दारण्ये विटपिमिथुनानां विलसतां
किमीदृग्दाम्पत्यं स्फुरति रचिते कुंजभवने।।

तथा।।

क्वचिन्मरकतद्रुमाः कनकवल्लिभिर्वेल्लिताः
क्वचित्कनकपादपा मरकतस्य वल्लीजुषः।
क्वचित्स्फटिकभूरुहाः कमलरागवल्लीभृतो
द्रुमाः कमलरागजाः स्फटिकवल्लिभाजः क्वचित्।।

अपि च--

न सोऽस्ति मणि भूरुहो विविधरत्नशाखो न यः
सुचित्रमणिपल्लवा न खलु या न शाखाश्च ताः।
न तेऽपि मणिपल्लवा विविधरत्नपुष्पा न ये
न पुष्पनिकरोऽप्यसौ विविधगन्धबन्धुर्न यः।।

श्रीमद्आनन्दवृन्द चम्पू में कहा है:--

यद्यपि वृन्दावन में काल का प्रवेश नहीं है अतः कालातीत है किन्तु

भगवन् की लीला उपाय रूप में अप्राकृत भी षड् ऋतुओं ने प्राकृत के समान छह विभाग किए। जैसे वर्षा-हर्ष, शरद-मोद, हेमन्त-सन्तोष, शिशिर-सुखकर, वसन्त-कान्त और निदाघ-सुभग इस प्रकार।

और अलंकार कौस्तुभ में:--

वृन्दावन में छह ऋतुएँ साथ-साथ विद्यमान रहती हैं, कुञ्ज श्रेष्ठ मणियों के घरों से भी अधिक मनोविनोद करने वाले हैं। यमुना के तट कर्पूर की चमक वाले हैं तथा नलिनीवन हंस, कारण्डव आदि से सुन्दर हैं।

जैसे:--

स्थल कमलिनी शिरीष से आसक्त है, कुन्दलता लोध्रवृक्ष पर रमी हुई है, माधविका से नीप अनुसृत हो रहा है। वृन्दारण्य में विलसित होने वाले वृक्ष-युगलों का ऐसा दाम्पत्य बनाए हुए कुञ्ज भवन में होता है।

तथा:--

कहीं मरकत के वृक्ष कनकलताओं से वेष्टित हैं, कहीं कनक के पौधे मरकत की लताओं से मिले हुए हैं, कहीं स्फटिक के वृक्ष कमलरागलता को धारण किए हुए हैं, कहीं कमल राग से उत्पन्न होने वाले वृक्ष स्फटिकवल्ली लताओं को पकड़े हुए हैं।

और भी:--

वृन्दावन में ऐसा कोई मणि भूमि में उगने वाले वृक्ष नहीं है जिसकी शाखाएँ विविध मणियों वाली न हो। ऐसी कोई शाखाएँ नहीं हैं जिन पर सुन्दर विचित्र मणि पल्लव न हों, ऐसे मणिपल्लव भी कोई नहीं हैं जिन पर विविध रत्नों के पुष्प न हों और ऐसा कोई पुष्प समुदाय भी नहीं है जो विविध गन्ध से युक्त न हो।

तदेतत्सर्वमपिसंगृह्योक्तं श्रीप्रबोधैः--

दिव्यपुष्पपल्लवादिरम्यवस्तुशोभिते
द्वारदेशदिव्यपुष्पतोरणादिचित्रिते ।
अन्तरालकल्पितालि-दिव्यपुष्पतल्पके
दिव्यरत्नदीपराजिसर्वतो विराजते ।।१।।
दिव्यकाव्यनाटकादिपाठशीलसारिका-
कीरवृन्दसुन्दरेऽतिमंजुकुंजमन्दिरे ।

दिव्यभृगगुंजितेन रंजितेऽतिमोहने
कोकिलादिकूजितेन पूजितेन गीतिभिः ।।२ ।।
शिरीषकुंदकेतकीकुसुंभकिंशुकादिभिः
मनोज्ञमाधवीलताद्यनन्तपुष्पवल्लिभिः ।
प्रियंगु नागकेसरैरशोककर्णिकारकैः
स्फुटातिमुक्तसप्तलासुवर्णयूथिकादिभिः ।।३ ।।
विचित्रभेदझिंटिकासुगन्धबन्धुजीवकै -
र्हयारिकुंजकादिभिः प्रफुल्लितैर्विचित्रितैः ।
प्रफुल्लदिव्यमल्लिकालवंगजातियूथिका -
कदंबचंपकावलीस्थलारविन्दवीथिभिः ।।४ ।।
विचित्रपल्लवद्रुमैर्विचित्रपुष्पसंभृतै -
र्विचित्रपुष्पमंजरीविचित्रगुच्छजालकैः ।
विचित्रसौरभोदयैर्विचित्रसीधुवर्षिभि -
र्विचित्ररोचिरुज्वलैः परैश्च शाखिभिर्वृतम् ।।५ ।।
मंदमंदशीतशीतदिव्यगंधवायुना
जालरन्ध्ररिङ्गिनागरंग(=नारंगी) शाखिसेविते ।
तत्तदिष्टवस्तुवृंदसन्निवेशलोभने
गौरनीलदम्पती मनोजविह्वलौ स्मर ।।६ ।।

इन सबका संग्रह करके श्रीप्रबोध ने कहा है:--

दिव्य पुष्प, पल्लव आदि रम्य वस्तुओं से शोभित द्वार देश परदिक पुष्पों के तोरण आदि से चित्रित, दिव्य रत्नों के दीपकों की पंक्ति से सर्वतः विराजित, मध्य में कल्पित दिव्य अलि और दिव्य पुष्पों वाली शय्या पर कामविह्वल गौर नील दम्पती श्रीराधाकृष्ण को स्मरण करो।।१।।

दिव्य काव्य, नाटक आदि के पाठ का अनुशीलन करने वाले सारिका, कीर, (तोता) आदि के समुदाय से सुन्दर, दिव्य भ्रमरों से गुञ्जन से शोभित, स्पृहणीय कोकिल आदि कूजित से एवं गीतियों से अतिमोहन, विशिष्ट मञ्जुल कुञ्ज मन्दिर में कामविह्वल श्रीराधाकृष्ण का स्मरण करो।।२।।

शिरीष, कुन्द, केतकी, कुसुम, किंशुक आदि से मनोज्ञ माधवीलता आदि अनन्त पुष्पलताओं से प्रियंगु, नागकेसर, अशोक, उकर्णिकारों से

खिली हुई अतिमुक्त लताओं के झुण्डों से शोभित-कुञ्ज में कामविह्वल दम्पती की स्मरण करो।।३।।

विचित्र प्रकार वाली झाडियों, सुगन्धित बन्धु जीवक, हरसिंगार के कुञ्जों, खिली हुई दिव्य मल्लिका, लवंग और जाति पुष्पों के झुरकुट वाले कदम्ब, चम्पक, स्थल कमल की गलियों से शोभित-कुञ्ज में राधाकृष्ण की स्मरण करो।।४।।

विचित्र पत्तों वाले वृक्षों से, विचित्र पुष्पों से लदे हुए विचित्र पुष्प मञ्जरी के गुच्छों के जाल से, विचित्र सुगन्ध के उदयों से तथा विचित्र इक्षुरस के वर्षण से, विचित्र प्रकार की कान्ति से उज्ज्वल, उत्कृष्ट वृक्षों से घिरे हुए कुञ्ज में मदन विह्वल राधाकृष्ण का स्मरण करो।।५।।

मन्द-मन्द, शीतल-शीतल दिव्य गन्धवाली वायु से, जालीदार नारंगी के पेड़ों से सेवित, वाञ्छित वस्तुओं समुदाय के सन्निवेश से सुन्दर कुञ्ज में काम पीड़ित गौर नील दम्पती श्रीराधामाधव का स्मरण करो।।६।।

तथा च--

प्रोदंचत्पिकपंचमं प्रविलसद्वंशीसुसंगीतकम्
शाखाखंडशिखंडितांडवकलं प्रोल्लासिवल्लीद्रुमम्।
भ्राजन्मंजुनिकुंजकं खगकुलैश्चित्रं विचित्रं मृगै-
र्नानादिव्यसरः सरिद्गिरिवरं ध्यायामि वृंदावनमिति।।
सा चेयमटवीधन्या लावण्यामृतवारिधिः।
भाव्यते कृष्णचन्द्रेण श्रीराधेवेदृशीव सा।।

तदुक्तं शतकेषु--

विभ्राजत्तिलकाकलिन्दतनयानीरौघनीलाम्बरो-
दञ्चत्कांचनचंपकच्छविरहो नानारसोल्लासिनी।
कृष्णप्रेक्ष्यपयोधरेण ललितेनात्यन्तसंमोहिनी
गोपेन्द्रात्मजवल्लभा विजयते राधेव वृन्दाटवी।।

तथाः--

प्रकृष्ट रूप से उन्नत होते हुए पिक के पञ्चम स्वर वाले, विलसित होते हुए वंशी के सुसंगीत वाले, शाखा खण्डों पर मयूरों के ताण्डव से सुन्दरन उल्लसित लताद्रुम वाले, पक्षी समुदाय से सुशोभित कुञ्जों वाले,

मृगों से विचित्र, नाना दिव्य सरोवर, सरिता और पर्वतों वाले वृन्दावन का ध्यान करता हूँ।

लावण्य के अमृतसिन्धु स्वरूपा वृन्दावन की यह अटवी (कानन) धन्य है, कृष्णचन्द्र से युक्त श्रीराधा के समान यह सुशोभित हो रही है।

शतक में कहा है:--

ललाट पर तिलक धारण करने वाली, कालिन्दी के जल के समान नीले वस्त्रों से प्रकट होती हुई काञ्चन सदृश चम्पक छवि वाली, नाना रसों से उल्लसित होने वाली, कृष्ण के द्वारा देखने योग्य ललित पयोधरों से अत्यन्त सम्मोहित करने वाली, गोपश्रेष्ठ नन्द के आत्मज श्रीकृष्ण की प्रिया श्रीराधा के समान, तिलक नामक वृक्षों को धारण करने वाली यमुना के नीर समूह से नील आकाश में कांचन और चम्पक वृक्षों की कान्ति को प्रकट करने वाली, नाना रसों को उत्पन्न करने वाली, ललित काले बादलों से अत्यन्त मोहित करने वाली यह वृन्दाटवी सुशोभित हो रही है।

तथा श्रीमत्सुधानिधौ--

रोमाली मिहिरात्मजा सुललिते बंधूकबन्धुप्रभा
सर्वाङ्गे स्फुटचंपकच्छविरहो नाभीसरश्शोभना।
वक्षोजस्तबका लसद्भुजलता शिंजायितं ऊँकृतिः
श्रीराधा हरते मनो मधुपतेरन्येव वृंदाटवीति।।

तदेवं--

परस्परोपमानेन मानेनाप्यतिशायिना।
अत्यासक्तौ निषेवेते राधिकामाधवौ वनम्।।
मानेन चित्तसमुन्नत्या परमादरेणेति यावत्।। तत्र

श्रीराधाया यथा शतकेषु--

भृंगी संगीतरंगं, त्यजतिपिकवधूः पंचमं निर्द्धुनीते (नो धुनीते)
कीरः कांचिन्न गाथां पठति, नटशिखी नैव केकां करोति।
वीणा ह्रीणा मनाङ् न ध्वनति न मुरलीरौति राधा यदाश्री,
वृंदारण्यस्य निर्वर्णयति गुणगणानुल्लसद्रोमराजिः।।

तथा श्रीमत्सुधानिधि में कहा है:--

जिसकी (श्रीराधा की) रोमवली ही यमुना है, अधरोष्ठ ही बन्धूक

(दुपहरिया) पुष्पवत् प्रभाशील हैं, मनोहर सुकुमार सर्वाङ्ग में प्रफुल्लित चम्पा की कान्ति है, नाभि रूप सरोवर से शोभायमान है, कुचयुगल ही पुष्प-गुच्छ हैं, सुन्दर भुजा ही लता है, आभूषणों की ध्वनि ही भ्रमरों की गुञ्जार है, ऐसी राधा दूसरी वृन्दाटवी की तरह मधुपति श्रीकृष्ण के मन को हरण कर रही है।

परस्पर की तुलना से और अतिशय मान से अत्यन्त आसक्त श्रीराधामाधव वन (वृन्दावन) का सेवन करते हैं।

मान का तात्पर्य है चित्त की समुन्नति रूप परम आदर।

श्रीराधा का वृन्दावन के प्रति परम आदर का वर्णन-शतक में:-

रोमाञ्चित होती हुई श्रीराधा जब श्रीवृन्दावन के गुणों का वर्णन करने लगती है तब भ्रमरी संगीत के राग को छोड़ देती है, पिकवधू (कोयल) पञ्चम स्वर को नहीं छेड़ती है। कीर किसी भी गाथा का पाठ नहीं करता है, मयूर भी अपनी वाणी का उच्चारण नहीं करता है, वीणा भी लज्जा के कारण तनिक भी ध्वनित नहीं होती है और मुरली भी अपना राग नहीं अलापती है।

श्रीकृष्णस्य यथा तत्रैव--

वर्होल्लासे वसति शिखिनां केशभारः सुकेश्याः
पश्याम्येतामलकविततिं चारुभृंगावलीषु ।।
स्मेरास्येन्दोरुदयति कला फुल्लहेमाब्जकोशे
नेत्रांचल्याश्चकितहरिणी चातुरी माधुरीभूः ।।१ ।।
श्रीमन्नासातिलककुसुमे बन्धुजीवेऽधरश्रीः
कुंदे दन्तावलिविलसितं कैरवे चारुहास्यम् ।।
वल्लीवृन्दे तनुरनुपमा गुच्छसत्कुड्मलादी
लक्ष्मीर्वक्षोरुहमुकुलयोर्बाहुवल्ली मृणाले ।।२ ।।
पीनश्रोणी विपुलपुलिने कोमलोरू कदल्यां
रक्तांभोजे करचरणयोः कापि शोभा विभाति ।।
वृंदारण्य त्वयि निवसति व्यस्तरूपा प्रिया मे
सामस्त्येनोल्लसति तु ममात्रातिधन्यांकदेशे ।।३ ।।
यदा मे प्राणेश्वर्य्यतिनिकट एवाति कुतुका-

न्निलीना पश्यन्ती विरहविकलं मां स्थितवती ।।
तदावल्ली वृन्दावन तव ससंज्ञं किसलयं
करं धुन्वन्त्याऽऽसूचयदिदमहो मे महदृणम् ।।
अहो वृन्दारण्य त्वयि विकसितानन्तकुसुमात्
परागैर्निर्यद्भिर्नयनयुगलं तत्कलुषितम् ।।
प्रियायाः फूत्कारैर्यदरचयताचुम्बनमहो-
त्सवो लब्धस्तेन त्वमसि मम जीवातुरहह ।।२ ।।
कदाचित्कान्ता मे बत नवतमालद्रुमवने
निलीनं मां ज्ञात्वाप्यवददतिधूर्तो न मिलितः ।।
स्तुवाना त्वां वृन्दावना वरतमालोऽसि दयित-
स्त्वमित्युक्त्वा यन्माश्लिषदहमतः क्रीत इह ते ।।३ ।।
सखीभिः कान्ता मे निलयनसुखेलासु निरता
प्रविष्टा श्रीवृन्दाटवि तवलतासद्मनि मया
सखीवेषेणाङ्ये मिलितरमिताऽऽगत्य च रुषाऽऽ-
क्षिपद्यद्वः कृष्णायितमिदमितीहास मम हृत् ।।६ ।।
सुपुष्पं श्रीवृन्दावन तव सुतुङ्गद्रुमशिरो-गतं
कांक्षन्त्याहेत्यनघ भव नीचो मम मुदे ।।
मया नेत्युक्तोऽपि प्रहसनपरेणैव विटपी
यदुक्तं प्रेयस्या अकृत मम तेनातिमुदभूत् ।।५ ।।
विचित्रैः श्रीवृंदावन तव यदा चित्रकुसुमै-
रपूर्वं प्रेयस्या व्यरचयमहं वेषममलम् ।।
प्रसादे मे तत्प्रार्थितमथ सकृच्चुंबनमदा-
द्धसन्ती यत्तेन त्वमपि वशगं मां कृतवती ।।६ ।।
अहो वृन्दारण्य त्वमसि परमं धन्यमिह य-
च्चलन्ती श्रीराधा त्वदुरुसुषमालोककुतुकात् ।।
प्रसूनानां वर्षैः पथि पथि समाच्छादयसि तां-
स्तवीषि श्रोत्रैक प्रियशुकपिकाद्यद्भुतगिरा ।।७ ।।
स्मयध्वं किं सख्यः प्रतिपदकदाशंकहृदया
न किं वृन्दारण्येऽद्भुतमहिमनि स्वर्णलतिकाः ।।

त्वरन्ति स्वच्छन्दं मरकतमयाश्च द्रुमवरा
मिथः संश्लेषेण स्फुटमतुलशोभां च दधति ।।८।।
सखीं दूरीकृत्य स्वयमरचि संवाहनकला
मया यस्य प्रेम्णा मृदुमृदुकृतं चोरसि मुदा ।।
तदेतच्छ्रीराधाचरणकमलं कोमलतरा-
रुणज्योतिर्वृंदाटवि कुतुकतस्त्वां समटति ।।९।।
श्रीराधाया यदनुनिमिषं रूपलावण्यलीला-
वैदग्ध्यादेः परमसुचमत्कारभूर्या ममापि ।।
आनन्दानामधिकमधिकं यच्चमत्कारधारा
तच्छ्रीवृन्दावन तव महानेष कोऽपि प्रभावः ।।१०।।
श्रीराधाया मम च यदहोकेलिचातुर्य्यधारा
यच्चात्युच्चैर्निरवधि वरीवर्द्धते कामतृष्णा ।।
गाढं गाढं यदति वलते कोऽपि नौ प्रेमबन्धः
सर्वं वृंदावन रसखनेः शक्तिविस्फूर्जितं ते ।।११।।
स्वात्मेश्वर्य्यास्तव गुणनिधे राधिकायाः सदैव
प्रीतिस्त्वय्युद्भवति सहजाऽहं च ते क्रीत एव ।।
यद्यत्यन्ताघटितघटनां त्वं चिकीर्षस्यबाधं
कुर्वित्येवं हरिकृतनुतिर्भाति वृन्दाटवीयम् ।।१२।।

पंचदशभिः कुलकम् ।।

।। इति श्रीवृंदावनोत्कर्षयुक्तिः ।। ८ ।।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषापूर्णतामेति।

श्रीकृष्ण का वृन्दावन के प्रति परम आदर भी वहीं शतक में इस प्रकार कहा है:--

श्रीकृष्ण वृन्दावन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं हे वृन्दावन! मेरी प्रिया व्यस्त रूप में तुझ में निवास करती है। इस सुकेशी राधा का केशभार मयूरों के बर्हभार (पंखों) में निवास करता है, इसकी अलकों की पंक्ति सुन्दर भ्रमर की पंक्ति में दिखाई देती है, उसके मुस्कुराते मुखचन्द्र की कला खिले हुए हेम कमल के कोश में उदित होती है, नेत्रों की चितवन की मधुर भूमि चकित हरिणियों में है।।१।।

तिलक के पुष्प में नासिका का सौन्दर्य दिखता है, अधरों की शोभा बन्धु जीव (दुपहरिया का पुष्प) में दिखती है, कुन्द में दन्तावलि विलसित हो रही है कौरव में चारुहास्य विलसित है। अनुपम शरीर लतावृन्द में दिखाई देता है, स्तनमुकुल की शोभा कुड्मल के गुच्छों में प्रतीत होती है और बाहुलता मृणाल में शोभित हो रही है।।२।।

श्रीराधा की पीन श्रेणी (विस्तृत जघन प्रदेश) विपुलवट में दिखाई देती है, कोमल उरू (जंघाएँ) कदली में, हाथ-पैरों की शोभा रक्त कमल में चमकती है। हे वृन्दारण्य। मेरी प्रिया तुम्हारे में व्यस्त (भिन्न-भिन्न स्थानों में) रूप में निवास करती है, सामरस्य रूप में तो यह मेरे धन्य अंक प्रदेश (गोद में उल्लसित होती है)।।३।।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे वृन्दावन! जब मेरी प्राणेश्वरी अत्यन्त कौतुक पूर्वक मेरे अत्यन्त निकट छिपकर खड़ी होती हुई विरह से विकल मुझको देख रही थी तब ही झिंझोड़ते हुए हाथ को हिलाते हुए तुम्हारी लता ने मुझे राधा के विषय में सूचित किया, यह तुम्हारा मुझ पर बहुत बड़ा ऋण है।।१।।

अरे वृन्दावन! तुझ में विकसित होने वाले अनन्त पुष्पों से गिरते हुए परागों से प्रिया के दोनों नेत्र कलुषित हुए मैंने परागों के निकालने के लिए अपने मुख से की जाने वाली फत्कारों से मैं जो चुम्बन का महोत्सव प्राप्त किया, अहह उससे तुम मेरे जीवनाधायक हो।।२।।

कभी मेरी कान्ता ने नवीन तमाल वृक्ष वन में छिपे हुए मुझे जानकर भी कहा-वह अति धूर्त नहीं मिला। तुम्हारी स्तुति करते हुए उसने प्रिय तुम वरतमाल हो-ऐसा कहकर जो मेरा आलिङ्गन किया, इससे मैं तुम्हारा खरीदा हुआ होगया हूँ।।३।।

हे वृन्दाटवी! मेरी प्रेयसी श्रीराधा अपनी सखियों के साथ छुप्पम-छुपाई के खेल में निरत हुई तुम्हारे लतागृह में प्रविष्ट हो गई। मैंने सखी वेष में उससे मिलकर रमण किया, उसने यहाँ आकर आपको रोषपूर्वक आक्षेप किया, कहा मेरा हृदय कृष्णमय होगया है।।४।।

हे वृन्दावन! तुम्हारे बहुत ऊँचे वृक्ष के इन परिभाग में स्थित सुन्दर पुष्प को चाहती हुई श्रीराधा ने वृक्ष को कहा हे! अनघ-निष्पाप। मेरी

प्रसन्नता के लिए नीचे हो जाओं। प्रहसन परायण होते हुए मैंने कहा-नहीं, किन्तु विपटी ने प्रेयसी को जो कहा और किया, उससे मुझे बहुत प्रसन्नता हुई।।५।।

हे श्रीवृन्दाटवी! जब तुम्हारे विचित्र पुष्पों से प्रेयसी के लिए मैंने अपूर्व और अमल वेष बनाया, प्रसन्न होने पर मेरी प्रार्थित चुम्बन उसने जो हँसते हुए दिया उससे तुमने भी मुझे अपने वशीभूत कर लिया है।

अहो वृन्दारण्य! तुम भी बहुत धन्य हो, क्योंकि तुम तुम्हारी सुषमा को देखने के कौतुक से चलती हुई श्रीराधा को प्रत्येक मार्ग में फूलों की वर्षा से आच्छादित कर देते हो तथा कर्णप्रिय शुक और पिक आदि की वाणी से उसका स्तवन भी कर देते हो।।७।।

अद्भुत महिमा वाले वृन्दारण्य में स्वर्णलताएँ एवं मरकतमय श्रेष्ठ द्रुम स्वेच्छा पूर्वक त्वरित होते हैं तथा एक दूसरे के मिलन से स्पष्ट रूप से अतुलनीय शोभा को धारण करते हैं। प्रत्येक कदम पर आशंकित होने वाले हे सखियों क्यों तुम आश्चर्य चकित नहीं होती।।८।।

जिस श्रीराधाकृष्ण के चरण कमल के प्रेम के वशीभूत होकर मैंने सखी को दूर करके स्वयं चरणसेवा करने का कार्य किया तथा प्रसन्नता से हृदय पर उन चरणों ने कोमल स्पर्श प्रदान किया वही अत्यन्त कोमल अरुण प्रकाश वाले श्रीराधा-कृष्ण के चरण कमल हे वृन्दावन! तुम्हारे में सम्यक् प्रकार से भ्रमण कर रहे हैं।।९।।

हे श्रीवृन्दावन! तुम्हारा ही यह कोई प्रभाव है जिससे श्रीराधा के प्रत्येक निमिष की रूप, लावण्य, लीला आदि की विदग्धता से परम चमत्कारिणी यह वृन्दावन की भूमि मेरे लिए भी अत्यधिक आनन्द कारिणी हो गई है।।१०।।

श्रीराधा और मेरी यह केलि चातुर्य की धारा और कामतृष्ण अवधि रहित होकर अत्यन्त उन्नत अवस्था तक अत्यधिक रूप से बढती है और हम दोनों का प्रेमबन्धन गाढ से गाढ अतिशय रूप से वलित (घेरे नुमा) रूप से बढता है, हे वृन्दावन यह रस के खान तुम्हारी ही शक्ति का विस्फुरण है।।११।।

हे गुणनिधे वृन्दावन! स्वात्म ऐश्वर्य वाली श्रीराधा की सहज प्रीति

सदैव तुम में हो रही है तथा मैं तुम्हारे से क्रीत हूँ। हे वृन्दावन तुम जो भी अबाध रूप से अघटित घटना करना चाहते हो वो करो, हरि के द्वारा नुति किया हुआ यह वृन्दावन सुशोभित होता है।।१२।।

इस प्रकार पूर्व के ३ एवं ये १२ श्लोक मिलकर कुलक कहे जाते हैं।

इति श्रीवृन्दानोत्कर्ष युक्तिः ।।८।।

अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां श्रीवृन्दावनोत्कर्षयुक्तिः।।८।।

एतावता प्रबन्धेन उपास्ययुगलश्रीराधिकाकृष्णयोरनन्ताचिन्त्यातुल्यातिशयैश्वर्य्यमाधुर्य्यवत्त्वम्, उभयस्वरूपयोः सर्वथैक्यं स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्वम्, अशेषकल्याणगुणैकनिधानत्वं भक्तवृन्दारुच्युत्पादक-भ्रमक्लमनीरसतादिदोषविशेषराहित्यं साक्षाद्रसस्वरूपत्वं, परात्परब्रह्मणोऽनादिसनातनमूलरूपत्वं स्वयंरूपत्वं (स्वांशविलासव्यूहाद्यपेक्षयेत्यर्थः), सर्वेश्वरेश्वरत्वम् अभिन्ननिमित्तोपादानात्मककृत्स्नजगत्कारणत्वं, सर्वप्रेरकत्वम् आत्मैकरतेः श्रीकृष्णस्य च स्वात्मभूतश्रीराधाऽऽराधकत्वं, तदेकनिष्ठरतित्वं, श्रीराधायाश्च, तस्य इव, परात्परब्रह्मत्वं, ब्रह्मस्वरूपघटकत्वेन तत्स्वरूपकोट्यन्तर्गतत्वं, तस्याः श्रीभागवतप्रतिपाद्यत्वं, उभयोः सर्वांशतुल्यत्वेऽपि, युगलोपासनायां तस्याः साक्षाद्विशुद्धप्रेमदेवतायाः रसोत्कर्षहेतुत्वात् प्राधान्यं, उभयोः सच्चिदानन्दस्व-रूपत्वम्,-इत्यादिप्रतिज्ञातपदार्थानां शास्त्रप्रमाणपुरस्सरं सोपत्तिकं वैशिष्ट्म् साधयित्वा, इदानीं चिकीर्षितमाह-अथ धाम्नोऽपीति।

प्रारम्भ से लेकर अब तक के प्रबन्ध से उपास्य युगल श्रीराधा-कृष्ण का अनन्त, अचिन्त्य, अतुल्य, अतिशय, ऐश्वर्य और माधुर्य युक्त होना सिद्ध किया गया। दोनों स्वरूपों का सर्वथा स्वभाव से समस्त दोषों से राहित्य, सम्पूर्ण कल्याणकारी गुणों का एकमात्र निधान होना, भक्तवृन्द के अरुचिकारिक भ्रम-अशान्ति-नीरसतादि दोषों से रहित होना, साक्षात् रसरूप होना, परात्पर ब्रह्म का अनादि-सनातन मूल रूप होना, स्वयंरूप होना, सर्वेश्वर होना, समस्त जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादानकारणस्वरूप (दोनों स्वरूप इस जगत् के अभिन्न रूप से निमित्तकारण (घड़े के लिए जैसे कुम्हार है) एवं उपादान-सामग्री कारण (घड़े के लिए जैसे मिट्टी का लौंदा होता है) होना, सबका प्रेरक होना, आत्मरति (अपने में ही रमण करने

वाला) श्रीकृष्ण का अपनी आत्मभूत श्रीराधा का आराधक होना, उस राधा में ही एकनिष्ठ होना (अथवा उन दोनों का एक-दूसरे में निष्ठा वाला होना) एवं श्रीराधा का भी उस श्रीकृष्ण के समान ही परात्पर ब्रह्मरूप होना, ब्रह्म स्वरूप घटक होने से उसी स्वरूप की कोटि के अन्तर्गत होना, श्रीराधा का श्रीभागवत में प्रतिपाद्य होना, युगलोपासना में साक्षात् विशुद्ध प्रेम की देवता उस राधा का, रसोत्कर्ष के हेतु होने के कारण प्राधान्य होना, दोनों का सच्चिदानन्द स्वरूप होना, आदि विषय जो पूर्व में विवचेन के लिए प्रस्तुत किए गए थे, उन सबका शास्त्र के प्रमाण एवं युक्तियुक्तता के आधार पर वैशिष्ट्य सिद्ध किया गया है-अब जिसका विवेचन करना चाहते हैं-उसको आरम्भ में कहते है--''अथ धाम्नोऽपि वैशिष्ट्यम्'' अब श्रीवृन्दावनधाम का वैशिष्ट्य कहते हैं।

श्रीराधिकाकृष्णयोर्यथा समस्तभगवद्रूपेषु निरतिशयनिरन्तरानन्द घनविग्रहत्वेन, साक्षाच्छृङ्गाररस-रूपत्वेन च सर्वान्तरतमत्वम्, असमोद्र्ध्वस्वरूपत्वं, (सर्वश्रैष्ठ्यं च शास्त्र-शिष्टसंमत्या) च, तथैव श्रीवृन्दा-वनस्य तदविनाभावसम्बन्धसम्बद्धस्य रसधाम्नोऽपि समस्तभगवद्धामश्रैष्ठ्यं, सर्वान्तरतमधामत्वं शास्त्र-शिष्टसम्मत्या दिदर्शयिषुस्तावद्गोपालतापनी-वाक्यमादौ प्रमाणत्वेन पठति-तमेतमिति। न च गोपालतापन्याः वेदत्वमपौरुषेयत्वं वा शङ्कनीयं-''या ते धामानी''ति वेदसंहितापठितत्वात् तापन्युक्तवृन्दावनधाम्न उक्तमन्त्रे ''यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः'' इत्यसाधारणतल्लक्षणकथनपूर्वकतन्निजधाम्नः गोलोकहृदयस्थानीयस्य श्रीवृन्दावनस्यैव संकेतितत्वात् ''अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि''इति तन्मन्त्रशेषाच्च।

समस्त भगवद्रूपों में निरतिशय और निरन्तर आनन्दघन विग्रह होने से तथा साक्षात् शृङ्गार रसरूप होने से जैसे श्रीराधा और कृष्ण का सर्वान्तरतमत्व तथा असमोर्द्धस्वरूपत्व (शास्त्रो की सम्मति से सर्वश्रेष्ठत्व) सिद्ध होता है वैसे ही उन दोनों से अविनाभाव रूप से सम्बद्ध रसधाम श्रीवृन्दावन का भी समस्त भगवद्धामों में श्रेष्ठत्व, सर्वान्तरतम धामत्व शास्त्रदृष्टि से दिखाने की इच्छा से सर्वप्रथम गोपालतापनी का वाक्य प्रमाण रूप से उद्धृत करते हैं-''तमेतमिति'' गोपालतापनी के वेदत्व और अपौरूषेय

के विषय में शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि ''या ते धामानि'' इति वेद संहिता का पाठ है, तापनी के ''तमेतमात्मानं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्..'' इस मन्त्र में ''यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः'' (इसका अर्थ मूल के साथ दिया है)। इस असाधारण लक्षण कथनपूर्वक उनके निजधाम गोलोक के हृदय स्थानीय श्रीवृन्दावन का ही संकेत किया गया है तथा इस मन्त्र के शेष भाग ''अत्राहतदुरुगायस्य विष्णो परमं पदमवभाति भूरि'' (उरुगाय विष्णु का परम पद अत्यधिक रूप से शोभित हो रहा है) से भी श्रीवृन्दावन का ही वर्णन किया गया है।

अधुना संहिता-तापन्युक्तस्य तयोर्निजनित्याप्राकृतधाम्नः श्रैष्ठयं श्रीपञ्चरात्रादिसम्मत्या द्रढयन् महावृन्दावनं, केलिवृन्दावनानि चेति तस्य द्वैविध्यम्,-आदिपुराण वचनेन तस्य श्रीकृष्णातिरहस्यवसतिस्थलत्वं, पुनश्च तापनीवाक्येन तस्य योगपीठत्वं, योगपीठस्थश्रीराधिकाकृष्णार्चनस्यातुल्य-महिमत्वं च, एवं हि तस्य ''केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे''इत्यस्य श्रीभाग-वतोक्तहृत्कमलस्थान्तर्यामिपुरुषध्यानस्यापवादीभूतत्वं, गुह्याद्गुह्यतरत्वं, गोलोककर्णिकारूपत्वं, श्रीयमुनायाः कलिन्दगिरिनन्दिन्याः दक्षिणतट-वर्त्तित्वं, प्राकृत्ववद्दृश्यमानवृन्दावनेन सह तस्य ब्रह्मवद्भिन्नाभिन्नतया स्थितत्वं, श्रीराधाकृष्णयोर्नित्यविहारस्थलत्वं, तत्रस्य तयोर्विहारस्यैवोपनि-षद्भिर्नित्यानन्दशब्दोल्लिखितत्वं, समस्तशक्तीनां तव गोपीरूपेण श्रीयुगला-राधकत्वं, तत्पीठस्य योगीन्द्रदुर्गमत्वं, सर्वस्मात्परत्वं, श्रुतिप्रतिपाद्यत्वं, प्राकृताप्राकृतलीलाभेदेन प्रकाशभेदेऽपि श्रीविग्रहवदभिन्नत्वं, परमव्योमादिशब्दै-र्वेदे अस्यैव वाच्यत्वं, तत्र मृतानां तद्धामप्रापकत्वं, वृन्दादेव्याधिष्ठितत्वं, श्रीकृष्णदेहरूपत्वं, श्रीराधिकावल्लभस्य तदत्यागः, विरजापारे अप्राकृतशुद्ध-सत्त्वात्मकचिदानन्दमयव्यापिवैकुण्ठस्य, तदुपरि गोलोकस्य, तन्मध्ये निरतिशय चिदान्दघनसाक्षाद्रस्वरूपस्य श्रीयुगलयोगपीठस्य, श्वेतद्वीपाभिधस्य, यमुनापरि-वेष्टितस्य सर्वान्तरतमस्य दिव्यवृन्दावनस्य, तत्रत्यानां च तन्नित्यसखीपरिक-राणां च ध्यानमनु मिथोऽभिन्नस्वरूप श्रीयुगलध्यानं वर्णयित्वा, पुनश्च तदुत्कर्षविशेषं तन्नामनिरुक्तिपूर्वकं वक्तुमाह-खगवृन्दमित्यादि।

अब संहिता और तापनी में उक्त श्रीवृन्दावन का उन दोनों श्रीराधा और कृष्ण के निज-नित्य अप्राकृतधाम का श्रेष्ठत्व पञ्चरात्र आदि की

सम्मति से दृढ करते हुए उसके महावृन्दावन और केलि वृन्दावन इस प्रकार दो प्रकार बतलाते हैं। आदि पुराण के वचन से उसको श्रीकृष्ण का अति रहस्य निवास स्थान तथा पुनः तापनी के वाक्य से उसे योगपीठ एवं योगपीठस्थ श्रीराधाकृष्णार्चन का अतुल्य महत्त्व सिद्ध करते हैं। उस वृन्दावन का ''केचिद् स्वदेहान्तर्हृदयावकाश-कुछ लोग उस ब्रह्म को हृदयाकाश में देखते हैं''-भागवत के इस हृदयकमलस्थ अन्तर्यामिपुरुष ध्यान का अपवादी रूप होना गोलोक का कार्णिका स्वरूप होना, श्रीयमुना के दक्षिण तट पर स्थित होना, प्राकृत के समान दृश्यमान वृन्दावन के साथ उसका ब्रह्म के समान भिन्नाभिन्नरूप में स्थित होना, श्रीराधाकृष्ण का नित्य विहार स्थल होना, उस वृन्दावन में होने वाले उन दोनों के विहार का उपनिषदों के द्वारा नित्यानन्द शब्द के रूप में उल्लिखित होना, समस्त शक्तियों का गोपीरूप में युगल का आराधक होना, उस पीठ का योगीन्द्रों को भी दुर्लभ होना, सबसे परतर होना, श्रुतियों के द्वारा प्रतिपाद्य होना, प्राकृत और अप्राकृत लीला भेद से प्रकाश भेद होने पर भी श्रीविग्रह के समान अभिन्न होना, वेद में परम व्योम आदि शब्दों से इसका ही वाच्यरूप होना, वहाँ मरने वालों का उनके धाम में पहुँचाने वाले रूप में होना, वृन्दादेव से अधिष्ठित होना श्रीकृष्ण देहरूप होना, श्रीराधिकावल्लभ का उसका त्याग न करना आदि का वर्णन किया गया है। साथ ही अप्राकृत शुद्ध सत्त्व रूप चिदानन्दमय व्यापि वैकुण्ठ का, उसके ऊपर गोलोक का, उन दोनों के मध्य में निरतिशय चिदानन्दघन साक्षात् रसरूप श्रीयुगल योगपीठ का, श्वेत द्वीप का, श्रीयमुना से परिवेष्टित सर्वान्तरतम दिव्य वृन्दावन का उसमें रहने वाले सखी परिकर का ध्यान का वर्णन किया गया है। परिकर ध्यान के पश्चात् परस्पर अभिन्न स्वरूप श्रीयुगल ध्यान का वर्णन करने के पश्चात् पुनः उसके नाम के निर्वचन पूर्वक उसके उत्कर्ष विशेष का वर्णन करने के लिए कहा है-''खगवृन्दमित्यादि''

पाञ्चरात्रीय-ब्रह्मसंहितोक्तं ''श्रियः कान्ताः कान्तः'' इत्यादिश्लोक-युग्मस्य श्रीनिकुञ्जोत्कर्षपरमर्थं व्याचष्टे-तथैव ब्रह्मसंहितायामित्यादिना। भू-वृन्दावनस्य कथमप्राकृतत्वमित्याशङ्कां तापनीश्रुत्या समाधत्ते-''यथा सरसि पद्मं तिष्ठति, तथा भूम्यां तिष्ठती''ति। ननु ''द्विर्गता आप'' इति द्वीपशब्दव्युत्पत्तेः कथमस्य द्विर्गतत्वमिति चेदाह विषयाश्रयभेदेनेति। विषयालंबनत्वाश्रयालंब-

नत्वभेदेन। यद्वा-विषयः श्रीयुगलं, आश्रयः श्रीवृन्दावनमितिभेदेनेत्यर्थः। अतएव अनन्यनिष्ठारहितानां प्राकृतवद्भासमानत्वेऽपि अस्य मायोपाधिरहितत्वं बृहद्वामनुपुराणवचनेन द्रढयति। आनन्दरूपमिति यदित्यादिना।

पाञ्चरात्रीय ब्रह्मसंहिता में कहे गए ''श्रियः कान्ताः कान्तः'' इत्यादि श्लोक युगल की श्रीनिकुञ्ज उत्कर्ष परक अर्थ किया गया है-''तथैव ब्रह्मसंहितायामित्यादिना।''

पृथ्वी पर स्थित वृन्दावन अप्राकृत कैसे हो सकता है-इस आशंका का समाधान तापनी श्रुति से करते हुए कहा गया है-जैसे सरोवर में पद्म रहता है वैसे भूमि पर भी रहता है। इसे श्वेत द्वीप कहा है तब प्रश्न होता कि द्वीप का अर्थ तो ''दोनों ओर जिसके जल हो'' द्वीप है। यह वृन्दावन द्वीप कैसे हुआ? तब उत्तर देते हैं--विषय और आश्रय भेद से इसका द्वीपत्व है। विषय के आलम्बन और आश्रय के आलम्बन होने के कारण इसी द्वीप कहते हैं। अथवा विषय श्रीराधाकृष्ण युगल तथा आश्रय हुआ वृन्दावन इस प्रकार के भेद से भी द्वीप हुआ। इसलिए अनन्य निष्ठा से रहित जनों को यह भले ही प्राकृत के समान भासित होता रहे किन्तु यह माया की उपाधि से रहित है-इस बात को बृहद्वामनपुराण के वचन से दृढ़ करते हैं। ''आनन्दरूपम् इत्यादि के द्वारा।''

तत्र पंचरात्रसम्मतिं दर्शयति-श्वेतद्वीपेत्यादिना ब्रह्मैव राजत इत्यन्तेन। तदेव पुनः श्रीकृष्णयामलोक्त्या दृढीकरोति-''दिव्यं वृन्दावन''मित्याद्यया। श्रीभागवतसम्मतिं दर्शयति-दर्शयामासेत्यादिना। ''स भगवो कस्मिन्प्रतिष्ठित'' इति छान्दोग्ये श्रीनारदप्रश्नस्य ''स्वे महिम्नि, यदिवा न महिम्नि'' इति श्रीसनत्कुमारोत्तरानुसारेण अत्रैव साकल्येन भगवन्महिमलाभ इति श्रीअष्टम-स्कन्धवाक्येन चापि प्रमाणयति-''मदीयं महिमानं वै परं ब्रह्मेति शब्दित'' मित्यनेन। निगमयति-परं ब्रह्मेत्यस्येत्यादिना स्वरूपलाभश्चेत्यन्तेन। ''व्रजति नहि यत्राति समयः'' (ब्र.सं.) इत्यस्यार्थमाह-तस्याप्राकृतत्वेन न तत्र प्राकृतकालादीनां प्रवेशः ''न यत्र कालः प्रभवेत्पर प्रभुः'' इति श्रीभागवताच्च। यद्वा-तत्र गमागमोदयास्तमयादेरभावाद्ब्रज इव प्रकटलीलायामिव नाचरति, यतः य देशविशेषो भगवत्सत्यसंकल्पप्रभावेण नित्यदा सुरभिणा पुष्पसमयेन इभ्य आढयो ऋतुराजसेवित इति। किम्वा तत्रत्यकालस्य तत्संकल्पतन्त्रत्वात्

तत्सुखार्थत्वात्तत्प्रसन्नातानुकूलव्यापारवत्त्वमिति। कान्ताशब्दस्य प्रसिद्धार्थं निरादृत्य निकुञ्जविहारानुकूलार्थं वक्ति-कस्य आत्मसुखस्य अन्तः परिसमाप्तिर्यासु तास्तत्सुखसुखिन्यः सख्य इति यावदिति। नन्वनुचितमेतद्य-त्संभवति स्वार्थे लाक्षणिकार्थाश्रयणमिति चेन्मैवम्। तत्सुखाच्छ्रीनिकुञ्जेश्वरी-सुखान् पार्थक्येन श्रीसखीनां तासां स्वार्थसुखाऽस्फूर्त्तेः प्रकृतोपास्तौ कान्ताशब्द-स्योक्तार्थत्वमेवाश्रयणीयम्, अन्यथा रूढार्थाश्रयणे तासामनन्यता-पर्य्युदासेन पार्थक्येन स्वसुखस्फूर्त्या कान्तप्राधान्ये सति, प्रोक्तस्वरूपयुगलोपास्तिहानि-र्दुर्वारेत्यवधेयम्। न हि श्रीमति निकुञ्जे श्रीराधासुखात्पृथक् श्रीकृष्णसुखनामकं, सखीसुखनामकं वा किञ्चिद्वस्त्वस्ति। तत्रत्य सर्वस्य श्रीराधासुखैकसुखित्वात्, तदाराधकत्वाच्चेत्यसकृदुक्तमेव। अतो नेयं युगलोपासना प्रकटलीलावत् श्रीराधासाहित्येन श्रीकृष्णप्राधान्यात्मिकेत्यपि न विस्मर्त्तव्यं विशुद्धसहचरी-भावासंतुष्टैः कामकामिभिर्वणिग्वृत्तिभिः स्वसुखैकदृष्टिभिर्निर्हेतुकप्रीत्यास्वादन-मजानद्भिर्हिंग्वाद्युपस्कृतपायसाभिरुचिभिः। ''परमपुरुष'' इत्यस्यापि प्रकृतानु-सार्यर्थमाह-परमाया इति। तन्निदेशसम्पादनमेव तस्य तत्सुखसुखित्वज्ञापकं लिङ्गमित्यर्थः।

इस विषय में पञ्चरात्र की सम्मति दिखलाते हैं--श्वेत द्वीप इत्यादि से लेकर ब्रह्मैवराजते तक। इसे ही पुनः श्रीकृष्णयामल की उक्ति से दृढ करते हैं-दिव्यं वृन्दावनम्'' इत्यादि के द्वारा (इनके अर्थ मूल के अनुवाद देखें) भागवत की सम्मति भी दिखाते हैं-''दर्शयामास'' इत्यादि के द्वारा।

छान्दोग्य में श्रीनारदजी का प्रश्न है-''वह भगवान् किस में प्रतिष्ठित है'' इस पर श्रीसनत्कुमारजी का उत्तर है-''अपनी महिमा में, यदि अपनी महिमा में नहीं तो (कहीं भी नहीं)'' यहीं (वृन्दावन में) भगवान् की साकल्यरूप से महिमा का लाभ है। अष्टम स्कन्ध के वाक्य सभी इसे दृढ करते हैं-मेरी महिमा को ही परमब्रह्म शब्द से कहते हैं। परमब्रह्म का निगमन करते हैं-''स्वरूपलाभ (अपने स्वरूप का लाभ ही ब्रह्म की महिमा है।

ब्रह्म संहिता के ''व्रजति नहि यत्राति समर्याः'' इस वाक्य का अर्थ करते हैं- वह वृन्दावन अप्राकृत है इसलिए प्राकृत तत्त्व काल आदि का प्रवेश नहीं है वहाँ। श्रीभागवत की उक्ति है-जहाँ परम शक्तिशाली काल भी प्रभाव नहीं होता है।'' अथवा वहाँ (वृन्दावन में) गमन-आगमन रूप,

उदय-अस्त रूप काल का अभाव है जैसे प्रकट लीला में व्रज में उदयास्त रूप काल रहता है वैसे इस दिव्य वृन्दावन में नहीं रहता है, क्योंकि यह देश विशेष है, भगवान् के नित्य सत्य संकल्प के प्रभाव से नित्य रहता है वसन्त से सदा भरा रहता है।

और क्या कहें वृन्दावन का काल भगवान् के सत्य संकल्प के अधीन होने से उनके सुख के लिए है तथा उनकी प्रसन्नता के अनुकूल क्रिया वाला होता है।

श्लोक में आए हुए ''कान्ता'' शब्द के प्रसिद्ध अर्थ निरादर करके नित्य निकुञ्ज में विहार के अनुकूल अर्थ कहते हैं-कस्य-आत्मसु, की-अन्तः-परि समाप्ति जिन में हो वे उनके सुख में सुखी होने वाली सखियाँ (कान्ताः का अर्थ हुआ सखियाँ)। यदि कोई कहे कि स्वार्थ (शब्द का स्वाभाविक अर्थ) सम्भव होने पर लाक्षणिक अर्थ लेना अनुचित है-तो यह नहीं कहना चाहिए। श्रीनिकुञ्जेश्वरी के सुख के पृथक् सखियों का कोई सुख नहीं है, अतः प्रकृत युगलोपासना में कान्ता शब्द का सखी अर्थ ही लेना चाहिए अन्यथा रूढ-प्रसिद्ध अर्थ (प्रेयसी) लेने पर सखियाँ अनन्यता के भाव से दूर हो जाएँगे तब उनको पृथक् रूप से अपने सुख की स्फूर्ति होने से कान्त के प्रधान होने पर उक्त स्वरूपा युगलोपासना की हानि को बचाना सम्भव नहीं होगा यह भी ध्यान रखना चाहिए (कान्ता का सखी अर्थ करने पर सखियों को स्वसुख की प्राप्ति भी नहीं होगी, अनन्यता भी बनी रहेगी, श्रीराधा के सुख में ही वे अपना सुख मानती रहेगी तब कान्त का प्राधान्य भी नहीं रहेगा तथा युगलोपासना में भी कोई दोष नहीं होगा) श्रीराधा-मति-वाले निकुञ्ज में (राधा से शोभित निकुञ्ज में या राधा के निकुञ्ज में) श्रीराधा के सुख से पृथक् श्रीकृष्ण का सुख नाम की या सखियों का सुख नाम की कोई वस्तु है-केवल श्रीराधा का ही सुख, सुख है।

निकुञ्जस्थ सभी का (सखियों एवं श्रीकृष्ण का) श्रीराधा के ही एकमात्र सुख में सुखी होना है, वे सभी उसी श्रीराधा के आराधक हैं, यह बात अनेक बार कही गई है।

श्रीराधा विशुद्ध सहचरी है इस भाषा से सन्तुष्ट काम के कामी, वणिग्वृत्ति वाले, अपने सुख पर ही एकमात्र दृष्टि रखने वाले, निर्हेतुक प्रीति

के आस्वाद से अनभिज्ञ, हिंगव आदि से उपस्कृत पायस में रुचि रखने वाले को इस बात का भी विस्मरण नहीं करना चाहिए कि यह युगलोपासना प्रकट लीला के समान श्रीराधा के साहित्य से श्रीकृष्ण की प्रधानता वाली उपासना नहीं है।

पूर्व श्लोक में आए हुए ''परमपुरुष'' शब्द का भी प्रकृत के अनुकूल अर्थ करते हुए कहते हैं-परमाया-इति,-परमा श्रीराधा के पुरुष के समान पुरुष। उसके निदेश का सम्पादन ही श्रीकृष्ण का तत्सुख सुखित्व की पहचान है।

वृन्दावनस्थद्रुमाणां कल्पतरुस्वभावत्वमाह-यत्र च द्रुमा इति।। ननु कथं तर्हि तथात्वेन नानुभूयन्ते इति चेद्बृहद्भागवतामृतवचनेन समाधत्ते-तथापि तत्रैवेत्यादिना। तत्रत्यं शृङ्गाररसानुरूपं पानीयं दर्शयति-अधरामृतमिति। एवं कथापि यत्रत्या सुरतालाप इत्याह-यत्र च कथेत्यादिना।

सोऽयं सुरतालापः सखीभिर्गानं कर्णामृतमिवास्वाद्यते इत्याह-तदेत-दित्यादिना। 'भ्रमणं नाट्य'मित्यस्यार्थं वक्ति अर्थादङ्गानामिति। रासलास्यादि-कमपि एतदपेक्षया बहिरङ्गमित्याह-नत्वित्यादिना। युगलविहारमाधुर्य्यास्वादिनीं वंशीं प्रशंसति-अहो भाग्यमेतस्या इति। यत्रत्यं चन्द्रार्करूपं ज्योतिरपि चिदानन्दमेव, न तु प्राकृतचन्द्रसूर्य्यज्योतिरित्याह यत्र चेत्यादिना। चिदानन्द-शब्दस्यार्थविशेषं दर्शयति-तत्रोभयोरिति। यद्वा चिदानन्दात्मकानां तत्रत्य-कल्पपादपानामेव चन्द्रार्कज्योतिष्ट्वमित्याह श्रीरुद्रयामलानुसारेण-यद्वेत्यादिना। ऋतूनामपि तत्रत्यानां तयोरिच्छयैव प्रचारो, न तु प्राकृतकालादिनियमेनेत्याह-एवञ्चर्तूनामपीत्यादिना।

वृन्दावन के वृक्ष कल्पतरु स्वभाव वाले हैं-यह कहते है-''यत्र चद्रुमा-इति'' प्रश्न होता है कि यदि द्रुम कल्पतरु हैं तब उनका वैसा अनुभव क्यों नहीं होता? इसका समाधान बृहद्भागवतामृत के वचन से करते हैं-''तथापि तत्रैवेत्यादिना''।

वहाँ के शृङ्गार के अनुकूल पानीय दिखलाते हैं-''अधरामृतमिति'' (अधरामृत ही पानीय है) इसी प्रकार जहाँ की कथा भी सुरतालाप है-ऐसा कहते हैं'' ''यत्र च कथेत्यादिना'' यह सुरतालाप सखियों के द्वारा गान के समान कर्णामृत के समान आस्वाद्य होता है। अङ्गनाओं का भ्रमण ही नाट्य

है। इस भ्रमण की अपेक्षा रास का लास्य आदि नृत्य भी बहिरङ्ग है। युगलविहार के माधुर्य का आस्वादन करने वाली वंशी की प्रशंसा करते हैं- अहो भाग्यमेतस्या इति।'' जिस वृन्दावन की चन्द्र और सूर्य रूप ज्योति भी चिदानन्द ही है न कि प्राकृत चन्द्र-सूर्य ज्योति के समान। चिदानन्द शब्द का अर्थ विशेष ''तत्रोभयोरिति'' के द्वारा दिखलाता है। (दोनों की चेतन अवस्था का नाम ''अर्क'' है तथा आनन्दानुभव अवस्था का नाम चन्द्र है) अथवा चिदानन्दात्मक वहाँ के कल्पपादपों का ही चन्द्रार्क ज्योति रूपत्व है। श्रीरुद्रयामल की सम्मति भी इस विषय में दी गई है। वृन्दावन की ऋतुएँ भी श्रीराधाकृष्ण की इच्छा से ही प्रसृत होती है न कि प्राकृत काल के नियम से।

तत्रत्य लतावृक्षाणां द्रुम-तरु-व्रततिशब्दव्यपदिष्टानां हरिण-मृगशब्दानाञ्च नामनिरुक्तिं श्रीप्रबोधवचसा दर्शयति-द्रवन्तीति। एवंविधत्वेऽपि श्रीवनस्य तथात्वाननुभूतौ हेतुमाह-तदेवं सर्वथा वैलक्षण्येऽ-पीति। उक्तार्थं बृहद्भागवतामृतपद्येन, कारिकाभिश्च संगृह्णाति तस्मिन्नित्यादिना। उक्तं श्रीवनोत्कर्षं श्रीप्रबोधवचसा ज्ञापयति-दिव्यपुष्पेत्यादिना। सेयं वृन्दाटवी श्रीकृष्णचन्द्रेण श्रीराधिकेव भाव्यत इत्याह-सा चेयमटवीत्यादिना। अतएव तयोर्दम्पत्योरस्यां प्रीत्यतिशय इत्याह तदेवमित्यादिना। ''भृङ्गी सङ्गीतरङ्ग'' मित्यादिना श्रीराधायाः ''बर्होल्लासे वसती''त्यादिना पञ्चदशश्लोकात्मकेन कुलकेन श्रीकृष्णस्य तस्यां प्रीत्यतिशयं श्रीप्रबोधोक्त्या दर्शयित्वा प्रकरणार्थं उपसंहरते।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां
श्रीवृन्दावनोत्कर्षयुक्तिः।।८।।

इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिनीटिप्पणी पूर्णतामेति।।

वृन्दावन के लता-वृक्ष-द्रुम-तरु-व्रतति शब्द से कहे जाने वालों तथा हरिण-मृग शब्दों का निर्वचन भी श्रीप्रबोधानन्द के वचन से दिखलाया गया है। (इनके निर्वचन मूल के अनुवाद में देखने चाहिए) इस प्रकार के इनके होते हुए भी उस प्रकार की अनुमति न होने में हेतु कहते हैं-यह सभी विलक्षण होने के कारण। इस अर्थ को बृहद्भागवतामृत के पद्य एवं कारिकाओं से संगृहीत करते हैं। वन के उत्कर्ष का ज्ञापन श्रीप्रबोधानन्द के वचन

''दिव्यपुष्पैत्यादि'' के द्वारा किया गया है। श्रीकृष्णचन्द्र इस वृन्दाटवी को श्रीराधिका के समान ही समझते हैं या राधिका रूप में ही देखते है। इसीलिए उन दम्पती (श्रीराधाकृष्णा) की इस वृन्दाटवी में अतिशय प्रीति है-यही बात ''तदेवमित्यादि'' के द्वारा कही गई है ''भृङ्गी संगीतरंग'' इन श्लोकों के द्वारा श्रीराधा का तथा ''बर्होल्ला से वसति शिखिनां'' इन पन्द्रह श्लोकों के कुलक के द्वारा श्रीकृष्ण का वृन्दावन में अतिशय प्रेम है-यह श्रीप्रबोधानन्द की उक्ति से दिखलाकर प्रकरण के अर्थ का उपसंहार करते हैं।

।। इति श्रीराधाभक्तिमञ्जूषायां भावभूषाप्रदर्शिन्यां श्रीवृन्दावनोत्कर्षयुक्तिः।।८।।

सेयं दुर्लभचन्द्रेण चूनीकल्याणसुनुना ।
श्रीखड्गनाथमिश्रस्य शिष्येणानुकृतिर्कृता।।

॥ श्रीराधाविहारिणौ जयतः ॥

॥ अथ श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा ॥

[मूलं] – प्रणम्य वैष्णवान् धन्यानन्यान् रसिकानहम्।
श्रीराधाशुद्धभक्तानां स्थितिं निर्णीय वर्णये ॥१॥
स्थितिं मर्यादां निष्ठामिति यावत्। गतिं वा ॥
क्वाहमल्पमतिश्चाल्पसाधनः क्वेयमद्भुता।
स्थितिः स्थितिर्मे सैवात्र यथाहं मुखरीकृतः ॥२॥
स्थितिरत्राश्रयः सहाय इति यावत्।
कंचिज्जीवमुरीकर्तुं जाता श्रीललितास्पृहा।
तामेव शक्तिमाश्रित्य कृत्येऽस्मिन् कृतिमानहम् ॥३॥
शक्तिर्नाम देवताप्रसादजन्य संस्कारविशेषः।
अहो चापलमेतन्मे यत्र मुह्यति मोहनः।
वेदेषु गोपितां गोपीं यद्वर्णयितुमुन्मुखः ॥४॥
अवन्ध्येच्छतया तस्याः प्रबन्धे परवानहम्।
सजातीयमनाः कश्चित्त्विनोतु स्वजनुःफलम् ॥५॥
निर्बन्धेन निबन्धेऽस्मिन्स्त एव चिनुयात्सुखम्।
यस्येच्छा राधिकादास्ये हास्येऽन्यस्य परिश्रमः ॥६॥

श्रीराधाभक्तिमञ्जूषा
एवं
महात्मा श्रीगोपालदासजी द्वारा
कृतं
भावभूषा टिप्पणी की हस्तलिखित प्रति का
प्रथम पृष्ठ

पूज्य पिताजी श्री रामविलास जी अडाणियां

जन्म आसोज शुक्ल 3 सं. 1979

स्वर्गवास : माद्य शुक्ल 6 सं. 2058 दिनांक 18-02-2002

पूज्य माताजी श्रीमती आनन्दी देवी अडाणियां

जन्म सं. 1994

स्वर्गवास : माद्य कृष्णा 14 सं. 2058 दिनांक 11-02-2002

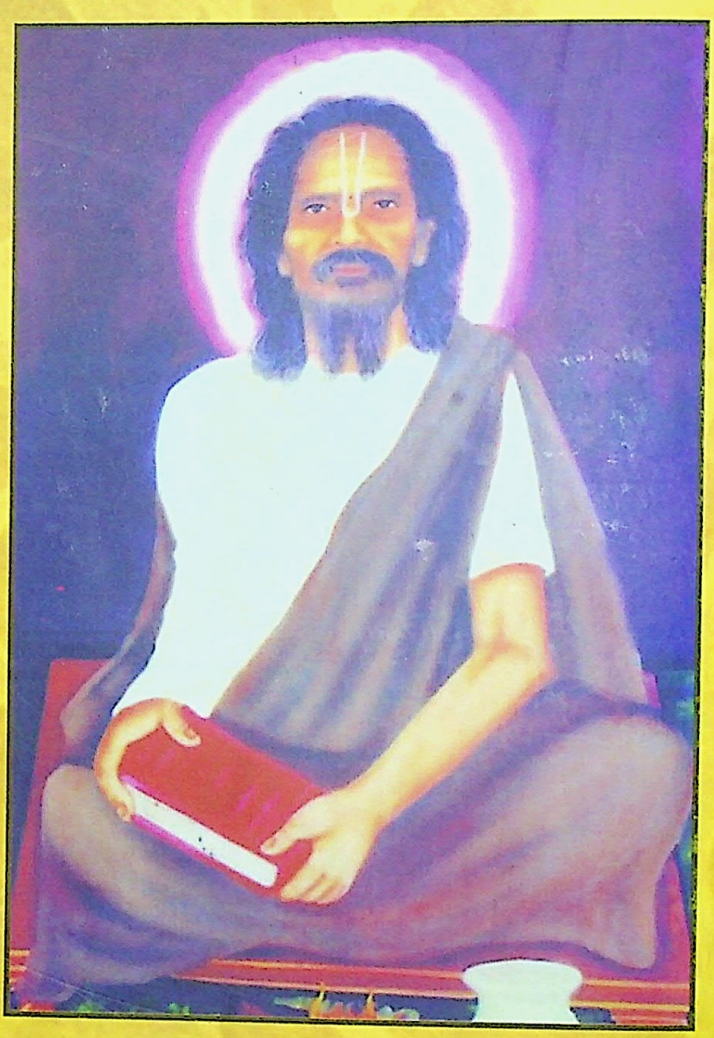

महात्मा श्रीगोपालदासजी महाराज

जन्म : वि. सं. 1922 स्वर्गवास : ज्येष्ठ शुक्ल 2 वि.सं. 2026

श्रीगोपालदासजी महाराज समाधिस्थल
नृसिंह टेकरी (उदयपुरकलां)